ALOCHANA APR-JUNE 1970 G.K.U

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079567

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible].

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079567

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

त्रैमासिक

आलोचना

53

सम्पादक : नामवर सिंह

079567

079567

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

कीय 1

के बारे में

बर्टोल्ट ब्रेष्ट ६

पुस्त और साहित्य

भीष्म साहनी ११

य साहित्य में लेनिन

ई० चेलिशेव १७

लगाना ों को घटनाओं से समय सुलगाता था

विश्वनाथ त्रिपाठी २२

निन के दो पत्र गोर्की के नाम २३

लेनिन की एक समीक्षा २८

काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति

डेविड एन० मार्गोलीज़ ३०

यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता

रोजर गारोदी ३८

पार्टी, साहित्य और समाजवाद

अर्न्स्ट फिशर ४२

काच के साथ एक इंटरव्यू

इस्तवान साइमन एवं इर्विन जित्यनि ५०

चि की पाँच कविताएँ ६१

ी तीन कविताएँ ६३

मार्क श्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी समालोचक

व० लविशन ६६

कुमार विमल की चार कविताएँ ७८

हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों के बीच

शिवदानसिंह चौहान ८०

इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता

रमेश कुन्तल मेघ ८६

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद

सुरेन्द्र चौधरी १०८

रेजी देब्रे और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ

जोआ कारतीम ११४

• प्रासंगिकी

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे

प्रभातकुमार त्रिपाठी १२४

• मूल्यांकन

लेनिन जन्मशती का एक आलोचनात्मक उपहार

नामवर सिंह १२७

अराजकतावाद से लेनिनवाद की ओर

विश्वनाथ त्रिपाठी १३५

ंक १३, (पूर्णांक ५०) अप्रैल-जून १९७०, मूल्य ४.००

डाक द्वारा १६.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १९.००

विदेशों में—२०.००

डी• ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८

ा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/

कालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान महाविद्या...

६६
७८
८०
८६
१०८
११४
१२४
१२७
१३५

लेनिन जन्मशती
के उपलक्ष्य में

१८७०-१९७०

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CHECKED 1973
Initial ....

आलोचना

वर्ष : १६
नवांक : १३
अप्रैल-जून १९७०

संपादक
नामवर सिंह

प्रबंध संपादिका
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ঋতে জ্ঞানান্ন মুক্তিঃ
পুস্তক নং ....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

लेनिन ने हर्ज़ेन की शतवार्षिकी के अवसर पर लिखते हुए कहा था, "हर्ज़ेन की जन्म तिथि को सौ वर्ष बीत चुके हैं। समस्त उदारवादी रूस उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है किन्तु समाजवाद के गंभीर प्रश्नों से बड़ी सावधानी के साथ कतराता हुआ और बड़ी मेहनत से उस बात को छिपाता हुआ जो क्रांतिकारी हर्ज़ेन को एक उदारवादी से अलग करती है। दक्षिणपंथी अखबार भी हर्ज़ेन की वर्षगांठ मना रहे हैं, लेकिन इस मिथ्या दावे के साथ कि हर्ज़ेन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में क्रांति से विमुख हो गए थे। और विदेशों में हर्ज़ेन के बारे में जो उदारवादी तथा नरोदनिक भाषण दिये जा रहे हैं उनमें लफ्फ़ाज़ी के अलावा और कुछ नहीं है। मजदूर वर्ग की पार्टी को हर्ज़ेन की वर्षगांठ कूपमंडूकों की तरह उनका गौरव-गान करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं अपने कर्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए और यह मालूम करने के लिए मनानी चाहिए कि जिस लेखक ने रूसी क्रांति का पथ प्रशस्त करने में इतनी बड़ी भूमिका अदा की उसका स्थान इतिहास में वस्तुतः क्या था ?"

इस कथन की रोशनी में स्वयं लेनिन की जन्मशती मनाते हुए हम कह सकते हैं कि यह अवसर लेनिन के गौरव-गान के लिए नहीं—क्योंकि उनके गौरव को अतिरिक्त गान की अपेक्षा नहीं है—बल्कि आज की स्थिति में अपने कर्तव्य को स्पष्ट करने के लिए है। ज़ाहिर है कि लेनिन हर्ज़ेन नहीं थे, इसलिए उनके क्रान्तिकारी रूप में न तो शक पैदा करने की गुंजाइश है और न उसे किसी तरह छिपाना ही संभव है। फिर भी यहां के दक्षिणपंथी अखबार लेनिन की जन्मशती के समारोहों के प्रति अपना गुस्सा न छिपा सके। जहां तक उदारवादियों का सवाल है उनकी सुविधा के लिए संयोग से गांधीजी की जन्मशती की तात्कालिक पृष्ठभूमि उपलब्ध हो गई इसलिए उन्हें लेनिन को गांधी बनाकर पेश करने की जैसे छूट मिल गई। किन्तु इससे कहीं अधिक भयंकर है लेखकों और बुद्धिजीवियों के संसार की निपट उदासीनता ! यदि यह उदासीनता प्रचलित पाखंड और लफ्फ़ाज़ी की प्रतिक्रिया भर होती तो एक बात थी लेकिन यहां तो सिरे से मैदान साफ़ है। आज हिन्दी के बहुत से लेखकों को इस बात की भी जानकारी नहीं है और न यह जानने की दिलचस्पी ही है कि हमारी स्वाधीनता के संघर्ष का एक वह भी दौर था जब लेखकों और बुद्धिजीवियों ने बड़ी मेहनत से ढूंढ़कर लेनिन की रचनाओं को पढ़ा, उनमें से कुछ एक का अनुवाद किया और फिर भरसक अपनी भाषा में लेनिन के विचारों को आम जनता तक पहुंचाने की कोशिश भी की। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वाधीनता आन्दोलन के उस आरंभिक दौर में सामान्य भारतीय को १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति में आशा की एक नई किरन दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी थी और असंदिग्ध रूप में उससे राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष को बल मिला था तथा समाजवाद की मंजिल करीब मालूम हुई थी। शुरू-शुरू में बहुतों को शायद इस बात का पता न था कि भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में शुरू से ही लेनिन की गहरी दिलचस्पी रही है और वे रूस की समाजवादी क्रान्ति की सफलता भारत जैसे उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति के प्रयास से संबद्ध मानते थे। फिर भी उस दौर के प्रबुद्ध लेखक और बुद्धिजीवी देश के राजनीतिक नेताओं के साथ ही भारत की राष्ट्रीय मुक्ति को सोवियत रूस की समाजवादी क्रांति से सम्बद्ध समझते थे और इसी दृष्टि से उन्होंने लेनिन के जीवन, कर्म और विचारों में गहरी रुचि ली थी। 'प्रताप', 'अभ्युदय' और 'वर्तमान' जैसे पत्र ही नहीं बल्कि 'प्रभा', 'माधुरी' और 'सरस्वती' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं के पन्ने भी लेनिन के साथ आम हिन्दी लेखकों और बुद्धिजीवियों के गहरे लगाव की गवाही देते हैं। आज हिन्दी के जो लेखक लेनिन की ओर से उदासीन हैं वे दरअसल अपनी ही प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी परम्परा से भी अनभिज्ञ हैं, और इस तरह उन्होंने अपने-आपको अपने ही इतिहास से विच्छिन्न कर लिया है।

यदि यह उदासीनता लेनिन तक ही सीमित होती तो एक बात थी, लेकिन रवीन्द्रनाथ, गालिब और गांधी की शतवार्षिकियों के प्रति भी रुख यही था जिससे स्पष्ट है कि यह उदासीनता ज्यादा व्यापक है और इसकी जड़ें भी ज्यादा गहरी हैं। जैसा कि एक नये कवि ने स्वीकार किया है, "वह हमारी खास दुनिया या तो नकली उदासीनता से या सतही दिलचस्पी से कमोबेश छिन्न-भिन्न हो चुकी है।" क्या यह "नकली उदासीनता" और "सतही दिलचस्पी" एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं हैं—परस्पर-विरोधी होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध ? क्या उस 'लफ्फाजी' और इस 'चुप्पी' में कोई आपसी सम्बन्ध नहीं है ? कहना न होगा कि लफ्फाजी और चुप्पी की यह मिली-जुली स्थिति राजनीति में तानाशाही को जन्म देती है तथा नकली उदासीनता और सतही दिलचस्पी की मनोभूमि साहित्य को अन्ततः बंजर बनाती है। यह स्थिति इतनी नगण्य नहीं कि इससे कतराकर अपने कर्तव्य को स्पष्ट करना सम्भव हो।

स्पष्टतः इस स्थिति के साथ आजादी के २३ वर्षों का इतिहास जुड़ा है जिसे समझने के लिए और समस्याओं की तरह इस विषय में भी १५ अगस्त १९४७ तक जाना होगा क्योंकि वह अनेक अर्थों में भारत के लिए एक गहरी विभाजक रेखा है। इस दिन इतिहास इस अर्थ में विभक्त हुआ कि स्वाधीनता आन्दोलन की एक क्रान्तिकारी परम्परा खण्डित हुई। उस दौर की अनेक जनवादी प्रतिज्ञाएँ तोड़कर राजनीतिक नेतृत्व ने भारत के लिए पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना। इस प्रकार समझौता और सुविधा का वह रास्ता खुला जिसने अनेक टुटपुंजिया राजनीतिक नेताओं की तरह टुटपुंजिया मध्यवर्ग के लेखकों और बुद्धिजीवियों को भी पूंजीवादी सुविधा के सोपानों का आरोही बना दिया। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान 'गरीब हिन्दी' के 'गरीब' लेखकों की जो छोटी-मोटी जनवादी परम्परा बनी थी वह भी देखते-देखते खण्डित हो गई। आजादी क्या मिली कि संचित तप के भोग का खुला अवसर उमड़ पड़ा। औरों की तो बात ही क्या पिछले दौर के अनेक जनवादी लेखक भी देर-सबेर एक-एक करके सुविधा की इसी 'क्यू' में जा खड़े हुए। इस प्रकार इन लेखकों ने अपनी ही गौरवशाली परम्परा से नाता तोड़ लिया। विडम्बना यह है कि यह सब राष्ट्र-निर्माण के नाम पर हुआ। मसलन नाम समाजवाद का लिया गया और काम पूंजीवादी रास्ते के लिए हुआ। कथनी और करनी के इस भेद ने उस राष्ट्रीय पाखण्ड को जन्म दिया जिससे लफ्फाजी पैदा होती है जिसका असर केवल राजनीति में ही नहीं बल्कि साहित्य में भी देखा जा सकता है।

नये लेखकों ने आरम्भ में इस स्थिति के खिलाफ विद्रोह का झण्डा उठाया जिसका एक उदाहरण 'धुरीहीनता' सम्बन्धी बहस के रूप में तत्कालीन पत्रिकाओं में सुरक्षित है। किन्तु कुछ दिनों बाद ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट हो गया कि विद्रोह का सारा नाटक स्वयं में ही सुविधा प्राप्त करने का साधन मात्र था। समाज में टुटपुंजिया मध्यवर्ग की स्थिति को देखते हुए लेखकों का यह सोपान-आरोहण तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। फिलहाल स्थिति यह है कि एक लेखक को लेखक के नाते इस समाज-व्यवस्था में सुविधा ही नहीं बल्कि सम्पन्नता प्राप्त करने की सम्भावना का भी पूरा अहसास हो गया है। और आज इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के अधिकांश लेखक शासक वर्ग के किसी-न-किसी प्रकार के प्रतिष्ठान द्वारा हजम कर लिए गए हैं—फिर वह प्रतिष्ठान चाहे सरकारी हो या गैर-सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी! इस प्रकार अपनी वस्तुगत स्थिति में आज अधिकांश लेखक व्यवस्था के अंग हैं; निस्सन्देह मानसिक स्तर पर उनमें से बहुतों में असन्तोष है, कुछ में विद्रोह भी है, किन्तु जब तक व्यवस्था से प्राप्त होनेवाली सुविधा छोड़ने का साहस नहीं जुटता सारा असन्तोष और सारा आक्रोश क्रमशः एक अपराध-बोध में परिणत होकर सम्पूर्ण चेतना को भोथरा बना रहा है। इसकी एक अभिव्यक्ति है वह 'गुस्सा' जो "हाशिए पर चुटकुला बन रहा है", और "नीरो को मात देते हुए व्यंग्य-हास्य की कविताएँ लिखने वाले साहित्यकार" भी शायद इसी वर्ग में आते हैं। इन लेखकों से यह शिकायत नहीं हो सकती कि वे व्यवस्था का खुला समर्थन करते हैं। जब स्वयं यह व्यवस्था ही अपने कल्याणकारी रूप के बारे में आश्वस्त नहीं है, तो वह किसी लेखक से अपनी प्रशस्ति की अपेक्षा कैसे कर सकती है। ऐसी स्थिति में तो विरोध ही प्रशस्ति का काम करता है बशर्ते उसमें एक साथ ही सबका विरोध हो—समग्र विरोध, जैसा कि आज के अनेक लेखकों का अन्दाज़ है।

निस्सन्देह ईमानदार लेखक अपनी इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को अच्छी तरह समझता है जैसा कि एक लेखक ने लिखा भी है कि "जब तक मैं सिर्फ अपनी दुश्चिन्ता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती। जब मैं अपनी हताश स्थिति का वर्णन करता हूँ तब किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मेरी हताशा उनकी संस्थाओं की शक्ति की ही पुष्टि करती है। मेरे ऊलजलूल-से-ऊलजलूल विचार, मेरी तितीक्षा, मेरा व्यंग्य—सबको ग्राहक मिल जाते हैं क्योंकि इनके माध्यम से मैं सिर्फ इसी बात की गवाही देता हूँ कि जो शक्ति-सम्पन्न हैं वे कितने उदार हैं। वे अपनी जगह पर इतना सुरक्षित महसूस करते हैं कि मुझे ऐसी बहुत-सी बातों का पक्ष-समर्थन करने दिया जाता है जो मुझे प्रगतिशील लगती हैं। तात्पर्य यह कि भ्रष्टाचार पर, शोषण पर और निजी स्वामित्व के एकाधिकारों द्वारा जन-मानस के विषाक्तीकरण पर प्रहार का कोई फल नहीं हो सकता अगर वे कोई स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत न करें।"

किन्तु इससे भिन्न एक स्थिति और है जिसमें नया सुविधाप्राप्त लेखक नये सुविधाभोगी समुदाय की रुचियों का साझीदार बन गया है और इस प्रकार अपनी कृतियों में उस संस्कृति को प्रतिफलित करने लगा है। आजादी के बाद जिस तेजी से भारत में एक नये सम्पन्न मध्यवर्ग का उदय हुआ है उसके समानान्तर अरसे से 'गंवार' समझा जाने वाला हिन्दी साहित्य भी शहराती और 'आधुनिक' हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नया मध्यवर्ग अपनी सम्पन्नता के बावजूद जितना असंस्कृत और फूहड़ है उसकी रुचि को तुष्ट करनेवाला साहित्य भी कम फूहड़ नहीं है। आवश्यक नहीं कि वह अनिवार्यतः प्रचलित अर्थ में 'अश्लील' हो—तथाकथित 'अश्लीलता' से नाक सिकोड़ने का तेवर अपनाकर भी यह साहित्य ज्यादा अश्लील है क्योंकि उसमें खास तरह का बाजारूपन है।

इस प्रकार आज साहित्य में यदि एक ओर टुटपुंजिया मध्यवर्ग के पुंस्त्वहीन आक्रोश की प्रधानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो दूसरी ओर नये सम्पन्न मध्यवर्ग के असंस्कृत आत्मतोष की। स्पष्ट है कि समाज का यह स्तर लेनिन में कोई दिलचस्पी नहीं ले सकता !

लेनिन की 'दो संस्कृतियों' का सिद्धान्त इस सन्दर्भ में विशेष अर्थ रखता है। १९१३ में लेनिन ने यह सामान्य स्थापना की थी कि "प्रत्येक आधुनिक राष्ट्र में दो राष्ट्र हैं।···प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति में दो राष्ट्रीय संस्कृतियाँ हैं।" आगे इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लेनिन ने स्पष्ट किया कि तीव्र वर्ग-संघर्ष वाले समाज की राष्ट्रीय संस्कृति में वस्तुतः दो संस्कृतियाँ होती हैं : एक बूर्ज्वा संस्कृति जो प्रायः प्रभुत्वशाली होती है और दूसरी जनवादी तथा समाजवादी संस्कृति जो मेहनतकश और शोषित जनता के जीवन की स्थितियों से उत्पन्न होकर जनवाद और समाजवाद की विचारधाराओं के सहारे विकसित होती है। यह संस्कृति प्रायः बीज रूप में अविकसित रहती है और इसीलिए राष्ट्रीय जीवन में प्रभाव की दृष्टि से इसका स्थान गौण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक राष्ट्र के अन्दर स्थित ये दोनों संस्कृतियाँ ऐकांतिक रूप से परस्पर-व्यवच्छिन्न नहीं हैं। इनमें घात-प्रतिघात स्वाभाविक है और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप बीच में एक 'तीसरी संस्कृति' के अनेक स्तरों का भी निर्माण हो सकता है। आवश्यक नहीं कि इस बिचौलिया संस्कृति में शेष दोनों के गुण ही गुण शामिल हों क्योंकि दोनों के दोषों की तलछट के रूप में भी तीसरे का निर्माण सम्भव है। जो हो प्रत्येक स्थिति में इस संस्कृति का स्वरूप अन्य दो संस्कृतियों की शक्ति के सन्तुलन पर निर्भर है।

हिन्दी साहित्य इस नियम से बाहर नहीं है और आज़ादी के बाद तो विशेष रूप से बूर्ज्वा संस्कृति ही प्रभुत्वशाली है। निस्संदेह यह कड़वा सत्य है किन्तु इसे स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं है। स्पष्टतः इस संस्कृति को 'संस्कृति' से कोई सरोकार नहीं है। जो संस्कृति राजनीति और साहित्य के संबंध के बुनियादी सवाल को बार-बार उठाकर आज तक मुल्तवी करती आ रही हो उसके राजनीतिक आधार के बारे में किसी संदेह के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती। संकट की घड़ी में बूर्ज्वा वर्ग ऐसे ही वितंडा का सहारा लेता है और राजनीतिक संघर्ष में पार पाने की संभावना न देख धर्म, संस्कृति या साहित्य में आश्रय पाने का प्रयास करता है इस आशा के साथ कि शायद वहाँ खतरनाक राजनीति के प्रभाव से बचाव संभव है। आज के भारत में इस बूर्ज्वा संस्कृति की यह विशेषता है कि वह उत्पादन से अधिक उपभोग-प्रधान है और उसकी यह उपभोग-प्रकृति साहित्य पर भी हावी है जिसके उदाहरण बड़े पैमाने पर बिकनेवाली रंगीचुंगी पत्रिकाओं में आसानी से मिल जाते हैं। निस्सन्देह इनकी भी अदा साहित्यिक ही होती है, किंतु इनमें साहित्य विज्ञापन से ज्यादा अहमियत नहीं रखता और राजनीति भी यहाँ आकर किसी कम्पनी का विज्ञापन या चुटकुला बनकर रह जाती है जिसका उपयोग ज़ायका बदलने से ज्यादा नहीं है; यह दूसरी बात है कि निहित स्वार्थ की प्रतिक्रियावादी राजनीति की छौंक साफ़ रहती है।

ऐसे माहौल में यदि स्वयं साहित्य की सार्थकता ही संदिग्ध हो उठे तो कोई आश्चर्य नहीं। आकस्मिक नहीं जो इस बीच अनेक लेखक 'साहित्य क्यों' के प्रश्न पर एकबारगी गम्भीर हो उठे हैं। यह प्रश्न जहाँ एक ओर सच्चे साहित्य-कर्म के परम्परागत संस्कार के बचे रहने का सूचक है वहीं दूसरी ओर वह व्यवस्था के हितों के रक्षक चतुर बुद्धिजीवियों के उन सामयिक नारों में से एक भी हो सकता है जिन्हें समय-समय पर फुलझड़ी के रूप में छोड़कर आम लोगों का ध्यान असली मुद्दे से हटाने की कोशिश की जाती है। आकस्मिक नहीं है कि आज की स्थिति में 'साहित्य क्यों' का प्रश्न उठानेवाले लेखकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि वे प्रतिष्ठान को केवल थोड़ा-सा लचीला बनाना चाहते हैं—इस प्रतिष्ठान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तोड़कर कोई नया प्रतिमान बनाने का साहस उनमें नहीं है। इन्हीं से संबद्ध वे लेखक हैं जिन्होंने साफ़-साफ़ मान लिया है कि साहित्य के किए कुछ नहीं हो सकता, वह एकदम निरर्थक और फालतू है। साहित्य की यह स्थिति स्पष्टतः उस संकट की सूचक है जिससे आज की समूची व्यवस्था गुजर रही है।

वस्तुतः यह पूंजीवादी व्यवस्था का संकट है जिससे भारतीय लेखक का साक्षात्कार पहली बार हुआ है। जो पूंजीवाद अभी तक भारतीय लेखक के लिए सिर्फ एक किताबी शब्द अथवा अधिक से अधिक एक मानसिक अवधारणा-मात्र था वह अब उसके जीवन की वास्तविकता बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। विडम्बना यह है कि बहुत से लेखक आज भी इस नई ऐतिहासिक स्थिति को समझने और समझकर स्वीकार करने की ओर से विमुख हैं। कुछ स्मृतिजीवी लेखक आज भी मानसिक स्तर पर अपने बचपन के संसार में जी रहे हैं तो कुछ अनुभव के स्तर पर इस पूंजीवादी संक्रमण के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए भी बोध के स्तर पर इस नये ऐतिहासिक परिदृश्य से सर्वथा अनजान हैं। जिन्होंने सामाजिक सम्बन्धों में अमानुषिकता, संवेदनहीनता, अजनबीपन, अकेलेपन आदि का साहित्यिक चित्रण किया है उनकी दृष्टि में भी यह सब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की उपज नहीं बल्कि 'मानव-नियति' अथवा कोई अबूझ अभिशाप है। दूसरी ओर ऐसे 'भारतीय लेखक' हैं जिनकी दृष्टि में सामाजिक सम्बन्धों की अमानुषिकता तथा अजनबीपन आदि अधिकांशतः पाश्चात्य साहित्य का कोरा अनुकरण-मात्र है और यदि उनमें से कुछ अनुभूत है तो उसका सम्बन्ध केवल महानगरों के जीवन से है जो स्पष्टतः विशाल भारतीय जीवन का एक छोटा-सा अंग-भर है। इस सीमित, एकांगी एवं अवास्तविक संसार से मुँह फेरकर वे लेखक गलगल भाव से गाँव का वह चित्र उपस्थित कर रहे हैं जिसमें ममतामयी मां है, स्नेहमयी भाभी है, करुणामयी दादी है और बटवृक्ष के समान अडिग विशाल बाबा हैं। उनकी दृष्टि में पूंजीवाद ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसका सम्बन्ध केवल शहरों से होता है और जिससे भारत के गाँव आज भी, बल्कि अभी तक, एकदम अछूते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दृष्टि पूंजीवाद के स्वरूप से तो अनजान है ही, आज के भारत की वास्तविकता के ढाँचे में होने वाले उस नये परिवर्तन को भी देखने में असमर्थ है। प्रेमचन्द ने जिस 'महाजनी सभ्यता' के आरम्भिक रूप को आज से पैंतीस-छत्तीस साल पहले देख लिया था उससे आज का 'प्रबुद्ध' लेखक इतना अनजान क्यों हैं? यह भारत की नयी पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा फैलाए हुए मोहावरण की सफलता है या स्वयं हिन्दी लेखक की वर्ग-चेतना की विफलता? क्या यह सच नहीं है कि आज ज्यादातर हिन्दी लेखक अपनी वर्ग-स्थिति दूसरों से तो क्या स्वयं अपने-आप से ही छिपाने की विडम्बना के शिकार हैं? क्या आत्म-विस्मरण क इस स्थिति से साहित्य अछूता रह सकता है?

लेखक में वर्ग-चेतना का यह लोप भी एक प्रकार का 'एलियनेशन' अथवा आत्मनिर्वासन है जो पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की विशेष देन है। अपने आपसे विच्छिन्न लेखक अपनी शक्ति से विच्छिन्न होता है जिसका परिणाम है निरुपायता और असहायता का अहसास! अपनी असहायता का जैसा चरम अहसास हिन्दी में लेखक को आज है वैसा रोमांटिक दौर में भी न था, बल्कि उस समय तो लेखक अपने-आप में ज़मीन-आसमान एक कर देने की ताकत का अनुभव करते थे! इस स्थिति में यदि साहित्य भी अपनी शक्ति से अलग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि बिलगाव की इस व्यापक प्रक्रिया से साहित्य का बच सकना कठिन है। व्यवस्था से संबद्ध वर्ग-बोध-शून्य लेखक की यह विडम्बना है कि वह व्यवस्था का विरोध करते हुए भी अपने विरोध की निरर्थकता के अहसास से कुंठित रहने को अभिशप्त है। साहित्य की शक्ति में आवश्यकता से अधिक विश्वास करना 'रोमांटिसिज़्म' हो सकता है किन्तु साहित्य को सर्वथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशक्त मान लेना यथार्थवाद नहीं है। इस विश्वास को लेकर तो व्यवस्था को [illegible] बना सकना भी असम्भव है। इसीलिए हिन्दी में 'प्रतिबद्धता' को लेकर पिछले दशक में जो इतनी बहस हुई वह अन्ततः एक ढोंग या पाखंड बनकर रह गई ! जहां साफ़-साफ़ अपनी वर्ग-स्थिति को स्वीकार करने का भी साहस न हो, वहाँ आम जनता के साथ प्रतिबद्ध होने की बात तो दूर किसी भी वर्ग से प्रतिबद्धता का सवाल गोल ही रहेगा। आकस्मिक नहीं कि प्रतिबद्धता के नाम पर अधिकांश लेखकों ने प्रायः 'अपने समय के साथ प्रतिबद्ध होने' या 'अपने परिवेश के साथ प्रतिबद्ध होने' की गोलमोल बातें कीं।

स्पष्टता का तकाजा है कि हम चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारें। सवाल यह है कि हमें साहित्य की निरर्थकता से संतोष है या क्षोभ ? सवाल यह है कि हमें साहित्यकार की असहायता की स्थिति स्वीकार है या अस्वीकार ? यदि सचमुच क्षोभ है और अस्वीकार है तो फिर सवाल यह है कि हम साहित्य को फिर से सार्थक और साहित्यकार को फिर से समर्थ बनाने के लिए क्या कर सकते हैं ?

हम क्या करें ? यह सवाल आज हिन्दी लेखकों के भी सामने है उसी तरह जैसे लेनिन के सामने इस सदी के आरम्भ में था बल्कि मूलतः यह सवाल तो लेनिन से पहले चेर्निशेव्स्की तथा उनके समकालीन रूसी लेखकों के सामने था ! असहायता और निरुपायता की स्थिति वहाँ भी थी। लेनिन स्वयं निर्वासन में थे। किन्तु एक पूर्ववर्ती बुद्धिजीवी के सवाल को लेनिन के क्रान्तिकारी सिद्धान्त में बदल दिया और इस सवाल का जवाब देने के प्रयास में उस क्रान्तिकारी पार्टी का जन्म हुआ जिसने पन्द्रह वर्ष के अन्दर ही समाजवादी क्रान्ति को अंजाम दिया। हिन्दी के लेखकों और बुद्धिजीवियों का स्वाभिमान कम नहीं है। ज़ाहिर है कि न तो वे किसी राजनीतिज्ञ के पीछे चलने को तैयार हैं और न किसी लेनिन का इन्तज़ार ही करना चाहेंगे। फिर भी 'क्या करें' का उत्तर तो देना ही पड़ेगा और इसके लिए वे पार्टी बनाने जैसा असाहित्यिक कार्य करने की ज़हमत भले न उठाएँ, लेकिन वर्तमान "साहित्यिकता" से कुछ तो मुक्त होना ही पड़ेगा। और इस दिशा में लेखक को पहले इस सवाल का उत्तर देना पड़ेगा कि तुम किधर हो ? किसके साथ हो ?

और यहीं लेनिन द्वारा निर्दिष्ट दूसरी संस्कृति—जनवादी संस्कृति का सवाल उठता है जो बीज रूप में आज हिन्दी में मौजूद है; किंतु जनवादी शक्तियों के विभाजन तथा जन-आन्दोलनों के बिखराव के कारण उस संस्कृति में वह शक्ति नहीं आ पा रही है जिससे प्रभुत्वशाली संस्कृति को चुनौती दी जा सके। इसके अतिरिक्त इस वर्ग का साहित्य भी लेखक समुदाय की दृष्टि से अपने निम्न-मध्यवर्गीय आधार के कारण अनेक आंतरिक संकटों से गुज़र रहा है। निस्सन्देह इस वर्ग के लेखकों में व्यवस्था के प्रति घोर विरोध का भाव है, वे इसे जड़ से बदलने के लिए भी आकुल हैं और इसके साथ ही उनके सामने एक विकल्प भी है, किन्तु इन तमाम बातों के बावजूद उनमें अधीरता इतनी है कि वे एक प्रकार के 'क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद' की ओर अग्रसर हो चले हैं। सामान्यतः इनके प्रेरणा-स्रोत हैं गोरों के विरुद्ध काले लोगों का आन्दोलन, विश्वव्यापी उभरती हुई छात्र-शक्ति जिसका चरमोत्कर्ष फ्रांस की 'मई क्रांति' है तथा अमेरिकी साम्राज्यवादी आक्रमण के विरुद्ध वियतनाम का संघर्ष ! विचारों की दृष्टि से इनमें और भी विविधता है। कुछ हैं जो हर्बर्ट मारकुस के प्रभाव में हैं तो कुछ फैनन और कारमाइकेल के। इनमें जो सबसे क्रान्तिकारी हैं वे चे गुएवारा, कास्त्रो, रेज़ी देब्रे तथा अंततः माओ त्से तुंग को अपना आदर्श मानते हैं। फिर भी राजनीति के प्रति इनके रुझान में कुछ बातें इतनी समान हैं कि इन सबको सुविधा के लिए 'स्वच्छन्दतावादी क्रान्तिकारी' कहा जा सकता है। इस क्रान्तिकारिता का मूल मंत्र है : 'नो कम्प्रोमाइज़' अर्थात् कोई समझौता नहीं—न वर्ग-शत्रु के साथ कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फौरी रजामंदी या किसी तरह की छूट और न ही प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी जान बचाने के लिए क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की शुद्धता के बारे में तालमेल का प्रयास ! इन क्रान्तिकारियों की सामान्य मान्यता यह है कि अब क्रान्ति के हिरावल दस्ते की भूमिका अदा करने की स्थिति में मजदूर वर्ग नहीं है, मौजूदा दौर में यह भूमिका मुख्यतः किसान अदा करेंगे और ये किसान भी एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका जैसे 'तीसरी दुनिया' के देशों के किसान होंगे; किसानों के इस हिरावल दस्ते का साथ देंगे छात्र तथा काले लोग। इस दृष्टि से वे संसार की प्रायः सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को गैर-क्रान्तिकारी तथा जड़ मानते हैं और सोवियत संघ को विश्व-क्रान्ति का अग्रणी नेता मानने के स्थान पर बूर्ज्वा तथा "सामाजिक-साम्राज्यवादी" कहते हैं। इनके लिए क्रान्ति का एक ही अर्थ है सशस्त्र क्रान्ति जिसका सबसे विकसित रूप है छापामार युद्ध। स्पष्टतः इन क्रान्तिकारियों के लिए लेनिन में विशेष आकर्षण नहीं है। कास्त्रो, चे गुएवारा तथा रेज़ी देब्रे जैसे युवा क्रान्तिकारियों के करिश्मे से ये इतने अभिभूत हैं कि इन्हें लेनिन की ओर देखने का अवकाश ही नहीं। इनकी दृष्टि में चीन की 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के प्रभामंडल के सामने अक्तूबर क्रान्ति फीकी है।

इन नये क्रांतिकारियों के हृदय में हर तरह के अन्याय के विरुद्ध जो आग भड़क रही है उसकी अनाविल नैतिकता और बलिदान के लिए स्वतः स्फूर्त साहस को देखकर जहां मन में आदर का भाव पैदा होता है वहीं उनकी राजनीतिक समझ को देखकर लेनिन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'उग्रपंथी कम्युनिज्मः एक बचकाना मर्ज़' की याद आती है। यह सही है कि लेनिन की १९२० की लिखी हुई पुस्तक को १९७० के युवकों पर आंख मूंदकर लागू करना ज्यादती होगी किन्तु इस उग्रवाद के 'टुटपुंजिया मध्यवर्गीय' आधार का लेनिन का विश्लेषण आज भी सोलहो आने सही है। निस्सन्देह जैसा कि लेनिन ने कहा था यह अराजकतावाद मजदूर वर्ग के आन्दोलन के अवसरवादी पापों की सज़ा का ही एक प्रकार है; किन्तु इससे उसकी टुटपुंजिया मध्यवर्गीय कमज़ोरियां संगत साबित नहीं होतीं। टुटपुंजिया मध्यवर्ग इतनी आसानी से क्रान्तिकारी अतिरेक की ओर इसलिए जाता है कि वह पूंजीवादी व्यवस्था में जितना कष्ट झेलता है उससे ज्यादा उसका अनुभव करता है। उसमें गुस्से की मात्रा जितनी ज्यादा होती है, संगठन अनुशासन और दृढ़ता की क्षमता उतनी ही कम होती है। इसलिए वह आवेश में आकर दुस्साहसिक प्रयास तो कर बैठता है किन्तु कड़े संघर्ष में उतनी ही जल्दी पस्त होकर उदासीन भी हो जाता है। लेनिन के ये निष्कर्ष क्रान्तिकारी संघर्ष की लम्बी अवधि के प्रत्यक्ष अनुभव के परिणाम थे। जब भीतर के गृहयुद्ध और बाहर के चौतरफा साम्राज्यवादी आक्रमणों के दबसठ में आकर उन्होंने ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की संधि की तो उस ज़माने के उग्रवादियों ने भी लेनिन का विरोध किया और महान अक्तूबर क्रान्ति के नेता पर उन्होंने साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने का आरोप लगाया। आगे चलकर इतिहास ने साबित कर दिया कि लेनिन का वह निर्णय कितना समझदारीभरा और सही था। अपने जमाने के उग्रवादियों के लिए लेनिन के हृदय में भी कम स्नेह और आदर न था, लेकिन सवाल रणनीति और रण-कौशल सम्बन्धी क्रान्तिकारी समझ का था और इस मामले में लेकिन समाजवादी क्रान्ति की इतनी बड़ी उप-लब्धि को बचकानी दुस्साहसिकता के दांव पर लगाने को तैयार न थे। निश्चय ही लेनिन की रणनीति और रणकौशल की यह द्वन्द्वात्मकता उग्रवादियों के लिए काफ़ी पेचीदा है और क्रान्ति की रोमांटिक दृष्टि यदि उसकी ओर उतनी तेज़ी से आकृष्ट नहीं होती तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि आज के रोमांटिक क्रान्तिकारी जिस वियतनाम को 'मेरा नाम तेरा नाम' की तरह जपते हैं स्वयं उसके संघर्ष की गैर-रूमानियत की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानते हैं कि वियतनाम का क्रान्तिकारी संघर्ष चे गुएवारा का छापामार युद्ध नहीं है बल्कि इस युद्ध में इसके अलावा भी अनेक रणकौशल अपनाए गए हैं। इस संघर्ष का हिरावल दस्ता केवल किसान नहीं बल्कि मजदूरों के नेतृत्व में किसानों-मजदूरों का संगठित मोर्चा है जिसमें वियतनामी जनता का बहुत बड़ा देशभक्त हिस्सा शामिल है। इस संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी कर रही है—लेनिनवादी पार्टी के ढांचे पर निर्मित कम्युनिस्ट पार्टी जिसको नये उग्रवादी गैर-क्रान्तिकारी घोषित कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त वियतनाम के इस साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध में सोवियत संघ पूरी तरह वियतनाम के साथ है। इतना होते हुए भी यदि नये क्रान्तिकारी क्रान्ति का कोई रोमांटिक ख्याल अपने दिमाग में पाल रहे हैं तो इसे बचकानापन ही कहा जायगा। दूसरी ओर जो युवक मारकुस, फैनन और कार माइकेल के प्रभाव में आकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद को 'पुराना' तथा अप्रासंगिक मान बैठे हैं उन्हें ठंडे दिमाग से इस पहलू पर भी सोचना चाहिए कि आखिर पश्चिम का बूर्ज्वा प्रेस इतने "खतरनाक" क्रान्तिकारियों को क्यों इतना उछाल रहा है? निस्सन्देह यह उन विचारकों की आलोचना नहीं है किन्तु उनके विचारों पर रोशनी डालने का एक नुक्ता जरूर है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत के शासक वर्ग ने नक्सलवादियों का हौवा खड़ा करके उनके खिलाफ जो जेहाद छेड़ रखा है वह संगत है। शासक वर्ग की इस चाल से भारत के रोमांटिक क्रान्तिकारी भी समझ गए होंगे कि क्रान्ति का रास्ता इतना संक्षिप्त और संकुचित नहीं है। छह महीने का रास्ता छोड़कर छह दिन का रास्ता अपनाना एक राजकुमार के लिए चाहे जितना रोमांचक हो किन्तु क्रान्ति के लिए कोई 'शार्टकट' नहीं है। यही नहीं बल्कि भारत की वर्तमान स्थिति में यह आग के साथ खेलवाड़ है। जिस समय वामपक्षी दलों में गहरी फूट हो, मजदूरों और किसानों के संगठन छिन्न-भिन्न और कमज़ोर हों, उदारपंथी केन्द्रीय सत्ता लड़खड़ा रही हो, तमाम दक्षिणपंथी शक्तियां एकजुट हो रही हों, पूंजीपतियों की इज़ारेदारी बाढ़ पर हो, गांव से लेकर शहरों तक के विशाल निम्न मध्यवर्गीय स्तर में गहरा असंतोष हो तथा आर्थिक संकट के साथ राजनीतिक संकट में तीव्रता आ रही हो, ऐसे समय क्या समाजवादी क्रान्ति की दिशा में दुस्साहसपूर्ण कदम उठाने में जनवाद को भी खो देने का खतरा नहीं है? आखिर कम्बोदिया के सवाल पर साम्राज्यवाद के खतरनाक कदम का विरोध करने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि अमरीकी साम्राज्यवादी मौका देखकर भारत को भी कम्बोदिया बनाने में न चूकेंगे। जिस समय भारत में चारों ओर से फासिस्ट खतरे की आशंका की जा रही है उस समय आतंकवाद की कोई भी कार्रवाई चाहे वह वामपक्ष की ओर से ही क्यों न की गई हो, दक्षिणपंथी आतंकवाद के लिए साक्षात् निमंत्रण है, जिसकी परिणति असंदिग्ध रूप में फासिज्म है! दक्षिणपंथी शक्तियोंके साथ वामपक्षी दलों के तालमेल का प्रयास उस खतरे को और नजदीक लाने में सहायक हो सकता है।

बहरहाल, साहित्य के क्षेत्र में इस 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज़्म' ने अपनी गलत राजनीतिक धारणाओं के बावजूद आरंभ में भद्रवर्ग के निष्प्राण साहित्य को परास्त करने में निश्चित रूप से तात्कालिक सफलताएं प्राप्त कीं। किन्तु दो-तीन वर्ष की अवधि में स्वयं उसी के अन्दर जिस प्रकार ठहराव आ गया उससे स्पष्ट है कि एक अदूरदर्शी जीवन-दृष्टि साहित्य को भी ज्यादा दूर नहीं ले जा सकती। आज भले ही "कान नहीं सुनते हैं कविताएं / कविता पेट से सुनी जा रही है," लेकिन निकलेगी कविता "समूचे आदमी" से ही, बंदूक की नली से नहीं—राजसत्ता भले ही निकल जाय। "इस वक्त जबकि कविता मांगती है समूचा आदमी अपनी खूराक के लिए" तो कविता को कविता के ही द्वारा "समूचा आदमी" देना होगा—इकहरा रोमांटिक क्रांतिकारी नहीं। और यह समूचा आदमी और कुछ नहीं लेनिन की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि का निचोड़ "जीवंत, मूर्त भरा-पूरा सत्य" है। बर्टोल्ट ब्रेष्ट के रचनाकक्ष में लेनिन का यही अमर वाक्य था "ट्रूथ इज़ कांक्रीट!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन के बारे में

बर्टोल्ट ब्रेष्ट

साथी लेनिन का कई बार
और भरपूर सम्मान हुआ है, आदमकद और
नीमकद मूर्तियाँ खड़ी की गई हैं
शहरों और बच्चों के नाम उन पर रखे गये हैं
लेनिन के सम्मान में शंघाई से शिकागो तक
कई ज़बानों में तकरीरें की गई हैं
जलसे हुए हैं और जुलूस निकले हैं
लेकिन दक्खिनी तुर्किस्तान के छोटे से कस्बे
कुजान-बुलाक में गलीचे बुननेवालों ने इस तरह
उनकी अक़ीदत की

वहाँ बीस गलीचे बुननेवाले रहते हैं, शाम को
जब बुनाई करने के लिए वे अपनी मचियों पर
बैठते हैं
तो बुखार उन्हें पेरता रहता है
बुखार फैलता है : स्टेशन भनभनाते हुए मच्छरों के
बादलों से भरा होता है
जो पुराने ऊँटखाने के पीछे गंदे दलदल से उठते हैं
लेकिन रेलगाड़ी, जो हर दूसरे हफ़्ते पानी और
धुआँ लाती है
एक दिन यह भी ख़बर लाती है
कि लेनिन की बरसी का दिन आ रहा है
और कुजान-बुलाक के लोग
ग़रीब जुलाहे
तय करते हैं कि उनकी बस्ती में भी लेनिन की
मूर्ति हो
लेकिन जब वे मूर्ति के लिए पैसे इकट्ठे करते हैं
तो बुखार उन्हें जकड़े होता है

और मेहनत से कमाए अपने सिक्कों को वे काँपते
हाथों से गिनते हैं
और लाल फ़ौज का आदमी, स्तेपा गमालव, जो
मुस्तैदी से गिन रहा है और चौकन्ना है
लेनिन को इज़्ज़त देने के जज़्बे को देखता है और
खुश है
लेकिन वह काँपते हुए हाथ भी देखता है
और यकायक तजवीज़ रखता है
कि वे मूर्ति के लिए जमा किए जा रहे पैसों से
पेट्रोल लें
और उसे ऊँटखाने के पीछे वाले दलदल पर छिड़क
दें
जिससे मच्छर आते हैं और बुखार लाते हैं
इस तरह दोनों काम हो जाएँगे—कुजान-बुलाक में
बुखार से मुकाबला
और मरहूम
लेकिन कभी न भुलाए जाने वाले
साथी लेनिन की सरफ़राज़ी भी

सब इस बात पर राज़ी हुए बरसी के दिन
वे अपनी दबी-पिचकी बाल्टियाँ काले पेट्रोल से भर
एक के बाद एक
ले गए और दलदल पर डाल आए

यूँ उन्होंने लेनिन की इज़्ज़त करते हुए ख़ुद की
मदद की
और अपनी मदद करते हुए लेनिन को इज़्ज़त दी
और
उन्हें समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी हमने सुना किस तरह कुआन-बुलाक के
लोगों ने लेनिन को मान दिया
फिर जिस दिन
पेट्रोल खरीदा गया और दलदल पर छिड़का गया
उस शाम एक आदमी उनकी जमात में खड़ा हुआ
और उसने कहा
स्टेशन पर बतौर यादगार एक तख़्ती लगा दी जाय
जिसमें यह सब लिखा हो और
बदले हुए मनसूबे और लेनिन की मूर्ति की जगह
बुख़ार ख़त्म करने वाली पेट्रोल की टंकियाँ—दोनों की
सारी बातें आ जाएँ

और यह कि इतना सब लेनिन की अक़ीदत में
हुआ
और उन सबने यह भी किया
और वह तख़्ती लगवा दी ●

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन और साहित्य

भीष्म साहनी

लेनिन क्रान्तिकारी थे, साहित्यकार नहीं थे। कहानियाँ-कविताएँ नहीं लिखते थे। उनकी भाषा तर्क की भाषा थी, बिम्बों की भाषा नहीं थी। पर एक बिन्दु पर महान् क्रान्तिकारी और महान् साहित्यकार मिल जाते हैं। दोनों का संवेदन समाज के अन्दर पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को तीव्रता से महसूस करता है, साहित्यकार उन्हें अभिव्यक्त करता है जबकि क्रान्तिकारी अमली तौर पर समाज के निज़ाम को बदलने की कोशिश करता है। दोनों मानवजाति के साथ असंख्य तन्तुओं से गहरे जुड़े होते हैं। दोनों का दृष्टि क्षेत्र संकुचित न होकर विशाल और व्यापक होता है। दोनों के लिए अन्याय, झूठ, अत्याचार असह्य होता है, दोनों जीवन की बाहरी ताम-झाम से प्रभावित न होकर उसकी गहराइयों में पैठने वाले, नये मूल्यों के खोजी, न केवल हमारे चिन्तन को, बल्कि जीवन-व्यवस्था को भी नये आयाम, नये मोड़ देते हैं।

एक क्रान्तिकारी समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है। ज़ाहिर है उसकी नजर में सबसे पहले समाज के उस वर्ग का ही हित होगा जिसके लिए वह लड़ रहा है, जिसके लिए वह समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है।

जिस समाजवादी समाज की स्थापना लेनिन के क्रान्तिकारी जीवन का ध्येय रही, उसमें रूस की विशाल गरीब जनता, निरक्षर, अपहृत, भूखी-नंगी जनता का ही सुख अपेक्षित था।

वह चाहते थे कि समाज की ऐसी व्यवस्था बने जिसमें विशाल जनसमूहों का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो, साहित्य के खज़ाने उस गरीब जनता तक पहुँचें, निरक्षर लोग साक्षर बनें, साहित्य की जो निधि समाज के एक छोटे-से धनी वर्ग को प्राप्त है, वह उसी तक सीमित न रहकर समस्त जनता तक पहुँचे। हम सभी जानते हैं कि वह साहित्यकार के नाते टाल्सटाय की कृतियों का बहुत ऊँचा मूल्य आंकते थे। पर वह उस दिन के स्वप्न देखा करते थे जब टाल्सटाय की कृतियाँ रूस के लाखोंलाख लोग पढ़ पायेंगे। जनता के उज्ज्वल भविष्य की कामना करने वाला व्यक्ति चाहता है कि जनता का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो। क्रान्ति के बाद एक बार बोलशोई थियेटर में किसी बढ़िया खेल की चर्चा उठने पर लेनिन ने क्लारा जेटकिन से कहा :

"ठीक है, हमारे सुन्दर बेले नृत्य विदेशों में बहुत से लोगों के लिए इस बात का प्रमाण हैं कि हम बोल्शेविक लोग इतने जाहिल नहीं जितना वहाँ माना जाता था। मैं ऐसे कार्यक्रमों के महत्व से इन्कार नहीं करता...पर मैं यह स्वीकार करूँगा कि अगर दूर-पार के किन्हीं गाँव में दो-तीन प्राइमरी स्कूल खोल दिये जाएँ तो मुझे कहीं ज्यादा सन्तोष होगा।"

कला और साहित्य के खज़ाने जो अभी तक समाज के एक छोटे-से वर्ग के हाथ में रहे थे—लेनिन उन्हें विशाल जन-समूह की मिल्कीयत बनाना चाहते थे। अभी तक विशाल जन-समूह निरक्षर, अज्ञानी, तरह-तरह के भ्रमों में फँसा हुआ, उत्पीड़ित और संस्कृति की प्रत्येक देन से वंचित रहा था, जबकि विद्या और ज्ञान और संस्कृति के भण्डार केवल समाज के धनी वर्ग को प्राप्त थे।

जो भी व्यक्ति अपहृत जन-साधारण की नज़र से समाज को देखता है, उसके दिल में इस बात की तड़प रहती है कि जो चीज़ एक वर्ग को मयस्सर रही है वह सभी को मयस्सर हो। इसलिए लेनिन चाहते थे कि स्कूल खुलें, जनता को अच्छी-से-अच्छी तालीम दी जाय, विज्ञान, इतिहास, टेक्नोलाजी आदि की सभी उपलब्धियाँ उन तक पहुँचें।

१९१० में, जिस वर्ष रूस के महान लेखक टाल्सटाय की मृत्यु हुई लेनिन ने लिखा :

"कलाकार टाल्सटाय को रूस में केवल गिने-चुने लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही जानते हैं। यदि उनकी महान कृतियों को लोगों तक सचमुच पहुँचाना है तो समाज की उस पद्धति के विरुद्ध संघर्ष करना होगा—जो लाखों-लाख लोगों को जहालत, अंधकार, गरीबी में रखे रहती है—हमें समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करनी होगी।"

साहित्य और कला सम्बन्धी उनके विचारों को पढ़ते समय हम इस बात को देखकर प्रभावित हुए बिना नहीं रहते कि उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और विशाल था। कला और संस्कृति के खज़ानों को वह समस्त मानवजाति की विरासत मानते थे। यह ठीक है कि समाज के विकास में अलग-अलग युग रहे, सामन्तवादी युग भी रहा और पूंजीवादी युग भी, लेकिन ये अपने में अलग-थलग युग नहीं थे, एक-दूसरे से जुड़े थे, एक का स्थान दूसरे ने लिया था, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों द्वारा एक के बाद दूसरा आया था। लेनिन इतिहास के नैरन्तर्य में विश्वास रखते थे। यदि कल सामन्तवादी युग था और आज पूंजीवादी युग है और आने वाले कल को समाजवादी युग होगा तो ये एक-दूसरे में से जन्म लेकर निकले थे, और एक-दूसरे से विरासत में बहुत-कुछ लेकर आये थे। अपने में अलग-थलग कोई नहीं जन्मा था। इसी भाँति कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी यह नैरन्तर्य बना रहता है। समाजवादी पद्धति न केवल पूंजीवाद का बल्कि इससे पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं का भी तर्कसंगत परिणाम होगी। यह कहना गलत होगा कि सामन्तवादी व्यवस्था की सांस्कृतिक उपलब्धियों का पूंजीवादी संस्कृति की उपलब्धियों के साथ कोई मेल नहीं, या पूंजीवादी साहित्य का समाजवादी साहित्य से कोई मेल नहीं।

लेनिन की दृष्टि में समस्त प्राचीन संस्कृति और साहित्य का मानवजाति के लिए निश्चित मूल्य था। वह उसे समस्त मानवजाति की विरासत मानते थे।

इसी तरह सर्वहारा संस्कृति हवा में से पैदा होने वाली अलग-थलग चीज नहीं है। यह उन लोगों की ईजाद नहीं है जो अपने को सर्वहारा संस्कृति के विशेषज्ञ मानते हैं। लेनिन ने लिखा :

"सर्वहारा संस्कृति, उस ज्ञान-भण्डार का तर्कसंगत विकास है जिसे मानवजाति ने पूंजीवादी, सामन्तवादी और नौकरशाही समाज के जुए के नीचे संचित किया है। ये सभी रास्ते सर्वहारा संस्कृति की ओर चलते रहे हैं, और चलते रहेंगे।" (लेनिन ग्रंथावली, जिल्द ३१, पृ० २८१)

हमारे यहाँ भी ऐसी विचारधारा पायी जाती रही है जो सर्वहारा समाज की बात करते हुए अपने सारे अतीत को नकारा करते थे, पिछले समस्त साहित्य का मज़ाक उड़ाया करते थे, भले ही वह कालिदास हो, रामायण-महाभारत हो, सूफ़ी और भक्त कवियों की साखियाँ हों या टैगोर का साहित्य हो। ज़ाहिर है कि यह नजरिया संकीर्ण ही नहीं, गलत भी था, मूलतः दोषपूर्ण था। लेनिन के जीवनकाल में, रूस में भी ऐसे लोग थे जिनका मत था कि पिछले युगों की आध्यात्मिक संस्कृति का समस्त भण्डार विजयी सर्वहारा को मंजूर नहीं है। इन लोगों का मत था कि पिछले काल की समस्त संस्कृति को मटियामेट कर देना चाहिए :

"हम आने वाले कल की खातिर रफ़ेयल के चित्रों को आग लगा देंगे, संग्रहालयों को तबाह कर देंगे, और कला के फूलों को पाँवों तले रौंद डालेंगे (Gryadushchee, *The Future*—1918 No. 2, p. 4)।

इस तरह के विध्वंसकारी, अथवा तथाकथित क्रान्तिकारी कला के प्रतिनिधि रूस में भी क्रान्ति के समय काफी संख्या में पाये जाते थे, जो "कल्चर मुर्दाबाद" का नारा लगाया करते थे।

लेनिन ने इन लोगों का कड़ा विरोध किया था।

"हमें उस समस्त संस्कृति को लेना होगा जो पूंजीवाद अपने पीछे छोड़ गया है। हमें उसकी समस्त साइंस, टेक्नोलाजी, ज्ञान और कला को लेना होगा। इनके बिना हम कम्युनिस्ट समाज का निर्माण नहीं कर पायेंगे।"

संस्कृति के क्षेत्र में जगह-जगह हमें लेनिन के उदार, व्यापक और सन्तुलित विचार पढ़ने को मिलते हैं। एक जगह नौजवानों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा :

"...हम अपने को कम्युनिस्ट निष्कर्षों तक सीमित नहीं रख सकते, और केवल कम्युनिस्ट नारे ही नहीं सीख सकते।...तुम सच्चे कम्युनिस्ट तभी बन पाओगे जब मानवजाति द्वारा रचित ज्ञान के समस्त खजाने से अपने को समृद्ध बना लोगे।"

इसी तरह एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा :

"मार्क्सवाद ने क्रान्तिकारी सर्वहारा की विचार-पद्धति के नाते बुर्जुआ युग की बहुमूल्य उपलब्धियों को रद्द नहीं किया, इसके विपरीत, मानव-चिन्तन और संस्कृति के पिछले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो हज़ार साल से अधिक समय के विकास में जो कुछ भी मूल्यवान था उसे अंगीकार किया है और उसे नया रूप दिया है। भविष्य में इसी आधार पर और इसी दिशा में किये जाने वाले काम को ही सच्ची सर्वहारा क्रान्ति का विकास माना जा सकता है।" (लेनिन ग्रंथावली, जिल्द ३१, पृ० ३१७)

महान् कला और साहित्य समस्त मानवजाति की विरासत है। उसे वह सदैव बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके मन में यह विचार कभी नहीं आया कि वही कला श्रेष्ठ है जो राजनीतिक प्रचार का साधन बने, न ही उन्होंने कभी किसी लेखक अथवा कलाकार को इस नज़र से देखा कि वह किस वर्ग में से आया है। यह संकीर्ण दृष्टि न कभी उनकी रही और न ही कभी उन्होंने इसे प्रश्रय दिया। उनकी पत्नी ने एक जगह लिखा है कि एक बार वे दोनों उस कम्यून में गये जहाँ कला विद्यालय के छात्र रहा करते थे। बातों-बातों में उन्होंने लड़कों से पूछा :

"तुम पढ़ते क्या हो? क्या तुम पुश्किन की रचनाएँ पढ़ते हो?"

"जी नहीं," उनमें से एक बोला, "वह तो बुर्जुआ था। हम मायाकोव्स्की की रचनाएँ पढ़ते हैं।"

लेनिन मुस्करा दिये। उन्होंने कहा—

"मैं सोचता हूँ पुश्किन बेहतर लेखक है।"

पुश्किन बुर्जुआ थे, और टालसटाय काउण्ट थे, इसलिए उनकी रचनाएँ अच्छी नहीं हो सकतीं, इस प्रकार की संकीर्ण दृष्टि का लेनिन ने सदा विरोध किया। उनके विचार में टालसटाय की कलम में जादू था और उन्हें वह विश्व के महान् लेखकों में मानते थे।

इसी दृष्टि के अनुरूप ही १९१८ में, अनेक ऐसी विज्ञप्तियाँ जारी की गईं जिनके अनुसार कला की सभी प्राचीन कृतियाँ, जिनमें रूसी और पश्चिमी यूरोप की चित्र-कला के नमूने, मास्को, लेनिनग्राद और अन्य स्थानों में रजिस्टर करके सुरक्षित किये गये। मास्को की एक बहुत बड़ी चित्र-प्रदर्शनी त्रेत्याकोव आर्ट गैलरी का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

यह तो रही उनके व्यापक, उदार और सन्तुलित दृष्टि-कोण की बात।

कला और साहित्य की महान् कृतियों के प्रति उनके दिल में गहरा आदर-भाव था। महान् लेखकों और कवियों की रचनाओं पर वह विस्मित और अभिभूत हो जाते थे।

लुनाकार्स्की ने अपने संस्मरणों में एक जगह लिखा है :

"१९०५ में, पहली क्रान्ति के दिनों में लेनिन एक रात लेश्शेंकों के घर पर रहे, लेश्शेंकों के पास विश्व के महान् लेखकों की रचनाओं का एक सेट रखा था। दूसरे दिन सुबह लेनिन ने मुझसे कहा, 'कला के इतिहास में कितना आकर्षण है। मैं रात भर नहीं सो पाया, एक के बाद एक किताब देखता रहा। और मुझे इस बात का अफसोस हुआ कि कला के लिए मैं न तो कभी समय निकाल पाया हूँ और न निकाल पाऊँगा'।"

उनका यही भाव चित्रकला के प्रति भी था और संगीत के प्रति भी। गोर्की ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक शाम येकातरीना पेश्कोवा के घर पर लेनिन बीथोवन का संगीत सुनते रहे। संगीत सुनने पर वह बोले :

"Appassionata से भी कोई अधिक सुन्दर रचना हो सकती है मैं नहीं जानता। मैं इसे हर रोज सुन सकता हूँ। कितना विस्मयकारी, मानवेतर संगीत है यह। मैं बड़े गर्व से कभी-कभी सोचता हूँ जो शायद बचकाना जान पड़े, देखो तो लोग कैसे-कैसे चमत्कार कर दिखाते हैं।"

कला के लिए उनके दिल में तीव्र उत्सुकता और विस्मय का-सा भाव पाया जाता था।

लेनिन बड़े सुशिक्षित व्यक्ति थे, अनेक भाषाएँ जानते थे, लेखकों के साथ—विशेषकर अपने देश में गोर्की के साथ—उनका गहरा सम्पर्क रहा, और साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। लेनिन की पत्नी का कहना है कि जब कभी गोर्की उनसे किसी नये लेखक की चर्चा करते, लेनिन फौरन उसकी पुस्तकें मँगवाकर पढ़ते। जब भी उन्हें मौका मिलता वह खूब पढ़ते, भले ही वह मास्को में रह रहे हों या साइबेरिया में निर्वासन का दण्ड भोग रहे हों, या पेरिस, लन्दन अथवा जेनेवा में अपने प्रवास के दिन काट रहे हों। टालसटाय की रचनाओं पर उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। लड़कपन से ही उन्होंने तुर्गनेव, चेर्निशोव्स्की, लेरमेन्तोव, पुश्किन आदि की रचनाएँ पढ़ डाली थीं। चेर्निशोव्स्की के उपन्यास 'क्या करें?' का उन पर गहरा असर हुआ था, और इस उपन्यास को उन्होंने बार-बार पढ़ा।

टालसटाय की महान् कृतियों से भी वह बहुत प्रभावित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए। उनकी पत्नी के संस्मरणों से हमें पता चलता है कि मृत्यु के कुछ ही दिन पहले वह अपनी पत्नी से जैक लण्डन की की कहानी 'जीवन-प्रेम' पढ़कर सुनाने का आग्रह करते रहे थे, और अपनी बीमारी के दौरान गोर्की की रचना 'मेरे विश्वविद्यालय' सुनते रहे थे।

लेनिन किस प्रकार का साहित्य पसन्द करते थे? एक शब्द में कहें तो उन्हें ऐसा साहित्य पसन्द था जो यथार्थ का चित्रण करे। जो जीवन से जुड़ा हो, जिसमें अपने काल में पाये जानेवाले मूल अन्तर्विरोधों की पकड़ हो। इसी कारण उन्हें चेर्निशोव्स्की का उपन्यास पसन्द था क्योंकि उसने समाज की उन प्रवृत्तियों को देख लिया था जो १८६१ के कृषि-सुधारों के बाद रूस में पैदा होने लगी थीं। टालसटाय की महानता उनकी नज़र में इस बात में थी कि उन्होंने १६१ से लेकर १६०५ तक के काल में, अर्थात् भूदास प्रथा केखात्मे से लेकर पहली रूसी क्रान्ति तक के जीवन का सजीव, यथार्थ, कलात्मक और शक्तिशाली चित्रण किया है। यह वह काल था जब रूस में भूदास प्रथा की समाप्ति के कारण ग्राम-व्यवस्था की पुरानी नीवें टूट गई थीं और नई व्यवस्था का रूप प्रकट नहीं हो पाया था, और किसान का जीवन सुधरने के बजाय और अधिक निःसहाय और दुःखी हो उठा था।

टालसटाय के सम्बन्ध में अपने एक लेख में लेनिन ने लिखा :

"रूस के ग्रामीण जीवन के बारे में टालसटाय का ज्ञान अद्वितीय था···अपनी कलापूर्ण कृतियों में उन्होंने इस जीवन की ऐसी तस्वीर खींची है जो विश्व-साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियों में से है। टालसटाय रूस के सबसे ऊँचे, सम्भ्रान्त परिवारों में से थे। उन्होंने इस परिवेश की परम्परागत मान्यताओं से अपना नाता तोड़ लिया और अपनी बाद की कृतियों में समकालीन राज्य-सत्ता, धर्म-संस्थान, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की कड़ी आलोचना की जो जनता की गुलामी पर आधारित थे, उत्पीड़न और पाखण्ड पर खड़े थे।"

"टालसटाय द्वारा की गई आलोचना", लेनिन लिखते हैं, "कोई नई आलोचना नहीं थी···टालसटाय की आलोचना की विशिष्टता और उसका ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस काल के रूस, यानी ग्रामीण रूस, किसानों के रूस—के विशाल जन-समुदायों के विचारों में होनेवाले आमूल परिवर्तन को ऐसे शक्तिशाली ढंग से आँका है जैसा कि विरल प्रतिभा वाले कलाकार ही आँक सकते हैं।"

लेनिन ने टालसटाय की महानता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा—किसान-जीवन के उनके गहरे ज्ञान में, किसानों के प्रति उनके दर्द में और उनकी प्रचण्ड कलात्मक शक्ति में। लेनिन की नज़र में उनकी महानता इस बात में थी कि टाल्सटाय अपने सम्भ्रान्त परिवार और वर्ग की परम्पराओं से नाता तोड़कर, गरीब जनता, गरीब किसानों की दुनिया में जाकर विचरने लगे थे और हर प्रकार के पाखण्ड और जुल्म का विरोध करने लगे थे। उनकी महानता उनकी गहरी मानवीयता तथा सृजनशक्ति में निहित थी।

जहाँ लेनिन एक लेखक से इस बात की आशा करते थे कि वह समाज से जुड़ा हो, समाज में होने वाले परिवर्तनों को देखता हो, वहाँ उन्होंने रचनात्मक क्षेत्र में किसी संकीर्ण-वाद या सिद्धान्त के अनुरूप लिखने की माँग नहीं की।

"प्रत्येक कलाकार का," उन्होंने एक जगह लिखा, "प्रत्येक ऐसे व्यक्ति का जो अपने को कलाकार मानता है, यह अधिकार है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने विचारों-आदर्शों के अनुरूप, सभी बातों से स्वतन्त्र रहते हुए अपनी रचनाएँ रचे।"

याद रहे, जहाँ लेनिन टालसटाय की कला के प्रशंसक थे, वहाँ वह टालसटाय की आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं के कटु आलोचक भी थे। उन्होंने टालसटाय की कृतियों को मात्र उनके अध्यात्मवाद के आधार पर नहीं आँका था, ऐसा करते तो टालसटाय को प्रतिक्रियावादी ठहराकर उनकी रचनाओं को रद्दी की टोकरी में फेंक देते। जहाँ उन्होंने टालसटाय के दर्शन की कड़ी आलोचना की है, वहाँ उन्होंने टालसटाय के साहित्य को विश्व-साहित्य की उज्ज्वल उपलब्धि भी माना है। बल्कि एक जगह पर तो उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि समाजवादी क्रान्ति इसलिए जरूरी है कि लोग साक्षर होकर टालसटाय की महान् कृतियाँ पढ़ सकेंगे।

उन्हें नारेबाजी वाला साहित्य पसन्द नहीं था, उन्होंने साहित्य से नारेबाज़ी की माँग नहीं की, उत्कृष्ट कलात्मक गुणों की माँग की है।

लेनिन साहित्य में यथार्थ चित्रण को साहित्य का उत्कृष्ट गुण मानते थे। पर साथ ही वह यथार्थ चित्रण और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक दृष्टिकोण का समन्वय चाहते थे। लेनिन की पत्नी नदेज़्दा क्रुप्स्काया ने एक जगह लिखा है :

"लेनिन कथा-साहित्य पढ़ते थे, इसमें उन्हें रस मिलता था। लेकिन उनके पढ़ने में एक बात थी, उनकी नज़र में लेखक की सामाजिक दृष्टि और यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति मिलकर एक हो जाती थी। वह उन्हें अलग-अलग नहीं कर पाते थे, और जिस भाँति चेर्निशेव्स्की अपने उपन्यासों में बड़े ब्यौरे के साथ अपने विचार व्यक्त करने के आदी थे, वैसे ही लेनिन को भी वे पुस्तकें पसन्द थीं जो सजीव ढंग से सामाजिक विचारों को व्यक्त करती थीं। वह अपने पढ़ने के लिए उपन्यास स्वयं चुनते थे···"

एक क्रान्तिकारी के नाते लेनिन को वह साहित्य पसन्द था जिसमें जीवन के प्रति निष्ठा पाई जाये, जो मनुष्य को ऊँचा उठाये, जो उसे सतत संघर्ष की प्रेरणा दे। व्यंग्यात्मक साहित्य की तुलना में उन्हें वीरतापूर्ण साहित्य अधिक पसन्द था।

लेनिन ने लेखक के लिए जनता के बीच रहना परमाश्यक माना है। जनता से सम्पर्क को वह ऐसी लौ मानते थे जो लेखक का पथ प्रशस्त करती है। वह लेखक से जनता के साथ रागात्मक सम्बन्ध की अपेक्षा करते थे। गोर्की जब इटली से लौटे तो लेनिन ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उनकी नजर में जनता के लेखक के लिए अपने वतन की हवा में साँस लेना, अपने दिल की प्रत्येक धड़कन से अपने देश के जीवन को महसूस करना, अपनी आँखों से उसकी गतिविधि को देखना बहुत जरूरी था। लेखक का जीवन से गहरा सम्पर्क बना रहे, लेनिन लेखक से इस बात की अपेक्षा करते थे।

गोर्की के साथ एक बार नहीं, अनेक बार उनका राजनीतिक स्तर पर मतभेद हुआ, लेकिन कहीं भी उन्होंने गोर्की से यह नहीं कहा कि तुम ऐसा नहीं लिखो, ऐसा लिखो। अगर कुछ कहा है तो यह कि जनता के बीच रहो, उन भाग्यवादी बुद्धिजीवियों के बीच न रहो जिन्हें चारों ओर निराशा-ही-निराशा, अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आता है। "मैं सच कहता हूँ," उन्होंने अपने एक पत्र में गोर्की को लिखा, "अगर इन बुद्धिजीवियों के घुटनभरे परिवेश से अपने को आजाद नहीं करोगे तो तुम तबाह हो जाओगे··· मैं तुम पर कोई नसीहत लादना नहीं चाहता, लेकिन मैं इतना जरूर कहूँगा, अपना परिवेश बदलो, अपने रहन-सहन की स्थिति बदलो···वरना जीवन से तुम्हें सदा के लिए घृणा होने लगेगी।"

टालसटाय के दर्शन की चर्चा करते हुए लेनिन ने एक जगह लिखा :

"निराशावाद, बुराई की मूक स्वीकृति, अध्यात्मवाद ऐसी विचारधारा के अंग हैं जो ऐसे युग में अनिवार्य हो जाती है जब समस्त पुरानी पद्धति ऊपर से नीचे तक टूट रही हो, और जनता, जिसने माँ के दूध के साथ पुरानी पद्धति के सिद्धान्तों को अंगीकार किया होता है, यह देख नहीं पाती कि किस प्रकार की नयी पद्धति जन्म ले रही है और कौन-सी सामाजिक शक्तियाँ उसे रूप दे रही हैं।"

यह अत्यधिक दुःख और क्लेश का काल होता है। पर लेनिन लेखक से इस बात की अपेक्षा करते थे कि वह समाज में होने वाले संघर्ष को पहचाने, सामाजिक शक्तियों के संघर्ष की पृष्ठभूमि में जीवन के बदलते परिवेश को देखे और समझे।

कला और साहित्य के प्रति लेनिन का रवैया एक आलोचक का रवैया कभी नहीं रहा। अपनी पसन्द और नापसन्द के आधार पर उन्होंने सौन्दर्यबोध के सिद्धान्त नहीं गढ़े। उन्होंने कहीं नहीं कहा कि यदि अमुक रचना पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार करती है तभी उसे सच्चे साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने किसी पर अपना मत लादने की कोशिश नहीं की। बल्कि कला और साहित्य के प्रति उनके रवैये में अत्यधिक विनम्रता पायी जाती थी।

रूस में उन दिनों भी साहित्य और कला के कुछ क्षेत्रों में नवीनता की वाहवाही थी। भविष्यवाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद आदि का बोलबाला था। लेनिन अपने विनम्र स्वभाव के अनुरूप इनके बारे में अपना मत प्रकट करने में झिझकते थे। एक बार जब लेनिनग्राद और मास्को में एक प्रदर्शन के लिए महान् क्रान्तिकारियों की प्रतिमाएँ खड़ी करने का विचार किया गया और एक मूर्तिकार ने उस काल की आधुनिक शैली में एक क्रान्तिकारी का बुत बनाया तो लेनिन झेंप गये, पर उन्होंने अपना कोई मत व्यक्त नहीं किया। "मैं इस कला को नहीं समझ पाता हूँ", उन्होंने कहा। इसी प्रकार मायाकोव्स्की की कविता उन्हें पसन्द नहीं थी। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

[illegible], असम्बद्धता आदि दोष नज़र आते थे। लेकिन उन्होंने यह भी महसूस [illegible] मायाकोव्स्की की कविता इसलिए पसन्द है कि भावनाओं की जिस बेचैनी, उत्तेजना को वे व्यक्त करना चाहते हैं, उसके लिए उन्हें समकालीन भाषा में उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। मायाकोव्स्की की गूढ़, उत्तेजित, असम्बद्ध भाषा में उन्हें उन भावों की झलक मिलती है, इसलिए वह उससे सन्तुष्ट हैं। इस कारण अपनी अभिरुचि के आधार पर उन्होंने मायाकोव्स्की की कविता का मूल्यांकन करना छोड़ दिया। वह इतना भर कहते थे कि यह कविता मुझे छू नहीं पाती, मुझे इसमें रस नहीं मिलता।

हां, एक बात के बारे में उनका ज़ेहन साफ था। वह नवीनता को महज़ नवीनता के नाते कबूल करने के लिए तैयार नहीं थे। नवीनता को आधार मानकर पुराने उत्कृष्ट साहित्य को नकारना उन्हें मंजूर न था। क्लारा ज़ेटकिन के साथ अपनी बातचीत में उन्होंने कहा :

"चित्रकला में हम जरूरत से ज्यादा बुतशिकन बन रहे हैं। जो सुन्दर है, उसे सुरक्षित रखना होगा, भले ही वह 'पुराना' हो, और यहीं पर विभाजन रेखा भी खींचनी होगी। जो सचमुच सुन्दर है उसके प्रति हम पीठ क्यों मोड़ लें, और उसे रद्द क्यों कर दें, महज़ इसलिए कि वह पुराना है, और इस तरह विकास के लिए नये और पुराने को आधार रेखा मान लें? नवीनता को देवता मानकर हम उसके सामने सिर नवाने लगें, केवल इसलिए कि वह नया है? यह बकवास है, बिल्कुल बकवास है। इसमें बहुत-कुछ कोरा [illegible] रूप में कला के उन फैशनों का दम भरना है जिनका पश्चिम में बोलबोला है। हम अच्छे क्रान्तिकारी हैं, पर, न जाने क्यों, हम यह साबित करने के लिए भी ललकते रहते हैं कि हम आधुनिक संस्कृति में भी आगे चलने वालों की सफ़ में हैं। मैं तो बेझिझक कहूंगा कि इस मामले में मैं 'बर्बर' हूं। मैं भविष्यवाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद और अन्य वादों को कलात्मक प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानने में असमर्थ हूं। मैं उन्हें नहीं समझ पाता। मुझे उनसे कोई रस नहीं मिलता।"

"लेकिन"—और उनका यह विचार महत्त्वपूर्ण है, "कला के सम्बन्ध में हमारा मत सर्वोपरि महत्त्व नहीं रखता। और इसका भी बहुत महत्त्व नहीं कि करोड़ों की जनसंख्या में कुछेक सौ या हज़ार व्यक्तियों के लिए कला का क्या महत्व है। कला जनता की मिल्कीयत है। उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के भीतर गहरे में बोनी होंगी। इन विशाल जन-समुदायों की समझ में इसे आना चाहिए। उनकी भावनाओं को, उनके विचारों, उनकी संकल्प-शक्ति को, एकबद्ध करना, उन्हें ऊँचा उठाना, इसका काम है। इसका कर्त्तव्य है कि वह उनमें पायी जाने वाली कला-प्रवृत्तियों को स्फूर्ति दे, उनका विकास करे। छोटे-से अल्पमत को तो हम बढ़िया केक खिलाते रहें जबकि मज़दूरों और किसानों की विशाल जनसंख्या को काली रोटी भी न मिले, यह कहाँ की दानिशमन्दी है?" ●

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय साहित्य में लेनिन

ई० चेलीशेव

पूर्व के जनगण के जागरण में व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने बड़ी भूमिका अदा की। वे उपनिवेशों के साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को पूंजीवादी जूए के खिलाफ मेहनतकश वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। वे हमेशा इस पर ज़ोर देते रहे कि पश्चिम में मेहनतकशों के क्रान्तिकारी आन्दोलन और पूर्व के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अन्योन्याश्रय रूप से एक-दूसरे के पूरक हैं और यह कि एक ही शक्तिशाली प्रवाह के रूप में वे दमन और शोषण का संसार सदैव के लिए नष्ट कर देंगे। पूर्व के जनगण के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में उन्होंने कहा था, "समूची पश्चिमी सभ्यताओं का भाग्य-विधान अधिकाधिक रूप में अब, राजनैतिक जीवन में पूर्व की मेहनतकश जनता के सहयोग पर निर्भर करता है।"

प्राच्य देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के अनेक नेताओं पर लेनिन का व्यापक प्रभाव पड़ा। वे उनके विचारों की भूमिका की उच्च प्रशंसा करते थे, जो उनके देशों के जनगण के जीवन में तथा मानवता के इतिहास में अदा कर रहे थे।

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के महात् नेता महात्मा गांधी ने लिखा था, "लेनिन जैसी महान् आत्मा के त्याग से तपीभूत आदर्श व्यर्थ नहीं जा सकते, उनके त्याग के पुनीत उदाहरण सदा-सदा के लिए आलोकित रहेंगे और समय व्यतीत होने के साथ-साथ आदर्श को उज्ज्वल और शुद्ध करेंगे।"

जवाहरलाल नेहरू ने बल देकर कहा था, "लेनिन न केवल स्वदेश रूस में ही शक्तिशाली परम्परा बन गए हैं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में उन्होंने यह स्थान ग्रहण कर लिया है। समय बीतने के साथ वह महानतर होते जाते हैं, वह विश्व के स्पृहणीय अमर व्यक्तियों में हो गए हैं···वह स्मारकों अथवा चित्रों में जीवित नहीं बल्कि अपने विशाल कार्य में और करोड़ों मेहनतकशों के हृदयों में जीवित हैं, जो उनके उदाहरण से प्रेरणा लेते हैं और बेहतर दिन की आशा करते हैं।"

सबको लेनिन के उस महान् ध्यान की बाबत जानकारी है जो उन्होंने भारतीय जनता के राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलन की ओर दिया। एक मेधावी की दिव्य दृष्टि की तरह उन्होंने उपनिवेशी दासता के जुए से भारतीय जनता की अवश्यम्भावी मुक्ति की भविष्यवाणी की। १९०८ में ही वी० आई० लेनिन ने (बालगंगाधर तिलक पर झूठा मुकदमा बनाने वाले उपनिवेशी अधिकारियों की निरंकुशता के प्रति क्रुद्ध बम्बई के सर्वहारा वर्ग की आम हड़ताल के सिलसिले में) अपने लेख 'विश्व राजनीति में ज्वलनशील सामग्री' में लिखा : "भारत में भी सर्वहारा जागृत राजनैतिक आम संघर्ष के लिए विकसित हो चुका है और ऐसी स्थिति में रूसी ढंग के इस बर्तानवी शासन का अन्त भारत में निश्चितप्राय है।"

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के नेतागण रूस की मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष से, लेनिन के नेतृत्व में होने वाले संघर्ष से प्रेरणा ग्रहण करते थे। न तो युवा सोवियत राज्य से भारत को विलग करने वाली उच्च पर्वत श्रेणियाँ और न ही उपनिवेशवादियों की जंजीरें, जेलें, और न ही पूंजीवादी कलमनवीसों की चालाकीभरी मनगढ़न्तें, जो रूस में मेहनतकश जनता की महान जीत को बदनाम करने अथवा उस पर पर्दा डालने की कोशिश कर रही थीं, अक्तूबर क्रान्ति और उसके नेता के बारे में सच्चाई को छिपा नहीं सकीं।

उपनिवेशी प्रतिबन्ध की सभी बाधाओं के बावजूद पत्र-पत्रिकाओं में विशेषकर भारत के उन हिस्सों में, जहाँ मुक्ति संघर्ष १९१७ के अन्त में खासतौर पर तेज था, रूस की क्रान्तिकारी घटनाओं के बारे में लेख व समाचार प्रकाशित होते थे। इनके लेखक आमतौर पर भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले होते थे।

क्रान्तिकारी मेहनतकश आन्दोलन के एक बड़े केन्द्र, बम्बई में सुप्रसिद्ध पत्रकार और बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी के० पी० खाडिलकर ने १९१७ के दिसम्बर में एक लेख 'चित्रमय जगत' के प्रथम अंक में लिखा था, जो अक्तूबर क्रान्ति के बाद प्रकाशित हुआ था। इस लेख में उन्होंने रूस में समाजवादी क्रान्ति और इसके नेता लेनिन के बारे में साधारण भाषा में और व्यापक रूप से वर्णन प्रस्तुत किया था। उन्होंने लेनिन की उन गतिविधियों पर जोर देने की चेष्टा की जो भारत की साधारण जनता की भावनाओं के अनुरूप थीं और जो राजनैतिक और सामाजिक मुक्ति के लिए बेताब थीं। उन्होंने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार सम्बन्धी लेनिन की डिक्री की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया। "यह मानने के लिए थोड़ी-सी ही कल्पना की आवश्यकता है कि भारतीयों के हृदय कितने रोमांचित हो उठे होंगे···जब उन्हें उस सोवियत डिक्री के बारे में ज्ञात हुआ होगा, जिसमें जारशाही शासन के अधीन जातियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी," ऐसा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रख्यात नेता श्रीनिवास गणेश सरदेसाई ने आगे चलकर लिखा था।

२९ जनवरी १९१८ को 'केसरी' में, जिसके सम्पादक तिलक थे, एक सम्पादकीय प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था: 'रूसी नेता लेनिन के बारे में' और इसमें तिलक ने पूंजीवादी समाचारपत्रों की रूसी मेहनतकश जनता के नेता के बारे में सभी तरह की गलतबयानियों तथा दुर्भावनाओं को बेनकाब किया था। उन्होंने लेनिन के निःस्वार्थ जीवन और कार्यों का वर्णन किया था।

अक्तूबर १९२१ में फणि भूषण घोष ने बंगला भाषा में वी० आई० लेनिन का संक्षिप्त जीवन-चरित्र प्रकाशित किया और उसमें उन्होंने लिखा कि वी० आई० लेनिन का मुख्य लक्ष्य, महात्मा गांधी की नाईं ही, सभी प्रकार के दमन को समाप्त करने की कामना तथा साधारण जनता को गरीबी और निरंकुशता से मुक्त करना था। उन्होंने लिखा:

"लेनिन के अनुसार समाज की उस दुर्दशा का कारण यह है कि उत्पादन के समस्त साधन तथा सारी ज़मीन केवल ज़मींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में है।"

सचिन सान्याल ने लेनिन के जीवन और कृतित्व के बारे में जो लेखमाला लिखी उसका भी उल्लेख करना प्रासंगिक रहेगा। ये लेख मार्च १९२१ से दो वर्ष तक प्रगतिशील पत्रिका 'संख्या' में प्रकाशित होते रहे और फलस्वरूप इन लेखों के लेखक को बाद में गिरफ्तार किया गया और मुकदमा चलाया गया।

एक बंगाल-निवासी सज्जन अमूल्य अधिकारी ने १९२३ में लिखा:

"लेनिन मज़दूरों के मित्र थे। हर व्यक्ति उन्हें जानता था और मज़दूर लेनिन को अपने शिक्षक के रूप में मानता था। बोल्शेविक पूर्णतः साम्राज्यवाद-विरोधी है, इसीलिए अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और अन्य लोगों ने नये राज्य को कुचलने का प्रयास किया। परन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक आज विश्व के सम्मुख विजयी खड़े हैं। पूंजीवादी भयभीत हो गए हैं और खरगोशों की भाँति भाग रहे हैं। समस्त विश्व की उत्पीड़ित जनता मुक्ति के लिए लेनिन की प्रतिभा और बोल्शेविकों से प्रेरणा प्राप्त करती है।

लेनिन के नाम, उनके विचारों तथा नवजीवन के निर्माण में सोवियत जनता की उपलब्धियों को भारत में लोकप्रिय बनाने में नेहरूजी का बड़ा हाथ था। इस महान् भारतीय राजनेता ने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वाधीन रूस की जनता लेनिन से कितना प्यार करती थी और १९२७ में अपनी सोवियत संघ की यात्रा में उन्होंने उस भावना को स्वयं देखा था, "भारत में उन्हें निश्चय ही कोई संत-महात्मा मान लिया जाता, लेकिन सोवियत लोगों में संत बहुत लोकप्रिय नहीं हैं और सोवियत जनता ने उन्हें अपनों में से एक मानकर जिस तरह प्यार दिया है, वह सबसे बड़ा सम्मान है। उनमें से हरेक के लिए वह भाई व साथी के समान थे। वह उन्हें जानते थे, उनके लिए मेहनत करते थे और लोग मुसीबत के वक्त उनके पास आ सकते थे।"

भारत में लेनिन की मृत्यु का समाचार राष्ट्रीय शोक लेकर आया। 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' में छपे शोक संदेश के एक भाग में कहा गया था, "मानवता का एक सदाशयी मित्र अब हमारे बीच नहीं रहा। वह उन उच्चाशय लोगों में से थे जो उसके लिए अपना सब-कुछ—अपनी ज़िन्दगी तक दाँव पर लगा देते हैं। हम एक परतन्त्र पूर्वी देश के निवासी हैं लेकिन हमारी आँखों में भी उनकी मृत्यु से आंसू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उमड़ आए हैं।"

देशव्यापी राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्ष छिड़ जाने पर भारत में लेनिन के विचार और दूर-दूर तक फैले तथा क्रान्तिकारी विचारधारा वाले भारतीयों के मन की गहराइयों तक पैठ गए।

१९२५ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के साथ क्रान्तिकारी विचारधारा के भारतीयों के लिए लेनिन के विचार बाकायदा पथ-प्रदर्शक बन गए।

दुनिया में लेनिन के विचारों की दिगंतव्यापी प्रगति तथा संसार के पहले समाजवादी देश में उसके सफल कार्यान्वयन ने भारतीय स्वाधीनता सेनानियों को प्रेरणा दी। जब लेनिन की भविष्यवाणी सत्य हुई और उपनिवेशी उत्पीड़न की बेड़ियाँ कट गयीं—भारत स्वाधीन विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। नव जीवन के प्रकाश की आकांक्षा रखने वाले करोड़ों लोगों के लिए लेनिन का नाम पथप्रदर्शक प्रकाश-स्तम्भ बन गया।

भारत में लेनिन के नाम पर अनेकानेक कविताएँ रची गयी हैं। अक्तूबर क्रान्ति के बारे में भारत में पहुँचने वाले पहले समाचारों का ही भारतीय कवियों ने महत् स्वागत किया। हिमालय के उस पार दूर देश में होने वाली क्रान्ति का अर्थ पूरी तरह से न समझ पाने पर भी देश के विभिन्न भागों में बसने वाले अनेक भारतीय कवियों ने जन-क्रान्ति की जीत पर अपार हर्ष व्यक्त किया। उन्होंने इस क्रान्ति को एक पवित्रता लाने वाला तूफान बताया—एक ऐसा तूफान जिसने विश्व को हिलाकर रख दिया और हिंसा तथा पाप की पुरानी दुनिया को नेस्तनाबूद कर दिया। उन्होंने लेनिन के व्यक्तित्व को क्रान्ति का साकार रूप माना, कई बार उन्होंने लेनिन में अतिमानवीय गुणों का आरोप करते हुए उनकी तुलना उन पौराणिक वीरों से की जिन्होंने कि धरती पर पाप के साम्राज्य को नष्ट करके मानवता को दुःख और कष्टों से छुटकारा दिलाया।

लेनिन के व्यक्तित्व की ओर अभिमुख होने वाले भारतीय कवियों में मुहम्मद इकबाल सर्वप्रथम थे। लेनिन पर अपनी प्रसिद्ध कविता उन्होंने १९२० के आसपास लिखी।

इस कविता में लेनिन को जनता का मसीहा बताया गया है। इससे पता चलता है कि मार्क्सवाद से दूर एक भारतीय कवि किस तरह लेनिन के व्यक्तित्व के साथ अपने सपनों और आशाओं को बाँधे हुए है।

भारत में रोमानी क्रान्तिकारी कविता के युग में लेनिन के व्यक्तित्व का चित्रण रोमानी रंग में किया गया है। उन्हें क्रान्ति के सपनों की यथार्थ में परिणति का कवित्वमय साकार रूप माना गया है। धीरे-धीरे भारत में राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता आन्दोलन छिड़ जाने पर और साम्यवाद की वैज्ञानिक विचारधारा के प्रचार तथा जनता में वर्गचेतना एवं राजनीतिक चेतना उभर आने के बाद भारतीय कवि लेनिन के व्यक्तित्व को अधिक गहराई से समझने लगे। अब वह उनके लिए एक महान् क्रान्ति के नेता ही नहीं बल्कि संसार में कामगरों के पहले राष्ट्र के प्रवर्तक एवं उस अमर शिक्षा के रचयिता भी हैं जिसने संसार भर के श्रमिक वर्ग को धरती पर परिश्रम करने वाले साधारण जनों की खुशहाली के लिए संघर्ष करने का स्पष्ट मार्ग दिखाया। लेनिन का नाम अक्सर एक उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न के साथ ही नहीं बल्कि स्वप्न को साकार करने के लिए जारी अपने अधिकारों की माँग एवं श्रमिक वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष के साथ भी जोड़ा जाता है।

लेनिन की महानता तथा उनके अमर विचारों को कला में उतारने की आकांक्षा अनेक भारतीय कवियों के काव्य में प्रस्फुटित हुई है जिन्होंने विभिन्न काव्यात्मक बिम्बों एवं उपमाओं के साथ अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के लिए बंगाल के प्रख्यात कवि विष्णु दे लेनिन को करोड़ों लोगों का अमर-नेत्र कहकर पुकारते हैं या फिर उनकी तुलना संसार में सबसे ऊँची हिमालय की चोटी से करते हैं। मराठी के एक क्रान्तिकारी कवि अन्नाभाऊ साठे लेनिन की शिक्षाओं की तुलना प्रेरणा के तीव्रगामी रय से करते हुए उसे पीड़ित जनता का अजेय पथप्रदर्शक तारा बताते हैं। हिन्दी के कवि भगेरिया लेनिन को एक दुर्धर्ष योद्धा और नवप्रभात का सूर्य बताते हैं।

अनेक कवियों ने लेनिन के यश को परम्परागत स्तुतियों, स्तोत्रों और कसीदों के रूप में गाया है। १९५० के आसपास लिखी गयी विमलचन्द्र घोष की एक कविता इसका उदाहरण है। इसका शीर्षक है—उनका नाम युगों को प्रकाशित करता है:

"आज एक ऐसे संत और विचारक का जन्मदिन है, जिसने मूक पीड़ा को प्रबल क्रान्ति में बदल दिया, जिसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंसू और दुःख से पूर्ण मानव-समुद्र में तूफान ला दिया जिसने मानवता को एक दुर्लभ और बहुमूल्य भेंट दी—शान्ति का एक स्वर्णिम पात्र एवं अनन्त प्रसन्नता···जिसने धरती पर गर्व से बनायी एक महान् और प्रकाशवान वेदी भ्रातृत्व, एकता और स्वाधीनता की···जिस ने एक देश बनाया जहां प्रकाश ने अन्धकार को हरा दिया, शान्ति और प्रसन्नता से भरा-पूरा एक देश।···आज का दिन परम श्रद्धा का दिन है। वह प्रतीक्षारत हृदयों को मृदुल आशाओं से भर देता है, पीड़ित व्यक्ति के लिए उल्लास और प्रेम। जिसने भोगा है! दुख, पीड़ा, युद्ध की विभीषिका, रक्तपात! आज एक ऐसे व्यक्ति का जन्मदिन है जिसका गरिमामय और पूजनीय नाम बीते युगों को प्रकाशित कर रहा है, क्रान्ति का एक प्रतीक, प्रेम, सुन्दरता और अतुलनीय साहस का नाम है लेनिन!"

लेनिन के विचारों को ज्यादा सुबोध और स्पष्ट बनाने के लिए भारत के प्रगतिशील कवियों ने लोकगीतों का सहारा लिया है। उदाहरण के लिए प्रगतिशील लेखक सज्जाद जहीर और तमिल कवि वी० जीवा नंदम ने इस तरह के लोकप्रिय गीत लिखे हैं।

लेनिन के विषय में इस तरह की अनेक कविताओं को लोकगीतों में ढाला गया है ताकि उन्हें जतता की रचना समझा जाए।

लेनिन विषयक ये रचनाएँ भारत के जनसाधारण को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देती रही हैं, उन्हें अपना संगठन मजबूत करने में सहायता देती रही हैं और जीत में आस्था बांधकर उन्हें शक्ति प्रदान करती रही हैं।

१९३०-४० के बीच भारतीय कवियों द्वारा लिखे गए गीत और कविताएँ जनसाधारण के लिए 'झंडे और बम' का काम करती रहीं। उनका घोष सारे देश में सुनाई देता था। उनके प्रणेता जनहित के लिए संघर्ष करने वाले निर्भय योद्धा थे। इस संदर्भ में बम्बई के एक साम्यवादी कवि एवं भारत-रूस मैत्री परिषद् के सचिव शशि मोहन बकाईया की गाथा उल्लेखनीय है। उन्होंने डॉक्टर के आदेश की अवहेलना करते हुए प्रतिक्रियावादियों के भड़काये हिन्दू-मुस्लिम दंगों के शिकार व्यक्तियों की प्राण-रक्षा के लिए रक्तदान दिया और १९४६ में २५ साल की उम्र में मर गए। १९४२ में लिखी उनकी कविता 'लेनिन' एक लोकप्रिय गीत बन गयी जो मजदूरों की सभाओं और प्रदर्शनों के दौरान सुनने में आती थी। तीव्र वर्ग-संघर्ष में भाग लेने वाले बम्बई के सर्वहारा वर्ग ने १९४० में अपने पोस्टरों में इस गीत की पंक्तियों को उद्धृत किया। गीत के अन्तिम शब्द थे :

> हम कम्युनिस्ट हैं, हमारा नारा है
> हड़ताल करो, आगे बढ़ो!
> आज हम कसम खाते हैं :
> लेनिन के झंडे तले
> जीत के लिए आगे बढ़ेंगे!

"लेनिन" यह एक शब्द संसार भर के करोड़ों शोषित लोगों के लिए उत्पीड़न और हिंसा से मुक्ति का प्रतीक बन गया है। अनेक भारतीय कवियों की रचनाओं में वह समाजवादी-क्रान्ति की धारणा से तदरूप प्रतीत होता है। भारतीय कवियों ने लेनिन के व्यक्तित्व को पूर्व की जनता के स्वाधीनता संग्राम एवं साम्राज्यवाद तथा नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष के साथ एकाकार देखा है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय होगा कि संसार भर की सभी भाषाओं में लेनिन शब्द एक-सा प्रभावशाली प्रतीत होता है। लेनिन मानवता की निधि हैं और हर राष्ट्र उन्हें अपना एक अंग मानता है। इस विचार को हिन्दी के कवि एस० भगेरिया ने इस प्रकार व्यक्त किया है:

> लेनिन तुम रूसी हो केवल
> हमारे नहीं हो क्या?
> सारे शोषित संघर्षों के
> सितारे नहीं हो क्या?

अपनी नज़्म 'लेनिन हमारे साथ हैं' में उर्दू के कवि नियाज़ हैदर घोषणा करते हैं कि पूर्व के सभी श्रमिक लेनिन के दोस्त हैं, लेनिन के बेटे हैं!

भारतीय कवियों ने नाज़ी जर्मनी को हराकर यूरोप के देशों को फासिस्टों से मुक्ति दिलाने वाले सोवियत नागरिकों के महान् कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वह इस महान् जीत का सम्बन्ध हमेशा लेनिन से जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए उर्दू के प्रसिद्ध कवि कैफ़ी आज़मी ने अपनी रचना 'शिकस्त का तराना' में १९४३ में लाल सेना की जीत का वर्णन करते हुए कहा है कि लेनिन की आवाज़ फासिस्टों का मुकाबला करने वाले लोगों को प्रेरणा देती थी।

उर्दू के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील शायर अली सरदार जाफरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने १९४५ में लिखी अपनी प्रतीकात्मक नज़्म '[illegible] और हिन्दुस्तान' में प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर जनतांत्रिक शक्तियों की जीत को अवश्यम्भावी बताया है। यहाँ भी लेनिन के व्यक्तित्व को क्रान्ति के साथ एकरूप देखा गया है।

उर्दू के इस क्रान्तिकारी कवि की वाणी की प्रतिध्वनि आन्ध्र के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि श्री श्री की रचनाओं में भी मिलती है। अपनी कविता, 'घनगरज, रूस' में, जो कि दूसरे महायुद्ध के दौरान लिखी गयी थी, कवि इस विचारधारा का प्रतिपादन करता है कि महान् अक्तूबर क्रान्ति की उपलब्धियों को कोई ताकत मिटा नहीं सकती और लेनिन की वाणी दिगदिगंत में फैली हुई विजय का उद्घोष कर रही है।

सोवियत अन्तरिक्षयात्रियों की प्रशंसा में लिखी अपनी नज़्म 'ऊपर से देखा नज़ारा' में उर्दू के कवि नियाज़ हैदर विज्ञान की इस महान् उपलब्धि का सम्बन्ध लेनिन के नाम से जोड़ते हैं। विश्व के असीम विस्तार में उड़ते हुए अन्तरिक्ष-यात्रियों को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि उन पर जीवन का एक अक्षय स्रोत चमक रहा है—वह है लेनिन का पवित्र हृदय।

भारत के कवि जब भी साम्यवाद की स्थापना में सोवियत जनता की उपलब्धियों की चर्चा करते हैं और भारत तथा सोवियत संघ में बढ़ती मित्रता तथा सहयोग का स्वागत करते हैं तो वह बार-बार लेनिन और उनकी विरासत की चर्चा अवश्य करते हैं।

भारत के प्रगतिशील कवि भारत और सोवियत संघ में बढ़ते हुए सहयोग और मित्रता तथा लेनिन के अन्तर्राष्ट्रीयता-वाद में एक सीधा सम्बन्ध देखते हैं। अपने काव्य 'लोकायतन' (१९६४) में, जिसे कि १९६५ में जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार मिला, हिन्दी के सुविख्यात आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भारत और सोवियत संघ की पवित्र मैत्री की प्रशंसा का राग छेड़ते हुए लेनिन के विचारों की महानता के लिए अपनी प्रशंसा व्यक्त की है:

> मित्र भारत के सब भू देश,
> रूस का उनमें अपना स्थान,
> दलित भू जन को जिसने भव्य,
> स्वप्न जीवन का दिया महान।
> प्राप्त कर जन का निश्छल स्नेह,
> सहज भारत के प्रति सम्मान
> हुआ कवि का मन स्नेह कृतार्थ
> हृदय का कर आदान-प्रदान।
>
> लाल काले स्फटिकों का सौम्य
> यहाँ लेनिन का स्तूप पवित्र
> पारदर्शी वेष्टन में भव्य
> सुरक्षित हाड़-मांस का चित्र।
> लौह दृढ़ शिरा वज्र संकल्प
> हृदय हो विगलित करुणा स्वर्ण
> धरा पर विचरा नव युग दूत
> दलित को करने मुक्त, सम्पन्न!

इस प्रकार लेनिन का नाम हमेशा के लिए भारतीय साहित्य का एक अंग बन गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य लेखक यशपाल के शब्दों में, "लेनिन की शिक्षा और उनकी याद भारत की जनता के उज्ज्वल भविष्य के लिए हमेशा पथ-प्रदर्शन करती रही है और आगे भी करती रहेगी।" ●

पुस्तकालय 079567 गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
R
८४
पि ३६ आ
अ० जू० ६०
विश्वविद्यालय पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता था

विश्वनाथ त्रिपाठी

मैं बड़े लोगों के ड्राइंग रूम में
अपनी नहीं, उनकी मनचाही पोशाक पहनकर
जाता हूँ,
वे मुझसे सीधे मुँह कहते हैं
'बैठो'
मेरी नसें उल्लसित हो जाती हैं
मैं बुलबुल हो जाता हूँ।

कितना असुविधापूर्ण है बड़े लोगों के ड्राइंग
रूम में
बुलबुल न होकर
आदमी का आदमी बने रह पाना !
और कितना भयावह है !
सुविधा की बेखतर ज़िन्दगी में
लेनिन की घुचघुची आँखों
और उनकी व्यंग-तरल मुस्कान का याद पड़
जाना !

मैं पाठकों और आलोचकों में करुणा जगाने के
लिए
घोषित करता हूँ कि
मैं अँधेरे में सूरज टटोल रहा हूँ
लेकिन लेनिन ! तुम जानते हो कि
शब्दों की आग से चिलम भरने वालों के हाथ
कभी नहीं जलते,
और सूरज वह उगाता है
जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता है।

तुम्हारे साथ एक आदमी और हुआ करता था,
पता नहीं कौन-कौन-सा उलियानोव।
तुमने ज़ारशाही को ध्वस्त किया
लेकिन क्या उसके मन में भी
राष्ट्रभूषण, राष्ट्ररत्न होने की इच्छा कभी नहीं
जगी !
शराब, कबाब, आक़बत के बारे में वह क्या
सोचता था ?
हमें तुम्हारे साथ उसकी भी बेअख्तियार याद
आ रही है
और यह ज़माना ही ऐसा है कि
हमें उसके और तुम्हारे सम्बन्धों को जानने
की सख़्त ज़रूरत महसूस हो रही है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम

: १ :

१३ फरवरी, १६०८

प्रिय ए० एम०

मेरे विचार से हमारे वैचारिक मतभेद के सम्बन्ध में तुमने जो प्रश्न उठाए हैं वे महज़ गलतफ़हमी पर आधारित हैं। यह निश्चित है कि मैंने कभी भी मूर्ख 'श्रमिक संघ-वादियों' (सिंडिकेलिस्ट्स) की भांति बुद्धिजीवियों को पूरी तरह निकाल बाहर करने की बात नहीं सोची अथवा न ही मज़दूर आन्दोलन के लिए उनकी आवश्यकता से इनकार किया। इस सम्बन्ध में मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि इन प्रश्नों पर हमारे बीच कोई मतभेद नहीं हो सकता और क्योंकि अभी हमारा इकट्ठा होना असम्भव है, अत: हमें तुरन्त ही काम शुरू कर देना चाहिए। काम करने के दौरान सबसे अच्छी बात यह होगी कि हम हमसुखन हो सकेंगे।

सर्वहारा वर्ग के लिए छोटे-छोटे लेख लिखने की तुम्हारी योजना से मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई (इसका सन्देश तुम्हारे पास भेज दिया गया है)। यदि तुम किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर लिख रहे हों तो निस्सन्देह उसे बीच में मत छोड़ो।

मैं त्रात्स्की के बारे में पिछली बार ही जवाब देना चाहता था परन्तु भूल गया। हमने (प्रोलेतारी के सम्पादक-मंडल, ए० ए०[1], बोल्शेविक के अच्छे सहयोगी इनोक[2] तथा मैंने) तय किया था कि त्रात्स्की को सीधे प्रोलेतारी में बुलाया जाय। रूपरेखा के साथ विषय का सुझाव देते हुए हमने उसे एक पत्र लिखा था। आम राय के मुताबिक हमने यह पत्र 'प्रोलेतारी का सम्पादक मंडल' की ओर से भेजा ताकि विषय अधिक मज़बूती के साथ उसके सामने रखा जा सके (उदाहरणार्थ त्रात्स्की के साथ, जब वह मेन्शेविक था, सन् १६०३ से १६०५ के बीच व्यक्तिगत स्तर पर मेरा बाकायदा उग्र संघर्ष होता रहा)। मैं नहीं समझता कि उक्त पत्र में त्रात्स्की के लिए कोई अपमानजनक बात थी, परन्तु उसने एक ऐसा पत्र भिजवाया जो स्वयं उसका लिखा न था: "कामरेड त्रात्स्की के आदेशानुसार" प्रोलेतारी के सम्पादक मण्डल को सूचित किया जाता है कि वह बहुत व्यस्त होने के कारण पत्र का उत्तर लिखने से इनकार करता है।

मेरे विचार से यह मात्र ढोंग है। लन्दन कांग्रेस में भी उसने ऐसी ही हरकत की थी। मैं नहीं समझता कि वह वास्तविक रूप में बोल्शेविकों के साथ रह सकेगा।

मेन्शेविकों ने मासिक पत्रिका 'गोलोस सोशल देमोक्रेत'[3] के बारे में प्लेखानोव, एक्ज़लरोद, दान, मारतोव और मारतिनोव के हस्ताक्षरों के साथ एक घोषणा प्रकाशित की है। इसे प्राप्त करने के बाद तुम्हें भेज दूंगा। संघर्ष तीव्र गति से चल सकता है परन्तु त्रात्स्की 'संघर्षरत गुटों से ऊपर' रहना चाहता है।

मेरे खयाल में जिस बात पर मेरा तुमसे मौलिक मतभेद है वह है भौतिकवाद, विश्वदृष्टि के रूप में—'इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा' (जिससे हमारे 'अनुभववादी' भी इनकार नहीं करते) नहीं, बल्कि दार्शनिक भौतिकवाद। मैं इस बात का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करता हूँ कि आंग्ल और जर्मन जातियों के 'फिलिस्तिनिज़्म' और रोमांस जातियों के अराजकतावाद के लिए 'भौतिकवाद' ज़िम्मेदार है। दर्शन के रूप में भौतिकवाद को उन्होंने हर जगह पृष्ठभूमि में धकेल दिया। 'न्यू जाइट'[4] बहुत गम्भीर और सूचना-सम्पन्न पत्र है, वह दर्शन के प्रति उदासीन है; वह दार्शनिक भौतिक-वाद का उत्साही समर्थक कभी नहीं रहा और इधर तो कुछ दिनों से वह बिना किसी ननु-नच के अनुभववादी-आलोचकों को ही प्रकाशित करता रहा है। यह सोचना गलत—सरासर गलत है कि जिस भौतिकवाद की शिक्षा मार्क्स और एंगेल्स ने दी है उससे जड़ 'फिलिस्तिनिज़्म' निस्सृत होता है। सोशल-डेमोक्रेसी के अन्दर की सभी 'फिलिस्तिन' प्रवृत्तियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे ज्यादा दार्शनिक भौतिकवाद के विरुद्ध है, उनका झुकाव कांट, नवकांटवाद तथा आलोचनात्मक दर्शन की ओर है। 'एण्टी-ड्यूहरिंग' में एंगेल्स ने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह फिलिस्तिनिज्म से कोसों दूर है। प्लेखनोव ने इस क्षेत्र के संघर्ष को गुट सम्बन्धी संघर्ष के साथ जोड़कर उस दर्शन को हानि ही पहुंचाई है। फिर भी किसी रूसी 'सोशल डेमोक्रेट' को पुराने प्लेखनोव के साथ आज के प्लेखनोव को मिलाकर घपला नहीं करना चाहिए।

ए० ए० अभी-अभी मेरे पास से गया है। मैं उससे 'मिलने' के सम्बन्ध में दुबारा बातचीत करूंगा। यदि तुम्हारा आग्रह हो तो बातचीत का प्रबन्ध दो-एक दिन के लिए हो सकता है और वह भी बहुत जल्दी।

शुभ कामनाओं सहित

लेनिन

जेनेवा से कप्री द्वीप (इटली) भेजा गया पत्र।
लेनिन के निबन्ध-संग्रह में पहली बार १९२४ में प्रकाशित।
संकलित रचनाएँ, खण्ड ३४, पृ० ३८५-८६।

टिप्पणियाँ

१. ए० ए०—ए० ए० बोग्दानोव।
२. इनोक (इनोकेंटी) आई० एफ० दुब्रोविन्स्की।
३. गोलोस सोशियल डेमोक्रेत (द सोशियल डेमोक्रेट्स वाइस)—मेन्शेविकों का एक समाचारपत्र जो विदेश से प्रकाशित होता था। यह पहले जेनेवा से और फिर पेरिस से फरवरी १९०८ से दिसम्बर १९११ तक प्रकाशित होता रहा।
४. डाइ न्यू जाइट (न्यू टाइम्स)—दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रकाशित करने वाली एक पत्रिका जो स्टुटगार्ट में १८८३ से १९२३ तक प्रकाशित होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एंगेल्स की मृत्यु के बाद इस पत्र ने संशोधनवादी लेख प्रकाशित करने शुरू कर दिए।

२

२५ फरवरी, १९०८

प्रिय ए० एम०

मैंने तुम्हारे पत्र का जवाब तत्काल नहीं दिया; कारण, तुम्हारे लेख[1] पर उसके कुछ मुद्दों को लेकर सम्पादक मण्डल में अ० अ० के साथ हम लोगों का खासा गम्भीर झगड़ा हुआ। हालांकि पहली नजर में यह कुछ अजीब-सा लगेगा। उंह-उंह···मैंने बातें कीं लेकिन उस स्थान पर नहीं और न उस विषय पर जिसके बारे में तुमने सोचा था।

हुआ यह।

'मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन'[2] नामक पुस्तक ने दर्शन के सवालों में बोल्शेविकों के पुराने मतभेदों को तेज कर दिया है। मैं इन प्रश्नों पर अपने-आपको इतना समर्थ नहीं समझता कि फौरन छपा मारूँ। लेकिन मैंने हमेशा दर्शन के बारे में पार्टी की उन बहसों का नजदीक से अनुसरण किया है जिसमें प्लेखनोव ने पहले मिखाइलोव्स्की एंड कम्पनी के विरुद्ध सन् १८९५ तक और फिर १८९८ और बाद के वर्षों में कांटवादियों के और अन्त में अनुभववादी आलोचकों के विरुद्ध संघर्ष किया (यहाँ मैंने उन बहसों का अनुसरण ही नहीं किया वरन् १९०० से जार्या[3] के सम्पादक मण्डल का सदस्य होने के नाते एक हद तक उन बहसों में भाग भी लिया)।

बोग्दानोव ने जब से 'प्रकृति के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि' नामक पुस्तक लिखी है तब से उस पर भी मेरी नज़र है। यह पुस्तक मैंने साइबेरिया प्रवास के दौरान पढ़ी थी। बोग्दानोव की यह स्थिति अन्यान्य दार्शनिक दृष्टियों की दिशा में एक संक्रमण मात्र थी। बोग्दानोव से मेरा सीधा व्यक्तिगत परिचय १९०४ ई० में हुआ; और हमने फौरन एक-दूसरे को उपहार दिए: मैंने उसे अपनी 'कदम'[4] नामक पुस्तक भेंट की तथा उसने मुझे अपने तत्कालीन दार्शनिक लेखों का संग्रह[5] भेंट किया। इसके तुरन्त बाद (सन् १९०४ के वसंत अथवा ग्रीष्म ऋतु के शुरू में) मैंने जेनेवा से पेरिस उसे यह पत्र लिखा कि उसके लेखों से मेरी यह दृढ़ धारणा बन गई है कि उसके विचार गलत हैं और उतनी ही दृढ़ धारणा यह है कि प्लेखानोव के विचार सही हैं।

जब प्लेखानोव और मैं साथ-साथ काम करते थे। हमने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्सर बोग्दानोव पर चर्चा की। प्लेखानोव ने मुझे बोग्दानोव के हेत्वाभास को समझाया, परन्तु वे यह नहीं मानते थे कि विचारों का यह भटकाव कोई खतरनाक रूप से गम्भीर चीज है। मुझे अच्छी तरह याद है कि सन् १९०३ की गर्मियों में प्लेखानोव और मैंने 'जार्या' सम्पादक मण्डल के प्रतिनिधि होने के नाते जेनेवा में 'यथार्थवादी विश्व-दृष्टि की रूप-रेखा'[६] नामक संगोष्ठी के सम्पादकों के एक प्रतिनिधि से बातचीत की। इस संगोष्ठी में हमने सहयोग देना स्वीकार किया था—मैंने कृषि-सम्बन्धी प्रश्न पर और प्लेखानोव ने माखवादी दर्शन के खण्डन पर। प्लेखानोव ने अपने सहयोग की यह शर्त रखी थी कि वह 'माख' के खिलाफ लिखेंगे। संगोष्ठी के प्रतिनिधि ने यह शर्त तुरन्त मान ली। प्लेखानोव उस समय बोग्दानोव को सुधारवादियों के विरुद्ध संघर्ष में अपना मित्र मानते थे—ऐसा मित्र जिसने पहले ओस्टवाल्ड का अनुसरण करने की गलती की और फिर 'माख' का।

१९०४ के ग्रीष्म और पतझड़ में बोग्दानोव और मैं बोल्शेविक के रूप में पूर्ण सहमति पर पहुँचे। हमने एक ऐसे गुट का निर्माण किया जिसमें दर्शन को एक तटस्थ क्षेत्र मानकर छोड़ दिया गया। इस गुट का अस्तित्व पूरी क्रान्ति के दौरान रहा तथा उसने हमें उस क्रान्ति में क्रान्तिकारी 'सोशल-डेमोक्रेसी' (बोल्शेविज्म) की कार्यनीति को लागू करने में मदद दी, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि एकमात्र सही कार्यनीति वही है।

क्रान्ति की सरगर्मी के दौरान दर्शन में उलझने का अवसर बहुत कम मिला। बोग्दानोव ने १९०६ के आरम्भ में जेल में दर्शन पर एक और लेख लिखा जो मेरे खयाल में अनुभववादी अद्वैतवाद का तीसरा भाग था। उसने १९०६ के ग्रीष्म में मुझे इसे भेंट किया और मैं तुरन्त उसे पढ़ने बैठ गया। इस लेख को पढ़ने के बाद मैं भड़क उठा। मुझे अब पहले से कहीं ज्यादा साफ था कि वह एकदम गलत रास्ते पर था, वह मार्क्सवादी रास्ते पर नहीं था। उसके बाद मैंने उसे "प्रेम की घोषणा"—दर्शन के विषय में एक पत्र लिखा जिसने तीन नोट-बुकों का आकार ग्रहण कर लिया। मैंने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा कि मैं दर्शन के क्षेत्र में केवल एक साधारण मार्क्सवादी हूँ। फिर यह लिखा कि तुम्हारी सुबोध, लोकप्रिय और भव्य ढंग से लिखित रचनाओं के कारण ही मुझे अंततः विश्वास हो गया कि तुम मूलतः गलत हो और [illegible] मैंने इन नोट-बुकों को कुछ दोस्तों को दिखाया (जिनमें लूनाचार्स्की भी हैं) और "एक साधारण मार्क्सवादी की दर्शन-सम्बन्धी टिप्पणियाँ" शीर्षक से उन्हें छपाने का विचार किया, मगर यह हो नहीं पाया। अब मुझे खेद है कि मैं उन्हें उस समय प्रकाशित नहीं करवा सका। मैंने कुछ दिन पहले सेंट पीटर्सबुर्ग को लिखा था कि उन "नोट-बुकों"[७] को खोजकर मेरे पास भेज दो।

"मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" नामक पुस्तक अब निकल आई है। मैंने सुवारोव के निबन्ध को छोड़कर (जिसे इस समय पढ़ रहा हूँ) सभी निबन्ध पढ़ डाले हैं और प्रत्येक निबन्ध ने मेरे अंदर क्रोध को भड़काया। नहीं, नहीं, यह मार्क्सवाद नहीं है। हमारे अनुभववादी आलोचक, अनुभववादी अद्वैतवादी और अनुभववादी प्रतीकवादी कीचड़ के दलदल में धँस रहे हैं। वे पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि बाह्य-जगत की वास्तविकता में "विश्वास" करना "रहस्यवाद" (बाजारोव) है। वे अत्यन्त शर्मनाक ढंग से भौतिकवाद और कांटवाद को गड्मड्ड कर देना चाहते हैं (बाजारोव और बोग्दानोव)। वे एक प्रकार से अज्ञेयवाद (अनुभववादी आलोचनावाद) और आदर्शवाद (अनुभववादी अद्वैतवाद) का उपदेश देते हैं। वे मजदूरों को "धार्मिक नास्तिकता", उच्चतर मानव संभावनाओं की "पूजा" की शिक्षा दे रहे हैं (लूनाचार्स्की)—वे घोषित करते हैं कि एंगेल्स का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त रहस्यवादी है (बेरमान); वे फ्रांसीसी "विधेयवादियों" तथा अज्ञेयवादियों या अध्यात्मवादियों के "ज्ञान-विषयक प्रतीकवादी सिद्धान्त" के बदबूदार कुएं से पानी निकाल रहे हैं (मुश्केविच)। नहीं, यह सचमुच अति है। माना कि हम साधारण मार्क्सवादी लोग दर्शन के अधिक जानकार नहीं हैं, लेकिन, मार्क्सवादी दर्शन के नाम पर ऐसा कचरा परोसकर कोई हमारा अपमान क्यों करे? ऐसी चीजों का उपदेश करने वाले किसी पत्र या संस्था के साथ सहयोग की स्वीकृति देने के बजाय मैं फांसी पर लटकाया जाना, घसीटा जाना और टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाना ज्यादा पसंद करूँगा।

"एक साधारण मार्क्सवादी की दर्शन सम्बन्धी टिप्पणियाँ" में मेरी दिलचस्पी ताज़ा हो गई है तथा मैंने उसे लिखना शुरू कर दिया है। परन्तु "मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" पढ़ने के दौरान मुझ पर जो प्रभाव पड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे मैंने साफ-साफ लट्ठमार ढंग से [illegible] दिया है।

लेकिन तुम पूछोगे कि तुम्हारे लेख का इससे क्या सम्बन्ध है ? इसका सम्बन्ध इस रूप में है कि ठीक ऐसे समय जब बोल्शेविकों के आपसी मतभेद अधिक गहरे हो गए हैं तुमने प्रोलेतारी वाले अपने लेख में साफ-साफ एक प्रवृत्ति का प्रतिपादन शुरू कर दिया है। मुझे सचमुच यह पता नहीं है कि कुल मिलाकर तुम उसमें क्या करोगे। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि एक कलाकार सभी प्रकार के दर्शन से अपने लिए उपयोगी तत्वों का चयन करता है। अन्त में मैं इस विचार से पूरी तरह सहमत हूँ कि जहाँ तक लिखने की कला का सवाल है उन मामलों में सबसे अच्छे निर्णायक तुम्हीं हो। अपने कलात्मक अनुभव और दर्शन से, यहाँ तक कि भाववादी दर्शन से भी, दोनों से इस प्रकार के विचारों को ग्रहण कर तुम ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच सकते हो जो मजदूरों की पार्टी के लिए अत्यधिक लाभदायक हो सकते हैं। यह सब सच है फिर भी प्रोलेतारी को हमारे दार्शनिक मतभेदों से पूरी तरह तटस्थ रहना चाहिए तथा लेशमात्र के लिए भी पाठक को यह प्रतीत नहीं होने देना चाहिए कि बोल्शेविक, एक प्रवृत्ति के रूप में तथा रूसी सोशल-डेमोक्रेटों के क्रान्तिकारी दस्ते की एक कार्यनीतिपरक 'लाइन' के रूप में अनुभववादी-आलोचना या अनुभववादी-अद्वैतवाद से किसी तरह सम्बद्ध है।

तुम्हारे लेख को दुबारा पढ़ने के बाद जब मैंने ए० ए० को बताया कि मैं उसके प्रकाशन के विरुद्ध हूँ तो उसका चेहरा ऐसा काला हो गया जैसा अंधड़ ! सम्पादक मण्डल के बीच टूट का खतरा हवा में था। कल इस मामले पर विचार करने के लिए हमारे सम्पादकीय त्रिक की एक विशेष बैठक हुई। "न्यू जाइट" की ओर से एक बेहूदा चाल अप्रत्याशित रूप से हमारे बचाव के लिए आ गई। 'न्यू जाइट' के बीसवें अंक में किसी अज्ञात अनुवादक ने बोग्दानोव का 'माख' पर लिखा हुआ लेख प्रकाशित करा दिया तथा इसके साथ ही उसने अपनी टिप्पणी में यह भी उगल दिया कि प्लेखानोव और बोग्दानोव के बीच जो-जो मतभेद हैं उनमें रूसी 'सोशल डेमोक्रेसी' के अन्तर्गत के बोल्शेविकों और मेन्शेविकों के दलीय मतभेद में विकसित होने की प्रवृत्ति है। वह मूर्ख, चाहे स्त्रीहो या पुरुष, इस टिप्पणी को लिखकर हमें एकजुट करने में सफल हो गया। हम इस बात पर तुरन्त एकमत हो गए कि प्रोलेतारी के अगले ही अंक में हमारी तटस्थता की घोषणा अब नितांत आवश्यक है। 'मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन' के प्रकाशित होने के बाद मेरा जो मानसिक ढांचा बना था उसके यह सर्वथा अनुरूप ही था। एक वक्तव्य तैयार किया गया, और सर्व-सम्मति से स्वीकार हुआ तथा कल वह प्रोलेतारी के २१वें अंक में प्रकाशित होगा जिसे मैं तुम्हारे पास भिजवा दूँगा।

जहाँ तक तुम्हारे लेख का सम्बन्ध है, तय हुआ है कि मामला स्थगित कर दिया जाय तथा प्रोलेतारी के तीनों सम्पादकों की ओर से अलग-अलग पत्र द्वारा तुम्हें सारी स्थिति स्पष्ट कर दी जाय और मैं तथा बोग्दानोव तुम से जल्द मिलें।

और इस तरह तुम एक पत्र ए० ए० से और एक पत्र तीसरे सम्पादक से प्राप्त करोगे जिसके बारे में मैंने तुम्हें पहले लिखा था।

मैं यह जरूरी समझता हूँ कि तुम्हें अपना मत बिल्कुल स्पष्टता के साथ बता दूँ। मैं बोल्शेविकों के बीच दर्शन के प्रश्नों पर किसी-न-किसी प्रकार का विवाद अपरिहार्य मानता हूँ। किन्तु इस पर पार्टी की टूट मूर्खता होगी। हमने एक गुट का निर्माण किया है तो मजदूरों की पार्टी में निश्चित कार्यनीतियों के अपनाए जाने की सिद्धि के लिए। हम अभी तक इन कार्यनीतियों को बिना असहमति के निरन्तर लागू करते रहे हैं (केवल एक मतभेद "तीसरा दूमा" के बहिष्कार के सम्बन्ध में हुआ, परन्तु एक तो वह इतना मामूली था कि उससे बोल्शेविकों में टूट के लिए कोई खतरा नहीं पैदा हुआ, दूसरे वह माखवादियों और भौतिकवादियों के बीच के मतभेद के समानान्तर नहीं था क्योंकि उदाहरण के लिए बहिष्कार का विरोध करने में माखवादी बाजारोव मेरे साथ था और उसने इस प्रश्न पर प्रोलेतारी में एक लम्बा लेख लिखा)।

भौतिकवाद या माखवाद के प्रश्न पर उठे विवाद के नाम पर मजदूरों की पार्टी के अंदर क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी की कार्यनीति को लागू करने के रास्ते में बाधा देना मेरी राय में, अक्षम्य मूर्खता होगी। हमें दर्शन पर विवाद इस तरीके से करना चाहिए कि प्रोलेतारी और पार्टी के एक गुट के रूप में बोल्शेविक किसी भी तरह इससे प्रभावित न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

हों। और यह बिलकुल सम्भव है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मैं समझता हूँ कि तुम्हें इस काम में मदद करनी चाहिए। तुम मदद कर सकते हो प्रोलेतारी के लिए लिख-कर—साहित्यिक समीक्षा, प्रचारात्मक लेख, ललित साहित्य आदि तटस्थ प्रश्नों पर (जिनका दर्शन से सीधा सम्बन्ध नहीं हो)। यदि तुम पार्टी को टूटने से बचाना चाहते हो और नये संघर्ष को सीमित करने में मदद देना चाहते हो तो अपने लेख को दुबारा लिखो और उन सभी बातों को कहीं अन्यत्र स्थान दो जिनका बोग्दानोव के दर्शन से परोक्षतः भी सम्बन्ध हो। खुदा का शुक्र है कि तुम्हारे पास प्रोलेतारी के अतिरिक्त दूसरे माध्यम भी हैं। वे सब बातें जिनका बोग्दानोव के दर्शन से सम्बन्ध नहीं है—और तुम्हारे लेख का अधिकांश इस दर्शन से सम्बद्ध नहीं है—तुम लेखमाला के रूप में प्रोलेतारी में प्रकाशित करा सकते हो। तुम्हारी ओर से अन्य कोई भी रवैया —लेख को दुबारा लिखने से इन्कार अथवा प्रोलेतारी के साथ असहयोग—मेरी दृष्टि से अनिवार्यतः बोलशेविकों के आपसी झगड़े को गहरा करेगा; वह नये संघर्ष के परिसीमन को मुश्किल बनाएगा और उस महान् लक्ष्य को कमजोर करेगा जो व्यावहारिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से रूस में क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी के लिए बुनियादी है।

मेरा अभिमत यही है। मैंने तुम्हें अपने सारे विचार बता दिए हैं और अब तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

आज हम तुम्हारे पास आना चाहते थे परन्तु मालूम हुआ कि कम-से-कम एक सप्ताह के लिए हमें यह यात्रा स्थगित करनी पड़ेगी—शायद दो या तीन सप्ताह।

तुम्हारा

एन० लेनिन

(जेनेवा से काप्री (इटली) द्वीप को भेजा गया, प्रथम प्रकाशन १९२४ में, लेनिन विविधा-१ में; लेनिन ग्रंथावली, जिल्द-१३, पृ० ४४८-५४)।

अनुवादक : प्रतापसिंह नेगी

टिप्पणियाँ

१. लेख का नाम "डिस्ट्रक्शन ऑफ दि पर्सनेलिटी (व्यक्तित्व का विघटन) है जिसे गोर्की क्रमशः प्रोलेतारी में प्रकाशित करवाना चाहते थे। यह लेख पहली बार "समूहवादी दर्शन सम्बन्धी निबन्ध" में १९०८ में प्रकाशित हुआ।

२. लेनिन का संकेत वी० वाजारोव, वाई० बेरमान, ए० लूनाचार्स्की, पी० पुश्केविच, ए० बोग्दानोव, आइ० गेलफोंद और एस० सुवोरोव के निबन्धों की ओर है जो एक संग्रह रूप में "मार्क्स-वादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" नाम से १९०८ में प्रकाशित हुए।

३. जार्या (प्रभात)—एक मार्क्सवादी वैज्ञानिक और राजनीतिक पत्रिका जो कानूनी तौर से १९०१ और १९०२ में स्टुटगार्ट में 'इस्क्रा' सम्पादक मण्डल द्वारा प्रकाशित की गई। तीन पुस्तकों के आकार में इसके चार अंक निकले। 'जार्या' में अन्तर्राष्ट्रीय और रूसी संशोधनवादियों ('कानूनी मार्क्सवादी' और 'अर्थवादी') की आलोचना की और मार्क्सवाद के मूल-भूत सिद्धांतों का समर्थन किया।

४. यहाँ लेनिन का संकेत अपनी पुस्तक "एक कदम आगे और दो कदम पीछे" की ओर है।

५. यहाँ बोग्दानोव की पुस्तक 'इम्पीरिओ-मोनिज्म' की ओर संकेत है जो १९०५ में प्रकाशित हुई।

६. एक निबन्ध संग्रह, जिसमें ए० लूनाचार्स्की, वी० बाजारोव, वी० फ्रिच आदि के लेख छपे थे। प्लेखानोव और लेनिन के लेख इसमें सम्मिलित नहीं किए गए।

७. 'नोट-बुक्स'—'एक साधारण मार्क्सवादी की दार्शनिक टिप्पणियाँ' अप्राप्य है।

८. उस समय लेनिन 'अनुभववादी आलोचना' का लेखन आरम्भ कर रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन की एक समीक्षा

एक दक्षतापूर्वक लिखी गई छोटी पुस्तक

क्रान्ति की पीठ में एक दर्जन छुरे, पेरिस, १९२१

इस छोटे-से कहानी-संकलन का लेखक श्वेत प्रवासी अर्कादी एवर्चेंको है जिसका गुस्सा बौखलाहट की हद तक पहुँच चुका है। यह तथ्य दिलचस्प है कि इस अत्यंत दक्षता से लिखी हुई पुस्तक में लेखक की उबलती हुई नफरत उसकी अद्भुत शक्ति भी है और अद्भुत दुर्बलता भी। लेखक ने जहां अपरिचित विषयों को कहानियों के लिए चुना है, वे कलाहीन हो गई हैं। उदाहरण के लिए वह कहानी, जिसमें लेनिन और त्रात्स्की के घरेलू जीवन का चित्रण है। प्रिय नागरिक एवर्चेंको, उसमें विद्वेष ही ज्यादा है, सचाई नहीं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि लेनिन और त्रात्स्की में, अपने घरेलू जीवन के साथ-साथ और सभी मामलों में अनेक दोष हैं। लेकिन उनका कौशलपूर्वक वर्णन करने के लिए यह जानना जरूरी है कि वे हैं क्या। और यह आप नहीं जानते।

लेकिन इस पुस्तक में अनेक कहानियों के विषय ऐसे हैं जिनसे अर्कादी एवर्चेंको अच्छी तरह परिचित है, जिनका उसने अनुभव किया है, जिन पर उसने विचार किया है और जिन्हें भोगा भी है। उसने जमींदारों और पूंजीपतियों के पुराने, समृद्ध, खब्बू और चटोर रूस के प्रतिनिधियों की मानसिक स्थितियों का चित्रण अद्भुत कौशल के साथ किया है। शासक वर्गों के प्रतिनिधियों की दृष्टि में क्रान्ति की तस्वीर एकदम यही हो सकती थी। एवर्चेंको के उबलते हुए गुस्से के कारण कुछ—बल्कि अधिकांश—कहानियां आश्चर्यजनक रूप में सजीव बन पड़ी हैं। कुछ तो निश्चय ही शानदार कहानियां हैं, जैसे 'बूटों द्वारा कुचली हुई घास', जिसमें उन बच्चों का मनोविज्ञान चित्रित है जो गृहयुद्ध के दौर से गुजर रहे हैं।

लेकिन लेखक की अनुभूति की वास्तविक गहराई उस समय व्यक्त होती है जब वह यह वर्णन करता है कि पुराने रूस में धनी लोग पेत्रोग्राद में—नहीं, पेत्रोग्राद में नहीं, बल्कि सेंट पीटर्सबुर्ग में—किस प्रकार साढ़े चौदह या पचास रूबल में नाश्ता करते थे। इन सबका वर्णन वह सचमुच ही वासनोत्तेजक शब्दों में करता है। इन चीजों को वह अच्छी तरह जानता है; इन चीजों का उसने अनुभव किया है; यहां वह कोई गलती नहीं करता। विषय के बारे में उसका ज्ञान और उसकी ईमानदारी—दोनों ही अत्यंत असाधारण हैं।

अन्तिम कहानी 'एक ध्वस्त संसार के टुकड़े' में, क्रीमिया के अन्तर्गत सेवास्तोपोल में एक ऐसे भूतपूर्व सिनेटर का चित्रण है जो "धनी, उदार और अच्छे संबंधों वाला" था, लेकिन "अब वह एक बारूदखाने में दैनिक मजदूर की हैसियत से कारतूस उतारने और छांटने का काम कर रहा है"; और फिर एक भूतपूर्व डाइरेक्टर का चित्रण है जो ऐसे "इस्पात के विशाल कारखाने" से संबद्ध था "जो विबोर्ग जिले में सबसे बड़ा समझा जाता था।" लेकिन "अब वह पुराने सामानों की एक दुकान पर सेल्समैन है और हाल ही में उसने महिलाओं के बिक्री योग्य पुराने कोटों और बच्चों के प्लश (रोएँदार खाल के बने), खिलौना भालुओं की कीमत आँकने का कुछ हुनर सीख लिया है।"

ये दोनों बूढ़े खूसट पुराने भले दिनों की याद करते हैं—सेंट पीटर्सबुर्ग के सूर्यास्त, सड़कें, नाटकघर, और हाँ, "मेदवेद", "विएना", "माली यारोस्लावेत्स" तथा ऐसे ही अन्य रेस्त्राओं के भोजन! उनके संस्मरण बीच-बीच में इन चीत्कारों से टूट जाते हैं: "हमने ऐसा क्या किया जिससे हमारा यह हश्र हुआ! किसी के रास्ते में हम कहाँ से आते थे? किसको हमने बाधा दी?...उन्होंने रूस की क्या गत कर दी है?"...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्कादी एवचेंको उन लोगों में नहीं हैं जो यह समझ सकें कि ऐसा क्यों है। हालाँकि मजदूर और किसान इस बात को काफी आसानी ने समझते प्रतीत होते हैं और उन्हें किसी स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं है।

मेरी राय में, कुछ कहानियाँ पुनर्मुद्रित करने लायक हैं। प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए। ●

प्रावदा संख्या २६३
नवम्बर २२, १६२१
हस्ताक्षर : न. लेनिन
लेनिन ग्रंथावली
जिल्द ३३, पृष्ठ १२५-२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति

डेविड एन० मार्गोलीज़

: १ :

क्रिस्टोफर काडवेल को जार्ज थामसन ने 'सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत समस्याओं के मार्क्सवादी समाधान के प्रथम प्रयास'[1] का श्रेय दिया है, और अपनी मृत्यु के तीन वर्ष बाद काडवेल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग्रेज मार्क्सवादी आलोचक के रूप में स्वीकार कर लिए गये हैं। उन्होंने संस्कृति के विशाल क्षेत्रों का मार्क्सवादी विश्लेषण किया था। सम्भवतः वे पहले आलोचक थे जिन्होंने कला पर पूर्णतः सामाजिक और पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया और मनुष्य के जीवन में कला के कार्य की खोज की।

फिर भी, महत्वपूर्ण होने के बावजूद, काडवेल सामान्यतः उपेक्षित रहे हैं। कभी-कभी उनके नाम का उल्लेख कर दिया जाता है, कभी-कभी संकलनों में उनकी लिखी हुई चीज़ें दिखलाई पड़ जाती हैं, उनकी कुछ रचनाएँ पुनर्मुद्रित भी की जाती हैं, किन्तु, थोड़े से एकेडेमिक निबन्धों को छोड़कर उनकी कृतियों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया गया है और पाठकों तक तो वह और भी कम पहुँच सका। कभी-कभार लेख दिखलाई पड़े हैं, किन्तु इन लेखों की सार्थकता सन्दिग्ध है। 'द आर्म्ड विजन' नामक पुस्तक में मार्क्सवादी आलोचना से सम्बन्धित अध्याय के अन्तर्गत स्टैनली एडगर हाइमन ने काडवेल के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है। हाइमन का यह अंश उपयोगी होते हुए भी आलोचनात्मक नहीं है। उसमें गुण कथन और व्यक्तिगत प्रशंसा का भाव अधिक है। १९५०-५१ ई० में 'द माडर्न क्वार्टर्ली' में काडवेल पर एक लंबी बहस छपी थी। एक मार्क्सवादी आलोचक के विषय में अंग्रेज़ी मार्क्सवादियों की यह बहस सार्थक होनी चाहिए थी, किन्तु इससे काडवेल को समझने में बहुत कम सहायता मिली (इनमें शरीक कुछ लोगों को तो आज यह बहस धर्म-संकट में डाल देगी)। काडवेल की रचनाओं की दृष्टि से यह बहस बहुत-कुछ अप्रासंगिक थी। काडवेल का योगदान मार्क्सवादी आलोचना को क्या है, इस विषय पर बहस से कोई प्रकाश नहीं पड़ा। केवल भावनाएँ उत्तेजित की गई। काडवेल-विवाद में शामिल होते हुए एलिक वेस्ट ने लिखा था कि आलोचकों ने आक्रमण काडवेल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि पर ही किया। सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी : "उन्होंने बताया कि कविता उस सिद्धान्त और व्यवहार का अंश है जिससे मानव समझता और निर्णय करता है कि उसकी इच्छाएँ वास्तविकता में कैसे बदली जा सकती हैं? क्या ज़रूर होना चाहिए और क्या हो सकता है।" वेस्ट ने आगे यह कहा कि काडवेल की रचनाओं की माँग है कि उनका आलोचनात्मक जायजा लिया जाए, लेकिन यह जायज़ा उस जगह से नहीं शुरू होना चाहिए, जिसे काडवेल पीछे छोड़ आए हैं।"[2] इस तरह का जायज़ा देखने में नहीं आ रहा है—काडवेल के सिद्धान्तों की सम्यक् समीक्षा बहुत पहले हो जानी चाहिए थी।

काडवेल की कृतियों में, प्रातिभ अंतर्दृष्टि के बावजूद उस व्यवस्था का अभाव है जिसे हम आज के विद्वत्तापूर्ण लेखन में देखने के अभ्यस्त हैं। यद्यपि वे मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे अधिक विचारदायक हैं, लेकिन इस 'विचारदायकता' के जो खतरे होते हैं, वे भी काडवेल के यहाँ मौजूद हैं। जे० बी० एस० हाल्डेन ने उनकी रचनाओं को 'विचारों की खान' कहा है। यह खान बहुत मूल्यवान हो सकती है लेकिन इस उपमा में काडवेल की रचनाओं के पाठकों की परेशानियाँ भी स्पष्ट हैं। काडवेल को 'अशिक्षित' किसी तरह नहीं कहा जा सकता; लेकिन यह सत्य है कि काडवेल को विश्वविद्यालय का औपचारिक प्रशिक्षण नहीं मिला था शायद इसीलिए कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में बौद्धिक संयम का मोहक अभाव दिखलाई पड़ता है और वे एक रूप से दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप और निष्कर्षों तक छलांगते जाते हैं। इसे युक्तोचित अतियों के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। 'परिपक्व विद्वान' जैसा विश्लेषण उन्हें नहीं फबता। थामसन का कहना ठीक है कि काडवेल ने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आधारशिला रखी लेकिन उन्होंने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया, वह अभी 'खान' के रूप में ही है। लेकिन सुव्यवस्थित न होते हुए भी काडवेल का कृतित्व अंग्रेजी भाषा में किया गया मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सर्वाधिक आधारभूत योगदान है।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के प्रति काडवेल के योगदान की चर्चा शुरू करते ही सवाल उठता है कि 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र क्या है?' मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की कोई स्वीकृत या स्थापित परिभाषा नहीं है। परिभाषा के अभाव का परिणाम यह हुआ कि ऐसे आलोचकों को भी भ्रमवश मार्क्सवादी आलोचक कहा गया है जिन्होंने (१) कुछ अंशों में ही मार्क्सवाद को अपने लेखन का आधार बनाया है या (२) जिनके लेखन का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। परिभाषा के अभाव में इस प्रकार की तथाकथित मार्क्सवादी आलोचना अर्थहीन हो जाती है। उदाहरण के लिए जार्ज वाट्सन अपनी पुस्तक 'द लिटररी क्रिटिक्स' में मज़े से अपनी लापरवाह अज्ञानता का परिचय देते हुए कहते हैं कि मार्क्सवादी परम्परा का अधिकांश मार्क्सवाद-विरोधी है; वे लॉएनल ट्रिलिंग तक को मार्क्सवादी आलोचकों में गिनते हैं। निश्चय ही, मार्क्सवादी आलोचना पर सार्थक बहस तभी हो सकती है, जब इसके कतिपय संघटक सिद्धान्तों को स्पष्ट कर दिया जाए।

यह ठीक है कि मार्क्स और एंगेल्स की रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र का सुव्यवस्थित निर्माण नहीं करतीं, (जैसा कि अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' करता है)। लेकिन वे निश्चय ही एक ऐसी पद्धति प्रदान करती हैं जो सौन्दर्यशास्त्र (?) का आधार बन सकती है। यहाँ सौन्दर्य का प्रयोग केवल 'सुन्दर' नहीं बल्कि व्यापक कला सिद्धान्त के अर्थ में किया जा रहा है। मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रश्नों पर कुछ खास सम्मतियाँ और निर्णय दिए हैं, इसके साथ ही उन्होंने अपने विपुल लेखन में जगत् के प्रति अपना दृष्टिकोण और अपनी सामान्य पद्धति भी व्यक्त की है। हमें इन दोनों को एक नहीं मान लेना चाहिए। कलाओं पर दी गई उनकी टिप्पणियाँ विलक्षण उक्तियों से अधिक नहीं हैं, ये वक्तव्य विशिष्ट संदर्भों में दिये गए हैं, इनका सामान्यीकरण करके किसी सौन्दर्य सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता। जगत् सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण कलाओं के स्थान और उनके महत्व के प्रति उनके विचारों का संकेत देता है, और उनकी पद्धति उस मार्ग की ओर इंगित करती है जिस पर चलकर सौन्दर्य के प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्य के प्रश्नों पर विचार करने के लिए अपने सिद्धान्तों का व्यवस्थित व्यावहारिक पक्ष नहीं प्रस्तुत किया। लेकिन मार्क्स ने यह इच्छा अवश्य व्यक्त की थी कि वह आर्थिक समस्याओं पर लिख चुकने के बाद बाल्ज़ाक पर पुस्तक लिखेंगे। इससे ज़ाहिर है कि मार्क्स का विश्वास था कि उसके सिद्धान्तों का व्यवहार सौन्दर्य के क्षेत्र में किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ मार्क्स और एंगेल्स के साहित्यिक निष्कर्षों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है। इस सौन्दर्यशास्त्र को सार्थक होना है तो उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित होना पड़ेगा।

सौन्दर्यशास्त्र की सामान्य समस्याओं को हल करने का रास्ता बताने के साथ-साथ मार्क्स ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिए जिनको कला के क्षेत्र में सीधे लागू किया जा सकता है। इनमें से निम्नलिखित वक्तव्य सर्वाधिक प्रसिद्ध और आधारभूत है। मार्क्सवादी आलोचक को इससे तत्काल कलाओं का सामाजिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है; वह समझ लेता है कि चेतना का एक रूप होने के नाते कलाओं का जीवन से सुनिश्चित सम्बन्ध है।

"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बँधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण समाहार ही समाज का आर्थिक ढाँचा है—वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे—उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना को निर्धारित करता है।"[3]

लेकिन यह मान्यता कि "सामाजिक सत्ता चेतना को निर्धारित करती है" स्वयं कोई सौंदर्यशास्त्रीय मान्यता नहीं है। यह सिर्फ एक शुरुआत है। काडवेल चूंकि मार्क्सवादी ढंग पर सचेत रूप से एक सौंदर्यशास्त्र को निर्मित करने का प्रयास कर रहे थे, इसलिए उनके अध्ययन से "सामाजिक सत्ता द्वारा चेतना के निर्धारण" सम्बन्धी मान्यता से निस्सृत होने वाले कुछ सिद्धान्तों को स्पष्ट होना चाहिए।

'साहित्य का कार्य' नामक सिद्धान्त के ज़रिए काडवेल ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में विशिष्ट योगदान किया है। काडवेल ने साहित्य के अस्तित्व की साग्रह घोषणा और फिर विभिन्न प्रकारों के साहित्य की परीक्षा को ही पर्याप्त नहीं समझा। काडवेल का ध्यान इस बात पर भी गया कि साहित्य का अस्तित्व है तो उसके अस्तित्व का कारण है। साहित्य का अस्तित्व है तो उसकी कुछ सामाजिक सार्थकता भी होगी। अगरचे उसने चेतना के सामाजिक निर्धारण के विचार को पूर्णतः स्वीकार कर लिया लेकिन इस निर्धारण की प्रक्रिया को मान लेने से ही साहित्य के अस्तित्व के कारण समझ में नहीं आ सकते थे। इससे यह तो समझ में आ सकता है कि विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार का साहित्य क्यों लिखा जाता है लेकिन यह नहीं खुलता कि सामान्यतः साहित्य और कला के अस्तित्व का कारण क्या है? काडवेल ने इस समस्या का समाधान साहित्य के पूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाकर खोजा। यह उनकी केवल व्यक्तिगत बौद्धिक उपलब्धि नहीं थी, मार्क्सवादी आलोचक के रूप में भी उनकी यह महान् शक्ति थी। उन्होंने साहित्य की परीक्षा केवल कुछ रचनाओं तक ही सीमित रहकर नहीं, मानव जीवन की सम्पूर्णता को ध्यान में रखकर की। उन्होंने साहित्य को, समाज की छाया के रूप में नहीं, समाज के अन्दर रखकर देखा-परखा।

कला अपना कार्य व्यक्तियों के माध्यम से करती है और व्यक्तियों के लिए उसका कार्य व्यक्तियों की हैसियत से ही सम्पन्न होता है, लेकिन काडवेल के अनुसार साहित्य का **सामाजिक** कार्य तभी स्पष्ट होता है, जब हम समग्र समाज की दृष्टि से उस पर विचार करते हैं।

इस सामाजिक कार्य के सिद्धान्त तक पहुँचने के लिए काडवेल के साहित्य को पूरी तरह द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से परखना पड़ा। उन्होंने साहित्य को 'स्थिर' कृतियों के रूप में नहीं, प्रक्रिया के रूप में देखा। साहित्य और समाज की सत्ता द्वन्द्वात्मक एकत्व पर आधारित है। अतः केवल सामाजिक सत्ता साहित्य का निर्धारण नहीं करती, साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है। उन्होंने साहित्य की परीक्षा जीवन-चर्या, समाज के, जीवन के सन्दर्भ में की और पाया कि अन्य सामाजिक उत्पादनों की भाँति साहित्य भी कुछ करता है—मनुष्य के जीवन में साहित्य का भी एक कार्य है।

यह ठीक है कि साहित्य की कार्य-परकता के आग्रहशील आलोचक अकेले काडवेल नहीं हैं। लेकिन वे ऐसे अकेले आलोचक अवश्य हैं जिसने सामाजिक कार्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। सामाजिक कार्य के सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का कार्य-क्षेत्र पूरा समाज है, उस समाज के संघटक अलग-अलग व्यक्ति मात्र नहीं। (सामाजिक कार्य व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के कुल योग से भिन्न है, यह कार्य समग्र समाज या वर्ग के हित में है।) ऐसे आलोचक हुए हैं जिन्होंने इस बात पर बल दिया है कि साहित्य सामाजिक दृष्टि से कार्यपरक (फंक्शनल) होता है, लेकिन वे इस कार्य का कोई उद्देश्य नहीं समझ पाए थे। यह कहना कि 'साहित्य कुछ करता है' नाकाफी है। साहित्य के कार्य की दिशा को भी समझने की जरूरत है। काडवेल के अनुसार साहित्य की क्रियात्मकता का उद्देश्य मनुष्य की स्वतंत्रता का विस्तार है। जिस साहित्य का कार्य उचित है, वह मनुष्य और समाज की स्वतंत्रता का विस्तार करता है; जो साहित्य स्वतंत्रता का विस्तार नहीं करता, उसका कार्य उचित नहीं है, या फिर ऐसा साहित्य अधम है।

काडवेल द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक कार्य का सिद्धान्त' मार्क्सवादी आलोचना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्भवतः इस कार्य की समझ की कमी के कारण मार्क्सवादी आलोचकों की प्रगति अवरुद्ध रही है। साहित्य की 'प्रगतिशीलता' जैसे सवाल मार्क्सवादी आलोचकों को कई बार धर्म संकट में डालने वाले साबित हुए हैं। कारण यह है कि इस बात पर तो वे बल देते हैं कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील होता है—जो ठीक भी हो सकता है। लेकिन वे यह नहीं समझा सकते कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील क्यों होता है। कभी-कभी इसके कारण सिद्धान्त और अभिरुचि के बीच बेतुका विरोध दिखलाई पड़ता है जिससे डी० एच० लारेन्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे लेखकों की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण आलोचक निन्दा करते हैं, लेकिन उनकी साहित्यिक महत्ता के कायल होते हैं। अक्सर इन अंतर्विरोधों को कृत्रिम रूप में सुलझाने के लिए यह आग्रह किया गया है कि वे लेखक अच्छे हो ही नहीं सकते। इस आग्रह का आधार यह दूषित हेत्वानुमान है: अच्छा साहित्य प्रगतिशील होता है; डी० एच० लारेन्स प्रतिक्रियावादी है; इसलिए डी० एच० लारेन्स अच्छा लेखक नहीं है। (मार्क्सवादी आलोचकों ने बाल्जाक की जो प्रशंसा की है उसे उपर्युक्त अन्तर्विरोध के सफल शमन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन वह शमन से अधिक टालू ढंग है। बाल्जाक के विषय में सामान्य राय यह है कि उसकी रचनाएँ प्रगतिशील थीं और वह इतना महान लेखक था कि अपनी रचनाओं में वह अपनी प्रतिक्रियावादी निजी स्थिति से ऊपर उठकर प्रगतिशील रचनाएँ कर गया; जबकि लारेंस के व्यक्ति और कृतित्व दोनों ही प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं।) अभिरुचि और मूल्यांकन के इस अंतर्विरोध से सिद्धान्त को आलोकित करने में सहायता मिलनी चाहिए थी। लेकिन प्राय: देखा गया है कि इससे हठधर्मी ही बढ़ी है तथा मार्क्सवादी आलोचक और भी अलग जा कटे हैं। कभी-कभी ऐसे अन्तर्विरोधों की उपेक्षा कर दी जाती है और आलोचक साफ-साफ (और कभी-कभी सतही तौर पर) केवल प्रगतिशील लेखकों के विषय में ही लिखते हैं। ऐसे आलोचक शेक्सपियर की तारीफ में लिखते हैं कि वह जानता था कि पैसा समाज को कितना भ्रष्ट करता है, उसका दृष्टिकोण मेहनतकशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। साहित्य का कार्य समझ लिया जाए तो आलोचना कार्य की ऐसी कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं।

कार्यपरक आलोचना एकमात्र मार्क्सवादी आलोचना नहीं है। उदाहरण के लिए लूकाच कार्यपरकतावादी आलोचक नहीं हैं, लेकिन फिर भी वह महान् मार्क्सवादी आलोचक है। लेकिन कई दृष्टियों से, कार्यपरकतावादी आलोचना सर्वाधिक **विशिष्टतया** मार्क्सवादी आलोचना है, क्योंकि यह विशेष समीक्षाओं के द्वारा आलोचना की ओर अग्रसर होने की अपेक्षा समाज की पूर्ण अवधारणा प्रकट करती है, समूचे साहित्य पर, विचार करती है, सीधे समाज के साथ साहित्य के सम्बन्धों पर विचार करती है। मार्क्सवाद—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—सामाजिक गति पर विचार करता है और साहित्य के विषय में कार्यपरक की दृष्टि से विचार करने वाली किसी अन्य पद्धति की अपेक्षा द्वन्द्वात्मक दृष्टि से इस गति पर विचार कर सकते हैं। मैं कार्यपरक से इतर मार्क्सवादी पद्धतियों का महत्व कम नहीं करना चाहता। लेकिन मुझे कहना पड़ेगा कि मैं इस कायपरक दृष्टि को अधिक पसन्द करता हूं क्योंकि इससे पता चलता है कि कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद का उपयोग करके मार्क्सवादी आलोचना का विकास कैसे किया जा सकता है।

आलोचना, मार्क्सवादी हो या नहीं, रसग्राहिता पर निर्भर है। यदि साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना को अच्छी आलोचना होना है तो उसे साहित्य को साहित्य के रूप में देखना पड़ेगा। साहित्य को समाजशास्त्र समझने से काम नहीं चलेगा। काडवेल का मत था कि साहित्य **साहित्य** के रूप में ही मनुष्य जीवन में अपना कार्य करता हैं, इसके लिए उसे समाजशास्त्र नहीं बनना पड़ता। काडवेल मार्क्सवाद को अच्छी तरह समझने के साथ-साथ साहित्य के प्रति अत्यन्त संवेदनशील थे, इसीलिए वे साहित्य के सामाजिक कार्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर सके।

काडवेल का अध्ययन करते समय कठिनाइयों के पुंज का सामना करना पड़ता है। ऐसी कठिनाइयों को पुंज शायद ही किसी दूसरे लेखक का अध्ययन करते समय सामने आए। सबसे पहली कठिनाई है काडवेल का भीषण लेखन। अस्पष्ट होने के अलावा काडवेल के गद्य में सर्वत्र व्यवस्था का अभाव भी है, यहाँ तक कि उनके अनुच्छेदों में भी अव्यवस्था है। इसके कारण उनके लेखन में अनावश्यक दुरूहता आ गई है। कई स्थलों पर काडवेल अपने विचारों को स्पष्टतापूर्वक प्रकट नहीं करते, कभी-कभी वह ऐसे अन्तर्विरोधों को सामने लाते हैं जिनका शमन वह नहीं करते (अगरचे पाठक आमतौर पर इनका शमन पुस्तक के अन्य भागों के आधार पर कर सकता है)। काडवेल शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी हैं, इससे रोचकता तो पैदा होती है, लेकिन अक्सर निरर्थक विरोधी युग्मों और अर्थशून्य वक्तव्यों की भी सृष्टि होती है। यह शब्द-क्रीड़ा बहुत कुछ मार्क्स से मिलती-जुलती है, लेकिन काडवेल के यहाँ ज्यादातर इसके कारण तर्क धुंधले और परिणाम अर्थहीन हो जाते हैं। संक्षेप में, काडवेल के कथ्यों को प्रतिपादित कर पाना सम्भव होने पर भी अत्यन्त दुष्कर है। काडवेल की रचनाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ने पर साफ़ पता चल जाता है कि यह काडवेल का कृतित्व है। तो भी हमें यह नहीं समझना चाहिए कि काडवेल अपने मन्तव्यों को प्रकट नहीं कर सके हैं या उन्होंने पहले से ही स्थापित अवधारणाओं का पिष्टपेषण किया है। काडवेल क्रान्तिकारी चिन्तक हैं। हम काडवेल को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उनके विचारों पर अपने विचारों को लादने के बजाय स्वयं उनके सन्देश को ग्रहण नहीं करते।

काडवेल की दुरूहता का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों की रचना लगभग दो वर्षों के ही स्वल्प समय में की। इसी दौरान उनका चिन्तन भी प्रौढ़ हुआ। अतः उनके विचारों के विकास को हम 'काल' के सन्दर्भ में नहीं देख सकते। हम प्रकाशन-तिथि के आधार पर उनकी रचनाओं का क्रम भी नहीं निर्धारित कर सकते, क्योंकि उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ मरणोपरान्त प्रकाशित हुईं। स्वयं रचनाओं के ही भीतर से हम काडवेल की कुछ मार्क्सवादी अवधारणाओं का विकास देख सकते हैं। इस विकास-रेखा से हमें उनकी रचनाओं का क्रम निर्धारित करने में कुछ सहायता मिलती है। अन्तःसाक्ष्य तथा अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से यह संकेत मिलता है कि 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में काडवेल के सैद्धान्तिक विकास को अन्तिम रूप मिला है। कार्य सम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से इस बात को ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि 'स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर' 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' से पहले लिखी गयी।

गौण सामग्री के अभाव से काडवेल-साहित्य के अध्ययन में बाधा नहीं पड़ती। लेकिन इससे विचार चर्चा में कठिनाई यह हो जाती है कि उनके कृतित्व के बारे में व्यापक पाठक समुदाय की कोई भी सम्मति स्वतः स्वीकार नहीं की जा सकती और इस प्रकार हर चीज़ की व्याख्या नये सिरे से करनी पड़ती है। काडवेल की कृतियों को छोड़कर आलोचक और पाठक के बीच कोई सामान्य आधार नहीं रहता। लेकिन काडवेल विषयक भ्रान्तियों को देखते हुए, यह भी गनीमत है।

हाल्डेन द्वारा काडवेल की प्रशंसा में लिखे गये वाक्यांश 'विचारों की खान' से जो अव्यवस्था और दुरूहता व्यंजित होती है, वह शायद काडवेल के अध्ययन की सबसे बड़ी कठिनाई है। शायद इसी कारण अब तक किसी ने काडवेल का सम्यक् अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया है। काडवेल का ज्ञान-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था — वह पुनर्जागरणकालीन मानव थे। उन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृति की अपार ज्ञान-राशि का उपयोग किया है: ज्ञान-राशि का यह उपयोग उन्होंने एक अधकचरे की तरह नहीं, बल्कि सच्चे ज्ञान-साधक की तरह किया है। उनके आलोचक को भी वैसा ही ज्ञान-साधक होना पड़ेगा। मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश आलोचक यह शर्त पूरी नहीं करते। मुझ में तो निश्चित रूप से काडवेल का आलोचक होने की क्षमता नहीं है। काडवेल की कृतियों की आधारभूत सामग्री अन्तःसम्बन्धित है और सीमित बहस उनके सिद्धान्तों के साथ न्याय नहीं कर सकती। फिर भी मेरा खयाल है कि मैं अपने-आपको उनके साहित्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त तक ही सीमित रखकर उनके विचारों को न्यूनतम क्षति पहुँचा रहा हूं और मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्त को काडवेल की जो देन है उसकी आत्मा के यथासम्भव सबसे निकट पहुंचने का प्रयास भी कर रहा हूं।

: २ :

चौथे दशक के अन्य मार्क्सवादी आलोचकों से तुलना करें तो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में काडवेल का योगदान असाधारण रूप से महत्वपूर्ण मालूम पड़ता है। जिन आलोचनात्मक प्रश्नों को उन्होंने उठाया और अनुत्तरित ही रहने दिया, उनकी ओर ध्यान दें तो चौथे दशक के वामपन्थी आलोचकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी अवधारणाओं को लागू तो किया, किन्तु मार्क्सवादी पद्धति का ज्यादा उपयोग नहीं किया। यह ठीक है कि उन्होंने कला सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त की दिशा में कुछ प्रगति निश्चित रूप से की, किन्तु उनके अधिकांश लेखन को स्पष्ट रूप से केवल एक शुरूआत कहा जा सकता है।

चौथे दशक के मार्क्सवादी आलोचकों ने कम-से-कम इतना किया कि लोगों को इस बात से अवगत करा दिया कि कला के क्षेत्र में मार्क्सवादी अवधारणाएँ लागू की जा सकती हैं। १९३३ में आर० डी० चार्क ने साहित्य के क्षेत्र में लागू होने वाले 'अस्तित्व द्वारा चेतना निर्धारण' के सिद्धान्त के औचित्य को प्रमाणित करने की आवश्यकता महसूस की थी। लेकिन १९३७ ई० तक उपर्युक्त सिद्धान्त (तथा यह सिद्धान्त भी कि कला भौतिक अस्तित्व के तथ्यों से सम्बद्ध है) को एडवर्ड अपवर्ड ने करीब-करीब एक स्वतःसिद्ध उक्ति के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्वीकार कर लिया था तथा राल्फ़ फॉक्स ने उपन्यास के उद्भव की विवेचना करते समय इसका सर्जनात्मक उपयोग किया।[४] चेतना और साहित्य के सामाजिक निर्धारण का सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया, हालाँकि उस चेतना की समझ बहुत सीमित थी। कला को राजनीतिक औज़ार के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश का तकाज़ा था कि कला के कार्य पर व्यापक बहस की जाए लेकिन अधिकांश आलोचकों ने साहित्य के तात्कालिक कार्य (अर्थात् समाजवाद के संघर्ष की सहायता करना) को ही सामने रखा। इन लोगों की दृष्टि में साहित्य का कार्य सामान्यतः यही था।

वे विविध प्रकार से साहित्य-विषयक धारणा बनाते थे कि साहित्य शब्दों का हथियार है, कि वह मनुष्य की चेतना परिवर्तित कर देने वाला उत्तोलक यन्त्र है, कि वह संघर्ष के लिए तैयार करता है। एरिक गिल ने कहा कि सभी प्रकार की कलाएँ प्रचार हैं; अपवर्ड ने कहा कि समाजवादी क्रान्ति लाने का कार्य कितना महान् है, इसे महसूस करने में हमें साहित्य की सहायता की ज़रूरत है। एफ़० डी० क्लिनजेंडर के अनुसार मनुष्य की चेतना को परिवर्तित कर सकने के कारण कला सभी प्रगतिशील शक्तियों का अनिवार्य सहायक है।[५] साहित्य के कार्य सम्बन्धी ये अल्प-व्याख्यान विचार जिस साहित्यिक अवधारणा को प्रकट करते थे वह बहुत दूर तक राजनीतिक थी। इन विचारों के साथ जिन साहित्यिक मानदण्डों को अपनाया गया था वे शायद साहित्य का राजनीतिक मूल्यांकन तो कर सकते थे लेकिन एक कला-रूप की दृष्टि से साहित्य पर विचार करने के लिए अपर्याप्त थे। सम्भवतः सबसे कुख्यात मानदण्ड अपवर्ड ने प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि समाजवादी स्थिति अपनाकर ही कोई आधुनिक पुस्तक अच्छी बन सकती है। लेखक समाजवादी नहीं है तो उसका लेखन झूठा है।[६]

एलिक वेस्ट इस प्रकार की आलोचना से साफ़ तौर पर अलग नज़र आते हैं। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें सर्जन और कार्य को सर्वदा दो भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं माना गया है, बल्कि साहित्य को इस रूप में देखा गया है कि वह बयक समाज से उपजने और फिर समाज को प्रभावित करने का काम साथ-साथ करता है। वेस्ट में सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना की एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करने की क्षमता थी जो मार्क्सवादी राजनीति और कला को सफलतापूर्वक एक-दूसरे से जोड़ती थी।[७]

चौथे दशक की मार्क्सवादी आलोचना ने मार्क्सवाद को साहित्य में लागू किया, उसने इस मार्क्सवादी अवधारणा की सन्दर्भवत्ता स्थापित की कि 'सामाजिक सत्ता चेतना का निर्धारण करती है।' यह अवधारणा साहित्य को सामाजिक समस्याओं से जोड़ती थी। उस समय साहित्य को औजार या हथियार के रूप में ग्रहण किया गया। फाक्स और विशेष रूप से वेस्ट ने चौथे दशक में महत्वपूर्ण योगदान किया, लेकिन इसके बावजूद इस काल की आलोचना ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण नहीं किया। सामान्यतः इस काल के आलोचकों में साहित्य के कार्य सम्बन्धी समझ की कमी थी और साहित्य की जिम्मेदारियों और समस्याओं पर इनके विचार सतही होते थे। आज इस कालावधि की आलोचना का महत्व बहुत कम है; लेकिन इससे कई बातें साफ होकर सामने आईं। इससे साफ़ ज़ाहिर हुआ कि ऐसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है जो आधारभूत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर बता सके कि (१) साहित्य क्या है, (२) इसका सामाजिक कार्य क्या है और (३) समूचे मानव परिवेश में साहित्य कहाँ स्थित है? काडवेल ने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की।

काडवेल ने साहित्य के कार्य की सन्तोषजनक व्याख्या की, कम-से-कम समूचे मानव-जीवन में साहित्य की स्थिति को परिभाषित किया। लेकिन इस काम में वह बहुत दूर तक आगे न बढ़ सके। चौथे दशक के अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तरह वह भी सौन्दर्य-रुचि पर यथेष्ट प्रकाश न डाल सके। साहित्य के सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त को शुद्ध सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य पर विचार करना ही पड़ेगा। अन्य आलोचकों की राजनैतिकता उनकी असफलताओं को साफ प्रकट कर देती है, किन्तु काडवेल राजनीति की शरण में नहीं जाते। 'फर्दर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर' में सौन्दर्य पर उन्होंने जो निबन्ध लिखा है, उससे पता चलता है कि शायद वह इस समस्या के प्रति सचेत थे, लेकिन वह इस समस्या के समाधान के निकट नहीं पहुँचते। काडवेल की दृष्टि में, कला के क्षेत्र में सौन्दर्य का वही स्थान है जो विज्ञान के क्षेत्र में सत्य का है। लेकिन इससे यह पता नहीं चलता कि साहित्य के क्षेत्र में सौन्दर्य की भूमिका क्या है या वह साहित्य के कार्य से किस प्रकार सम्बन्धित है। काडवेल के अनुसार कलाकृतियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन और समाकलन का काम सौन्दर्यशास्त्र का है।

"इसका यह मतलब नहीं कि उपन्यास और कविता में समाकलन की आवश्यकता नहीं है। यह समाकलन सौन्दर्य-शास्त्र का कार्य है। सौन्दर्यशास्त्र का यह मूल कार्य है कि वह हरेक को मिल्टन से अवर तथा शेक्सपियर को इन दोनों से श्रेष्ठ प्रमाणित करे। उसे जटिल विस्तार में जाकर उनका फर्क भी प्रमाणित करना है। लेकिन इसके लिए एक प्रतिमान, जगत के समाकलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है, यह (प्रतिभा और दृष्टिकोण) वैज्ञानिक अर्थात् बुद्धिसंगत नहीं सौन्दर्य-शास्त्रीय होगा। यह कला का न्याय है"[८]।

काडवेल ने विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय कसौटी और साहित्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया। लेकिन कार्य सिद्धान्त अपने आप साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन की वस्तु-गत कसौटी प्रस्तुत करता है। काडवेल ने इस सूत्र की खोज की लेकिन इसका विकास नहीं किया। "सामाजिक सत्ता चेतना का निर्धारण करती है" यह वाक्य कसौटी नहीं बन सकता। यह कहना कि साहित्यिक कृति अपने काल की प्रतिच्छवि है, कृति का मूल्यांकन करना नहीं है। हाँ, कार्य-सिद्धान्त अवश्य प्रतिमान बन सकता है। साहित्य यदि अपना कार्य करता है, सामाजिक पुनर्गठन की बढ़ोतरी के जरिए लोगों की स्वतन्त्रता के विकास में सहायक होता है, व्यक्ति की अपनी सम्भावनाओं की उपलब्धि में सहायक होता है, तो अच्छा है; यदि वह लोगों की स्वतन्त्रता का ह्रास करता है या केवल भावप्रवणता को बढ़ाता है तो बुरा है। जाहिर है कि सौन्दर्यशास्त्रीय कसौटी का व्यवहार इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए करना है—कार्य की कसौटी का व्यवहार बिल्कुल सीधे नहीं किया जा सकता। इस कसौटी का इस्तेमाल करना आसान नहीं है। लेकिन साहित्य का सामाजिक कार्य समझ लेने के बाद इसकी विधि स्पष्ट हो जाती है।

काडवेल ने सिद्धान्त और व्यवहार की द्वन्द्वात्मकता को पूरी तरह समझ लिया था, इसलिए उन्होंने जान लिया कि मार्क्सवाद व्यावहारिकता की उपेक्षा नहीं करता, इसीलिए वह मार्क्सवाद की व्याख्या जगत् के सन्दर्भ में करने से नहीं हिचके। काडवेल के लिए मार्क्सवाद साध्य नहीं, पथदर्शक था। उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं को गहराई से पढ़ा था, इसका सर्जनात्मक उपयोग उन्होंने मार्क्सवाद को नए क्षेत्रों पर लागू करने के लिए किया। उन्होंने मार्क्सवाद की अपनी मजबूत पकड़ का उपयोग सौन्दर्यशास्त्र को मार्क्स-वाद के प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए किया।

अपनी पीढ़ी के अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा काडवेल बेहतर भौतिकवादी और बेहतर द्वन्द्ववादी थे। उन्होंने साहित्य के सामाजिक अन्तःसूत्रों को पकड़ा और मनुष्य के उत्तरा-धिकार और भौतिक प्रकृति के प्रति साहित्य की जिम्मेदारी को आँका। उन्होंने न तो साहित्य का अतिमूल्यन किया न मानव-जाति में इसके महत्व को कम करके आँका। वह साहित्य को ऐतिहासिक तथ्य मानकर सन्तुष्ट नहीं रहे बल्कि उन्होंने इसकी मौजूदगी के कारणों की व्याख्या का प्रयास किया। उसकी व्याख्या का सामाजिक व्याख्या होना अवश्यम्भावी था। यह सच्चे अर्थों में साहित्य के सामाजिक कार्य के विषय पर किया गया चिन्तन है। काडवेल ने बताया कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों की आधारभूत समस्या साहित्य का सामाजिक कार्य है। अंग्रेज मार्क्सवादी आलो-चकों में से केवल वही समाधान के निकट तक पहुँच सके। उन्होंने बताया कि सिर्फ इसका विस्तार करने से काम नहीं चलेगा कि "सत्ता चेतना का निर्धारण करती है।" मार्क्स-वादी व्याख्या को द्वन्द्वात्मक होना पड़ेगा, उसे साहित्य के व्यवहार-पथ और समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का भी ध्यान रखना पड़ेगा।

काडवेल के अनुसार कला, मायिक अवास्तविकता के जरिए मनुष्य को बदलती है, बदले हुए मनुष्य अवास्तविकता को वास्तविकता बनाने के लिए दुनिया को बदलते हैं। उन्होंने मनुष्य के सामाजिक और जैवी द्वन्द्वात्मकता के एकत्व को समझा और साहित्य का अध्ययन करके सार रूप में ऐसे सामाजिक सम्बन्ध को खोज निकाला जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य का कार्य है। साहित्य उस अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति करता है जो व्यक्ति, सहज वृत्तियों से चालित मनुष्य और संगठित, सुसंस्कृत मनुष्य के बीच है, समाज पर अपनी ऊर्जा का धावा बोल देने वाले और अपनी ऊर्जा को सामाजिकता से निर्देशन करने वाले मनुष्य के बीच है। इस अन्तर्विरोध को देखें तो साहित्य की आवश्यकता समझ में आती है, इसी से साहित्य की विशेषताएँ भी उत्पन्न होती और समझ में आती हैं। इस जानकारी के लिए मार्क्सवादी आलोचना काडवेल के प्रति कृतज्ञ रहेगी। •

अनुवादक : विश्वनाथ त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. थामसन, 'इन डिफेंस ऑफ पोएट्री', दि माडर्न क्वार्टर्ली, वसंत, १९५१, पृ० १२३।
२. वेस्ट, 'दि काडवेल डिस्कशन', वही, ग्रीष्म १९५१, पृ० २६८।
३. मार्क्स, 'प्रिफेस टु ए कंट्रीब्यूशन टु दि क्रिटीक आफ पोलिटिकल एकॉनॉमी', पृ० १८२।
४. Charques कन्टेम्पोरेरी लिटरेचर एण्ड सोशल रिवोल्यूशन, ७.१०; अपवर्ड, "स्केच फार ए मार्क्सिस्ट इंटरप्रिटेशन आफ लिटरेचर", पर और फाक्स, द नावेल एण्ड द पीपुल, ४४. फाक्स की रचना का प्रथम संस्करण १९३७ में छपा था।
५. गिल "सभी कलाएँ प्रचार हैं" ४८ अपवर्ड ५५, और क्लिनजेंडर, २८।
६. अपवर्ड, ५२-५३ और देखिए ४६-४७ और ४९। शायद इसी प्रकार के वक्तव्यों को देखकर हाइमन ने लिखा "एडवर्ड अपवर्ड ने अपने अल्पकालीन उग्रवादी दौर में जो कुछ लिखा वह लेखन के इतिहास का सबसे वाहियात अंश है।" हाइमन १९३।

अपवर्ड ने जैसे ही निष्कर्ष निकालना और समाजवादी दौर में साहित्य के भविष्य पर विचार करना शुरू किया, आलोचक और मार्क्सवादी के रूप में उसका हल्कापन प्रकट होने लगा। उदाहरण के लिए उन्होंने लिखा, "हम सोच सकते हैं कि भावी लेखक त्रासदी को जो कि मनुष्य की पराजय पर मनन करने का परिणाम (?) है, सर्वाधिक प्रभावशाली और सर्वाधिक गम्भीर साहित्य-विधा नहीं मानेगा।" (५४) अपवर्ड के इस कथन से प्रकट है कि उनका साहित्यिक अनुभव निहायत उथला था और उन्होंने मार्क्सवाद को बिल्कुल नहीं समझा था।

७. वेस्ट : क्राइसिस इन क्रिटिसिज्म; उदाहरण के लिए देखिए पृ० ९२, १३४, १३८-१४०, १८१।
८. इल्यूजन एंड रियलिटी, पृ० १३३

[लेखक की पुस्तक 'दि फंक्शन ऑफ लिटरेचर : ए स्टडी ऑफ क्रिस्टोफर काडवेल्स इस्थेटिक्स, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, १९६८ से भूमिका और निष्कर्ष के अंश साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता

रोजर गारोदी

: १ :

मार्क्सवाद मानव की सृजनात्मक क्रियाशीलता से शुरू होता है। वहीं पर इसका पर्यवसान है : प्रत्येक मानव को मानव बनाने में अर्थात् स्रष्टा 'कवि' बनाने में। फिर मानवीय श्रम-क्रिया में, मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि में, कलात्मक सृजन का क्या स्थान है ? विश्व को रूपान्तरित करने की क्रिया के अन्तर्गत मिथक का क्या स्थान हो सकता है ?

हम इस पर पहले भी बल दे चुके हैं कि कल्पलोक से विज्ञान तक के संचरण में, समाजवाद के हाथों स्वप्न का नाश नहीं हुआ है। समाजवाद ने यही किया है कि इस स्वप्न को साकार करने के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक आधार प्रस्तुत किया है।

हमें स्वप्न देखने चाहिए; यह लेनिन ने कहा था जो यह जानता था कि मिथक स्वयं क्रियारत जीवन है।

मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार मिथक का स्थान सृजनात्मक कला के स्तर पर है, न तो ऊपर है और न ही नीचे।

हम जिस तरह बर्कले के इस मत में शरीक नहीं हैं कि प्रकृति किसी अनन्त मस्तिष्क के द्वारा ससीम मस्तिष्कों को कही गई प्रतीकात्मक भाषा है, इसी तरह कैसिरर के इस मत में हमारा विश्वास नहीं है कि मिथक ईश्वर-विषयक चेतना द्वारा रचित ओडेसी है, और न गुसडोर्फ के इस मत में कि मिथक वास्तविकता में निमज्जन तथा आधिभौतिक पुनरैक्य है, या दूयूमेरी के इस मत में कि मिथक पूर्वतः विद्यमान मूल्यों का स्पन्दानुभव है, और न ही युंग के इस विचार में हमारी सहमति है कि आर्किटाइप अथवा आदिम बिम्ब विचार-प्रक्रिया के लिए गर्भ-स्थानीय हैं। मिथक की भूमिका न तो धार्मिकता है और न ही आदिम-प्रकृति।

यदि मिथक अतिरोहण की अभिव्यंजना है तो यह अतिरोहण बाह्यता अथवा उपस्थिति की शब्दावली में नहीं समझा जा सकता। यह अतिरोहण न तो ऊपर से है—ईश्वर का, न ही नीचे से है—बने बनाए रूप में हमें दी गई प्रकृति का।

मिथक सहभागिता नहीं अपितु सृजन है।

मार्क्स के अनुसार मिथक का स्वरूप वह नहीं है जो फ्रायड के अनुसार है, आकांक्षा की उदात्तीकृत अभिव्यक्ति भी नहीं। मार्क्स के मत में मिथक श्रम का एक रूप है।

यह अन्तर मौलिक अन्तर है क्योंकि आकांक्षा प्रकृति का ही प्रवाह है जबकि श्रम प्रकृति का अतिरोहण करता है।

श्रम को मिथक का—यहाँ तक कि प्रकृति के विपरीत संस्कृति का ही—आधार बनाने से, हमें अवसर मिलता है कि हम स्वप्न-प्रतीकों तथा मिथक-प्रतीकों में विभाजक रेखा खींच सकें। स्वप्न-प्रतीक आकांक्षा की अभिव्यक्ति हैं जबकि मिथक-प्रतीक मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि का एक रूप हैं—ऐसा रूप जो काव्यात्मक हो, पैगम्बराना हो तथा लड़ाकू हो, किन्तु हर हालत में पुरो-द्रष्टा हो।

इससे, सही अर्थ में, अपने नाम से पुकारे गए मिथक में तथा गलत नाम से पुकारे गए मिथक के बीच उत्पन्न बालमेल का निवारण हो जाता है। यदि मिथक श्रम की वह अवस्था है, जिसमें मानव का उदय अपने उस अस्तित्व के नए आयाम की स्थापना करता है जो भविष्य को उपलब्ध करता है, तो मिथक को हम न तो अतीत का अवशेष कह सकते हैं, न अन्योक्ति रूप में बालिश तथा स्थानारोपित तर्क और न ही कारणान्वेषी कथाएँ कह सकते हैं। और न ही यह किसी महान् अवधारणा के द्वारा वर्तमान का पुनरुत्पादन तथा संरक्षण है—एक ऐसा चित्र जो व्यवहार के लिए आदर्श बन जाय। प्रोपेगैण्डा तथा प्रचार द्वारा निर्मित यह सामाजिक रूढ़ि और निर्जीवता की स्थिति भ्रम तथा अलगाव है। इसकी प्रवृत्ति है : इतिहास की प्रगति करना नहीं बल्कि इच्छाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्वीकार्य रूप प्रदान कर इतिहास की गति को रोकने तथा इंसान को उसकी सहजवृत्तियों के बन्द घेरे में चक्कर लगाने को छोड़ देने की है। यह रूढ़ि कई तरीकों से अनेक शक्लें अख्तियार करती है : हिटलर के नस्ल के प्रोपेगैण्डा अथवा कामोत्तेजना को इश्तिहार का साधन बनाने से लेकर 'मूर्ति' में प्राप्त होने वाले मिथक-नायक की जगह किसी अधःपतित को स्थानापन्न करने तक। यहाँ मिथक के विस्तार के द्वारा, युवकों को आत्मनिर्वासित जीवन के लिए स्थानापन्न जीवन का एक पूरक भ्रम प्रदान किया जाता है : जैसे बेरेनिस की जगह सोराया को तथा अफ्रोदाइत की जगह ब्रिगीबादो को।

ऐसे भी मिथक हैं जो हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं या फिर हानिप्रद हैं। वे हमें कहीं भी नहीं ले जाते। दूसरे हैं जो हमें अपने सृजन केन्द्रों तक पहुँचाते हैं, जो लगातार नए क्षितिजों का उद्‌घाटन करते हैं और अपनी ही सीमाओं को पार करने में हमारी सहायता करते हैं। कुछ बन्द मिथक होते हैं और कुछ खुले मिथक। इनमें से दूसरे ही सही मायने में असली मिथक होते हैं।

हम मिथक नाम, हर ऐसे प्रतीकात्मक कथानक तक सीमित रखेंगे जो मानव को उसके सर्जक-रूप और भाव-रूप की प्रकृति तक वापस ले आता है। यह मानव का वह रूप है जो भविष्य का निर्माण करता है, वह रूप नहीं जो अन्य प्राणियों के समान उसे सहजात वृत्तियों और इच्छाओं के वशीभूत होकर अतीत से बाँधे रखता है।

यह अनिवार्य नहीं है कि ऐसे मिथक केवल आदिम मस्तिष्क की उपज हों। समकालीन मिथक भी होते हैं जो बुद्धि-प्रसूत हैं।

अपने प्रारम्भ से ही मिथक अतिरोहण की अभिव्यंजना है और उसका विनम्रतम रूप है—मानव द्वारा प्रकृति का अतिरोहण। इसमें प्रदत्त स्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद के दो रूप अन्तर्निहित हैं : बाह्य प्रकृति से तथा हमारी अपनी प्रकृति से।

मार्क्स का कहना है कि हम ग्रीस के उन महान मिथकों की, जिनका आकर्षण शताब्दियों से बना हुआ है, इस तरह व्याख्या करें जैसे कि वे मानव के स्वस्थ शैशव की अभिव्यक्ति हैं; वह चाहे प्रोमेथेडस हो या इकेरस, अन्तिगोने और विग-मेलियन! प्रत्येक महान् मिथक में, चाहे वह धार्मिक हो अथवा काव्यात्मक, मानव प्रदत्त व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने अतिरोहण को फिर से हासिल करता है।

इसके अतिरिक्त यह श्रम के विशिष्ट मानवीय आयाम पर आधारित है; यह आयाम वह भविष्य है जो वर्तमान में खमीर की तरह मौजूद रहता है।

: २ :

यथार्थवाद की हमारी मार्क्सवादी अवधारणा को बुर्जुआ आलोचना में रूढ़ तथा सीमित यथार्थवाद का अनुगमन नहीं करना चाहिए अपितु मानव-जाति के सभी महान् सृजनात्मक कालों की विरासत को आयत्त करके उसे साहसपूर्वक सृजनात्मक रूप में आगे बढ़ाना चाहिए।

यह इसलिए और महत्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मतारूढ़ अवधारणा ने, निकृष्टतम बुर्जुआ आलोचना की उस आधि-भौतिक अवधारणा के परिणामों को और भी बिगाड़ दिया है जिसने पुनर्जागरण की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं को शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय मान लिया है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की यांत्रिक विकृति के फलस्वरूप सौन्दर्यशास्त्रीय गलतियों के केवल तीन उदाहरण लें :

१. मार्क्सवादी आलोचना में ह्रास की विश्वव्यापी अवधारणा को लागू करना। स्वयं मार्क्स ने अट्ठारहवीं शती के फ्रांसीसी भौतिकवादियों की इस आडम्बरपूर्ण अज्ञता का मजाक उड़ाया है जिन्होंने अपने यांत्रिक भौतिकवाद के बल पर यह तर्क प्रस्तुत किया : हम अपनी तकनीकी और आर्थिक स्थिति में प्राचीन ग्रीसवासियों से उन्नत हैं; अतः हमारी कला भी उनकी कला की अपेक्षा उन्नत है। वोल्तेयर का हेनरियाद, होमर के इलियद से बेहतर है।

इस तर्क से अधिरचनाओं की सापेक्ष स्वायत्तता का मूल्य दुखद रूप में कम होता है। और इस विश्वास को प्रश्रय मिलता है कि एक ह्रासग्रस्त सामाजिक और आर्थिक शासन-व्यवस्था केवल ह्रासग्रस्त कृतियों को ही उत्पन्न कर सकती है।

यह तो दर्शन के क्षेत्र में भी सच नहीं है : जिस युग ने साम्राज्यवाद को ध्वस्त किया वह ऐसी अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के जन्म का साक्षी है जिनसे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमने हुसेर्ल, हाइडेगर, फ्रायड, बाशेलार और लेवी-स्त्रोस आदि की ऐसी उपेक्षा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

जैसे ये कभी हुए ही नहीं तो स्वयं मार्क्सवाद ही दरिद्र होगा।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला में इसका औचित्य और भी ज्यादा है: वह काल जिसमें पूंजीवाद का ह्रास तथा साम्राज्यवाद का ध्वंस हुआ वह कला में प्रभाववाद, सेज़ां, वान गॉग, घनवादियों तथा वनवादियों के विकास और साहित्य में काफ्का से लेकर क्लादेल तक की अत्यधिक मूल्यवान् कृतियों के सृजन का साक्षी है।

२. ह्रास की इस अवधारणा को लागू करना, दर-असल, एक अधिक सामान्य गलती का एक विशेष नमूना है: यह गलती है—कला में विचारधारात्मक अधिरचना के अतिरिक्त और कुछ न देखना और यह मानना कि कला अपने से बाहर पूर्वनिर्मित वास्तविकता का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रतिबिम्बन की यह यान्त्रिक अवधारणा कलाओं के लिए उतनी ही घातक है जितनी विज्ञान के लिए।

कोई भी मार्क्सवादी यह सन्देह नहीं करेगा कि कला अधिरचना का अंश है और इस तरह वर्गहितों से बंधी हुई है; किन्तु कला को विचारधारा के घटकों तक सीमित कर देना, न केवल इसके विशिष्ट चरित्र को आँख से ओझल करना है, किन्तु इसकी सापेक्ष स्वायत्तता से भी मुंह मोड़ना है और यह भूल जाना है कि कला अपना विकास समाज के साथ कदम में कदम मिलाकर नहीं करती।

मार्क्स ने ज़ोर देते हुए कहा था कि सोफोक्लेस की त्रासदियों और जिस सामाजिक व्यवस्था में वे उत्पन्न हुई उन दोनों के बीच की ऐतिहासिक कड़ियों की व्याख्या करना कठिन नहीं है, किन्तु इस तथ्य की व्याख्या फिर भी अपेक्षित है कि आज भी, एक पूर्णतया भिन्न व्यवस्था में वे सौन्दर्या-नुभूति कराने में समर्थ क्योंकर हैं, और क्यों वे ऐसे आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिनका अतिक्रमण असंभव प्रतीत होता है।

३. तीसरी गलती है कला को ज्ञान का एक रूप मान-कर वर्गव्यवस्थाओं से निरपेक्ष कलाकृति के स्थायी मूल्य की व्याख्या करने का प्रयास। बेशक, जैसा कि मार्क्स ने बालजाक़ के विषय में और लेनिन ने तालस्ताय के विषय में दिखाया है, महान कृतियों का ज्ञानात्मक मूल्य है। किन्तु कला को इसी पक्ष तक सीमित कर देने का मतलब है कला के विशिष्ट चरित्र को न समझ पाने की भूल को दुहराना। हीगेल का अनुसरण करते हुए कला को ज्ञान का एक विशिष्ट रूप समझ लेना काफी नहीं है; क्योंकि यह सत्य नहीं है कि कला बिम्ब के माध्यम से वही सिखलाती है जो दर्शन तथा इतिहास अवधारणाओं के माध्यम से सिखलाते हैं। मैं डान कुइहोट या हैमलेट, या किसी कविता या चित्र, अथवा संगीत रचना को अवधारणाओं में 'अनूदित' नहीं कर सकता। वह इसलिए कि कलाकृति का विशिष्ट गुण इसी में है कि वह अपनी वस्तु और अपनी भाषा दोनों में ही अक्षय होती है।

अपनी वस्तु में इसलिए कि वह सक्रिय सत्ता—स्रष्टा के रूप में मनुष्य स्वयं है। जब सेज़ां की एक 'स्टिल लाइफ' हमें ऐसे सन्तुलन की अनुभूति कराती है, जो कि, ढह जाने के कगार पर है, और एक मेज, एक प्लेट और तीन सेवों में परिसीमित कर दिया गया यह संसार ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव की एक महान क्रिया—कलात्मक रचना—के द्वारा विनाश के अन्तिम बिन्दु पर थमा हुआ है तो उस समय हमें इस सत्य की मूर्त अभिव्यंजना का बोध होता है कि वास्तविक वह नहीं जो एक प्रदत्त स्थिति है अपितु वास्त-विक वह भी है जो उपलभ्य कर्म है। कृति उत्तरदायित्व के प्रति एक जागृति है, यह संस्मृति है कि मानव एक सर्जक है, एक दायित्वपूर्ण प्राणी है। यह एंटिगोने के बारे में भी उतना ही सत्य है जितना फाउस्ट के बारे में।

कला की भाषा उसकी वस्तु से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। वस्तु की तरह ही भाषा भी अनिवार्यतः अक्षय होती है। यह मिथकों की सर्जक है। ये मिथक मानव के वे आदर्श रूप हैं जब वह अपना अतिरोहण करता है और जब वह उन अवधारणाओं के दायरे को पार करता है जो केवल पूर्वनिर्मित की अभिव्यक्ति करती हैं। इसलिए यह काव्य अथवा प्रतीक है। दूसरे शब्दों में—यह शब्दों की ऐसी अप्रत्याशित मुठभेड़ है जो हमें पूर्वनिर्मित वास्तविकता नहीं प्रदान करती किन्तु हमें उस 'लक्ष्य' का संकेत देती है, उस 'लक्ष्य' को प्रस्तुत करती है जो एक वास्तविकता है किन्तु ऐसी वास्तविकता जो निर्माण की प्रक्रिया में है।

अतः कला ज्ञान है, किन्तु ऐसा ज्ञान जो अपनी वस्तु और भाषा के धर्म से विशिष्ट है। यह मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्ति का ज्ञान है जो मिथक की अक्षय भाषा में अभिव्यक्त होता है।

कलाकृति का लक्ष्य यथार्थ की वह अवधारणा है जिसमें निहित यथार्थवाद यथार्थ के ही समान अन्तहीन विकास और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्नवीकरण की अवस्थाओं से गुज़र सकता है।

यह ऐसा यथार्थवाद है जो यथार्थ का कोरा प्रतिबिम्ब मात्र नहीं बल्कि एक नए यथार्थ की सृष्टि में सक्रिय साझेदारी है।

एक मार्क्सवादी के लिए, कला का इतिहास आत्मा की चेतनता नहीं है, जैसा कि हीगेल ने सोचा था, अपितु आत्मा के सृजन का इतिहास है।

यदि हम कलात्मक सृजन के इस विशिष्ट चरित्र को पहचान लें तो हम उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेंगे जो विज्ञानों के बारे में निर्मित निष्कर्षों के तुल्य होंगे।

यदि यथार्थ को रूढ़ तथा इदमित्थं ढंग से परिभाषित किया गया तो हम यथार्थवाद से हर ऐसी चीज़ को निष्कासित कर देंगे जो नया यथार्थ है। और, इस प्रकार हम जो करेंगे वह ऐसा दावा होगा कि हमने यथार्थ अथवा नैतिकता के लिए **एकबारगी और हमेशा के लिए** मानदण्ड परिभाषित और निश्चित कर दिया है।

दूसरी ओर, कला की सृजनात्मक भूमिका को मान्यता दे देने का मतलब होगा कि हम विज्ञान की तरह, कला में शैली और वादों के **बहुत्ववाद** को न केवल मानते हैं, अपितु उसकी प्रत्याशा भी करते हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण का आरम्भ इसी महान् सौन्दर्यशास्त्रीय आन्दोलन से हो सकता है। इसका मतलब होगा कि कलाकार से तात्कालिक नारों को उदाहृत करने की माँग न की जाय, किन्तु उसे आह्वान किया जाय कि वह मानव-भविष्यत् के निर्माण में सहभागी हो—और यह वह तभी कर सकता है जब वह हमारे काल के ऐतिहासिक विकास के नियमों की स्पष्ट चेतना से प्रारम्भ करे और जब उस विकास के प्रति अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की तीव्र चेतना हो और साथ ही उसे यह भी चेतना हो कि समाजवाद मूलतः क्या है। समाजवाद को अतीत की तुलना में वर्गयुद्ध के निषेधात्मक रूप में परिभाषित किया जाता है। किन्तु इसका अतिक्रमण करने पर समाजवाद हमारे सामने ऐसी समाज-व्यवस्था के रूप में आता है जो हर मनुष्य को मनुष्य बनाती है, एक सर्जक बनाती है और वह सर्जक भी हर स्तर पर : आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक। कलाकार को यह चेतना प्रदान करने का अर्थ है उसे वह भूमिका अदा करने में मदद देना, जिसके द्वारा वह मनुष्यों में अपनी मानवीय चेतना और इस प्रकार सर्जनात्मक गुण के प्रति जागृति पैदा करता है।

अनुवादक : विनोद खुराना

[लेखक की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद' (१९७०) के 'मार्क्सवाद और कला' शीर्षक पाँचवें अध्याय से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टी, साहित्य और समाजवाद

अर्न्स्ट फिशर

समाजवादी व्यवस्था उस कला के लिए उन वस्तुगत अवस्थाओं का सृजन करती है जो मनुष्य के हृदय को अपनी पकड़ में ले सके, उसके मर्म को आन्दोलित कर सके और उसे बदल सके। रद्दी और सस्ती कृतियों का उत्पादन वस्तुतः व्यापारिक लाभ भी नहीं पहुँचाता। अवकाश के समय के साथ नियंत्रण-हीन मनोरंजन उद्योग का बलात्कार नहीं होता। समाजवाद का रुख 'है' की तरफ न होकर 'होने' की तरफ है। समालोचना एक विचार के आधार पर परिपुष्ट होती है, और वह विचार समाजवाद है; कल्पना-शक्ति इस योग्य होती है कि वह निर्माण की प्रक्रिया से गुजरते हुए समाज की गतिशीलता को ग्रहण कर सकें।

'संस्कृति की रक्षा के लिए कांग्रेस' में अर्न्स्ट ब्लाख ने १९३५ में पेरिस के अपने व्याख्यान (मार्क्सवाद और साहित्य) में इन संभावनाओं पर बोलते हुए कहा था—

'सही यथार्थवादी साहित्य उस प्रक्रिया से संबद्ध होता है जिसके अन्दर से तथ्य बड़ी ही कुशलता से निर्वासित और जड़ कर दिये गये हैं; यह प्रक्रिया सारग्राही सूक्ष्म कल्पना की माँग करती है जिससे उसका पुनः प्रस्तुतीकरण हो सके और वह स्वतः इस कल्पना से ठोस रूप में बँध जाय। जब किसी को एक बार मार्क्सवादी समीक्षा का चस्का लग जाता है तो वह स्वभावतः खोखली सिद्धान्तवादिता के बिरोध में स्वयं आ खड़ा होता है और उसे अस्वीकार कर देता है। किन्तु एकमात्र सही काव्यात्मक लय जो आज संभव है—वह कल्पना जो झूठ से मुक्त है—पूरी स्पष्टता से उभरकर सामने आती है और अपने हर पूर्ववर्त्ती युग के कथ्य से बेहतर होकर स्पर्द्धा का विषय बनती है।"[1]

हर महान् साहित्यिक कृति के पीछे "उस प्रक्रिया का समुद्र लहराता है जिसकी यथार्थता की गहराई शायद ही मापी जा सके। मार्क्सवाद इससे पर्याप्त परिचित है और वह विचारधारा-प्रसूत झूठ से मुक्त तथा मूर्त स्वप्नलोक से युक्त प्रक्रिया से संबद्ध ठेठ वस्तु तक पहुँचने में सहायक होता है।"[2]

अतः समाजवाद अपने अन्दर अग्रगामी, सक्रिय और सशक्त कल्पना की शक्ति लिए हुए है जो मानव-भविष्य का सह-निर्णायक हो सकती है। यह तो और भी दुःखद बात है कि इसके जो नतीजे हैं वे सम्भावनाओं की तुलना में अत्यन्त नगण्य हैं; कि जो यन्त्र समाजवाद के नाम पर शासन करता है वह उस रचनात्मक कल्पना से घबराता है जिसका स्वभाव ही स्वाधीनता है; कि यह कला को नपुंसक बनने के लिए अभिशप्त कर देता है क्योंकि यह अपनी शक्ति को या तो पहचानता है या फिर बढ़ा-चढ़ाकर आँकता है। कोई भी 'दिशा निर्देश', आदेश या विधेयक कल्पना पर दबाव डालकर उसे राज्य, पार्टी या शासन-यन्त्र की सेवा करने को विवश नहीं कर सकता—खासकर इस उद्देश्य से कि जो कुछ भी है उससे यथावत सहमत हो जाय या जो अभी तक उपलब्ध न हो सका है उसे रोज़मर्रा के जीवन का अंश मान लेने का दिखावा करे।

रूसी क्रान्ति-काल में कल्पना यथार्थ से मिलकर एकाकार हो गयी थी। क्रान्तिकारी क्रियाकलाप, जिससे आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति मिटती है, इस संदर्भ में कला से मिलती-जुलती हुई चीज़ है। इससे निर्वासित व्यक्ति अपने-आप में लौट आता है। उस समय कला क्रांतिकारी जनसमूह के साथ थी, यद्यपि उसके रूप उन लोगों के लिए अपरिचित थे। समूह का बोध उन शब्दों तक में विद्यमान था जो समझ में नहीं आ सके थे। किन्तु जब अपनी अनेक कठिनाइयों के बावजूद क्रान्ति ने निर्माण के दौर में प्रवेश किया तो साहित्यिक और कलात्मक 'अवाँगार्द' के साथ जनसमूह का संबंध एक पेचीदा समस्या के रूप में उभर आया। क्रांति की आवाज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

के रूप में कला ने अपना एकीकृत उद्देश्य खो दिया और विविध लक्ष्यों की उपलब्धि के आह्वान की प्रतिक्रिया में वह अलगायी जाने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ मानो बँधी हुई मुट्ठी खुल पड़ी हो और हाथ तरह-तरह की चीज़ों, पास और दूर की चीज़ों की तरफ बढ़ा। क्रान्ति की प्राणशक्ति १९२० के दशक के अन्त तक प्रभावशाली रही—फ़िल्म, कविता और उपन्यास की विपुल रचना हुई जिसमें नये विषयों को लेकर और समाजवादी कला की अक्षय सम्भावनाओं की पूर्वाभिरुचि जगाने के उद्देश्य से अभिव्यक्ति से नये माध्यमों का प्रयोग किया गया। किन्तु उस समय भी कला को नियन्त्रित करने का रवैया ज़ोर पकड़ रहा था, उसे शासित और मनोनुकूल ढंग से तोड़मरोड़ कर पेश करने की प्रवृत्ति मौजूद थी, उससे आलोचना और मुक्त कल्पना के उपयोग की प्रवृत्ति निकाल फेंकने और कलाकारों को पदाधिकारी बना देने, प्रस्तावों के उदाहर्त्ता के रूप में बदल लेने की प्रवृत्ति मौजूद थी।

मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ

१९२८ ई० में लुनाचार्स्की ने 'मार्क्सवादी समीक्षा की समस्याओं पर प्रबन्ध' में लिखा था—

"सार्वभौमिकता की कसौटी को गम्भीरता से लागू करना चाहिए। हमारे प्रकाशन एवं प्रचारात्मक साहित्य का विस्तार नितांत आरम्भिक लोकप्रिय स्तर से लेकर अत्यन्त जटिल पत्र-पत्रिकाओं तक है जो पाठक से काफी समझ की अपेक्षा रखती हैं। इसी तरह हम अपने तमाम साहित्य को उन किसानों या मज़दूरों के स्तर तक नहीं गिरा सकते जो अब तक असंस्कृत हैं। यह बहुत गम्भीर भूल होगी।" अपनी उसी कृति में लुनाचार्स्की लेखक की उस आवश्यकता की पुष्टि करते हैं जिसके अनुसार वह 'हमारे कार्यक्रम में पहले ही पूरी तरह विकसित किये गये विचारों' से परे भी जा सकता है।

'कलाकार तभी महत्त्वपूर्ण होता है जब वह परती ज़मीन तोड़ता है, जब वह अपनी अंतःप्रज्ञा के बल पर ऐसे क्षेत्र में प्रथम प्रवेश करता है जिसमें तर्कशास्त्र या सांख्यिकी शायद ही पहुँच पायें। कलाकार सही है या नहीं, उसने यथार्थ और साम्यवाद की बुनियादी आकांक्षाओं का सम्मिश्रण किया है या नहीं—यह निर्णय करना आसान नहीं है; यहाँ भी सही निर्णय पर तभी पहुँचा जा सकता है जब हम आलोचकों और पाठकों के विचारों के संघर्ष पर ध्यान देंगे।"[3]

जब तक यह प्रवृत्ति शासनारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टी के रुख को निर्णायक है—यद्यपि शासन-यन्त्र के द्वारा हस्तक्षेप का सदैव खतरा मौजूद है—तब तक कलात्मक कल्पना के लिए वे अनुकूल परिस्थितियाँ किसी न किसी तरह मौजूद हैं जिनकी वजह से वह उन क्षेत्रों में प्रवेश कर सके जिनमें तर्कशास्त्र, सांख्यिकी और राजनीतिज्ञों तथा शासकों की व्यावहारिक अनुभूतियाँ प्रवेश नहीं कर सकतीं। अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा, समाजवाद को कहीं अधिक उस आलोचना की आवश्यकता है जिससे वह अपनी गलतियों को सुधारे और भ्रामक क्रियाकलापों को बदले। इसी तरह उस कल्पना की भी कहीं अधिक आवश्यकता है जिससे भविष्य का पूर्वानुमान किया जा सके—न केवल उसे 'प्रतिबिम्बित' करने के लिए बल्कि मनुष्य के विकास में सक्रिय होकर भाग लेने के लिए; यह सब इसलिए क्योंकि समाजवाद का लक्ष्य **पूर्ण मनुष्य** है; उसके सभी सम्बन्धों का मानवीयकरण उसका उद्देश्य है। अगर कलाकार को 'पहले ही पूरी तरह विकसित किये गये विचारों' से आगे बढ़कर नयी वास्तविकताओं की खोज के अधिकार से वंचित कर दिया गया, अगर सत्तारूढ़ शक्तियों के विरोध पर बंदिश लगा दी जाय, अगर किसी कलाकृति के संबंध में मूल्य-निर्णय आलोचकों और पाठकों के विचारों के संघर्ष में न ढूंढ़ा जाय बल्कि किसी अच्युत संस्था के आदेश से उसका निर्णय हो—तो उस हालत में समाजवादी समाज व्यवहारतः उन संभावनाओं को नष्ट कर रहा है जो सिद्धान्ततः पूंजीवादी समाज की तुलना में उसकी अपनी विशिष्टता है। जैसा कि अधिकारीगण आम जनता की शिकायतों का हवाला देकर अक्सर कहते हैं, कुछ 'अहंकारी' कलाकार होते हैं और इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। पर इनकी तुलना में समाजवादी कला के विकास को वास्तविक खतरा उन अहंकारी नवसिखुओं (अमेचर्स) से है जिनका विश्वास है कि वे अपने पद के नाते यह सिखा सकते हैं कि चित्रकार कैसे चित्र बनाये और लेखक कैसे लिखे। खतरा उन अधिकारियों से है जिनके लिए सत्य हमेशा "पहले से ही पूरी तरह विकसित" है।

पार्टी-समझ (Party mindedness)

'समाजवादी कलाकार की दृष्टि में कला हमेशा वर्ग-संघर्ष का हथियार होती है। वह कला के अनेकानेक माध्यमों

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपयोग जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने, जमन जनवादी गणतन्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ाने, सभी क्षेत्रों में समाजवाद के निर्माण की सफल उपलब्धि और साम्राज्यवाद तथा सैन्यवाद की आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में करेगा। कला में पार्टी-समझ से हमारा यही अभिप्राय है।'[४]

अवसर आने पर कड़ाही भी वर्गयुद्ध में हथियार का काम कर सकती है। फिर कलाओं के बारे में तो कहना ही क्या, जिनके साधन और सम्भावनाएँ कड़ाही से कहीं अधिक बहुविध हैं। पर कलाएं यह काम तभी कर सकती हैं जब उन्हें ऐसा करने का आदेश न दिया जाय। इसके बावजूद यह सवाल पूछा जा सकता है :

माना कि कला हथियार है—पर कैसा हथियार ? क्या ढोल हथियार है ? अथवा युद्ध गीत ? अथवा फौजी मार्च ? कला को हमेशा 'वर्गसंघर्ष का हथियार' बना देने का केवल लाक्षणिक अर्थ हो सकता है। यह न तो शत्रु पर चोट करती है और न उसे भयाक्रांत करती है, बल्कि लड़ाकू लोगों को अपनी तरफ करने में मदद देती है। फिर भी अगर यह केवल इतना ही काम करती है, और कुछ भी नहीं, तो अन्ततः यह अनिर्णीत जनों को भयाक्रांत ही करके रह जाएगी और लड़ाकू दस्तों को उत्साह के स्थान पर ऊब ही प्रदान करेगी। और सम्भवतः केन्द्रीय समिति के सदस्यों के मन में सस्ती अमरीकी मनोरंजन की किताबें पढ़ने का लालच उत्पन्न करेगी या सौन्दर्यपरक शस्त्राभ्यास की बजाय पश्चिमी जर्मन सिगार से ही परितोष प्राप्त करने की प्रेरणा देगी।

फिर कला 'जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने या उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करने में कैसे सहायक होगी' ? बर्तोल्त ब्रेख्त जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने में सहायक न हो सके, यद्यपि उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में निश्चित रूप से उनका योग है, क्योंकि कलाकार के नाते पार्टी-लाइन मानने से इनकार कर उन्होंने अपनी कला के लिए अलग रास्ता चुना। अपनी अनेक रचनाओं में, वर्गसंघर्ष के कवि के रूप में उन्होंने विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त की न कि सैद्धान्तिक हथियारों के वाहक के रूप में। सदैव वर्ग-युद्ध की रट लगाने वाले अन्य जन जर्मन जनवादी गणतन्त्र की महत्ता स्थापित करने में ज़रा भी सहायक न हो पाये। समाजवादी राज्य तभी आदर पाता है जब वह पार्टी के गलत होने पर भी कलाकारों द्वारा पार्टी के सही होने के एलान करवाने की कसरत करवाने के बजाय कला के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। अतः कलाकार उसी हद तक अपने समाज की प्रतिष्ठा के लिए काम करते हैं जिस हद तक पार्टी का संगठन-यंत्र उन्हें मुक्त ढंग से काम करने के मार्ग में दिशानिर्देश या प्रत्यक्ष दण्डविधान के रूप में अवरोध न उत्पन्न करता।

जहाँ तक 'सभी क्षेत्रों में समाजवादी निर्माण-कार्य' का प्रश्न है, इसका मतलब निश्चित रूप से केवल औद्योगिक समूह, स्कूल, अस्पताल और शोध संस्थान (हालांकि ये सभी आवश्यक और प्रशंसनीय काम हैं) न होकर अधिकाधिक स्वतन्त्रता होना चाहिए, उस 'सूक्ष्म' अर्थ में नहीं जिस अर्थ में शासक लोग व्यंग्यपूर्वक स्वतन्त्रता की बात किया करते हैं, बल्कि सूचना, परस्पर विरुद्ध विचारों के अभिज्ञान से उत्पन्न विचार, विकल्पों के बीच स्वैच्छिक चुनाव, अधिकारियों की बोल और लिखकर विरोध करने की सर्वोच्च मूर्त स्वतन्त्रता।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि कला शायद कभी ही या सम्भवतः आंशिक रूप में ही 'साम्राज्यवादी और सैन्यवादी आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में' समर्थ है। इस लक्ष्य के साथ प्रतिबद्ध कला प्रायः उन्हीं लोगों को प्रभावित कर पाती है जो पहले से ही साम्राज्यवाद और सैन्यवाद के विरुद्ध हैं। यह अभी तक अनिश्चय में पड़े लोगों को ही प्रभावित कर पाती है और वह भी तब जब कलाकृति मानवता का पक्ष लेकर बोलती है न कि 'सैद्धान्तिक मोर्चे' का पक्ष लेकर; जब यह मानवीय और बुद्धिसंगत का साथ देती है तथा वर्ग और राज्य के हितों से ऊपर उठ जाती है; दूसरे शब्दों में जब वह निर्धारित अर्थ में 'पार्टी-समझ' से युक्त नहीं होती। अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में 'पार्टी-समझ' का सिद्धान्त कला को 'वर्गसंघर्ष के हथियार' रूप में भी कामयाब नहीं होने देता।

ऐसी कोई कला नहीं है जो पक्ष न लेती हो—पक्षधरता के विरुद्ध होने के बावजूद। इस प्रकार 'पक्ष लेने की नीति के विरुद्ध पक्ष लेना' प्रायः उपयोगितावाद, कठमुल्ला चिन्तन तथा अतिसरलीकरण के विरुद्ध बताया जाता है। यह छद्म रूप में आत्मसमर्पण की सचेष्ट नीति भी हो सकती है अथवा मौजूदा व्यवस्था का साथ देने के भाव से सांसारिक चीज़ों में दिलचस्पी लेने के प्रति 'संवेदनापूर्ण' अस्वीकृति का भी सूचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकती है। किन्तु इस सबके बावजूद सच्चाई यह है कि कम्युनिस्टों द्वारा शासित देशों में 'पार्टी-समझ' का अर्थ किसी घटना, किसी उद्देश्य अथवा किसी विचार के पक्ष या विपक्ष में कलाकारों का स्वतन्त्र निर्णय नहीं होता बल्कि पार्टी जब जैसा चाहे तब वैसा करने के निश्चय के हमेशा अधीन रहना है।

उद्धरणों का दुरुपयोग

उस अवधि में जब हर विचार स्तालिन के विरुद्ध षड्यंत्र समझा जाता था, मास्को में एक चुटकुला चल पड़ा था: 'विचार क्या है?'—'दो उद्धरणों के बीच की न्यूनतम दूरी ही विचार है।' यह 'न्यूनतम दूरी' भी, सामान्य रूप में छद्म और सलज्ज उद्धरण था। 'कला की पार्टी समझ' (पार्टी माइन्डेडनेस) पर लेनिन का उद्धरण आधिकारिक कथन माना जाता रहा है।

अतः हम सबसे पहले निम्नलिखित नुक्तों को साफ तौर पर समझ लें—

१. महान् लोगों का उद्धरण भी सत्य का प्रमाण नहीं होता; हाँ, यह एक सुचिन्तित विचार को पुनः पुष्ट कर सकता है।

२. उद्धृत वाक्य का सन्दर्भ जानना आवश्यक है—उस प्रसंग की जानकारी जिसमें यह बात कही गयी है।

३. यह जानना भी आवश्यक है कि उद्धृत वाक्य आधारभूत पुस्तक से लिया गया है, या किसी निबन्ध, पैम्फलेट अथवा पत्र से।

४. अन्त में, यह पता करना भी आवश्यक है कि उद्धृत वाक्य अपने सही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या नहीं।

लेनिन के अनेक वाक्यों को 'मार्क्सवादी-लेनिनवादी' सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्त के रूप में स्फीत कर दिया गया है। उन वाक्यों को बहुत ही गलत ढंग से लागू किया जाता है और लेनिन के निहितार्थ के एकदम विपरीत। लेनिन ने 'पार्टी-समझ' की माँग सामान्य साहित्य के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक रचनाओं के लिए की थी। लेनिन की पत्नी क्रुप्सकाया ने (३ मई १९३७ के पहले ही) 'साहित्य पर लेनिन के लेखों और वक्तव्यों के संग्रह' निकालने की इ. बुज्कोवा की योजना पर टिप्पणी लिखते हुए 'शैक्षणिक व्यवहार पर लेनिन के साहित्य सम्बन्धी निबन्धों और वक्तव्यों के प्रभाव' नामक निबन्ध के सम्बन्ध में इस आधार पर मतभेद प्रकट किया था कि इसमें सन्दर्भ से च्युत उद्धरणों को नत्थी भर कर दिया गया है और उदाहरणों के द्वारा पुष्ट नहीं किया गया है। उन्होंने लिखा :

"यह बताना आवश्यक है कि किस उद्देश्य से और किन घटनाओं के सन्दर्भ में यह निबन्ध लिखा गया है। लेनिन के निबन्ध 'सर्वहारा संस्कृति', 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' और 'युवा संगठन के कर्तव्य' में साहित्य से मतलब ललित कला नहीं है।"

क्रुप्सकाया व्यक्तिगत रूप से लेनिन के सन्निकट थीं जबकि स्तालिन और ज़्दानोव ने उनकी कृतियों से उद्धरणों का संग्रह मात्र किया है। सोवियत पत्र 'द्रुज्बा नरोदोव' ने १९६० के चौथे अंक में क्रुप्सकाया की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी प्रकाशित की है। किन्तु इस टिप्पणी में भी 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' के लिखे जाने की पृष्ठभूमि के विश्लेषण का स्थान नहीं ले सकती।

क्रान्ति और पार्टी

१९५० के पतझड़ में रूस का विशाल जन-समूह आन्दोलित हो उठा था। क्रान्ति प्राकृतिक और स्वतःस्फूर्त थी। सवाल यह था कि इस क्रान्ति का नेतृत्व कौन करे जिससे ज़ारशाही का पतन हो और जनतान्त्रिक गणतन्त्र की जीत हो?

अवैधता तोड़कर बोल्शेविक उभर आये थे। उनके छोटे लड़ाकू समूहों के सामने गैर-पार्टी जन-समूहों से एकताबद्ध होने की समस्या थी। इसके साथ ही प्रगतिशील बुद्धिजीवियों से एकताबद्ध होने का सवाल था जो अधिकांशतः समाजवादी थे और ईसप की कहानियों की भाषा में तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखा करते थे और प्रायः उग्र तथा सुधारवादी दृष्टिकोणों की बेमेल खिचड़ी पकाते रहते थे। उस समय सम्पूर्ण देश में ऐसे संगठन एकाएक बनते चले गये जिनका अनुभव सीमित था और नेतृत्व आकस्मिक। अपने एक निबन्ध 'समाजवादी पार्टी और गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता' में लेनिन ने उस परिस्थिति का वर्णन निम्न तरह से किया था—

"रूस का क्रान्तिकारी आन्दोलन बड़ी तेज़ी से आबादी के नये हिस्सों में फैल रहा है, जिससे अनेकानेक गैर-पार्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

संगठन पनप उठे हैं···। सभी प्रकार के संगठन, प्राय: अपने स्वरूप में ढीले-ढाले और स्वभाव से अत्यन्त मौलिक, अवाध रूप से पनपते चले जा रहे हैं। उनकी कोई बँधी-बँधायी सीमाएँ नहीं हैं—ठीक उसी तरह जैसे यूरोप में अनेक पार्टियाँ हैं।···पार्टी सिद्धान्त का कठोरतापूर्वक पालन आज की जरूरत है और यही उच्चतम अवस्था में विकसित वर्गसंघर्ष का सही नतीजा है। इसी प्रकार खुले और व्यापक रूप में फैलते हुए वर्गसंघर्ष की यह माँग है कि कठोर पार्टी-सिद्धान्त का विकास किया जाय।"[५]

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बर्बरता, जंगलीपन, भ्रष्टाचार तथा भू-दास प्रथा के अन्य 'रूसी' अवशेषों को खत्म करने की माँग करने वाली जनतान्त्रिक क्रान्ति के समय गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता के विचार का व्यापक प्रसार दुर्निवार था। 'मानवीय,' सभ्य जीवन जीने की आकांक्षा, मानवीय गरिमा की प्रतिरक्षा के लिए संगठित होने की उद्दाम वृत्ति, मनुष्य और नागरिक होने के नाते अपने अधिकारों की माँग—सबको अपनी गिरफ्त में ले लेती है, सभी वर्गों को एकता के सूत्र में बाँध देती है, व्यापक पैमाने पर पार्टी-बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देती है।' यह गैर-पार्टी सिद्धान्त "हमारी क्रान्ति के बुर्जुआ चरित्र की उत्पत्ति—या अभिव्यक्ति था। बुर्जुआ वर्ग अपने को गैर-पार्टी सिद्धान्त के प्रति झुकाव से रोक नहीं पाता—बुर्जुआ समाज की मुक्ति के लिए लड़ने वालों में पार्टियों का अभाव इसलिए होता है कि स्वयं बुर्जुआ समाज के विरुद्ध संघर्ष छिड़ने की कोई सम्भावना न हो···"यह गैर-पार्टी विचार बुर्जुआ विचार है। पार्टी का सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त सामान्यत: और समग्रत: सारे बुर्जुआ समाज पर भी लागू होता है। इस सामान्य सत्य को विशेष प्रश्नों और विशेष स्थितियों में लागू करने की ज़रूरत है। किन्तु इस सत्य को इस समय, जबकि पूरा बुर्जुआ समाज सामन्तवाद और एकतन्त्र के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ है, भूलने का अर्थ है बुर्जुआ समाज की समाजवादी आलोचना से आँखें मूँद लेना।"[६]

पार्टी-संगठन और पार्टी साहित्य

अवैधता को तोड़कर बाहर उभर पड़ी बोल्शेविक पार्टी के सामने क्रान्तिकारी विप्लव में हिस्सा लेते हुए जन-समूह के नेतृत्व का प्रश्न मुख्यतया दो लक्ष्यों को लेकर था: जनतान्त्रिक क्रान्ति और उसके साथ ही सर्वहारा क्रान्ति के लिए समाजवादी सर्वहारा को तैयार करना।

इस दुहरे सबक को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था कि पार्टी-प्रकाशन और साहित्य पर भरपूर ज़ोर दिया जाय। 'पार्टी-संगठन और साहित्य' नामक अपने निबन्ध में लेनिन ने लिखा—

"जब तक वैध और अवैध प्रकाशन का अन्तर था, उस अवधि पार्टी में और गैर-पार्टी प्रकाशन की समस्या अत्यन्त सरल ढंग से सुलझा ली गयी और वह भी छद्म तथा असाधारण रीति से। सम्पूर्ण अवैध प्रकाशन पार्टी-प्रकाशन था जो उन संगठनों और समूहों से संबद्ध था जिनका संचालन पार्टी-कार्यकर्ताओं के हाथ में था। दूसरी तरफ सम्पूर्ण वैध प्रकाशन गैर-पार्टी था (क्योंकि पार्टियों पर पाबन्दी लगी हुई थी), किन्तु इसके बावजूद वे सभी इस या उस पार्टी के प्रति रुझान रखते थे। अस्वाभाविक गठजोड़, अजीब जोड़ेदारी और छद्म आवरण-सज्जा आदि अपनाना अनिवार्य था। वह अवधि ईसोपीय भाषा, साहित्यिक बन्धनों, गुलाम ढंग की बोली और सैद्धान्तिक दासता के लिए अभिशप्त थी।"[७]

वह अपूर्ण, अर्ध-पूर्ण और अर्ध-क्रान्ति थी जिसमें खुली, प्रत्यक्ष और निरन्तर पार्टी-चेतना के साथ का फरार, गुप्त और राजनैतिक वैधता का अस्वाभाविक सम्मिश्रण था। इस स्थिति में पार्टी को इस माँग के लिए मजबूर कर दिया कि जो लेखक और पत्रकार पार्टी-सदस्य हैं, वे खुले तौर पर अपनी निष्ठा व्यक्त करें। "साहित्य को अनिवार्यत: सर्वहारा के सामान्य लक्ष्य का अंग होना चाहिए, मज़दूर-वर्ग के तमाम राजनीतिक रूप से सचेत अग्रिम दस्ते के द्वारा जो महान् 'सोशल-डिमोक्रेटिक' मशीन गतिमान कर दी है, उसका अभिन्न पहिया होना चाहिए।"[८]

लेनिन की कार्य-प्रणाली ही यह थी कि वे आत्यन्तिक स्थितियों में आत्यन्तिक स्थापनाएँ किया करते थे। लेकिन इस स्थिति में उस आत्यन्तिक स्थापना पर उन्होंने सुचिंतित टिप्पणी प्रस्तुत की—

"'सभी तुलनाएँ दूषित होती हैं'—यह एक जर्मन कहावत है। साहित्य की पहिया से तुलना भी ऐसी ही है क्योंकि यह जीवंत गति और यंत्र की तुलना है।···साहित्य को थोड़ा भी यांत्रिक ढंग से अभियोजित करने या उसे समतल करने लायक चीज़ के रूप में देखने का सवाल ही नहीं उठता; यहाँ अल्पमत पर बहुमत के शासन का भी प्रश्न नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता। इस क्षेत्र में यह निर्विवाद है कि विचार और फैंटेसी, रचनातंत्र और विषय-वस्तु में व्यक्तिगत रुझान के लिए पहल करने की असंदिग्ध रूप से छूट होनी चाहिए। इस सबसे इनकार नहीं किया जा सकता; किंतु इससे यह भी साफ है कि सर्वहारा पार्टी-लक्ष्यों का साहित्यिक पक्ष अपर पक्ष के साथ यांत्रिक रूप से तदाकार नहीं माना जा सकता।"

अतः यहाँ सामान्य साहित्य का सवाल नहीं था बल्कि 'पार्टी-कार्य के साहित्यिक पक्ष' का, पार्टी-साहित्य का, राजनीतिक लेखन का सवाल था। लेनिन ने जो माँग की थी, वह यह थी—

"समाचार-पत्रों को विविध पार्टी-संगठनों का मुखपत्र होना चाहिए और उनके लेखकों को हर तरह से इन संगठनों का सदस्य होना चाहिए। प्रकाशन और वितरण केन्द्र, किताब की दूकानें और वाचनालय, पुस्तकालय और इसी तरह के अन्य प्रतिष्ठान—सबको अनिवार्य रूप से पार्टी के नियंत्रण में होना चाहिए।"

लेनिन की दृष्टि में निर्णायक चीज थी प्रकाशन और पार्टी से संबद्ध प्रचारकों का कार्यकलाप। उनकी बुनियादी माँग थी—"हम स्वतंत्र प्रकाशन स्थापित करना चाहते हैं और स्थापित करेंगे; यह स्वतंत्रता केवल पुलिस से स्वतंत्र नहीं होगी बल्कि पूँजी, अवसरवाद और उससे भी बढ़कर बुर्जुआ-अराजकतावादी व्यक्तिवाद से भी स्वतंत्र होगी।" "आप विज्ञान, दर्शन, सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध प्रश्नों का हल क्या बहुमत के द्वारा करेंगे?" इस संभावित सवाल का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा—

"महाशयो, तसल्ली रखिये! अभी सबसे पहले हम पार्टी-साहित्य और उस पर पार्टी-नियंत्रण के बारे में विचार कर रहे हैं। हर कोई जो चाहे लिखने के लिए स्वतंत्र है—बिना किसी पाबंदी के। किन्तु हर स्वैच्छिक संगठन (यहाँ तक कि पार्टी भी) उन सदस्यों को संगठन से बहिष्कृत करने के लिए भी स्वतंत्र है जो पार्टी के नाम पर पार्टी-विरोधी काम करते रहते हैं। भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता सम्पूर्ण होनी चाहिए। किन्तु इसके साथ संगठन बनाने और चलाने की स्वतंत्रता भी सम्पूर्ण होनी चाहिए। मैं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर आपको शोर करने, झूठ बोलने और दिल खोलकर लिखने की पूरी आजादी देने को तैयार हूँ। लेकिन इसके साथ आप भी मुझे संगठन की स्वतंत्रता के नाम पर किसी भी संगठन में प्रवेश करने या उससे निकलने, इस या उस दृष्टिकोण का प्रचार करने वाले संगठन की स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य हैं। पार्टी एक स्वैच्छिक संगठन है। वह अगर पार्टी-विरोधी दृष्टिकोण का प्रचार करने वाले लोगों के कचरे से अपने को साफ नहीं करती तो एक दिन पहले सैद्धान्तिक स्तर पर और बाद में सांगठनिक स्तर पर अनिवार्यतः बिखर जायेगी···पार्टी के अन्दर रहकर विचार और आलोचना की स्वतंत्रता का हक मिल जाने पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमें उन स्वैच्छिक संगठनों को बनाने की स्वतंत्रता का भी अधिकार है जिसे पार्टी कहते हैं।"[८]

स्वतंत्रता और स्वैच्छिक चुनाव

इतने विस्तार से लेनिन को उद्धृत करने का अर्थ यह नहीं है कि मैं इन उद्धरणों को रूढ़ि का दर्जा दे रहा हूँ अथवा परिस्थिति-प्रेरित किसी कथन को शाश्वत बना रहा हूँ, बल्कि मेरा उद्देश्य तो उद्धरणों के दुरुपयोग का विरोध मात्र करना है। संदर्भ से स्पष्ट है कि यहाँ लेनिन की चिन्ता 'पार्टी-समझ' के कलात्मक सिद्धान्त को लेकर नहीं है बल्कि यह प्रसंग प्रकाशन तथा पार्टी के राजनीतिक साहित्य का है। अभिव्यक्ति और प्रकाशन की स्वतंत्रता परिपूर्ण होनी ही चाहिए। पार्टी-सदस्य को केवल एक स्वतंत्रता नहीं मिलती, और वह यह कि पार्टी-सदस्य पार्टी के प्रकाशनों का दुरुपयोग कर पार्टी पर आक्रमण करे। पार्टी स्वेच्छा वरण पर स्थापित है। कोई भी व्यक्ति, जो अपनी इच्छा से पार्टी का सदस्य बनता है, उसे पार्टी के विरुद्ध बोलने या लिखने का अधिकार नहीं है। हालाँकि पार्टी के अन्दर विचार और आलोचना की पूरी छूट है। क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य होना अपने-आप में कोई लाभ की चीज नहीं है। अगर कोई पार्टी अपने सदस्य को निकाल देती है तो सदस्य को पेशे, एकेडेमिक कैरियर, लिखने या बोलने में छूट का कोई नुकसान नहीं उठाना पड़ता है। स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र चुनाव का सिद्धान्त दुतरफा कार्य करता है। ऐसे समय अगर केन्द्रीयकरण क्रान्तिकारी आवश्यकता है तो पार्टी-साहित्य का पार्टी-संगठन के अधीन रहना अपरिहार्य है। फिर भी पार्टी-प्रकाशन और पार्टी-साहित्य में खुले विचार को कितनी छूट थी, पर उस समय भी लेनिन ने 'यान्त्रिक अभियोजन या समतलीकरण···अल्पमत पर बहुमत के शासन' के विरुद्ध साहित्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्ष लिया था। फिर ऐसे नियम के [illegible] झुका देने की बात तो लेनिन ने और भी कम सोची होगी।

पूंजीवादी संसार में लेखक और कलाकार की 'निरपेक्ष स्वतन्त्रता' के ढोंग का तीव्र खंडन करने के लिए लेनिन ने पूंजीवाद के 'अखंडपूर्ण स्वतन्त्र' साहित्य की तुलना में 'सर्वहारा के साथ खुले रूप में संबद्ध था : स्वतन्त्र साहित्य' को रखा है। उनके निम्नलिखित कथन में किसी माँग की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक स्वप्न है :

"यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि समाजवाद और श्रमिक जनता के प्रति हमदर्दी का ख़याल, न कि लालच और अवसरवाद, श्रमिक जनता की कतारों में नयी ताकतों को लायेगा। यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि यह किसी परितृप्त नायिका की सेवा न करेगा, और न पतनोन्मुखता के दलदल में फँसे और ऊबे हुए 'उच्चवर्गीय दस हज़ार' लोगों की सेवा करेगा, बल्कि लाखों-करोड़ों श्रमिक जनता की सेवा करेगा जो देश के प्रसून हैं, शक्ति हैं और भविष्य हैं। यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि यह मानव जाति के क्रान्तिकारी विचारों को उत्कर्ष प्रदान करने के क्रम में समाजवादी सर्वहारा के अनुभवों और जीवंत कार्यकलापों का सम्मिश्रण करेगा जिसमें अतीत के अनुभव (वैज्ञानिक समाजवाद, समाजवाद के आदिम, काल्पनिक रूपों से विकास की पूर्णता) और वर्तमान के अनुभवों (मजदूर साथियों का वर्तमान संघर्ष) के बीच स्थायी क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध स्थापित हो सके।"

पूर्वोद्धृत अन्य अनुच्छेदों के विपरीत यह अनुच्छेद सामान्य साहित्य पर प्रकाश डालता है। एक ओर इस अनुच्छेद में की गई स्थापना है और दूसरी ओर वे कृतियाँ हैं जिनमें लेनिन ने विस्तृत सामग्री और गहन चिन्तन के आधार पर अपने सिद्धान्तों का विकास किया; यदि इन दोनों की तुलना करें तो इस सुचिंतित निबंध के अंत में प्राप्त होने वाला उत्तेजक स्वर और प्रचारक-सुलभ करुणा से यही व्यक्त होता है कि इसमें कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि एक दिवास्वप्न है। इसके अतिरिक्त इस विवादास्पद वाक्य—'सम्पूर्ण सोशल-डिमोक्रेटिक साहित्य को पार्टी-साहित्य होना चाहिए' से यह निष्कर्ष निकालना दूर की कौड़ी लाना ही है कि संपूर्ण साहित्य समाजवादी-जनतांत्रिक (सोशल डिमोक्रेटिक) होना चाहिए; इससे भी बुरी बात यह कि कला पार्टी-अधिकारियों के अधीनस्थ हो। लेनिन ने कभी भी कला और साहित्य के [illegible] रित करने का दावा नहीं किया। वे भष्वियवाद की पृष्ठभूमि के कारण मायकॉव्स्की के प्रशंसक नहीं थे; लेकिन उनका कहना था कि इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय क्रान्तिकारी युवावर्ग पर छोड़ देना चाहिए। चूंकि उनमें से बहुत-से लोग इस कवि के प्रशंसक थे, अतः उसमें अवश्य ही कुछ रहा होगा।

रेडीमेड फार्मूले के विरुद्ध

चूंकि कला में 'पार्टी-समझ' के लिए गरजने वाले कभी-कभी २० अक्तूबर १९२० को कम्युनिस्ट युवा लीग के तीसरे अधिवेशन में दिये गये लेनिन के व्याख्यान का हवाला देते हैं, अतः मैं भी उस व्याख्यान से उद्धृत करना पसन्द करूँगा—

"यदि कोई कम्युनिस्ट उन तथ्यों को समझे बिना, जिनका आलोचनात्मक परीक्षण अपेक्षित है और गंभीर तथा कठिन श्रम किये बिना ही अनायास लभ्य बने-बनाये निष्कर्षों के कारण अपने कम्युनिज़्म की डींग हाँकने का वहम पाल लेता है तो निश्चय ही वह एक दयनीय कम्युनिस्ट है।···

आपके सामने निर्माण का प्रश्न है और आप अपने इस काम को तभी पूरा कर सकते हैं जब सारे आधुनिक ज्ञान को अपने अन्दर पचाएँ—तभी और केवल तभी आप कम्युनिज़्म को बने-बनाए और रटे-रटाये फार्मूलों, परामर्शों, नुस्खों और कार्यक्रमों से निकालकर जीवंत वास्तविकता बना सकते हैं···।"

यदि कुछ समाजवादी राज्यों में सौन्दर्यशास्त्र नियंत्रित है, 'पार्टी-समझ' की भ्रामक व्याख्या की गई है और सर्जनात्मक कल्पना पर नौसिखुएपन की नौकरशाह तानाशाही है तो उनकी 'कला-सम्बन्धी नीति' की आलोचना करते समय सावधानी और रियायत का परित्याग आवश्यक है; क्योंकि कलाओं के क्षेत्र में एक नये युग के समारंभ की दिशा में समाजवाद पूंजीवाद की अपेक्षा बेहतर स्थिति में है। इस संक्षिप्त 'अंतर्हिमानी' अवधि में, सोवियत संघ, पोलैंड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में साहित्य और कला आश्चर्यजनक गति से हिमजड़ता-मुक्त हुआ है, अभिव्यंजना के साधनों के मामले में पश्चिम के लगभग बराबर पहुँच गया है और अपनी विषय-वस्तु में कभी-कभी आगे भी निकल गया है। इसीलिए हरे गेहूँओं को रह-रहकर जो बूट और खुर कुचल देते हैं, उनके बारे में एक समाजवादी केवल वेदना और क्रोध के साथ ही बात कर सकता है।

अनुवादक : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. अर्न्स्ट ब्लाख, लिटरेरीस्च्यू ऑफ्सत्जे, संकलित रचनाएँ, खंड-६ (फ्रैंकफर्ट, सहकम्प, १६६५)।
२. ए० वी० लुन्चार्स्की, 'साहित्य और कला पर' (मास्को : प्रगति प्रकाशन, १६६५)।
३. वही।
४. सोशल-डिमोक्रेटिक पार्टी के एक अधिकारी का ग्यारहवें प्लेनम के समय भाषण।
५. व्लादिमिर लेनिन, समाजवादी पार्टी और गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता, संकलित रचनाएँ, खंड-१० (लन्दन, लारेंस और विशार्ट, १६६२)।
६. वही।
७. लेनिन, पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य, संकलित रचनाएँ, खंड-१० (लंदन : लारेंस और विशार्ट, १६६२)
८. वही।

[अर्न्स्ट फिशर की पुस्तक 'आर्ट अगेन्स्ट आइडियालोजी' (१६६६) एलेन लेन लंदन, के पाँचवें अध्याय से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जार्ज लूकाच के साथ एक इंटरव्यू

इस्तवान साइमन और इर्विन जित्यनि

—लेनिन पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने सर्वप्रथम यह मान्यता प्रस्तुत की कि सह-अस्तित्व एक ऐतिहासिक आवश्यकता है;—और उन्होंने इसके निहितार्थों को कार्यान्वित भी किया। सोवियत संघ की बीसवीं पार्टी कांग्रेस ने इसे तथा अन्य कई लेनिनवादी विचारों को पुनर्जीवन दिया। आज इस मत का क्या अर्थ है? क्या आज से पूर्व के विचारों की तुलना में इसका अर्थ बदल गया है? क्या आज से पूर्व की स्थिति के साथ इसकी राजनीतिक-ऐतिहासिक मान्यताएँ मेल खाती हैं या वे इस दरम्यान परिवर्तित हो गयी हैं?

—मैं उस भाषण का संकेत देते हुए आरम्भ करूँ जो मैंने १९५६ में एक राजनीतिक अकादमी में दिया था। उसमें मैंने कहा था कि सह-अस्तित्व वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप है और जैसा कि सभी वर्ग-संघर्षों के साथ 'कौन-किसे' का लेनिनवादी सिद्धान्त लागू होता है, इस संदर्भ में भी वह प्रामाणिक है। लेकिन आज हम उस बुनियादी तथ्य की ओर उपेक्षा नहीं कर सकते जो किसी भी प्रकार के सह-अस्तित्व की पृष्ठभूमि में मौजूद है। इसे हम दो संस्कृतियों के बीच आपस का निर्बाध सम्पर्क कह सकते हैं जिसे न तो युद्ध के द्वारा रोका जा सकता है और न निषेध के द्वारा। उदाहरण के लिए यह देखें कि फ्रांसीसी-जर्मन शत्रुता के बावजूद बारबूस ने अपने उपन्यास में लाइबनेरूट के दृष्टिकोण का किस प्रकार इस्तेमाल किया, या उस अवधि को जब पश्चिमी शक्तियों ने सोवियत संघ पर हमला करने की तैयारी की, जब उन्होंने उसे मान्यता नहीं दी थी, लेकिन फिर भी 'पोतेम्पकीन'-फ़िल्म ने यूरोप में तहलका मचा दिया था और बुद्धिजीवियों में अत्यधिक उत्तेजना पैदा कर दी थी। कहने का अर्थ यह कि दो संस्कृतियों के बीच सम्पर्क था।

बीसवीं कांग्रेस के बाद कमोबेश यह एक नयी घटना थी कि अमरीकी नीति को बाध्य होकर यह मानना पड़ा कि पीछे की ओर मुड़ने की नीति—यानी सैनिक गुरुता के प्रदर्शन द्वारा विश्व-युद्ध के परिणामों को विपरीत दिशा में ले जाने की नीति असफल रही और आणविक गतिरोध के कारण उन्हें दीर्घ अथवा संक्षिप्त अवधि के लिए सोवियत संघ के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति में आना पड़ा। इससे एक विचित्र स्थिति खड़ी हो गयी : एक तरफ तो आणविक गतिरोध ने विश्वयुद्ध को बिल्कुल असम्भव कर दिया और दूसरी ओर युद्ध के सभी कारण—यानी साम्राज्यवादी हस्तक्षप, औपनिवेशिक जनता की मुक्ति आदि—विद्यमान रहे। यही कारण है कि सतत् तनाव मौजूद हैं जिसे वे इस प्रकार नियन्त्रित रखने की कोशिश कर रहे हैं जिससे वह विश्वयुद्ध का रूप न ले ले। ऐसे ही वातावरण में सह-अस्तित्व जन्म लेता है; जिसका अर्थ यह भी होता है कि सांस्कृतिक सम्पर्क लगातार बढ़ रहा है यद्यपि समाजवादी और गैर समाजवादी दुनिया के बीच किस्म-किस्म के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध भी विद्यमान हैं। यही कारण है कि मेरी राय में, और मेरी यह राय बाकायदा १९५६ में ही थी, सह-अस्तित्व की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप समझकर ही विचार किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी को अपने विरोधी के प्रति पशुवत् अथवा अश्लील होना चाहिए या यह कि वह उसके कथन को मिथ्या साबित करे; इसके विपरीत जिस प्रकार युद्ध में सफलता उत्तम उद्देश्य और सही हथियार पर निर्भर करती है, उसी प्रकार सांस्कृतिक सह-अस्तित्व के क्षेत्र में सर्वोत्तम सांस्कृतिक उपलब्धियों के आधार पर ही वास्तविक सफलता प्राप्त की जा सकती है।

कोई कारण नहीं है कि हमारे अखबार यह खबर न दें कि अमरीका में डा० क्ष-त्र ने ३२ पुरस्कार प्राप्त किये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सत्य है कि हंगेरी के लिए वर्तोक सचमुच ही उपलब्धि है। किन्तु इसमें मुझे सन्देह है कि आधुनिक कही जाने वाली कुछ अन्य कृतियाँ उपलब्ध हैं। वास्तव में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियाँ ही सह-अस्तित्व में चिर-स्थायी विजय हासिल कर सकती हैं—मैं सिर्फ सांस्कृतिक उपलब्धियों की बात कह रहा हूँ, आर्थिक उपलब्धियों की नहीं जिनसे सम्बन्धित अन्य समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। अन्य शब्दों में, हमारे दृष्टि-कोण से, और वर्ग-संघर्ष में विजय के लिए जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि गैर-समाजवादी देशों में यथासम्भव व्यापकतम पैमाने पर उन शक्तियों को अपने पक्ष में सहमत कर लेना चाहिए और वे यह महसूस करने लगें कि एक इन्सान के योग्य अस्तित्व को पूंजीवाद की अपेक्षा समाजवाद के अन्तर्गत अधिक अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है। यही वह जीत है जिसके लिए हमें वस्तुतः संघर्ष करना चाहिए और इसी की उपलब्धि के लिए हमें सह-अस्तित्व के अन्तर्गत लड़ाई लड़नी चाहिए।

—बौद्धिक जीत और विचारों की श्रेष्ठता, वास्तव में जिसकी उम्मीद कोई कर सकता है, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में अवसर और परिणाम को भी किस प्रकार प्रभावित करती है ?

—यहां भी अवधि-विशेष के अनुसार समस्या में फर्क आ गया है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि सन् '२० से '३० की अवधि में सोवियत अर्थव्यवस्था की बुरी हालत का सोवियत संस्कृति के आकर्षण पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा था। लोग सिर्फ उस समाजवाद के लिए सोच में पड़ गये जो पूँजीवाद की अपेक्षा उनके जीवन की समस्याओं का बेहतर हल उपस्थित करने की क्षमता रखता था। कई वर्ष पूर्व मैंने जर्मनी-निवासी साहित्य के एक बुर्जुआ इतिहासकार को पढ़ा जिन्होंने सन् '२० से '३० की अवधि के साहित्य का विवेचन करते हुए यह मत दिया था कि सोवियत संघ साहित्य में उस प्रवाह का आधार है जिसे वास्तव में विरोध का अभिन्न अंग माना जा सकता है, और इससे उनका मतलब कम्युनिस्ट साहित्य नहीं था, बल्कि उनका मतलब उस अवधि के ब्रेख्त अथवा ब्रेचर जैसे लेखक से था। इसके अलावा उस 'मूड' ने जर्मनी के बुर्जुआ साहित्य को गम्भीरता से प्रभावित किया था। इसके बाद उनका कहना था कि चूँकि समाजवाद से सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों का भ्रम टूट चुका था, अतः जर्मनी का साहित्यिक विरोध आश्रयहीन और अनाथ हो चुका था। किसी ऐसे व्यक्ति का यह कथन, जो हमारे शिविर का अंग नहीं है, एक अत्यन्त दिलचस्प रियायत है। सन् '२० से '३० की अवधि में क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों का एक विशिष्ट वर्ग—कुछ क्षण पहले मैं ब्रेचर और ब्रेख्त की बात कर चुका हूँ जिनके साथ अर्नाल्ड ज्वाइग, अन्ना सेगर्स, एलुआर अथवा पिकासो का भी नाम ले सकता हूँ—कम्युनिस्ट हो चुका था। आज हम विशिष्ट युवा लेखकों की ओर देखते हैं तो हमें उनमें कम्युनिस्टों की बहुलता नहीं मिलती। क्यों ? यह सच है कि सोवियत संघ की सतत निन्दा की जाती है। लेकिन सन् '२०-'३० के बीच तो शायद उसकी और अधिक निन्दा की गयी थी। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि आज यह अधिक हो रहा है। इस सन्दर्भ में हमें आत्मालोचन करना चाहिए और हमें अपने इतिहास की जाँच करनी चाहिए। हमें अपने से यह सवाल करना चाहिए कि आज हम जो लिखते हैं उसका वह प्रभाव नहीं है जो सन् '२०-'३० के बीच था। यहाँ से हमें व्यक्ति-पूजा की समाप्ति की अवधि की ओर जाना होगा, क्योंकि वह स्टालिनवादी काल था जब यूरोप के बुद्धिजीवियों ने कम्युनिस्टों की ईमानदारी में अपनी आस्था खो दी थी। और जब वे यह विश्वास नहीं कर पा रहे थे कि कम्युनिस्ट उनसे जो कुछ कह रहे थे वह सच था। यहाँ मैं केवल एक मामूली उदाहरण दूंगा : पश्चिम में कोई व्यक्ति उस पार्टी के इतिहास के बारे में क्या सोचेगा या सोच सकता है, जिसमें १९१७ का विवेचन किया गया हो, लेकिन त्रात्स्की के नाम या उसकी भूमिका का ज़िक्र न हो। यह एक विसंगति है : यद्यपि मैं किसी भी प्रकार त्रात्स्की का समर्थन नहीं कर सकता। लेकिन १९१७ की घटनाओं में त्रात्स्की ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, इस तथ्य को नकारने का यह भी अर्थ होगा कि आज से इतिहास से सम्बन्धित हमारी किसी भी बात पर विश्वास नहीं किया जायगा।

—क्या आप सह-अस्तित्व में हमारी जीत के लिए हमारे बौद्धिक जीवन से व्यक्तित्व-पूजा की समाप्ति को आधार-भूत कसौटी मानते हैं ? क्या आप जनतन्त्र के व्यापक विकास को इस मान्यता से जोड़ सकते हैं कि सह-अस्तित्व आवश्यक है ?

—निश्चय ही वे एक-दूसरे से जुड़े हैं और हम सह-

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व की आवश्यकता को पहचानने के बिन्दु पर पहुँच चुके हैं और इसके साथ ही यह भी कि सह-अस्तित्व का नियन्त्रण नौकरशाही के द्वारा उतना ही कम हो सकता है जितना कि, उदाहरण के लिए, अपने देश में जनमत का। क्योंकि वस्तुतः कोई भी जनमत को नियन्त्रित नहीं कर सकता। एक महिला जब दूसरी महिला से किसी फिल्म के बारे में यह कह रही हो कि यह फिल्म, यद्यपि लोगों ने इसकी तारीफ की है, पर यह भद्दी फिल्म है और उसे मत देखो। उस समय उन्हें ऐसा करने से रोकने का कोई तरीका हमारे पास नहीं है। जो कोई हंगेरी की स्थिति की खबर रखता है यह जानता है। एक उदाहरण दूं: फिल्मों की सफलता बिल्कुल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि अखबार उनके बारे में क्या छापते हैं। इस गप-शप के स्तर पर जनमत फैलता है। पश्चिम में इस आलोचनात्मक जनमत के विकास में बाधा डाले जाने की संभावना और भी कम है—पर हमें इसके प्रति सतर्क होना चाहिए—और इस बात के प्रति भी, कि केवल हमारी निन्दा करने में दिलचस्पी रखने वाला बोलशेविक-विरोधी जनमत भी है। लेकिन इसके साथ ही ऐसे ईमानदार लोग भी हैं, जो समाजवाद से सहानुभूति रखते हैं, जिनका विश्वास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, लेकिन वे अपने को हमारी छलयोजना का शिकार नहीं होने दे सकते।

—युद्धोपरान्त शीत-युद्ध के सभी सिद्धान्तों का निरपवाद रूप से दिवाला निकल गया। वे सभी राजनीतिक विचार जो वास्तविक स्थिति को प्रतिबिम्बित करने और उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वे आज न कोई आश्वासन देते हैं और न कोई हल बल्कि सन्दिग्ध लगते हैं: मुझे ऐसा लगता है कि हमारे दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण है कि हमारी नीति सचेत एवं सैद्धान्तिक रूप से न्याय-सम्मत मतों से शासित होनी चाहिए, क्योंकि मजदूर-वर्ग के आन्दोलन की यह हमेशा विशिष्टता रही है। आप क्या सोचते हैं?

—आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। स्थिति बहुत बदल गई है। ऐसा कहा जा सकता है कि अमरीकी जीवन-पद्धति का सिद्धान्त ढह गिरने की हालत में है चाहे उसका सम्बन्ध वियतनाम युद्ध से हो या घरेलू नस्ली समस्या से। इंगलैंड तथा अन्य देशों में भी स्थिति समान है। प्रश्न यह है कि हम किस हद तक इसे दबा सकेंगे और नया सिद्धान्त पेश करेंगे अगर, उदाहरणस्वरूप, हमारे राजनीतिक अर्थशास्त्र में लेनिन के प्रबन्ध 'साम्राज्यवाद' पर सिर्फ नयी टिप्पणियाँ ही शामिल हों और हम अमरीका में आनेवाले घोर संकट का इन्तज़ार ही करते रहें। इस प्रकार के राजनीतिक अर्थशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता क्योंकि यह सिर्फ तथ्यों के विपरीत पड़ता है। हमारी प्रस्थापना का आदर तभी हो सकता है, जब हम मार्क्सवादी प्रणाली से आज के आर्थिक तथ्यों की व्याख्या करने योग्य होंगे। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि यह सम्भव है।

विदेश में होने वाले संकट से सम्बद्ध प्रश्नों का किसी प्रकार का जवाब देने का ढंग यह नहीं है। हमें दम्भी अथवा अभद्र नहीं होना चाहिए बल्कि हमें इसकी पहचान होनी चाहिए कि विदेश में वे कितनी भी बुरी तरह समाजवाद की निन्दा करें फिर भी हरेक व्यक्ति, जो किसी आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पूंजीवाद से असंतुष्ट है, सहज रूप से हमारी तरफ मुड़ेगा एक समझदारी से भरा जवाब पाने की उम्मीद में। अब अगर उत्तर पाने के लिए उन प्रतीक्षित लोगों को एक नौकरशाही का जवाब मिलता है और जवाब भी ऐसा जो तत्कालीन कार्यनीति से पैदा होता है या किसी छद्म लेखक की रचनाएँ हमारे द्वारा उनके सामने कर दी जाती हैं तो यह स्पष्ट है कि समाजवाद के प्रभाव में कमी आएगी और एक ऐसे 'मूड' का विकास होगा या कहिए, दुर्भाग्य से पश्चिम में ऐसे 'मूड' का विकास वस्तुतः हो चुका है उन लोगों के बीच भी जो पूंजीवाद की तरफदारी नहीं करते हैं, क्योंकि अब वे वैसा और कर भी नहीं सकते। वे सम्भवतः ऐसा कहते हैं कि मानवीय स्थिति अपने-आप में बिल्कुल निराशापूर्ण है, न तो पूंजीवाद और न समाजवाद इसका जवाब देने के योग्य रह गया है। इसके लिए अधिकांशतः जवाबदेह हम हैं। इस जवाबदेही की माँग ही हमें वह रास्ता बतलाती है जिसकी ओर हमें प्रगति करनी चाहिए। इसके लिए दुहरे कदम आवश्यक हैं: प्रणाली में मार्क्स का अनुसरण करें और व्यवहार में वर्तमान घटनाओं की मार्क्सवादी व्याख्या की ओर बढ़ें। अगर हम ऐसा कर सकें तो हम सह-अस्तित्व से सम्बन्धित लड़ाई में विजयी होंगे और अगर नहीं कर सके तो यह आवश्यक है कि हमें हार मिलेगी। हमारा आत्मालोचन इसी उद्देश्य की दिशा में होना चाहिए। दो भिन्न प्रकार के तर्क दिए जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो अक्सर एक-दूसरे से मिले होते हैं। नौकरशाह यह सोचते हैं कि थोड़ी बेहतर और आधुनिक रूढ़ियाँ इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकती हैं। २०वीं कांग्रेस के बाद जब परिस्थितियाँ थोड़ी शिथिल हुईं तो सहज रूप से जो दूसरी प्रवृत्ति सामने आई वह लोगों को बिना किसी संयम के अत्यन्त मूर्खतापूर्ण पश्चिमी फैशनों को अपनाने की दिशा में ले गयी। आज भी ऐसे कुछ व्यक्ति हैं जो यह विश्वास करते हैं कि वे अत्यन्त ही बेहूदा नौकरशाही विचारों को अपनाकर और उन्हें टाइप कराने की बजाय कम्प्यूटर के द्वारा परोस कर मार्क्सवादी पुनर्जागरण को जन्म दे सकते हैं और प्रभावशाली नतीजे पैदा कर सकते हैं। हमें इन मिथ्या अतियों से छुटकारा पाना है। हंगेरी के लिए भी यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है, क्योंकि, खासकर २२वीं कांग्रेस के बाद से मैंने सजग होकर देखा है कि एक तरफ रूढ़िवादियों और दूसरी तरफ अनालोचनात्मक आधुनिकतावादियों के बीच एक गुप्त अभिसंधि हो गयी है। इसका परिणाम यह है कि उनमें से कई यह घोषणा करते हैं कि बेकेट और आयनेस्को ही वस्तुतः महान् लेखक हैं और साथ ही वे उन नौकरशाहों के सामने सर झुकाते हैं जो अभी कल तक अनालोचनात्मक ढंग से इतने उत्साही थे—और यह दिलचस्प है कि वे, उदाहरण-स्वरूप, साहित्य के इतिहास में, János Horvàth से होकर पीछे Elemér Császér तक जाते हैं।[1] इस प्रकार बेकेट के शिष्य का मेल Elemér Császar के शिष्य से बैठता है। और तब कुछ को यह आश्चर्य लगता है कि उनसे कोई भी प्रभावित नहीं है।

—फिर भी यह महसूस किया जाता है कि पूरी दुनिया के पैमाने पर मार्क्सवाद में दिलचस्पी बढ़ रही है। २०वीं कांग्रेस के बाद से एक नया विचारशील वर्ग सह-अस्तित्व के स्तर पर एक राह खोज रहा है जिसमें मार्क्सवादी प्रणाली की सहायता से वे भविष्य के लिए एक स्पष्ट उत्तर पा सकें।

—निस्संदेह ऐसा है। मेरा स्वानुभव इसका गवाह है। १९५६ में जब मैं प्रथम बार एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में भाग लेने के हेतु अपने देश से चला तो मेरी मुलाकात वापस आये दोस्तों से हुई। आमतौर पर उनका 'मूड' पाठकों के व्यक्तिगत पत्र के कालम में मीनतेस्कू के लिखने की शैली या ढंग की याद दिलाता था। वह व्यक्ति तो ईरानी है? कोई भी ईरानी कैसे हो सकता है? अर्थ यह कि एक व्यक्ति जो अन्यथा तौर पर शिक्षित है मार्क्सवादी कैसे हो सकता है, क्योंकि मार्क्सवाद तो उन्नीसवीं सदी के उन सिद्धान्तों में से है जो अरसा पहले पुराना पड़ गया है। यह 'मूड' अब मृत हो गया है। पश्चिम में मार्क्सवाद में दिलचस्पी बढ़ रही है, लेकिन इसके साथ यह जोड़ दिया जाना चाहिए कि रूढ़िवादिता को नकारने की प्रवृत्ति भी मजबूत हो रही है। मुझे अनेक पत्र ऐसे मिले हैं जिनमें पश्चिम के लोग लिखते हैं कि "मार्क्सवाद में मेरी बहुत दिलचस्पी है लेकिन आपके 'सरकारी' मार्क्सवाद में नहीं।"

—लेकिन प्रो० लुकाच, निश्चय ही आप इन नयी प्रवृत्तियों के विरुद्ध हैं। मार्क्सवाद शीर्षक के अन्तर्गत अनेक विचार सामने आये हैं जिन्हें प्रायः स्पष्टतया मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्वेषण के इस युग ने मार्क्सवाद की परिभाषा को और भी विस्तृत कर दिया है, प्रामाणिक और मिथ्या सिद्धान्तों के बीच इसने कई सीमान्त स्थित उदाहरण सामने कर दिये हैं।

—मुझे इसका कुछ अनुभव है। लेकिन इस तरह कोई आंदोलन खड़ा करना असम्भव है जिसमें हरेक प्रश्न पहले तय कर लिया जाय। अपने रास्ते पर आगे चल पड़ने के पहले हम सिवा इसके कुछ नहीं कह सकते कि हमें मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की ओर लौटना चाहिए और यह कि अब समय आ गया है जब लोग प्रयोग करेंगे और सभी समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे। अगर मेरे विचार सरकारी सिद्धान्त के रूप में बदल दिये गये तो इसका विरोध करनेवाला मैं पहला व्यक्ति होऊँगा, हालाँकि मैं विश्वस्त हूँ कि मैं सही हूँ। फिर भी उचित विकास के संदर्भ में मैं इसे खतरनाक समझता हूँ।

—हंगेरी के बौद्धिक जीवन में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि मैं ऐसा नहीं सोचता कि जो व्यक्ति आपके निकट हैं वे भी इसमें शामिल हैं।

—जब कभी भी अधिकारी व्यक्तियों से अपनी बात कहने का मौका मिला है मैं हमेशा उस प्रस्थापना पर टिका रहा हूँ कि इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को भाषण की स्वतन्त्रता

१. दो युद्धों के बीच की अवधि के दो प्रभावशाली साहित्यिक इतिहासकार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलनी चाहिए, भले ही मार्क्सवाद के अन्तर्गत मेरी प्रस्थापना को वे एक विशिष्ट मत के रूप में मान्यता दें। इसकी सम्भावना पर हम इस प्रकार देखें कि मार्क्सवाद की कीर्ति को पुनःस्थापित करने के लिए सैद्धान्तिक संघर्ष का महत्त्वपूर्ण दौर शुरू हो गया है जिसमें सद्विचार रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भाषण की स्वतन्त्रता अवश्य दी जानी चाहिए। और इसके लिए हम इतिहास में विश्वास रखें कि उनमें कौन विचार अन्ततः वास्तविक मार्क्सवादी विचार के रूप में अपने को स्थापित करेगा। अगर हम ऐसा करें तो अपने-आप में यह तथ्य पश्चिम में हमारा यश बढ़ाएगा। हम यह तथ्य न भूलें कि अगर हम एक तरफ किसी प्रवृत्ति को दबाते हैं तो यह विदेश में हमारी प्रतिष्ठा घटाता है और दूसरी ओर वर्जित को झूठा महत्त्व मिलता है। सच्चाई यह है कि अगर उन्हें वर्जित न किया गया होता तो कोई भी उनकी कतई परवाह नहीं करता। आपत्तिजनक वस्तुओं को भी एक प्रकार का दुर्लभ मूल्य प्राप्त हो जाता है क्योंकि वे वर्जित होती हैं और लोग बड़े उत्साह से उनका स्वागत इसलिए करते हैं कि वे पश्चिम से आये हैं। लेकिन आज 'नाजीविलाग' (Nagyvilag) के द्वारा किसी चीज़ के भी अनुवाद की सम्भावना बन गई है, अतः यह स्पष्ट हो गया है कि हंगेरी की जनता अच्छी और बुरी कहानियों के बीच फर्क करने लग गयी है। वे अब उनका विभाजन इस प्रकार नहीं करते कि वे पश्चिम से आई हैं और ये यहां लिखी गयी हैं।

सह-अस्तित्व के साथ-साथ प्रतिबन्धों की समाप्ति अधिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि को जन्म देगी और यह व्यापक राय खत्म हो जायगी कि पश्चिम की हर चीज़ अपने देश से अच्छी है, क्योंकि यह सहज रूप में सही नहीं है। पश्चिम में लोग इस बात के प्रति अच्छी तरह जागरूक हैं कि हम जिन चीज़ों की प्रशंसा करते हैं और जिसे साष्टांग प्रणाम करते हैं, उनमें क्या खतरे निहित हैं—सह-अस्तित्व के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष की सभी शक्तियों को मुक्त करने के लिए संस्कृति के क्षेत्र में सर्वहारा जनतन्त्र की पुनःस्थापना अवश्य की जानी चाहिए। अगर हम गम्भीरता से सह-अस्तित्व की ओर आगे जाना चाहते हैं और परिणाम हासिल करना चाहते हैं, तो यह प्राथमिक शर्त है।

—मैं दो प्रश्न पूछना चाहता था। उनमें से पश्चिमी संस्कृति की विवादास्पद कृतियों के प्रति हमें किस प्रकार का रुख अपनाना चाहिए, इस एक प्रश्न का उत्तर मिल गया। दूसरे प्रश्न पर और प्रकाश डाले जाने की आवश्यकता है क्योंकि यह हमारे युग के और मजदूर वर्ग के आन्दोलन की अत्यन्त आवश्यक समस्याओं से सम्बन्धित है। किस प्रकार हमारा युग रूढ़िवादिता की समाप्ति के सवाल पर आज भी पिछड़ा है और किस प्रकार समाजवादी आत्मालोचन की ऐतिहासिक प्रक्रिया आज भी पूर्ण नहीं हुई है? आप इन समस्याओं को किस प्रकार देखते हैं?

—स्तालिन ने उस समय मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया, जब बुनियादी समस्या यह थी कि समाजवाद के नियमों का विकास मार्क्सवाद के अन्तर्गत हो चुका था और महज़ सामान्य अर्थ में समाजवाद की ओर जानेवाले रास्ते को शासित करने वाले नियमों का विकास भी इसी के अन्तर्गत हो चुका था। प्रत्येक अवधि में अग्रणी राजनीतिकों ने अपनी रणनीति तैयार की है और उस रणनीति के अन्तर्गत कुछ कार्यनीतियाँ भी तैयार की हैं जो परिस्थितियों के अनुसार स्वभावतः सतत् बदलती गयीं। स्तालिन ने इसे सर के बल खड़ा कर दिया। इस दृष्टिकोण से उस काल की कार्यनीतियों का ही महत्त्व था। स्तालिन ने कार्यनीति के अनुसार रणनीति को बदल दिया और फिर उस रणनीति के अनुसार समाजवाद के भावी रूप को भी बदल दिया। उन्होंने घोषणा की कि समाजवाद के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष सतत् तेज हो रहा है, लेकिन यह कोई सामान्य पर्यवेक्षण नहीं था, यह महज़ एक छल था जिसे अभियोगों के बड़े तमाशे को ढँकने के लिए उन्होंने गढ़ा था। पहले अभियोग लगाया गया फिर उसके लिए सिद्धान्त गढ़ा गया…। आज भी ऐसा होता है कि कार्यनीतियाँ पहले आती हैं, फिर उन्हें समाहित करने के लिए रणनीति और आम सिद्धान्त को जन्म दिया जाता है। ऐसे आम सिद्धान्तों का मूल्य नहीं के बराबर होता है।

आज यह कहना आसान है कि स्तालिन की यह स्थापना सही नहीं है कि वर्ग-संघर्ष सतत् तीव्र हो रहा है। लेकिन अगर हम उसकी पूरी प्रक्रिया को न समझें तो हम अत्यन्त गम्भीर समस्याओं में फँस जायेंगे। इसके लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लें। जब चीन के प्रश्न पर स्तालिन और त्रात्स्की में मत-वैभिन्य था तब स्तालिन ने घोषणा की थी कि चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सामन्ती राज्य है अतः सामन्तवाद के मुकाबले में उन्हीं कार्यनीतियों को लागू किया जिन्हें रूस में लागू किया था। यानी संक्षेप में, अपनी कार्यनीति की श्रेष्ठता कायम रखने के उद्देश्य से उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त से उत्पादन की पूर्वीय प्रणाली से सम्बन्धित सारे सवालों को परे कर दिया और मार्क्सवादियों के लिए एशिया में होने वाले विकास को समझना असंभव बना दिया। इतने महत्वपूर्ण विषय के साथ मार्क्सवाद का अर्थ यानी उत्पादन की पूर्वीय प्रणाली का अर्थ दुनिया के मार्क्सवादियों के लिए खो गया जब औपनिवेशिक जनता के विद्रोह को समझने की समस्या सामने आई। मैं उस अवधि के विकास की विशिष्ट मंजिल को ध्यान में रखते हुए यहाँ कोष्ठकों में यह जोड़ना पसंद करूँगा कि मार्क्स ने अफ्रीकी जनता के विकास का विवेचन नहीं किया। अगर हम मार्क्सवादी विचारधारा का कट्टर अनुसरण करें तो हम यह सवाल कर सकते हैं कि ऐसा कहाँ लिखा है कि अफ्रीकी जनता को आवश्यक रूप से यूरोपीय अथवा एशियाई 'आदर्श' के अनुसार विकास करना चाहिए। यूरोपीय और एशियाई उत्पादन प्रणालियों के अतिरिक्त उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत अफ्रीकी सम्बन्धों का एक विशेष रूप क्यों नहीं हो सकता? अगर हम तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रों को सहायता करना चाहते हैं तो उसका मार्क्सवादी रूप यह होगा कि हम उनके सामने उनकी वास्तविक स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत करें। और उनके विकास का भावी स्वरूप स्पष्ट करें। लेकिन इस सम्बन्ध में हम पश्चिमवासियों से अधिक जानकारी नहीं रखते। और अगर हम उस दुनिया में अग्रणी भूमिका अदा करना चाहते हैं, जो कि हमारे लिए बिल्कुल स्वाभाविक है तो इस विषय में मार्क्सवादी अनुसंधान अत्यन्त अनिवार्य है। पश्चिमी पूँजीवाद में भी कई प्रश्न निहित हैं जिनका पश्चिमी पूँजीवादी अर्थशास्त्री उत्तर नहीं दे सकते और कुछ अपवादों को छोड़कर हमने भी उनका उत्तर देने की चेष्टा नहीं की है और हमने चेष्टा की भी है तो हमारा विश्लेषण पूर्ण नहीं है।

—अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आपने जो कुछ कहा बिल्कुल स्पष्ट है, लेकिन बौद्धिक समस्याओं के सम्बन्ध में आपने जो कहा है उसे आप पूरा कर दें।

—हाँ, मैं अर्थशास्त्र पर ज़ोर देता हूँ क्योंकि अन्य विषयों की अपेक्षा शायद उसमें अधिक स्पष्ट और कम विवादास्पद प्रमाण मौजूद है। पर निश्चय ही यह सभी बौद्धिक क्षेत्रों की ओर संकेत देता है। मैं एक उदाहरण दूं जिसकी प्रतिध्वनि आज भी सुनाई पड़ती है। स्तालिन-ज़दानोव के काल में विचार के इतिहास का क्रम इस प्रकार तैयार किया गया था मानो एक प्राक् मार्क्सवादी विचार था, उसके बाद एक लम्बा अन्तराल रहा, फिर अचानक मार्क्सवाद का उदय हुआ। लेकिन मार्क्सवाद का यह धन पक्ष है कि इसने यूरोप के पिछले २,००० वर्ष के विकास में जो कुछ मूल्यवान था उसे ग्रहण कर लिया—यह मैं नहीं कह रहा हूँ बल्कि लेनिन ने १९२० के आसपास के वाद-विवाद के दरम्यान इसे कहा था—संक्षेप में यह कि मार्क्सवाद के इस अनिवार्य पक्ष को बिल्कुल भुला दिया गया। अस्तित्ववाद अथवा नव-विधेयवाद के सम्बन्ध में महज़ यह कहकर कि यह बिल्कुल बेकार या निरर्थक है अथवा प्रतिक्रान्तिकारी है कोई भी तर्क को आगे नहीं बढ़ा सकता। सन् '५०-'६० के बीच मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा रहा था यह मुझे उसकी याद दिलाता है कि मैं प्रतिक्रान्तिकारी अस्तित्ववाद के लिए बहाना ढूंढ़ने की कोशिश कर रहा था क्योंकि मैंने फ्रांसीसी अस्तित्ववाद के जन्म का सम्बन्ध प्रतिरोध आन्दोलन से जोड़ रखा था। पर वह सम्बन्ध निस्संदेह रूप से एक तथ्य है। फिर भी चूंकि मैंने इस तथ्य की स्थापना की थी, इसलिए अवसरवादी के रूप में मेरी निन्दा की गयी। प्रसंगवश प्रतिक्रान्तिकारी अस्तित्ववादी अल्जीरिया के सवाल पर कतई प्रतिक्रान्तिकारी नहीं हैं, क्योंकि इस प्रश्न पर वे वामपंथी रूप में सामने आये थे। आप अच्छी तरह जानते हैं कि १९४७ में ही मैं अस्तित्ववाद का विरोध कर रहा था। लेकिन समस्याओं का उचित प्रभाव तभी हो सकता है जब हम उस आलोचित वस्तु के सापेक्ष प्रगतिशील चरित्र को पहचानें, यानी अगर हम यह मानें कि उनका उत्थान प्रतिरोध आन्दोलन के साथ हुआ था। इस प्रकार एक वस्तुनिष्ठ विचार-विमर्श का विकास हो सकता है और शायद हम यह विश्वास भी दिला सकते हैं कि हम सही हैं। लेकिन अगर हम उग्र हो जायें और उन्हें शुद्ध प्रतिक्रान्तिकारी के रूप में ही देखें तो हम कहीं नहीं पहुँच सकेंगे और अगर हम दूसरे छोर पर चले जायें और अनालोचनात्मक दृष्टि से अस्तित्ववाद को स्वीकार कर लें तो वैसी हालत में भी हम कहीं नहीं पहुँच पायेंगे। इस प्रकार हम अपने को हंगेरी के उन युवा व्यक्तियों के बीच पायेंगे जो मार्क्सवाद से भागकर हाइडेगर अथवा सार्त्र की ओर जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जबकि सार्त्र ने आज यह खोज की है कि अस्तित्ववाद की कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे आगे की राह मार्क्सवाद की दिशा में जाकर ही मिल सकती है। और निश्चय ही आज बुडापेस्ट के युवा यह नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार आज भद्दी और हास्यास्पद स्थितियाँ उठ खड़ी हुई हैं जिन्हें तभी बदला जा सकता है जब हम मार्क्सवादी प्रणाली की ओर मुड़ें और आज पश्चिम में जो कुछ हो रहा है उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखें जैसा कि मार्क्सवाद निर्देश देता है। और हम यह विश्वास न करें कि सिर्फ कम्प्यूटर का इस्तेमाल कर हम कोई आगे का कदम उठा रहे हैं। यदि हम दिमागी तौर पर स्तालिनवादी अति सरलीकृत योजनाओं के अन्तर्गत ही हों, लेकिन ख्वाब देखें कम्प्यूटर का इस्तेमाल करके आगे बढ़ जाने का, तो यह नामुमकिन है।

ऐसे व्यक्ति के उदाहरण के रूप में मैं वारतोक का जिक्र कर चुका हूँ जिसने दुनिया जीत ली थी। लेकिन मैं पूर्ण विश्वस्त हूँ कि समाजवादी संस्कृति कई ऐसे मूल्यों को जन्म देती है जिनका समान महत्त्व है। इसका ज़िक्र अलग है कि सह-अस्तित्व के पक्ष में चल रहे संघर्ष में बेहतर नतीजा हासिल करने के लिए प्राचीन संस्कृति के महान् मूल्यों की सहायता किस प्रकार ली जा सकती है। शर्त यह है कि उनका उचित रूप में प्रयोग किया जाय। उदाहरण के लिए, अगर हम इस प्रकार देखें कि साहित्य रचना बुनियादी तौर पर स्वतन्त्रता के लिए जनतांत्रिक लड़ाई है तो हम यह समझ सकेंगे कि पुश्किन से लेकर चेखव तक को १९वीं शताब्दी के रूसी साहित्य के भव्य विकास ने किस प्रकार हथियार का काम किया। आज यूरोप एवम् अमरीका में लोग छल-साधित जनतंत्र के अ-जनतान्त्रिक चरित्र के बारे में काफी कुछ जान चुके हैं। मैं समझता हूँ कि आने वाले वर्षों में यह समस्या अपनी ज़बर्दस्त भूमिका अदा करेगी। ऐसा नहीं कि पश्चिमी देश अचानक समाजवादी क्रान्ति के पथ पर बढ़ चलेंगे। ऐसा समझना हास्यास्पद होगा। पर छल-साधित जनतन्त्र के अ-जनतान्त्रिक चरित्र के कारण उसके प्रति असंतोष विस्तृत पैमाने पर प्रकट हो रहा है और वे सच्चे जनतन्त्र की दिशा में कोई राह निकालने की कोशिश करेंगे। इस प्रकार के आन्दोलन में हम अग्रणी सिद्धान्तकार हो सकते हैं, लेकिन तब तक ऐसा नहीं संभव है जब तक पश्चिम में सूक्ष्म आर्थिक जोड़-तोड़ चल रहा हो और दूसरी ओर ऐसे लोग हों जो नौकरशाही प्रपंच के साथ चल रहे हों अथवा वस्तु को ऊपर-ऊपर शोभनीय बनाना चाह रहे हों। आशा है दृढ़ होकर मेरे ऐसा कहने से आप नाराज़ नहीं हो रहे होंगे। लेकिन इसे ऐसा कहा जाना चाहिए और कार्य रूप दिया जाना चाहिए, अन्यथा सह-अस्तित्व के अन्तर्गत वर्ग-युद्ध में हम विजयी नहीं हो सकते।

—प्रो० लुकाच, फिर मैं यह समझूँ कि आपका रुख यह है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों के लिए स्वतन्त्रता और उनके बीच संघर्ष की गुंजायश होनी चाहिए।

—यह मेरा विश्वास है और तत्त्व-मीमांसा में मैंने कहा भी है कि मनुष्य एक प्रत्युत्तरदायी प्राणी है। मानव-संस्कृति द्वारा आज तक जो भी निर्माण हुआ है उसके पीछे आन्तरिक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा नहीं रही है, अन्य कारण जो भी रहा हो, किन्तु आरम्भ से ही हुआ यह कि लोगों ने समाज के अन्तर्गत उठने वाले प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की है। और हम जिसे मानव-संस्कृति कहते हैं, वह इन्हीं उत्तरों की शृंखला है। पर इस संस्कृति का अधिकांश लुप्त हो चुका है, क्योंकि लोगों ने समाज में उठे प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वह सामयिक अथवा अनुपयुक्त था। पर उनमें से कुछ की सार्थकता आज भी है। 'इलियट' का वह अंश, जहाँ प्रियम हेक्टर के मृत शरीर को वापस माँगने एचिलीज के निकट जाता है, और फिर उनके बीच का वार्तालाप, जो मृत शरीर को वापस लौटाने के समय होता है, आज भी नैतिक दृष्टिकोण से उदाहरणीय है।

और यह सिर्फ कविता के साथ ही लागू नहीं होता। अगर आप विज्ञान के इतिहास को देखें तो पायेंगे कि अधिकांश बड़े-बड़े अन्वेषण कई व्यक्तियों द्वारा एक ही अवधि में हुए हैं। और आज भी विवाद बना हुआ है कि 'डिफरेंशियल' और 'इण्टिगरल' कलनगणित की खोज न्यूटन ने की थी अथवा लाइबनीज़ ने और वे सभी लोग, जो उस अवधि के इतिहास की जानकारी रखते हैं, यह जानते हैं कि पासकाल, और अन्य लोग भी, इस खोज से काफी जुड़े थे। क्यों? इसलिए कि उस अवधि के उत्पादन-सम्बन्ध नव-भौतिकी की आवश्यकता की ओर संकेत कर रहे थे। दूसरी ओर नव-भौतिकी ने, यानी वह जो गैलीलियो से जुड़ी थी, जो गति को भौतिकी का केन्द्र मानता था, गति की माप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

के लिए नये गणित की मांग की। यह आवश्यकता न्यूटन अथवा लाइबनीज़ जैसे अनेक [illegible] की खोज के रास्ते की ओर ले गयी। उन्होंने उसकी खोज कर ली, लेकिन बहुत सम्भव है कि उसी अवधि में तीस या चालीस और लोग उसकी खोज कर रहे हों। वर्तमान काल में मार्क्सवाद की उचित समझदारी की मांग सामाजिक आवश्यकता के रूप में उठ खड़ी हुई है। और अमेरिका से साइबेरिया तक के लोग इस आवश्यकता की पूर्ति चाहते हैं। इन सिद्धान्तों में से कौन सन्तोषप्रद साबित होगा और कौन नहीं, इसे स्थापित करने के सम्बन्ध में आपस की आलोचना के अलावा और किसी कसौटी को हममें से कोई नहीं जानता। ऐसी कोई न्याय सभा नहीं है जो अन्तिम रूप से यह घोषणा कर सके कि 'क्ष' सही है। सम्भवतः ऐसा हो ही नहीं सकता।

अतः मेरी यह राय है कि इसी तरह हमें प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए और विशेषकर उस क्षेत्र में जहां पूर्व निकष स्थापित करना बहुत कठिन हो। आज एक नये किस्म का साहित्य विकास की प्रक्रिया में है और इस नये साहित्य की रचना, जैसा कि हमने सोल्ज़ेनित्सिन पर विचार करते हुए अपने लेख में तर्क दिया था, रूढ़िवादी अवधि की आलोचना के बिना सम्भव नहीं है। आखिर, आज हंगेरी में ३० से अधिक की उम्र का कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका पूर्ण जीवन और चरित्र उस अवधि में उसकी गतिविधि से सम्बन्धित निर्णायक प्रश्न से जुड़ा न हो। इसके बिना साहित्यिक कृति के दायरे में कोई भी अपने वर्तमान चरित्र अथवा कार्यों की उचित व्याख्या नहीं कर सकता है। हम यह स्मरण रखें कि बालज़ाक ने सर्वप्रथम पुनरुद्धार काल की व्याख्या की। जो भी बालज़ाक की कृतियों की जानकारी रखता है, उसे इसका ज्ञान है कि बालज़ाक हर बार साम्राज्य-काल तक पहुँचते हैं और अगर उन बूढ़े लोगों को देखें जो यह पता करने की कोशिश कर रहे हैं कि उन्होंने उस अवधि के पहले क्या किया था तो हम बालज़ाक को क्रान्ति तक पहुँचते देखते हैं, क्योंकि उस चरित्र ने जो रुख अपनाया, वह अधिकांशतः इस पर निर्भर था कि क्रान्ति की अवधि में उसकी क्या गतिविधि रही। यह बिल्कुल स्वाभाविक लगता है, लेकिन आपको स्मरण होगा कि मेरे इस विचार के कारण उन्होंने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया। हमारा साहित्य इसी प्रकार की समस्याओं से भरा है, यानी साहित्य मात्र की [illegible] ऐसी समस्याएं हल की जा सकती हैं, और अवश्य की जानी चाहिएं।

बात यह है कि मैं ऐसा विश्वास नहीं करता कि नाटक नाम की ऐसी कोई वस्तु है जिसकी सफलता और असफलता किसी जनवादी गणतंत्र को उखाड़ फेंक सकती है अथवा झकझोर सकती है। यह तर्क हास्यास्पद है कि संकट उनकी गलतियों से पैदा न होकर उनके प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से पैदा होता है और वह भी साहित्यिक अथवा कलात्मक प्रतिक्रिया से। यह प्रश्न सह-अस्तित्व से बिल्कुल निकट रूप से सम्बद्ध है, क्योंकि समाजवादी देशों में ऐसा बहुत-कुछ है, जो यहां मौजूद अच्छे गुणों के उचित प्रभाव में बाधक है। कोई भी साहित्यिक कृति गलत रोशनी में सामने लायी जा सकती है, अगर उस पर नौकरशाही पद्धति से विचार किया जाय। और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत में एक गलत किस्म का समीकरण पैदा हो सकता है, जो आम राजनीतिक गणना के आधार पर एक हद तक सोल्ज़ेनित्सिन को पास्तरनाक के साथ गिनती कर दे, यद्यपि वह पास्तरनाक के बिल्कुल उलटा पड़ता है। इसके ठीक विपरीत उसका प्रभाव पड़ना चाहिए था और शायद वैसा होता अगर वह अपूर्ण रीति अस्तित्व में न होती, जो दो विरोधी तत्त्वों को एक बना देती है। कोई ऐसा कारण नहीं दीखता कि विभिन्न तत्त्वों के सह-अस्तित्व को, जिनके बीच गम्भीर विचार-विमर्श चल रहे हों, हम बाधित करें। कोई भी एक व्यक्ति का मेल प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से नहीं बिठा सकता। हालांकि आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हमारे शिविर के अन्तर्गत मत-वैभिन्य नहीं रह गया है। यह कोई हल नहीं हुआ। इसे हम दूसरी तरह की तिकड़म ही कह सकते हैं। हमें तीव्र विचार-विमर्श की आवश्यकता है, वैसे विचार-विमर्श की जिसका कोई प्रशासकीय उद्देश्य न हो। अगर हम सह-अस्तित्व के अन्तर्गत अपने संघर्ष में परिणाम हासिल करना चाहते हैं तो सांस्कृतिक जीवन में हमें उस स्तर पर पहुँचना होगा।

—यह सबकी जानकारी में है कि सह-अस्तित्व के विरोधी भी हैं और वे केवल उग्रवादियों में, अत्याचारियों में और पूंजीवादी देशों के नव-फासिस्टों में ही नहीं हैं। हाल का चीनी उदाहरण हमारे सामने है। और दुर्भाग्य से आज, जबकि हम सह-अस्तित्व की बात कर रहे हैं,

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वियतनाम में एक क्रूर युद्ध लड़ा जा रहा है, यद्यपि पूरे विश्व में इसके विरुद्ध एक संघर्ष चल रहा है। प्रो० लुकाच, उन सिद्धान्तों के बारे में आप क्या सोचते हैं जो सह-अस्तित्व का विरोध करते हैं; उनसे हमें किस प्रकार लड़ना चाहिए और ऐसे संघर्ष की संभावना क्या है ? वियतनाम के संदर्भ में भी।

—यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है। आरम्भ में मैंने जो कहा था शायद वह आपको स्मरण होगा कि अणु-युद्ध की कुछ विशेषताएँ हैं जो तीसरे महायुद्ध के विस्फोट को रोकती हैं। लेकिन वे युद्ध के कारणों को खत्म नहीं करती हैं। अमरीका साम्राज्यवादी शक्ति बनने से अपने को महज़ इसलिए नहीं रोक सका है कि उसे अणु-युद्ध का खतरा है। आपने शायद देखा होगा कि अमरीकी नीति वियतनाम युद्ध के संदर्भ में सोवियत संघ की भूमिका और चीन की भूमिका पर कितनी सावधानी से विचार करती है। अगर अणु-अस्त्र न होते तो वियतनाम में आज से बहुत पहले विश्वयुद्ध छिड़ गया होता। आज संतुलन अस्थिर है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अमरीका की वियतनाम नीति के विरुद्ध हमें दृढ़ता से और सैद्धान्तिक उद्देश्य से लड़ना चाहिए। आखिर, यह क्यों हो रहा है ? अठारहवीं शताब्दी में जब से ब्रिटेन का प्रभाव भारत में बढ़ा तभी से प्रत्येक औपनिवेशिक सत्ता की मूल नीति रही है सम्बन्धित देश के अत्यंत प्रतिक्रियावादी वर्गों के साथ संधि कायम कर उनकी मदद से स्थानीय मुक्ति आंदोलनों का दमन करना। अमरीका की वियतनाम नीति को अगर आप देखें तो आप अठारहवीं सदी के वारेन हेस्टिंग्स तथा अन्य औपनिवेशिक नीतिज्ञों की नीति की अक्षरशः आवृत्ति पायेंगे क्योंकि उपनिवेश बसाने वाले के लिए, अगर वे उपनिवेश बसाना चाहते हैं, तो क्रूर होना उनकी बाध्यता है। इसके अतिरिक्त वे और कुछ कर ही नहीं सकते। मेरी राय में वियतनाम प्रश्न का सम्बन्ध सर्वप्रथम इस बात से नहीं है कि वियतनाम की जनता किस प्रकार (अपनी विभाजन रेखा समाप्त कर) एक होगी बल्कि इस तथ्य से है कि वियतनाम में वे यह देखने के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं कि वह जनता, जो आज अपने को मुक्त कर रही है, कब अपना कार्य-भार सँभालने का अधिकार प्राप्त कर सकेगी। बहुत-कुछ जो आज हम नहीं देख रहे हैं उसे देखा जाना चाहिए। सिर्फ वह सोचने का जोड़-तोड़ वाला ढंग, जिसके सहारे हम अपने साथ सहानुभूति रखने वाले को प्रगतिशील कह देते हैं, और सहानुभूति न रखने वालों को इसके विपरीत प्रतिक्रियावादी के नाम से पुकारते हैं—हमें कहीं नहीं ले जाएगा। क्षमा करें, अनेक ऐसे विषय हैं जिसके संदर्भ में कोई भी उतना ही कम समाजवादी है जितना कि दूसरा। सच्चाई यह है कि इन देशों में कई नये प्रश्न उठे हैं जिनके हल में कई वर्ष लग जाएँगे शायद शताब्दियाँ भी। हमें यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आज के अफ्रीकी देशों की सीमाएँ भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के हितों द्वारा निर्धारित की गयी थीं। इस जनता में राष्ट्र-सम्बन्धी विचार और राष्ट्र के अस्तित्व-सम्बन्धी विचार ने कोई रूप नहीं लिया है। उपनिवेशीकरण ने उन पड़ोसी जातियों का विभाजन कर दिया जिनकी जीवन पद्धति समान थी। केनिया में रहने वाले सोमाली जन अन्य सोमाली जनों के साथ मिलकर एक होंगे या नहीं, इसे सोमाली जनता पर छोड़ दिया जाना चाहिए। अन्य कोई इसे हल नहीं कर सकता। अमरीकी औपनिवेशिक नीति का मुकाबला पूरी दुनिया के पैमाने पर जनतांत्रिक आत्मनिर्णय की नीति के सहारे किया जाना चाहिए। स्तालिन के काल में जो नहीं किया गया अगर हम उसकी पूर्ति कर सकें और गंभीर वैज्ञानिक कार्यों को आगे बढ़ा सकें तभी हम इस जनता को आर्थिक एवं राजनीतिक सलाह देने के योग्य होंगे ! वैसी सलाह जो सार्थक हो, पर वैसी नहीं जो किसी यूरोपीय देश की राजधानी में बैठकर सोची गयी हो बल्कि वह जो किसी विशिष्ट जनता के आर्थिक विकास को अभिव्यक्ति देती हो। आज एक ऐसा मौका है जब, हम आज तक के विश्व के इतिहास में जो कुछ भी हुआ है उससे कहीं महत् भूमिका अदा कर सकते हैं। और यह केवल औपनिवेशिक जनता के संदर्भ में ही सच नहीं है बल्कि यूरोप और अमरीका के भी संदर्भ में, क्योंकि इसी अवधि में यूरोप और अमरीका दोनों एक विरोधी रूप लेने की प्रक्रिया में हैं। इन विरोधों की प्रायः वैशिष्ट्य की परिभाषा है इनका चीनी चरित्र। जहाँ तक इनके स्वरूप का सवाल है वे अमरीकी घटनाओं में तक इनके एक होने का स्मरण दिलाते हैं, और जहाँ तक उनके विप का सम्बन्ध है उन पर बहुत हद तक चीनी सिद्धान्त का प्रभाव है। क्यों ? "क्या किया जाना चाहिए" शीर्षक के अन्तर्गत लेनिन ने १९०३ में लिखा कि अराजकता, जिसका प्रभाव उनके जमाने में काफी था, हमारी अपनी अवसरवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गलतियों की सज़ा है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस कथन में लेनिन ने एक आम, गम्भीर और सुदूरव्यापी सत्य को अभिव्यक्ति दी थी। चीनी प्रभाव, जो आज पूरे यूरोप में फैल गया है, हमारे सिद्धान्त की कार्यनीतिगत कमी और हमारी रूढ़िवादिता की सज़ा है। अठारह-वर्षीय एक उत्साही अमरीकी अथवा अन्य पश्चिमी युवा आज की पेचीदा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में अपने प्रश्नों का उत्तर नहीं पा सकता है जो उसके विरोध की भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है। अतः वह सोचता है कि माओ में उसे उत्तर मिल जायगा। उदाहरण के लिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपनी पुरानी गलतियों को खत्म कर और मूल मार्क्सवादी प्रणाली की ओर वापस जाकर हम न केवल विदेश में अपने प्रभाव की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से बल देंगे बल्कि अपने देश के अन्तर्गत भी यह हमें उस स्थिति में पहुँचा देगी जहाँ से हम अपने कतिपय साधनों का संचालन कर सकें जिसका अगर उचित सम्प्रेषण हो तो उसका प्रभाव विदेश में भी होगा। निश्चय ही आप मेरा अर्थ समझ रहे हैं। अगर हम अपनी पुरानी गलतियों को खत्म कर और कार्यनीतियों के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण बंद कर मार्क्सवादी सिद्धान्तों से कार्यनीतियाँ निकालें तो इसका प्रभाव संस्कृति पर होगा और इससे भी अधिक संस्कृति के आगे कई राजनीतिक क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा।

—कुछ ही दिनों पहले ऐसा कहा गया है कि हमें छह या आठ वियतनाम की आवश्यकता है। हम इस चीनी मत से अरसे से अवगत रहे हैं कि महायुद्ध के पश्चात् अपेक्षया अल्पकाल में ही नयी सभ्यता उठ खड़ी होगी। क्या यह मत अथवा आमतौर पर—अभी मैं और अच्छा शब्द नहीं सोच पा रहा हूँ—दुस्साहसिकता और अतिक्रान्तिकारिता, जिसे तीसरी दुनिया की दीनावस्था में पर्याप्त पोषण मिल रहा है, सह-अस्तित्व को खतरे में डालता है ?

—मैं नहीं समझता कि इसे कोई गम्भीर खतरा है यद्यपि यह सच है कि लोग यह नहीं पहचानना चाहते हैं कि अणु अस्त्रों के परिणामस्वरूप एक बिलकुल नयी स्थिति विकसित हो गयी है। इस नयी स्थिति को मैं इस प्रकार समझता हूँ : अगर हम अतीत के किसी युद्ध में १० किलोमीटर तक मार करने वाली बन्दूक इस्तेमाल करते और अगर कोई १५ किलोमीटर की मार करने वाली बन्दूक की खोज कर लेता तो ऐसी हालत में वह अपनी बन्दूक की सहायता से १० किलोमीटर की बन्दूक को बर्बाद कर बिना किसी कुरबानी के जीत हासिल कर लेता। अणु युद्ध में यह स्थिति नहीं होती। अणु युद्ध में कमोवेश दोनों तरफ की बर्बादी होती है। यही कारण है कि तर्कसंगत अनुमान हमें बतलाता है कि बड़ी शक्तियों के बीच अणु युद्ध की वास्तविक सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि अमरीकी प्रेस यह खबर नहीं कर रहे हैं कि वियतनाम में अमरीकी हवाई जहाज सोवियत प्रक्षेपकों द्वारा बर्बाद किये जा रहे हैं। अमरीकी यह दिखला रहे हैं कि मानो उनकी दृष्टि इस पर नहीं गयी। ये तथ्य काफी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे यह प्रकट करते हैं कि आज युद्ध एक सीमा के अन्तर्गत लड़ा जा रहा है। मसलन, दक्षिण अमेरिका में आज पक्षधर युद्ध चल रहा है इसका यह अर्थ नहीं कि वह विश्वव्यापी युद्ध की दिशा में फैल जायगा। यहाँ मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि मैं इस छह या आठ वियतनाम के सिद्धान्त के प्रति किंचित् संदिग्ध हूँ क्योंकि वास्तविक पक्षधर युद्ध शुद्ध संकल्प का परिणाम नहीं है। अगर एक विस्तृत हिस्सा, जिसमें किसानों की बहुलता अथवा प्रधानता हो, यह महसूस करता है कि वे अब उस प्रकार नहीं रह सकते जिस प्रकार रहते आ रहे थे और यह कि अपना इस नियति के साथ समझौता कर आगे नहीं रह सकने की अपेक्षा वे अपना जीवन जोखिम में डालना पसन्द करेंगे तो ऐसी हालत में पक्षधर युद्ध की शुरुआत होती है। अगर स्थिति ऐसी नहीं है तो भले ही इने-गिने वीर, ईमानदार व्यक्ति अपने को जोखिम में डाल देंगे और खत्म हो जायंगे परन्तु एक पक्षधर युद्ध के रूप में आप संघर्ष शुरू नहीं कर सकेंगे। ऐसी हालत में वह पक्षधर युद्ध बुर्जुआ क्रान्ति के सिवा और कुछ नहीं होगा या शायद उस बुर्जुआ क्रान्ति के लिए आवरण मात्र होगा जिसे समाजवादी क्रान्ति के रूप में रूपान्तरित किया जा रहा है। मैं समझता हूँ कि दक्षिण अमेरिका में इसी प्रकार की क्रान्ति का कार्यक्रम है, और यह हो भी सकता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि किसी वीर के गिर्द कोई छोटा दल पक्षधर युद्ध आरम्भ कर सकता है। इसके विपरीत कृषक वर्ग की अवस्था में सुधार के लिए चलाये गये आन्दोलन को, जिसमें अन्य निम्न वर्गों के लोग भी शामिल हों, क्रान्ति में रूपान्तरित किया जा सकता है और उस क्रान्ति में पक्षधर युद्ध महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका अदा कर सकता है।

यहाँ हमारा सम्बन्ध जनता के विद्रोह और औपनिवेशिक उत्पीड़न से नहीं है, लेकिन यह एक आम प्रश्न है जिसका सम्बन्ध आज हमारी सांस्कृतिक समस्या से है। आज के स्वार्थ-साधित पूंजीवाद के अन्तर्गत मजदूरी में वृद्धि हुई है। काम के घंटे कम किये गये हैं और इसके बावजूद आज मजदूर वर्ग का जीवन बदतर पूंजीवादी उत्पीड़न के ज़माने की अपेक्षा अधिक अर्थहीन हो गया है।

—सह-अस्तित्व के अन्तर्गत लड़ाई में, जिसे हम संशोधित वर्ग संघर्ष समझते हैं, हमारी भूमिका निर्णायक है क्योंकि निश्चित रूप से सार्थक जीवन की दिशा में मानवता समाजवाद के अलावा कोई और रास्ता न तो देख पाती है और न उस जीवन की उम्मीद कर पाती है। यद्यपि हम समाजवादी संशयपूर्ण ढंग से ही ऐसा कहते हैं।

—हम इससे आगे जाने की शुरुआत कर रहे हैं। सम्पूर्ण पश्चिमी साहित्य इस बात का संकेत देता है कि आज की जो स्थिति है उसमें मनुष्य सार्थक जीवन जीने की संभावना में अपनी आस्था खो चुका है। लेकिन मैं यह विश्वास नहीं करता कि मनुष्य सार्थक जीवन जीने की मांग का हक सदा के लिए त्याग देगा। मैं ऐसा निराशावादी नहीं हूँ। लेकिन जब तक हम इस निरर्थक पूंजीवादी जीवन के सम्मुख एक सार्थक जीवन का रूप स्पष्ट रूप में न खड़ा करें तब तक इस बौद्धिक आन्दोलन का आगे बढ़ना कठिन होगा। आरम्भ में मैंने सन् '२० से '३० की अवधि की बात कही थी। मसलन, जर्मन बुद्धिजीवियों ने क्यों भूख-पीड़ित रूस के साथ सहानुभूति प्रकट की थी? क्योंकि उन्हें गहरे रूप में यह विश्वास था कि यद्यपि वे स्वयं एक अर्थहीन जीवन व्यतीत कर रहे थे जबकि दूसरी ओर लोग रूस में भले ही भूख से पीड़ित हों लेकिन जिसके लिए वे जी और लड़ रहे थे वह सार्थक था। इसका प्रचार निश्चय ही स्थूल ढंग से नहीं किया जा सकता। यह कहते हुए लेख लिखना कि जीवन का यह ढंग सार्थक है और वह निरर्थक हमें कहीं नहीं पहुँचायेगा। जब किसान और मज़दूर इस तथ्य के प्रति जागरूक हो जायँगे कि वे जो अपने लिए काम कर रहे हैं वह पूरे विश्व के लिए है या उसका सम्बन्ध पूरे विश्व से है, जब व्यक्तिगत सफलता एक सार्थक जीवन के निर्माण में सहायक के रूप में समझी जायगी तभी हम पश्चिम की अंधेरी गली, पूंजीवादी अंधेरी गली के बाहर उन्हें राह दिखला सकते हैं जो आज बाकायदा हमसे ऐसी उम्मीद कर रहे हैं। मैं समझता हूँ इसका सम्बन्ध कला और दर्शन के सारे प्रश्नों से है और भविष्य में यह समस्या हमारे सामने आयेगी। यानी ऐसा नहीं कि कल या परसों ही ऐसा हो जायगा बल्कि पाँच या दस वर्ष बाद। हमें उस क्षण के लिए तैयार होना है जब एक पूरी बदली हुई दुनिया में, बिलकुल बदली हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत हम प्रभावशाली ढंग से मार्क्सवाद को प्रस्तुत कर सकें—जो एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है जो इन सामाजिक अन्तर्विरोधों के बाहर एक निश्चित राह का ज्ञान देता है।

अनुवादक : **प्रेमेन्द्र**

['न्यू हंगेरियन क्वार्टर्ली'—२ (१९६८) से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलेक्सांद्र सेंकोविच की पाँच कविताएँ

: १ :

कंदील जल रही है, लट्ठे तड़क रहे हैं
एक रूसी काठ-झोंपड़ी में।
ज़ार लिख रहा है एक किताब शासन-कला पर
ज़ार लिख रहा है एक किताब ख़ुद पर।
इतनी मेहनत से थका लिया है ख़ुद को उसने
कि वह प्रभु यीशु-सा दीखने लगा है
मगर कागज़ के नग्न चौकोर पर पड़ा
स्याही का धब्बा
लगता है मानो हो जल्लाद का ठीहा।
और उसके हाथों की नसें सूजी हुई हैं
वह जानता है बहुत-से चेहरे, याद हैं उसे
बहुत-सी तारीख़ें।
वह गिनता है अपने अक्षर
जैसे कोई गिनता हो सैनिक, लड़ाई से पहले।
वे क़तई मज़बूत काठी के नहीं हैं
मगर उनका कार्य-भार—वह बहुत बड़ा है—
उन्हें कोई लड़ाई नहीं जीतनी है,
उन्हें जीतनी हैं शताब्दियाँ ज़ार के लिए।
पूर्ण विराम डूब गये हैं गोलों की तरह।
उनका समय अभी आने वाला है···[१]
लिख रहा है ज़ार, पंक्तियाँ फिसलती आ रही हैं
उसके राजसी कलम के नीचे से।
ज़ार लिख रहा है आने वाली पीढ़ियों के लिए
सौंपता हुआ अपना अनुभव भावी आततायियों को।
ख़ुश्क हैं मगर जलते हुए लट्ठों की तड़क
जैसे ज़ार पर चलती हुई गोलियाँ। ●

१. पूर्णविराम किसी भी निर्णय की पूर्णता का प्रतीक है, जबकि तीन बिन्दुओं का अर्थ है सेंसर द्वारा प्रतिबन्ध।

: २ :

कितने समस्वर हैं सारे रंग
हरे, नीले, लाल···
गूँगेपन ने—उस महान परिकल्पना ने—
कर दिया है उन्हें सगोत्र।
कल्पना कीजिये मैं रहस्य जान जाऊँ
और मैं उन्हें वाणियाँ दे दूँ।
लाल रंग चीख़ना शुरू कर देगा
ख़ून के भय से।
और हमें विपदा की आशंका होगी
और चीज़ें साधारण नहीं रह जाएँगी।
और मैं यह सब बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगा
और मुझे अपना जादू-टोना रोक देना होगा।
रंग फिर से हो जाएँगे गूँगे,
भूलकर अपनी हताशा
पुनः एक बार आकर चुप्पी अचल हो जाएगी
गहरे तालाब में पानी की तरह।
सूर्य खोल देगा अपनी पंखुरियाँ
वह मेरा सच्चा मित्र बन जाएगा
और रेत की तरह चुप-चुप
सारे रंग विलीन हो जाएँगे सफ़ेदी में। ●

: ३ :

सर्दी के मौसम और रात में
रटते हुए बारम्बार पाठ
मैंने सीखी एक भाषा पूरब की
ताकि समझ सकूँ तुम्हें आद्यन्त।
और तुम सोयी थी···किस शताब्दी में
किन प्रज्ञाओं से घिरी हुई?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारी पलकों ने हरकत की
ज्यों समुद्री घोंघे के किनारों ने ।
तुम्हें जल्दी उठना होगा
और तुम मंद-मंद साँसें लेती सोती रही ।
किस सागर-शैया पर
तुम्हारी आत्मा बन गयी मोती ?
किन्तु तुम्हारी वह वाणी···वह मुझसे दूर
खिसकती रही,
मेरी समझ से दूर ।
तुम्हारे होंठों पर मधुर थी वह
मगर मेरे मुँह में तिक्त
मैं बैठे-बैठे घोखता रहा
गूँगी किताबों के पन्ने ।
लेकिन बर्फ़ के टीले की तरह
उसने लगा दिया ढेर
अपनी वर्णमाला का ।
मैं पुचकारता रहा उसे जैसे जानवर को,
और जब तक मुझ पर विश्वास से पूर्ण
उसने चाट नहीं लिये मेरे होंठ,
मैं सोया नहीं । ●

: ४ :

एक अंधा सतर्कता के साथ
ठकठकाता हुआ ज़मीन बढ़ा जा रहा था
पटरी के किनारे-किनारे
चाँद ने—अति-आकार और ताम्रवर्ण चाँद ने—
लगा दी है आग
बादलों में ।
बग़ल से
रगड़ती हुई एक लड़की गुज़र गयी है—
जो देगी या तो सुख
या विपदा···
उसने हर एक तारे को महसूस करना चाहा
अपनी अंगुलि से
जैसे पढ़ते समय अंधे महसूसते हैं
अक्षर ।
हम नहीं जानते कसी होती है यह इच्छा ।
अक्सर ही हम अंधे हो जाते हैं चकाचौंध से ।
लेकिन वह तारे को ले सकता है अपनी
हथेलियों में
परखने
उसका रूप,
गंध,
भार ।
और वह जान सकता है तमाम चीज़ों के माप
रात और दिन का अंतर ।
होमर इसी तरह पैदा होते हैं
और लोग ताकते रह जाते हैं । ●

: ५ :

हवाएँ मरती हैं—और भी अधिक शांति छा
जाती है
बादल मरते हैं—बरसात होती है
रातें मरती हैं—आकाश और भी हल्का हो
जाता है
आदमी मरते हैं—धरती अधिक भारी हो
जाती है । ●

अनुवादक : गिरधर राठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १ :

माँ, संतरे और मैं

कितना कम देखा है मैंने जीवन में !
कितना कम···
मैं इस फले हुए संसार में उस तरह रहना चाहता हूँ
जैसे माँ रहती है ।
मई में उसने मुझे मेरी आँखें दीं
और आज वह मेरी चाय के लिए संतरे लाई है।
इस वक्त मैं कितना उदास हूँ,
कितना भरा हुआ
मेरी आवाज़ चुप्पी में डूबती है,
कितने बोझिलपन से
कितना कम होता हूँ मैं अकेला माँ के साथ !
कितना कम···
मैं कवि नहीं हूँ, और न नागरिक,
मैं उसका बेटा हूँ।
इस वक्त मैं क्या कुछ नहीं चाहूँगा
और कितना-सा···
मैं इस फैले हुए संसार में उस तरह रहना चाहता हूँ
जैसे माँ रहती है
गिरजाघर की तरह पूरी सफ़ेद
वह मेरे सामने खड़ी है
ओह, उसे हमेशा इसी तरह गिरजाघर की तरह
सफ़ेद
मेरे सामने खड़ी रहने दो !

अपनी माँ से मैं प्रार्थना करता हूँ, प्रकट और छिपकर
मैं प्रार्थना करता हूँ,
एकाग्रता से,
उद्विग्न होकर,
छटपटाहट से !
मुझे न तो झिड़की मिलेगी
और न मदद
बस, वह एक उसाँस भरेगी,
समझ जाएगी
और मुझे अँकवार में ले लेगी···
माँ मेरे लिए संतरे छील रही है
उनसे मुझमें कैसी तीखी मिठास-सी भर जाती है,
वे मुझे ग़मगीन कर देते हैं
उसका चेहरा व्यथा से भरा हुआ उतरा है मुझमें
कितने उलाहने के साथ···
उसका चेहरा मेरे जीवन-भर मेरा एक्स-रे ले रहा है
कमरे में अकेला मैं
माँ को अर्पित एक प्रार्थनागीत गाता हूँ
मैं कवि नहीं हूँ और न नागरिक
मैं माँ का बेटा हूँ
मेज़पोश पर आखिरी संतरा रह गया था
कितना कम होता हूँ मैं अकेला माँ के साथ···
एक प्रार्थनागीत
माँ के लिए ! •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

सफ़ेद ईश्वर का गीत

कभी-कभी रात में नेग्लिका स्ट्रीट पर
हम तमाम वास्तविक चीज़ों के प्रति बहरे बने खड़े
रहे
ईश्वर तुम्हें गिरती बर्फ़ के रेशे समर्पित करता है
मैं तुम्हें अपनी कविताएँ समर्पित करता हूँ ।

हमारे लिए एक बिचौलिए की तरह
तर्क से टक्कर लेती हुई
खूबसूरत आखिरी ट्राम खड़खड़ाती हुई गुजर गई
अपनी पाँतों को तुम्हें समर्पित करती हुई ।

हम जैसे कि पुरातन काल से
एक विचित्र कर्त्तव्य-भाव ओढ़े हुए हैं
जहाँ आकाश पृथ्वी पर गिरता है
उसे चुप्पी समर्पित करता हुआ ।

ओ मेरे सफ़ेद ईश्वर, सर्वशक्तिमान बर्फ़ !
अँधेरे में हमने उसकी प्रार्थना की
यह माँगते हुए वह उस सब पर सफ़ेदी छिड़क दे
ढँक दे हौले से जो दुनिया में काला है ।

सफेद होना भयानकतम दुर्भाग्य है—
कहा जाता है कि चीज़ों को सफ़ेद बनाओ ।
यदि कोई काला ईश्वर होता

तो बहुत डरावना होता ।
सफ़ेद होना बड़ा ख़तरनाक है
कितनी आसानी से दाग़ लग जाता है
वसंत का इन्तज़ार फाँसी की तरह हो रहा है
जिसमें सूरज लाल जल्लाद की तरह है ।

सफ़ेद होना—जैसे फैलकर गिर जाना
वहाँ, ऊपर
अपना जीवन प्रारम्भ करता हुआ

बर्फ़ का हर ज़र्रा
उम्मीद करता है कि वह समूचा चौराहा ढँक सकेगा
और अब—अब तुम बर्फ़ हो, क्षितिज तक सफ़ेद,
तुम बेजान पड़े हो पीठ के बल गिरे हुए
आकाश में अब तुम्हारा अस्तित्व नहीं है
तुम्हें पृथ्वी को दे दिया गया है ।

वाष्प बनते हुए-से तुम चले जाओगे
लेकिन फिर भी पिछले वर्ष की तरह
अगले जाड़े में बर्फ़ के ज़र्रे
खटखटाएँगे कहीं पर किसी का
हृदय ।

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

एक अजीब प्रार्थना

ईश्वर, मुझ शक्ति दो कि प्रेम से उबर सकूँ
और फिर कभी प्रेम न करूँ
आलिंगन को तोड़ सकूँ
और पत्थर बनकर अलग हो सकूँ।

ईश्वर, मैं समय पर वापस न आऊँ
ईश्वर, मुझे एक बार फिर क्षमा न मिले
कि असह्य को सह सकूँ
जिस चीज़ को चाहता हूँ उससे घृणा करने तक
उतर आऊँ।

इस शाश्वत सलीब—उसकी छाया को
मेरा पीछा करने दो सड़ने तक

ईश्वर, रात को मेरे लिए बाज भेज दो
मेरे सारे संदेहों को वे चींथ-चींथ कर तार-तार
कर दें।
किन्तु मौन है ईश्वर प्राचीन पापों के लिए
उसके अस्तित्व में संदेह करने के लिए
ईश्वर हर एक को प्रेम की सज़ा देता है
ताकि परिश्रम झेलते हुए हम विश्वास करना सीख
जाएँ।

किन्तु यह ऐसा होने से,
यदि ईश्वर इतना क्रूर है
तो मैं फिर उससे प्रार्थना करता हूँ
ईश्वर, इतनी शक्ति दो कि प्रेम न कर सकूँ। •

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क श्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी समालोचक

व. लक्शिन

प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका कृतित्व सामान्य लगता है और रचनाएं अल्प और अपूर्ण प्रतीत होती हैं किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव की परिधि असाधारण रूप से विशाल होती हैं। उनकी साहित्यिक उपलब्धियों से स्वतंत्र इस धरातल पर उनकी उपस्थिति मात्र जीवन को सरस और विवेकपूर्ण बनाती है और साथ ही मन के ऊपर एक स्फूर्तिमय प्रभाव छोड़ती है। स्वयं मृत्यु भी उनके इस प्रभाव को सीमित नहीं कर पाती अपितु लगता है कि वह उसको और भी गहरा बना देती है एवं अविज्ञात रूप से इन व्यक्तियों के कर्म और वाणी की एक परम्परित प्रति-क्रिया-शृंखला जुड़ती चली जाती है।

मार्कश्चेग्लोव को दिवंगत हुए आज दस वर्ष से अधिक हो गये हैं और उनकी चाल, शब्द एवं मुद्राओं को मानस में प्रत्यक्ष करने के लिए थोड़ा-बहुत प्रयास करना पड़ता है किन्तु उनकी पुस्तक खोलते ही उनका चिर-परिचित स्वर मेरे कानों में गूंजने लगता है। यह स्वर किसी उपन्यास के पात्र-बिम्ब का स्वर नहीं है किन्तु उनका अनाविल रूप से नैसर्गिक एवं बीच-बीच में खाँसता हुआ स्वर है। यह स्वर कहीं स्वप्नाविष्ट भावावेश से पुलकित, तो कहीं विक्षुब्ध व्यंग्य से प्रखर, तो कहीं चिंतन भारान्वित और ऊर्जस्वित हो जाता है। लेखक की मौलिकता एवं सत्यता की पहचान भी इसी बात से होती है कि उसकी वाणी मुद्रित पंक्तियों के पीछे से स्पष्ट सुनी जा सकती अथवा वह किन्हीं श्रम-साध्य वागाडम्बरों से घुट जाती है।

मार्क का प्रथम महत्त्वपूर्ण लेख सन् १९५३ के सितम्बर में प्रकाशित हुआ था और सन् १९५६ के सितम्बर को वे इस संसार से चल बसे। तीन वर्ष का समय साहित्य के इतिहास में एक बहुत छोटी अवधि होती है किन्तु इन तीन वर्षों के पीछे मार्क के जीवन की समस्त साधना है। इसीलिए उनका प्रभाव आज भी स्पष्ट रूप से लक्षणीय है।

सन् १९५३ वसन्त में उन्होंने अपनी एक सामान्य नीली कापी में लिखा—"मेरा अपने साहित्यिक कर्म के प्रति कुछ इस प्रकार का दृष्टिकोण है कि जब तक 'वह बात' नहीं हो पाती—अर्थात् जब तक मेरा इस विशाल साम्राज्य में कोई स्थान नहीं बन पाता तब तक अप्रतिहत रूप से मुझे ज्ञानार्जन करके विवेक प्राप्त कर लेना चाहिए। यह उसी प्रकार है जैसे कि कोई व्यक्ति जिसे सड़क पार करके उस ओर आगे चलना हो, यातायात की बाधा के कारण इस ओर आगे चलने में समय का उपयोग कर रहा हो।"

यह बात उन्होंने जीवन के उस मोड़ पर कही थी जो कि उनको साहित्य की ओर लाया।

वैसे तो हम पहले भी अपने संकाय की गलियों में, क्लोक-रूम में, मध्यावकाश में, विद्यार्थियों के घूर्णावर्तों में मिलते रहते थे किन्तु उनसे परिचय नहीं हुआ था। प्रोफेसर गुद्ज़ी के अध्ययनकक्ष के झुटपुट प्रकाश में, जिनमें चित्रों की सुनहरी चौखटें (फ्रेमें) और चित्रों के रंग दिपते रहते थे, विशाल पर्वताकार पुस्तक-राशियों के मध्य, एक सेमिनार में हमारा प्रथम परिचय हुआ। यह सेमिनार वयोवृद्ध प्रोफेसर की साहित्य-सेवाओं के सन्मान में उनके घर पर ही हुआ करता था। पुस्तकें दीवारों को ढँककर मेजों पर, सोफों पर, स्टूलों पर, फर्श पर उमड़ी पड़ती थीं और उस प्रकोष्ठ का स्वामी एक कोमल ऊनी कोट पहने एक सेनापति की दृष्टि से अपनी दुर्दम पुस्तक-वाहिनी का निरीक्षण करता—किसी पुस्तक को खोजता हुआ—और विद्यार्थी तब तक अपना

श्री व. लक्शिन 'नोवी मीर' में साहित्य-समीक्षा के संपादक थे। कुछ महीने पहले वे उक्त पत्रिका के प्रधान संपादक त्वार्दोवस्की के साथ ही संपादक मंडल से अलग कर दिये गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान ग्रहण करते।

सेमिनार के दिन घर-भर की कुर्सियाँ उनके कमरे में घसीट ली जातीं और मेजें भी और इस पर भी जब जगह की कमी पड़ती तो देर से आने वालों को रेकों पर, सोफ़ों पर, या जहाँ जगह मिले वहाँ पर स्थान बनाना पड़ता। इस स्थान की एक और सुविधा यह थी कि किसी नीरस व्याख्यान के समय दीवार पर टँगे चित्रों को देखने का, किसी पत्रिका के पन्ने पलटने का या किसी मित्र से अपनी बातें करने का अवसर मिल जाता था क्योंकि पुस्तकों के विशाल ढेरों की ओट में प्रोफेसर सभी को नहीं देख पाते थे। मार्क मुझसे आठ साल बड़े थे। विद्यार्थियों की अवस्था में आठ वर्ष का अन्तराल महत्त्वपूर्ण होता है किन्तु मार्क ने इस बात को मुझे कभी अनुभव नहीं होने दिया। ताल्सताय के 'जीवित शव' (झिवोइत्रूप) के ऊपर उनसे एक बार इन्हीं सेमिनारों में वाद-विवाद छिड़ गया—फेद्या प्रोतासोव के सम्बन्ध में। बाद में उनके एक प्रकाशित पत्र से ज्ञात हुआ कि फेद्या प्रोतासोव उनका प्रिय ही नहीं अपितु प्राणप्रिय पात्र है। मेरे लिए भी फेद्या प्रोतासोव विशेष महत्त्व रखता है।

मार्क मुझे अच्छे लगे और उनके व्यक्तित्व ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। वे अपनी बैसाखी को एक ओर करके अपनी काया को उस पर टिका देते। दूर से वे रोग द्वारा विकृत, दुःखी व्यक्ति लगते थे किन्तु पास आकर उनसे दो शब्द बोलते ही उनका समस्त दुर्भाग्य अदृश्य हो जाता था—उनकी बैसाखी और उस पर झुका हुआ शरीर—और रह जाता था केवल सुन्दर मुख, सजीव और बुद्धिमान् आँखें, एक सरल सहज भाव, किसी हास्यपूर्ण परिस्थिति की तत्क्षण प्रतिक्रिया की क्षमता और फिर अपनी गम्भीर भावना में लीन हो जाना। वे एक पौरुषमय उदात्त सौन्दर्य से दीप्त थे और मैंने अनायास ही अपने को उनका अनुकरण करते पाया।

वे गम्भीर रोग से पीड़ित थे—दुखी थे किन्तु उनमें शीघ्र ही उल्लसित आनन्द में विभोर होने की क्षमता थी। उन्हें लोगों का संग प्रिय था, नये परिचयों और योजनाओं में उनकी असाधारण रुचि थी। घर से चुपचाप खिसककर उनको किसी मित्र के यहाँ अतिथि बनने में तनिक भी संकोच नहीं होता था चाहे इसके लिए उन्हें नगर के एक छोर से दूसरे छोर ही क्यों न जाना पड़े। किसी भी निमंत्रण को वह कभी अस्वीकार नहीं करते थे। हाँ, रोग के कारण किसी असाधारण परिस्थिति में वह कहते—'आज मैं जरा संचरण-शील नहीं हूँ' और इसका अर्थ होता था कि उनके पैरों ने बिलकुल जवाब दे दिया है।

खाने-पीने का मजा जो उनके साथ आता था वह शायद ही किसी व्यक्ति के साथ आता हो। वे जीवन के लघुतम सुखों पर अनन्त आनन्द में लीन हो जाते थे। उनकी बाल-सुलभ उत्कण्ठा, जीवन के लघु सुखों की प्रतीक्षा बड़ी ही संक्रामक होती थी। किन्तु यह सब किसी गम्भीर साहित्य-चर्चा की भूमिका होती थी। एक बार दोस्तोव्स्की ने 'कर्मा-ज़ोव बन्धु' में बालक अल्योशा और इवान को घर की बाड़ के बाहर पहुँचाते हुए कहा था कि रूसी बालक जीवन-जगत् के मूलभूत प्रश्नों की ओर तुरन्त आकर्षित होते हैं—कैसे जीना चाहिए? किस पर विश्वास करना चाहिए? किसकी आराधना करनी चाहिए?

सन् ५४ का साल आया। जाने कौन-से द्वार उस वर्ष खुल गए थे, सभी लोग किसी महान् वस्तु की मानों उत्कट प्रतीक्षा में थे, एक-दूसरे से बड़ी तत्परता से विवादरत थे··· जाने कौन-सा नवीन सुरभिहरण समीरण बह रहा था···मन में आता था कि उन सब बातों को लिख लूँ, याद कर लूँ। पर क्यों? किसलिए? क्या उस समय मेरे मन में यह बात कभी आ सकती थी कि एक दिन मैं इन दिनों के संस्मरण कागज़ पर लिखूँगा?

जिन दिनों मैं मार्क के समीप आया उन्हीं दिनों मार्क के लेख 'नयी दुनिया' (नोवी मीर) में छपते थे। उन्होंने सन् ५३ के साहित्य के विद्यार्थी पर कैसा प्रभाव डाला उनके विषय में बाद में बताऊँगा। उनके बारे में अभी थोड़ी देर पहले तक गम्भीर एवं वैदुष्यपूर्ण चर्चाएँ चल रही थीं—साहित्य का आधार (बेस) और आधेय (सुपरस्ट्रक्चर) से क्या सम्बन्ध है? साहित्य में सत् और असत् के संघर्ष का दिग्दर्शन अनिवार्य है अथवा नहीं, वर्गगत पात्र की सशक्त सृष्टि असिद्ध हुई या नहीं—फिर आवेगमय शब्दों की बौछार ···युवा रुचि और युवा वितृष्णा और अन्त में वे संवेदनशील क्षण···!

एक बार मैं एक पत्रिका को चलते-चलते देख रहा था कि उसमें मुझे मार्क का एक लेख 'संगीत संगत के बिना' दिखाई पड़ा। मुडगेर पर कोहनी टिकाकर मैं इस लेख को—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास अथवा कहानी को नहीं अपितु पुस्तक-समीक्षा स्तम्भ के अन्तर्गत एक साधारण लेख को—पढ़ता ही रह गया। पढ़ते-पढ़ते कभी आनन्द से विभोर हो उठता, कभी सहमत होता, कभी विस्मित तो कभी ज़ोर से हँस पड़ता। फिर मैंने अपने सहपाठियों के साथ उस लेख के तीक्ष्ण एवं हास्यतरल अंशों को कई बार पढ़ा। वाह! क्या बात है! इसको कहते हैं समीक्षा! और सबसे अधिक चमत्कारी बात यह थी कि यह लेख हमारे ही एक सहपाठी ने लिखा था जो कि कक्षा में हमारे ही साथ बैठता था, उन्हीं पाठ्यपुस्तकों को पढ़ता था और उन्हीं परीक्षाओं को देता था जिन्हें कि हम दिया करते थे। वह प्रो० पोस्पेलोव के आगे परीक्षाओं में वैसे ही घबराता था जैसे कि हम सब। कितने आश्चर्य की बात है कि यह समीक्षा उसकी लेखनी से निकली है।

जब मैं मार्क के निकट सम्पर्क में आया तब इस पहेली का पता न लगा सका कि वह कब लिखते हैं। मैंने उन्हें कभी भी काम करते नहीं पाया। वह बहुत लिखते थे और बहुत प्रकाशित करवाते थे, किन्तु उनके लेख उनके मित्रों के लिए नितान्त अप्रत्याशित होते थे। यह उनकी विनम्रता थी अथवा अन्धविश्वास, मार्क ने कभी नहीं बताया कि वे क्या लिख रहे हैं अथवा क्या लिखने जा रहे हैं। उनको उसके विषय में जिज्ञासा करना अच्छा नहीं लगता था।

जैसे ही कोई उनकी माँ के साथ उनके संकरे अध्ययन-कक्ष में—जोकि पहले कभी स्नानागार था—प्रवेश करता वे बड़ी प्रसन्नता के साथ और इस बात से बिना चिढ़े कि उनके लेखन में बाधा पड़ी अपने लिखे हुए कागज एक ओर रख देते और कहते—

"बहुत अच्छा हुआ कि आप आ गये···थोड़ी गपशप करेंगे···विश्वविद्यालय के क्या नये समाचार हैं?···हमारे बुढ़ऊ कैसे हैं?" वह प्रो० गुज्दी के विषय में पूछते।

इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने साहित्यिक क्रियाकलाप को किसी रहस्यमय वातावरण से आवेष्टित रखते थे। इसके विपरीत वह कई बार सहलेखन का निमन्त्रण देते—

"क्या तुम नहीं पाते कि एमिलीव पर आलोचना लिखने का समय आ गया है। लेख ही नहीं अपितु एक पुस्तक। आओ साथ लिखें।" या "मुझसे दोस्तोव्स्की के विषय में लेख माँगा गया है···पता नहीं चल रहा कि कहाँ से शुरू करूँ ···किस छोर को पकड़ूँ? यदि दोनों साथ काम करें तो कैसा रहेगा?" किन्तु इस सहलेखनत्व से मैंने मना कर दिया क्योंकि मैं किसी के साथ मिलकर नहीं लिख पाता हूँ। मार्क के मन में फिर भी किसी के साथ मिलकर लिखने का आकर्षण बना रहा और उनके लेख युवक साहित्यकारों—जैसे सुरेत्सेव, तुबिनी—के साथ लिखे मिलते हैं।

मार्क के विषय में अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ आज भी मेरी स्मृति में तैर रही हैं जिनके पीछे से उनका निश्छल मानव-रूप झाँकता है। उनको अपने विषय में ऐसे इतिहास बखान करने का शौक था जिसमें वह 'हीरो' से बिलकुल नहीं लगते थे। एक बार उन्होंने मुझे एक घटना सुनाई—

"रास्ते में फिसलन थी इसलिए मुझे प्रो० गुज्दी के सेमिनार पहुँचने में लगभग बीस मिनट की देर हो गई। यह मेरा पहला ही सेमिनार था···अस्तु घण्टी बजाई···दरवाजा खुला—'आप किसे चाहते हैं?'

'निकोलाई कालीनिकोविच को' मैंने नम्रता से अपना चिर-परिचित हैट उठाते हुए कहा।

'आइए, तशरीफ़ रखिये। निकोलाई कालीनिकोविच इस समय व्यस्त हैं—थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।" मुझे बताया गया।

'कोई बात नहीं, प्रतीक्षा कर रहा हूँ,' मैंने विनयपूर्वक कहा। मुझे एक सजे कमरे में पत्र-पत्रिकाओं की मेज के पास एक गद्देदार गोल कुर्सी पर बिठा दिया गया।

'ताजा पत्रिकाएँ हैं! कॉफी पियेंगे?'

मुझे आश्चर्य हुआ किन्तु मना करने की सामर्थ्य मेरे पास नहीं थी। कॉफी पीता हुआ और चित्रों को देखता हुआ सोच रहा था कि वास्तव में यहाँ पर विद्यार्थियों का इतने स्नेह और सम्मान से स्वागत होता है! थोड़ी-थोड़ी देर में मुझसे पूछा जा रहा था कि किसी चीज़ की आवश्यकता तो नहीं है? और साथ ही आश्वासन दिया जा रहा था कि निकोलाई कालीनिकोविच शीघ्र ही निवृत्त हो जाएँगे। मुझे भी कोई विशेष जल्दी नहीं थी। अन्ततः कॉरीडर में पगध्वनि सुनाई पड़ी और कई नमस्कारों के स्वर गूंजे। द्वार खुला और प्रोफेसर सीधे आकर कहने लगे—'क्षमा कीजिए —मैंने आपको प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य किया। अभी हाल ही में विद्यार्थियों से निवृत्त हुआ हूँ···मुझे किससे बात करने का गौरव मिला है? किस प्रकाशन गृह से?' मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हकलाते हुए कहा—'मैं किसी प्रकाशन गृह से नहीं आया हूँ। वास्तव में मैं आपका विद्यार्थी हूँ और कल ही मैंने आपके सेमिनार में नाम लिखवाया है।'

कुछ समय तक एक भारी मौन छा गया। प्रोफेसर का चेहरा सफेद पड़ गया और दरवाजे की ओर लौटे। थोड़ी देर तक अपनी हथेली से अपनी टाँट सहलाते हुए बोले—क्रोध से भरकर—'तो दो घण्टे से यहाँ पर बैठे क्या कर रहे थे··· बैठे हुए लोगों को बेवकूफ बनाते रहे···।'

और इस प्रकार इस शुभ घटना से प्रोफेसर के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ। मार्क ने एक दीर्घ निःश्वास के साथ कहा।

निकोलाई कालीनिकोविच यद्यपि शीघ्र ही गरम हो जाते थे किन्तु स्वभाव से आशुतोष थे और मन में कोई बात नहीं रखते थे। बाद में वे मार्क से अत्यन्त स्नेह करने लगे थे और मार्क अनेक बातों के लिए उनके आभारी थे। मार्क की प्रथम समीक्षा उन्हीं के द्वारा अनुशंसित होकर प्रकाशित हुई थी। वैसे तो हमारे प्रोफेसर निकोलाई कालीनिकोविच गुज्दी का स्वभाव हम सबके प्रति उदार और वात्सल्यपूर्ण था किंतु उनमें एक बात यह थी कि वह विद्यार्थियों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में बारंबार प्रश्न तो करते थे किन्तु उनके द्वारा दिये गये उत्तरों को भूल जाते थे। प्रत्येक मंगलवार को मार्क द्वारा लिखकर लाये गए और पढ़कर सुनाये गए लेखों को सुनकर वह गद्‌गद हो जाते और अन्त में पूछते—"अच्छा तो मार्क अलेक्सान्द्रोविच, मैं बारंबार भूल जाता हूँ···आप कितने साल के हैं? आपको यह रीढ़ का यक्ष्मा कब हुआ था? अब इलाज कैसा चल रहा है?"

"निकोलई कालिनिकोविच, मैंने आपको पिछली बार बताया तो था!"

"अरे हां!" प्रोफेसर कहते और समझ जाते कि बारंबार मार्क को अपने विषय में बताना अच्छा नहीं लगता।

कदाचित् अब मार्क अलेक्सान्द्रोविच श्चेग्लोव के विषय में बताना उपयुक्त होगा—

मार्क अलेक्सान्द्रोविच श्चेग्लोव का जन्म २७ अक्तूबर १९२५ को हुआ था। आजीवन वह अपने शैशव की स्मृतियाँ अपने हृदय में संजोये रहे। प्रशान्त और हरीतिमा से आच्छन्न वह नन्हा-सा नगर···चतुर्दिक शाद्वल उद्यान···। मार्क के माता-पिता एक प्रान्तीय नाट्य मण्डली में कलाकार थे और अपने कार्य की प्रकृति के अनुसार उनको अपने परिवार—पत्नी और पुत्र—के साथ स्थान-स्थान पर घूमना पड़ता था। जन्म के दो वर्ष बाद ही मार्क को मेरुदण्ड का यक्ष्मा हो गया था और तब से उनका सारा जीवन—इस अस्पताल से उस अस्पताल, इस सेनेटोरियम से उस सेनेटोरियम भटकना··· जिप्सम के पलस्तर···रोग-शैय्या···घर के सहज जीवन के कुछ क्षण···पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ की छलनामयी आशा···और बीमारी का पुनः प्रखर होकर बिस्तर पर पटक देना रह गया था। साथ ही मार्क के घर में भी सब प्रकार कुशल नहीं थी। मार्क के पिता अलेक्सान्द्र सरगेयेविच श्चेग्लोव बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे किन्तु अपने-आपको पूर्ण रूप से पा नहीं सके। उन्होंने अपने जीवन के तीसरे दशक में मास्को की "यथार्थवादी रंगशाला" में काम आरम्भ किया। थोड़ा बहुत सृजनात्मक काम भी किया, ए० एन० कवि नाम से कविताएँ भी लिखीं जो कि कदाचित् बच्चों की पत्रिकाओं "विज्जू" या "छोटी चिड़िया" (चिझ) में प्रकाशित भी हुई, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपनी गृहस्थी छोड़ दी और माँ को ही मार्क का लालन-पालन करना पड़ा।

रुग्णता की विवशता के कारण मार्क को बचपन से ही पढ़ने की बड़ी आदत थी और उन्होंने बहुत पढ़ा—अदम्य पिपासा से पढ़ा और आनन्द लेकर पढ़ा। एक मधुर स्वप्न के समान उनकी भी आशाएँ थीं कि अन्य बालकों की तरह वह भी स्कूल जाएँ। उनकी डायरी के स्वल्प साक्ष्य के अनुसार उनका अध्ययन कुछ इस प्रकार चला—

सन् २७ से सन् ३५ तक—आठ साल—विभिन्न अस्पतालों में रहकर जैसे-तैसे दूसरी कक्षा पास की। सन् ३५ के अन्त में अस्पताल से घर लौटा और सन् ३६ में तीसरी और चौथी कक्षा घर पर पढ़कर ही पास की। पाँचवीं कक्षा में सोवियत प्रान्तीय स्कूल में प्रविष्ट हुआ किन्तु रीढ़ में यक्ष्मा की प्रक्रिया तीव्र हो जाने के कारण स्कूल छोड़ना पड़ा और इसके फलस्वरूप छठी और सातवीं कक्षा घर पर पढ़कर ही पास करनी पड़ीं। सन् चालीस में मास्को से बाहर एक टी० बी० अस्पताल में भर्ती किया गया जो कि मुइतीश नामक पर्वत पर स्थित है और वहीं से मैंने आठवीं कक्षा पास की। युद्ध के कारण वह अस्पताल, जिसमें मैं भर्ती था, खाली करवाया गया और यूराल ले जाया गया, इसलिए नवीं कक्षा मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहीं पर चेल्याविन पत्राचार हाई स्कूल से पास की। युद्ध संकट टल जाने पर फिर हमारे अस्पताल को अपने पूर्व स्थान पर लाया गया और सन् तेंतालीस की शरद् ऋतु में ज्वेनी गोरद टी०बी० अस्पताल में रखा गया जहाँ से मुझे सन् ४५ में ही छुट्टी मिल सकी। उसी वर्ष मास्को के रेल के डिब्बे बनाने वाली फैक्टरी के कामगर युवकों के हाई स्कूल "१९०५ क्रान्ति स्मारक" में प्रवेश लिया और वहीं से दसवीं कक्षा पास की।

यह तो डायरी के पन्नों का बाह्य घटना विवरण मात्र है किन्तु पहले इस बालक, फिर किशोर और फिर इस युवक के अन्तर में कौन-कौन सी घटनाएँ घटीं—उसके मन पर क्या बीती—उसका साक्षी यह उसकी माँ के नाम एक पत्र है—

"मेरी प्यारी, अभागी अम्माँ !

मैं तेरे समक्ष अपरिहार्य रूप से अपराधी हूँ। मुझे अपनी भूलों के विषय में फिर से बात उठाने में लज्जा आती है किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि माँ के रूप में--नहीं—बल्कि एक साधारण मानवी के रूप में तू मेरी इन भूलों की क्षम्यता मान लेगी। तू देखती नहीं है कि अस्पताल की चार-दीवारी और चतुर्दिक बीमारियों का वीभत्स वातावरण किस प्रकार समस्त प्राण-शिराओं को झकझोर देता है···और फिर जबकि स्वस्थ व्यक्ति भी कभी-कभी उद्भ्रान्त हो जाता है··· जब कि प्रत्येक विवेक की आवाज गूंगी हो जाती है तो मैं इन बातों से किस प्रकार बच सकता हूँ। और फिर, तू तो जानती ही है कि मुझे कभी-कभी घोर उदासी जकड़ लिया करती है। मुझे, एक ऐसे व्यक्ति को जो कि संगीत स्वरारोह सुनकर स्तब्ध रह जाता है, जो कि भावपूर्ण वाल्ट्ज नृत्य का प्रेमी है, जो कि गीतिकाव्य पर अपने प्राण न्योछावर करता है और जिसका कि रोम-रोम कवि है, ऐसी निदारुण यन्त्रणा और दुर्गन्धित जीवन का अभिशाप मिला है। तू सोच तो, अम्माँ, यह अन्याय कितनी मार्मिक यन्त्रणा और कितना विक्षोभ उत्पन्न कर सकता है। तू मुझसे दृढ़ता और आत्मबल की अपेक्षा करती है किन्तु बता तो सही कि प्रकृति ने मुझे किस दृढ़ता और किस बल का वरदान दिया है ? तू जब इन सब बातों पर विचार करेगी तो निश्चय ही मुझे पूरी तरह क्षमा कर देगी।

सस्नेह, **तेरा मार्क**"

दुनिया में ऐसे लोग होते हैं जो कि आत्मबल और धीरता की शिक्षा तो देते हैं किन्तु स्वयं किसी पहली ही विपत्ति के सामने भाग खड़े होते हैं। मार्क ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन किया जो उनके विषय में बहुत कुछ बताती है (प्रवेश परीक्षाओं के दिनों में मार्क की बीमारी पूरे जोर पर थी):

"मेरी अध्ययन की इतनी प्रखर लालसा थी कि मैं लग-भग घिसटता हुआ विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षाएं देने गया और जब बिलकुल ही खाट से लग गया तो शरद् तक परीक्षाएँ स्थगित करने की प्रार्थना की और भीषण शारीरिक यन्त्रणा और अविस्मरणीय मानसिक व्यथा के बावजूद मैंने वह परीक्षाएँ दीं।" जिस दिन निबन्ध लेखन का परीक्षा पत्र था उस दिन मार्क की तबियत बहुत ज्यादा खराब थी और वे बैठ भी नहीं सकते थे अतएव उन्होंने आडीटोरियम के एक कोने में जाकर कुर्सी पर लेट कर लिखा। महिला परीक्षक मार्क को देख न पायी और जब एक कापी कम पड़ने के कारण खोजा गया तो मार्क को लेटे-लेटे लिखते पाया गया। वह लिखने में इतने तन्मय थे कि उनको पता भी न चला कि समाप्ति की घण्टी कब बज गयी। इस परीक्षा के पश्चात् मार्क बिलकुल ही खाट से लग गये।

अस्तु, मार्क को अपने कार्य में सफलता मिल गयी—चाहे पत्राचार पाठ्यक्रम में ही सही, उनका भाषा-विज्ञान संकाय में प्रवेश हो गया (रूस में साहित्य भी भाषा विज्ञान संकाय में पढ़ाया जाता है)। मार्क ने विश्वविद्यालय में अदम्य लगन और अद्वितीय मानसिक ऊर्जा के साथ साहित्यिक ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि अर्जन करना आरम्भ कर दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे अपने जीवन के दुख और रुग्णता के दुर्भाग्य से प्रतिशोध लेने के लिए पढ़ रहे हैं। हमारे साथ उन्होंने लेटिन भाषा के प्रसिद्ध लेखक त्सेजार की पुस्तक "दि बेलो गेलिको" के प्रसिद्ध अध्याय "तीरेत्स की घटनाओं के सम्बन्ध में" के अनुवाद में पसीना बहाया, हमारे ही साथ उन्होंने गोर्की की कहानी "बुढ़िया इज़रगिल" का ध्वन्यात्मक ट्रान्स्क्रिप्शन सीखा और निकोलाई इवानोविच लिबान के योग्य निर्देशन में अपना प्रथम मौलिक लेख "लमोनोसोव और जेरझाविन के शोक गीत" लिखा।

विश्वविद्यालय मार्क के जीवन में एक नया परिवर्तन लाया—नये मित्र, नये साथी, व्याख्यान, विवाद, विमर्श परिचय। साधारण विद्यार्थी जीवन उनको असाधारण रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास्वर और पूर्ण लगता था।

मार्क बचपन से ही कविता लिखते थे और अब तक उनकी कविता की कई कापियाँ भर गयीं थीं किन्तु विश्व-विद्यालय का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन उनके इस कवि कर्म में बाधा पहुँचाता था। कहीं-कहीं उनके क्लास नोटों के मध्य थोड़ी-सी छन्दमय पंक्तियाँ मिल जाया करती थीं जिनमें कुछ ऐसी भी होती थीं—

मैं स्नेह विकल—
यह रूप सकल,
लिखूं कागज पर
या ध्वनिमय क्रीड़ागारों पर,
या हिमाच्छन्न विस्तारों पर!

इन बाल-सुलभ भोली पंक्तियों में एक विशेषता है जो कि मार्क की समस्त कृतियों में परिलक्षित होती है और वह है उनके भावों की सत्यता और अकृत्रिमता। विद्यार्थी जीवन का यह केवल समारम्भ था—अभी उनके सामने जीवन के नवीन हर्ष और नवीन शोक···गम्भीर रुग्णता और बोलिवानोव का अस्पताल···बीमारी के बिस्तरों पर दी गयीं परीक्षाएं···पुनः आरोग्य लाभ के मधुर स्वप्न—मास्को पुनरागत होने के हर्षाकुल उल्लास और प्रोफेसर गुज्दी के वे चिरन्तन प्रश्न "कितनी उमर है आपकी?", "पिताजी क्या काम करते हैं" इत्यादि थे। मार्क की माँ ने मुझे बताया कि मास्को लौटकर आना उनके लिए कितने गम्भीर और महान् आनन्द का विषय था। आमरण विमोहित करने वाले इस नगर को पुनः अच्छी तरह से देखने के लिए वे केवल पायजामा और चमड़े की जाकिट पहिने, सिर पर अपने पिता की पुरानी टोपी ओढ़े और गले में लाल शाल डाले बाहर निकल पड़े। मैं उनके उस रूप की स्पष्ट कल्पना कर पा रहा हूँ कि किस तरह वह प्रकाशमय दिनों में अपनी बैसाखी के सहारे अपने सिर को एक ओर से दूसरी ओर घुमाते हुए, सड़क पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, जो कि उनके विकलांग शरीर को करुणापूर्ण दृष्टि से देखता होगा, देखकर स्नेह से मुस्कराते हुए चले जा रहे होंगे। उनको मास्को से एक विशेष प्रकार का करुण कोमल प्रेम था। मास्को के साथ न जाने उनकी कितनी मर्म-व्यथाएँ, आशाएँ जुड़ी हुई थीं। जिनमें मातृभूमि के प्रति अखण्ड प्रेम की भावना थी जो कि इस नगर के शौर्य के कारण लोगों की स्मृति में ताजा थी, जिस नगर ने हाल ही में महानतम संकट को पार करके अपने गौरव को अक्षुण्ण रखा था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—'मास्को इस संसार का सबसे गीतिमय और साथ ही सबसे महाकाव्यात्मक उल्लास से परिपूर्ण नगर है।'"

जब मेरे हाथों में मार्क की डायरी पड़ी जो कि आजकल "एक विद्यार्थी की कापियाँ" नाम से प्रसिद्ध है तो मैं एक बार पुनः आश्वस्त हो गया कि इस व्यक्ति को कितनी समृद्ध प्रतिभा का वरदान मिला था। उनकी इस डायरी में हम इस शती के चौथे दशक के एक ओजस्वी 'कमसोमोल' युवक को देखते हैं, सामाजिक न्याय में ज्वलन्त आस्था रखने वाले एक आदर्शवादी और एक रोमाण्टिक व्यक्ति को देखते हैं, अपने देश के प्रति एक गम्भीर समर्पण भावना से अन्वित और साथ ही बीमारी की चिन्ताओं से आकुल-व्याकुल एक मानव को देखते हैं।

हो सकता है कि बीमारी के कारण उद्बुद्ध एकाकीपन की भावना ने उनकी अनुभूतियों में इतनी तीव्रता और यथार्थता ला दी हो। कभी-कभी तो वे अपनी उच्छ्वसित चरमानुभूतियों को उनकी पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। यद्यपि उनकी किशोर विचारणा एवं भावना अकलंक होती है, किन्तु उनमें एक व्यक्ति की संवेदनशीलता है जो कि आसपास के लोगों से सौगुनी प्रखर है, जिसे कि शब्द, ध्वनि, रूप और रंग द्वारा भाव-सम्प्रेषण का चमत्कारी वरदान मिला है और जो कि पीछे से गम्भीर मेधा की माँग करते हुए अपने को अभिभूत करने वाली अनुभूतियों से पाठक को अपना लेता है।

महायुद्ध के उपरान्त मार्क परिवार के लिए जीवन दूभर हो गया। माँ अक्सर बीमार रहती थी और काम पर नहीं जा सकती थी। मार्क अपने लेखन एवं अपनी कविताओं द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। कई जगह काम भी किया, किन्तु सफलता नहीं मिली और शरीर ने भी साथ नहीं दिया। अस्तु, येनकेन प्रकारेण जीवनयापन होता रहा।

जब मार्क प्रख्यात आलोचक हो गये तब समय-समय पर यह आक्षेप सुने गये कि उनका जीवन-विषयक अनुभव व्यापक नहीं है। इस प्रकार की बातें वे लोग करते थे जिन्हें कि मार्क के जीवनानुभवों का सहस्रांश भी प्राप्त नहीं हुआ था। ये लोग कृत्रिम भावना से कन्धे उचकाकर कहते—"क्या करें, बीमारी भी तो ऐसी है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या मार्क जीवन नहीं समझते थे ? वे जोकि जीवन-भर इस अस्पताल से उस अस्पताल भटकते रहे और सैकड़ों जीवनों के दुखों को सुनते-समझते रहे ? उनकी उम्र में इन अनुभवों को प्राप्त करने का अवसर कम ही लोगों को मिला होगा। उन्होंने तीव्र अभाव को सहा, शीत को सहा, रोग को सहा, एकाकीपन को सहा और मानवीय अवलम्ब और संवेदना को जीवन-भर नहीं जाना कि वह कैसी होती है ?

मार्क के जीवनानुभव कम नहीं थे—खासकर एक ऐसे व्यक्ति के, जो कि इतनी गम्भीर मेधा रखता था जिसमें इतनी गहरी संवेदनशीलता थी कि प्रत्येक देखी-सुनी बात को और व्यक्ति को पूरी तरह से आत्मसात कर लेता हो। गम्भीरता व्यापकता की क्षतिपूर्ति कर देती है।

और कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। क्या दोब्रोल्यूबोव—जिसका लालन-पालन एक पादरी के घर हुआ और शिक्षा-दीक्षा एक गिरजे की सेमिनरी में हुई और फिर जो सीधा पीटरबर्ग के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया और तत्पश्चात् आमरण 'समसामयिक' (सोव्रेमेनिक) पत्रिका के सम्पादन-कक्ष से बिना बाहर निकले लिखता रहा—के जीवन-अनुभव व्यापक थे ! क्या पिसारोव जीवन के व्यापक अनुभवों से गुज़रा था जिसका समस्त जीवन सामन्तवादी वातावरण में व्यतीत हुआ, जो कि फिर पाँच वर्ष पीटरबर्ग की जेल में रहा और अन्त में अट्ठाईस साल की उम्र में समुद्र में नहाता हुआ एक दुखद मृत्यु को प्राप्त हुआ ! ऐसे व्यक्ति के लिये जिसने कि लेखक के जीवनानुभव के विषय में एक छिछली धारणा बनी रखी है, इस प्रकार की भ्रान्ति हो जाना अनिवार्य है, किन्तु समीक्षा साहित्य के क्लासिक इस प्रकार के आक्षेपों से अपने लेखकों की रक्षा करते हैं क्योंकि वे अभी तक अमर हैं। मार्क ने अपने लघु जीवन में विराट् और गम्भीर अनुभव प्राप्त किये और कौन इस बात से अस्वीकार कर सकता है कि उनके समसामयिकता के तीव्र बोध ने उन्हें ग्रन्थिल ज्ञान की जड़ता से सर्वदा दूर रखा एवं उनको जन-जीवन की समस्याओं और हितों के प्रति चैतन्य रखा। मार्क ने अपने संक्षिप्त जीवन में बहुत-कुछ भोगा और सहा—जीवन से लालसामय प्रेम किया, उसका निरीक्षण करना सीखा, मानव के अन्तर को और उसके समाज की गतिविधि को अपनी अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि से देखा। इसीलिए उनकी समीक्षाओं में अपनी सत्यता के कारण सीधी चोट करने वाले शब्द आये। उनकी प्रखर जिजीविषा निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है—

"मेरे लिए, वास्तव में, प्रत्येक जीवन और समस्त जीव एक नित्य नवीन वस्तु है। जो कुछ भी मेरे चारों ओर और जो कुछ भी हो रहा है उसे मैं अनन्त काल तक अपल और अथक दृष्टि से देखता रह सकता हूँ। जीवन की अणो रणीयान और महतोमहीयान सभी वस्तुओं में मुझे गजब रुचि है। इतनी सारी जीवनगाथाएँ, इतनी घटनाएँ··· इत परिवर्तन, इतना रूप, इतना रंग और अन्त में इतने सा प्राणी ! मैं जीवन से इतना गहन प्रेम करता हूँ कि संसा का कोई भी दर्शन—कोई भी जटिल-सूक्ष्म उपाय मे जीवन में इस अखण्ड आस्था को नष्ट नहीं कर सकता। प्रत्येक चैतन्य कोशिका और प्रोटोप्लाज्म की तरह केवल ए ही वस्तु से डरता हूँ—वह है मृत्यु ! मेरे लिए साधारण तया जीवन में मात्र एक ही दोष है—वह यह कि जीव अपने काल में सीमित है। मैं एटम बम की रत्ती-भ परवाह नहीं करता··· उस पर थूकता हूँ··· उसमें केवल य चीज़ भयानक है कि वह मनुष्य को मार देता है। यदि किसी प्रकार से मृत्यु की लपेट में आ भी जाऊँ तब भी उ पर विश्वास नहीं करूँगा, क्योंकि मैं अपने अन्तिम क्षण त जीवन और जिजीविषा से परिप्लुत रहूँगा। यह मेरा अ चल विश्वास उस नरक के बावजूद बना हुआ है जो इस नक्षत्र पर समय-समय पर शासन करने लगता है मैं जानता हूँ कि मेरी यह भावना और मेरे यह श आदिकालीन हैं, बालिश हैं, किन्तु यह मेरी अन्तरात्मा पुकार है। मैं इनको इस खुले दरवाजे से झंझा की तरह टूट सामने से आने वाले या आड़े गुज़रने वाले प्रत्येक व्य के आगे सिद्ध कर सकता हूँ कि मेरी भवता और भवितव्य अद्वितीय और विशिष्ट है।"

जीवन से प्रेम करने के लिए और उसके प्रत्येक क्षण बहुमूल्य समझने के लिए कई बार मृत्यु के कगार पर ज जरूरी है।

जीवन के दुर्दिनों में मार्क ने 'कमसोमोल' से सहा के लिए प्रार्थना की कि कोई सवैतनिक साहित्यिक उनको दिया जाए, नहीं तो उनको अध्ययन छोड़ना पड़े कमसोमोल और विश्वविद्यालय ने उनको छात्रवृति नियमित विद्यार्थी के रूप में स्थान दिया और साथ ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमति भी दे दी कि वे घर पर लेटे-लेटे भी पढ़ सकते हैं। पोलिवान अस्पताल में प्रोफेसर लोग उनकी परीक्षा लेने के लिये आये। उनके सहपाठी मित्रगण भी प्रायः उनसे मिलने जाया करते थे। मार्क सर्वदा ही इस बात का बड़ी कृतज्ञता से स्मरण करते थे। एक बार तो वे जीवन से बिलकुल हताश हो गये, क्योंकि यूनिवर्सिटी की पढ़ाई के बीच में ही उनका पक्षाघात लगभग गर्दन तक आ गया था···"फिर भी मेरे चारों ओर वसन्त है" उन्होंने लिखा।

सन् '५३ में उनकी बीमारी कुछ हल्की पड़ी और वे पुनः विद्यार्थी जीवन की लय में लीन हो गये। उन्होंने तालसतॉय के उपन्यास 'इवाम इलिच की मृत्यु' पर शोध-प्रबन्ध लिखकर उच्चतम गौरव के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की। प्रबन्ध के लिए इस विषय को उन्होंने क्यों चुना? इसीलिए कि इसमें उनकी आशाहीन रुग्णता को चुनौती है और आश्वस्त कामना है कि वे बीमारी पर विजयी होंगे।

मार्क को मस्ती, मजाक, मौज की दावतें, मैत्रीपूर्ण वार्तालाप-गोष्ठियाँ एवं मध्य रात्रि के बाद के गीत बहुत पसन्द थे। उन अन्तिम तीन वर्षों में जबकि मैं उन्हें अत्यन्त घनिष्ठता से जानने लगा था वे कैद से उन्मुक्त विस्तार पर छूटे हुए व्यक्ति-से प्रतीत हुए जोकि जीवन के समस्त आनन्द दोनों हाथों से समेट लेना चाहता हो—एक विलास-प्रिय तुच्छ जीव के अर्थ में नहीं अपितु एक उदात्त मानवीय अर्थ में जैसे कि अपने प्रिय कर्म करने का आनन्द, मैत्री का आनन्द··· स्नेह का आनन्द, मान का आनन्द। वे एक किशोर की तरह जीवन की परिपूर्णता की ओर दौड़ रहे थे, जीवन को उसकी पूरी गहरायी से जी रहे थे। उनका बस चलता तो वे संसार का इस छोर से उस छोर तक भ्रमण कर डालते, सब-कुछ देख लेते, सबका स्वाद चख लेते, किन्तु इसके विपरीत उनके पीछे भीषण रुग्णता का भय-प्रेत दबे-पाँवों चलता रहता था। उन्होंने अपनी अदम्य जिजीविषा को कविताओं में अभिव्यक्त किया है—

मैं अब इन जीवित—
श्वासों का
प्रश्वासों का,
अभ्यस्त हुआ।
पागल-सा
लालायित मैं
इस जीवन का।
मैंने कविता से—
आकाशी तारकदल से
प्राणों के
उत्तुंग सूक्ष्म व्यापारों से
प्रणय किया।
जब पाश बँधे
मेरे इन रुग्ण दुःखों का
तब विद्वेषी मेरे जीवन हे!
देना वर,
करुणा की चितवन का।

उनकी यह जिजीविषा कृत्रिम नहीं थी—ज़बरदस्ती तपाई हुई आशावादिता नहीं थी। मार्क ने विह्वल अवसाद, हिमानी नैराश्य और करुण लालसा के क्षण भोगे थे, किन्तु कभी अपने भाग्य को नहीं कोसा। उनकी मानसिक सुकुमारता उनकी आत्मीयता एवं निश्छलता पर आश्रित थी।

बीमारी के कारण मार्क प्रकृति के प्रति अत्यन्त ही संवेदनशील थे। उन्हें वर्ष के ऋतु-परिवर्तन की प्रखर अनुभूति होती थी। शीतकालीन झंझावात, ऊजड़ हिमाच्छन्न विस्तार, वासन्ती सूर्य और ग्रीष्मकालीन मेघ—सभी उनको प्रिय थे। कभी-कभी वर्षा के दिनों में सड़क पर चलते हुए और फिसलकर गिरने के डर से नीचे देखते हुए वे रुक जाते और आकाश को देखकर पुलकित होते और फिर निम्नलिखित पंक्तियाँ मुखर हो जातीं—

पानी बरस चुका—
वह सब पड़ा सुनाई
जो था दूर रहा!
जो कि मकानों के
इन छतों के औ'
घरबारों के
पार रहा!
मैं घर से निकलकर
बाहर गया ठहर।
साँसें लेने का साहस
नहीं पाता कर—क्योंकि
आकाश और धरा के अन्तरस्वर
सुनाई पड़ते हैं मिलकर!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

न्याय के वे प्रबल पक्षधर थे। मिथ्याचार, धूर्तता और क्रूरता के प्रति तत्काल विद्रोह करते थे। व्यावहारिक बुद्धिमत्ता और वणिग्वृत्ति उनके लिए सर्वथा अज्ञात वस्तुएँ थीं।

एक बार हम रात के दो बजे एक दावत खाकर लौट रहे थे। फिरोव्स्की फाटक के पास तीन व्यक्ति खड़े थे—दो युवक और एक युवती। युवती ने उन दोनों में से एक से कुछ कहा, जिसको सुनकर उस युवक ने उसके (उस युवती के) गाल पर कसके एक थप्पड़ मारा। मार्क ने आव देखा न ताव और बैसाखी के लम्बे-चौड़े हाथ बढ़ाते उस युवक पर क्रोध से चिल्लाते हुए टूट पड़े, किन्तु छाती में धक्का लगने से धड़ाम से पटरी पर गिर पड़े। उनकी बैसाखी टूट गई। मैंने जब उस युवक पर आक्रमण किया तो उसने भाग जाने में ही कुशल समझी, क्योंकि इतने में हमारे पीछे चलने वाले अन्य साथी भी दौड़कर हमारे पास आ गए थे। मार्क को टैक्सी में डालकर हम लोग घर लाए।

दूसरे दिन मार्क घर पर उदास बैठे हुए थे। उनकी टूटी हुई बैसाखी कोने में रखी हुई थी और वे स्वयं एक एटलस के पन्ने पलट रहे थे। माँ की ओर कनखियों से देखते हुए मुझसे बोले—"अब तो बिलकुल ही हिम्मत हार गया हूँ, बिना बैसाखी के मेरा जीवन दूभर हो गया है। जाने कैसे कम्बख्त इस जंगले में फँसकर टूट गई।"

मैं दौड़कर दवाइयों की दुकान से उनके लिए नई बैसाखी ले आया। वे पुलकित हो गए और बैसाखी के सहारे एक-दो लम्बे डग भरते हुए बोले—

"कुछ भी हो, हमने उन लोगों की थोड़ी-बहुत पिटाई तो कर ही दी।"

मार्क यथार्थवाद के अविचल समर्थक थे किन्तु उनको जीवन की सपाटबयानी पसन्द नहीं थी।

गर्मी की छुट्टियों में एक बार वे मुझसे मिले और बोले—"जानते हो कि चेखव के 'चेरी की वाटिका' में क्या महत्त्वपूर्ण है? सूक्ष्म मनोविज्ञान या जीवन्त यथार्थ नहीं—"

"तो फिर क्या है?" मैंने पूछा।

"स्वयं चेरी की वाटिका", उन्होंने उत्तर दिया।

"चेखव के इस गीतिमय नाटक के पात्र उस जाते हुए—समाप्त होते हुए 'भद्रलोक के नीड़' की रमणीयता की अभिव्यंजना करते हैं। चेखव ने अपने इस करुणाकलित नाटक के प्रत्येक दृश्य की पृष्ठभूमि में रानेव्स्की भवन के वातायनों के पार यह वाटिका लगाई है जो इतनी सुन्दर है कि जिससे सुन्दर संसार की कोई भी वस्तु नहीं है। इस वाटिका के वे अरुण कम्पित किसलयदल, पक्षियों का कल कलरव और फिर कुल्हाड़ियों द्वारा कटकर गिरने का यह हृदयविदारक शब्द और सबसे अधिक इस वाटिका की प्राण 'आन्या'—हँसती, गाती, रोती वह मांसल 'आन्या', यह सब एक अनुपम करुणानुरागमयी सृष्टि है।

यह वाटिका नहीं है अपितु जीवन का समस्त हर्ष-विषाद है, प्रणय का प्रकाश एवं संगीत है, भविष्य का अरुणोदय है।" इस प्रकार चेखव ने यथार्थ जीवन से नाटक की विषयवस्तु को ग्रहण किया है।

मार्क जीवन के प्रात्यहिक यथार्थ को लेखक की कल्पना का विषय मानते थे न कि उसकी रचना का गुण। काव्यरूप की सुन्दरता, शालीनता एवं मौलिकता उनको मुग्ध कर देती थी। उन्होंने ओ' हेनरी का एक उद्धरण अपनी नोट-बुक में लिख रखा था—

"कल्पना साहित्य को सत्य बोलने के लिए दिया गया एकमात्र आधार है।"

प्रत्येक गम्भीर समीक्षक के पास, चाहे वह किसी भी विषय पर क्यों न लिखे, एक अपना स्वयं का आधारभूत दर्शन होता है जिसको वह कभी प्रकट रूप से तो कभी प्रच्छन्न रूप से किन्तु असाधारण दृढ़ता के साथ अपनी समीक्षाओं में अभिव्यक्त करता है क्योंकि यह उसके व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग होता है। इसी को बेलिन्स्की समीक्षक की सृजनशीलता की मूल प्रेरणा कहा करते थे। मार्क श्चेग्लोव की यह मूल प्रेरणा थी—

"कला मानवता की अभिव्यक्ति है।"

कला प्रवीणता के लिए संघर्ष नहीं (Struggle for mastery)—उन दिनों यह शब्द बहुत प्रचलित था—अपितु कला एक ऐसा संघर्ष है जो कि मानवोन्मुखी है। मार्क श्चेग्लोव ने समीक्षक को साहित्य से गद्गद विह्वल हो जाने की क्षमता प्रदान की।

साहित्य द्वारा मानव-जीवन—सामाजिक एवं व्यक्तिगत—का प्रतिबिम्बन एवं मानव की समस्याएँ—ये थे उनकी आलोचना के तत्त्व।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे केवल एक ही विचार को मानते थे और वह है साहित्य को जीवन से छुट्टी समझना। कहा जा सकता है कि इस प्रकार की समीक्षा में एकांगिता आ जाती है। हो सकता है—किन्तु उसमें औदात्यपूर्ण महान् गुण नहीं है क्या ?

अपनी मूल प्रणति के अनुसार मार्क श्चेग्लोव साहित्य के इतिहासकार थे। वे रूसी साहित्य की उन्नीसवीं शती के विशेषज्ञ थे और इस तथ्य का प्रभाव उनके समस्त कृतित्व पर पड़ा है। उन्होंने अपनी समीक्षाओं में आलोचना को ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की।

वे आलोचना और साहित्य के इतिहास को एक-दूसरे के समीप लाये एवं उन्होंने परम्परागत (Classical) एवं समसामयिक साहित्य के समीक्षण में व्यवधान को तोड़कर उसको एक अविच्छिन्न प्रक्रिया के रूप में देखा। समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन में उन्होंने उन्हीं मानदण्डों का प्रयोग किया जिनसे कि वास्तविक साहित्य का मूल्य आँका जाता है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में दो विभिन्न मानदण्डों का व्यामोह त्याग दिया—पहला उच्च मानदण्ड जो कि परम्परागत प्रतिष्ठित साहित्य (Classical literature) के लिए है और दूसरा कृपामय सरल मानदण्ड जो कि समसामयिक साहित्य के लिए है।

उनके गम्भीर साहित्यिक संस्कारों ने, तालसतॉय, च्यूचेव, उस्पेन्स्की और चेखव की कृतियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन ने उनकी आलोचना को व्यापकत्व एवं गुरुत्व प्रदान किया था। उनकी क्लासिकल साहित्य की समीक्षाएँ ग्रन्थ-भार-भारान्वित एवं शास्त्रीय शुष्कता से मुक्त सद्यता एवं उत्फुल्लता से अनुश्वसित हैं—'पाठकों की जनता' द्वारा ग्राह्य हैं।

मार्क श्चेग्लोव किसी भी विषय पर पूर्णाधिकार प्राप्त करने के कारण विशेषज्ञों का बड़ा आदर करते थे, किन्तु साहित्य में संकीर्ण विशेषज्ञों को वह व्यंग्यपूर्ण उपहास की दृष्टि से देखते थे। वह कहते थे कि ऐसे लोग अपनी असामर्थ्य को अपनी विशेषज्ञता के पाखण्ड से छिपाना चाहते हैं।

अपने भावोच्छ्वासों को पूर्ण स्वतंत्रता देकर एवं पाठकों को अपनी गम्भीर भावप्रवणता एवं मौलिक चिन्तना द्वारा संक्रमित करते हुए मार्क बड़ी ही तल्लीनता से लिखते थे। यदि कोई किताब उनको वास्तव में अच्छी लगती तो वे कृतिकार के संसार में अपने आपको भूलकर खो जाते और उनके अपने शब्दों में लेखक का स्वर गूंजने लगता—चाहे वह तालसतॉय हों, इसेनिन हों या लियोनोव। वे अपने शारीरिक संवेदन द्वारा ही लेखक के भाषा-वैशिष्ट्य एवं जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त कर देते थे (उनकी भावयित्री प्रतिभा असाधारण थी)। फिर भी यह कहना सत्य नहीं होगा कि उनकी आलोचना अन्ततः केवल सौन्दर्यमूलक ही रह जाती थी। उनकी आलोचनाओं के माध्यम से नयी पुस्तकों द्वारा जनमानस में नवीन प्रेरणा का संचार होता था। उनके बहुत-से विवेचन प्रचार-मीमांसा (Publicist tritings) के आदर्श बन गये हैं।

लियोनिड लियोनोव के 'रूसी वन' के ऊपर लिखे गये लेख में ग्रात्सिआन्स्की के चरित्र का विश्लेषण स्मरणीय है जो कि किसी भी प्रकार के सामाजिक नादानुकरण (Social mimicry) के प्रति विस्फोटक घृणा अभिव्यक्त करता है।

विश्वविद्यालय से सीधे समीक्षक बनने के कारण मार्क में एक छात्रावासी विद्यार्थी की ऊष्म उत्कटता एवं स्पष्टता थी। वह साहित्य में बड़े-छोटे का विचार नहीं रखते थे। पूर्वाग्रहों और पक्षधरता से मुक्त होने के कारण उनके शब्दों को स्वाधीनता की शक्ति मिल गयी थी।

"साहित्य के बड़े-से-बड़े नाम भी अपनी पूर्वकृत साहित्य-सेवाओं के बल पर अपनी दीन विषयवस्तु वाली नयी पुस्तक की आलोचनात्मक न्याय से रक्षा नहीं कर सकते।" ये शब्द चेर्निशेव ने अपने 'साहित्य में सत्यवादिता' नामक लेख में कहे थे। उनकी इस कामना के प्रति मार्क सर्वदा निष्ठावान रहे और न्यायसंगत कठोर-से-कठोर शब्द कहने में भी नहीं चूके। पता नहीं यह लेखकों को प्रिय लगता था अथवा नहीं किन्तु समीक्षक की प्रतिष्ठा एवं उसके ईमानदार होने का गौरव जनता की दृष्टि में अवश्य ही बढ़ जाता था। मार्क का कभी-कभी साधारण पुस्तकों की समीक्षा से पाला पड़ता—ऐसी पुस्तकों से जो कि उनके विवेचन के लिए सर्वथा अयोग्य थीं किन्तु वे बड़े धैर्य से उन पर लिखते। वे इसको अपनी 'साहित्यिक मजदूरी' कहते थे। पर जब उनके समक्ष कोई ऐसी रचना आती जो कि वास्तव में गम्भीर साहित्य विवेचन की आवश्यकता रखती है, तब उनकी लेखनी में एक नवीन ऊर्जा का संचार हो जाता। मार्क को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना के लिए कोई समसामयिक पुस्तक नहीं मिल पाती तो वे थोड़ा पीछे मुड़कर ऐसी पुस्तक छाँट लेते जिसका मूल्यांकन ठीक प्रकार नहीं हो पाया हो अथवा जो विस्मृत हो गयी हो। मार्क के 'हमारे समय में इसेनिन', 'अलेक्सान्द्र ग्रिन के जहाज' और 'ब्लॉक विषयक विवाद' इसी प्रकार के लेख हैं। इन लेखों ने पाठकों की चेतना में उपर्युक्त लेखकों की पुनःप्रतिष्ठा कर दी।

"हमारी समाजवादी संस्कृति अपने पैरों पर दृढ़ता से खड़ी है और वह इस महान् क्रान्ति के एक भी मानवीय साक्षी की उपेक्षा नहीं कर सकती—विशेषकर ऐसे चैतन्य और निस्पृह लेखक की कविताओं की जैसे कि इसेनिन।"

मार्क श्चेग्लोव ने बहुत थोड़ी उम्र पायी और यह कहना कठिन है कि उनकी प्रतिभा का विकास आगे किस दिशा में होता, किन्तु मैं सोचता हूँ कि वे सर्वदा ही अपनी उस गम्भीर साहित्यिक संवेदना एवं समर्थ सम्प्रेषणा, ईमानदारी एवं निस्पृहता को सुरक्षित रखते जो कि उनकी सभी महत्त्वपूर्णता कृतियों के लक्षण हैं।

उनकी अन्तिम पुस्तक जो कि उन्होंने ने रेल में पढ़ी थी, एक उपन्यास था—'केवल रोटी से ही नहीं जो कि उसी समय एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था; किन्तु वे पुस्तक को समाप्त करके उस पर कुछ लिख नहीं पाये।

मार्क के बिना ही इस संसार में—काव्य और कथा के क्षेत्र में—नूतन प्रतिभाओं ने पदार्पण किया और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनके बिना ही पाठकों ने एतमातोव और बुइकोव को जाना,—जालुइगिन और बेलोव, सेमिन और दोम्ब्रोव्स्की, अस्ताफ़ेव और बाक्लानोव को पढ़ा। और बड़े लेखकों की बात ही दूसरी है। यदि वे जीवित होते तो इन सब लेखकों पर लिखते और हम सबसे अच्छा लिखते।

मार्क की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक उनके लेख प्रकाश में आये। उनमें समीक्षाएँ, निबन्ध, शोध-प्रबन्ध, रेखाचित्र सभी कुछ थे और देर तक उनके मरणोपरान्त प्रकाशनों का प्रवाह चलता रहा। उनमें ग्रिन और इवानोव पर लेख, क्रोसेव्स्की के पोलिश क्लासिक की भूमिका, तालस्ताय और चेर्तकोवी के पत्रव्यवहार की भूमिका 'नयी दुनिया (नोवो मीर), 'जन मैत्री' (द्रुझबा नारोदोव), 'युवक प्रहरी' (मलादाया ग्वार्दिया) के लिए लिखे गये लेख, उनके अन्य शोध-निबन्ध—'साधारण काव्य', 'विवरण की विश्वसनीयता' (Authenticity of the details), 'आधुनिक नाटकों में यथार्थ' थे। इन सबको मार्क अपनी आँखों से मुद्रित रूप में नहीं देख पाये। वे जीवित नहीं थे किन्तु प्रतीत होता था कि वे साहित्यिक गतिविधियों के प्रति चैतन्य हैं, जागरूक हैं एवं साहित्यिक घटनाओं पर प्रतिक्रिया करते जा रहे हैं।

मार्क के दिवंगत होने पर उनकी माँ ने उनके अन्तिम क्षणों की व्यथा-गाथा सुनाई। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनके अन्तिम दिनों में मैं उनके पास नहीं था। वे उस समय 'अनापा' नगर में थे। आरम्भ में उनको यह स्थान अच्छा नहीं लगा—उदास, धूलभरा, ऊबभरा और गर्म···। किन्तु ऊँचे चट्टानी किनारों पर चढ़कर समुद्र के विराट् परिदृश्य, एवं उसके अनावृत रूप को देखकर वह प्रसन्न हो गये। समुद्र की अनन्त नीलिमा एवं उसके तट पर हलके पीले और गुलाबी रंगों की क्रीड़ा ने उनको अपनी किसी प्रिय वस्तु का स्मरण करा दिया।

एक बार वह मोटरबोट पर समुद्र में सैर कर रहे थे। वे नौका के नासिका भाग पर खड़े समुद्र के फेनिल जल का उसके द्वारा विदीर्ण होना देख रहे थे। नमकीन पानी के छपाके और फुहारें उन पर पड़ रही थीं। घर पर वह प्रसन्न मनःस्थिति में लौटे, किन्तु रात्रि को किसी भी प्रकार सो नहीं सके। सिर में थोड़ा दर्द था। रात-भर नगर से गाने की आवाज़ आती रही—"Oh Johnny, it is a boy for me."

दूसरे दिन वह सवेरे ही नहाकर लावरोव की कहानियों पर समीक्षा लिखने बैठे—समुद्र-तट की सिकता पर···सूर्य के प्रकाश में···। वे लिखे हुए शब्दों को ठीक तरह से देख नहीं पा रहे थे—समझे कि कदाचित ऐसा सूर्य के प्रकाश के कारण हो। जिस समय माँ लौटकर आई तो मार्क के आस-पास पड़ौसी घिरे हुए थे। उनकी तबीयत अचानक खराब हो गयी और वह सोफ़े पर लेटे पानी-पानी चिल्ला रहे थे। सन्ध्या तक उनको तीव्र ज्वर हो आया और फिर उनके अन्तिम तीन दिनों की निदारुण यन्त्रणा आरम्भ हो गयी।

अस्पताल में रोग का निदान तत्काल नहीं हो सका। पहले समझ गया कि उनके उदर में विषाक्त तत्त्व उत्पन्न (Food poisoning) हो गये हैं और उनको पेट की औषधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी जाने लगी। माँ बेचारी जलती धूप में खनिज जल (Mineral water) की खोज में इधर-उधर दौड़ती रही। डॉक्टर ने उसकी माँग की थी। बाद में पता चला कि उनको 'मेनिंजाइटिस' है। स्ट्रेप्टोमाइसिन का इन्जेक्शन दिया गया। दूसरे दिन शाम तक तबीयत कुछ ठीक हुई और वे यहाँ तक सोचने लगे कि शीघ्र ही उनको अस्पताल से छुट्टी मिल जायेगी। उन्होंने माँ से घर के कपड़े लाने के लिए कहा। दूसरे दिन सवेरे जब माँ अस्पताल आईं तो उनको बरामदे में एक भीषण रूप से घबराई हुई चीख सुनाई दी—'स्यान्या' (sister)! यह मार्क की आवाज़ थी—हृदयविदारक आवाज़ और उनके लिए असाधारण रूप से ऊँची। उनकी हालत एकदम गिर गयी। दर्द से खोपड़ी फटी जा रही थी। पता नहीं उस समय अनापा शहर में स्ट्रेप्टोमाइसिन नहीं थी कि डॉक्टर लोग रीढ़ की हड्डी में उसका इन्जेक्शन देने का निर्णय नहीं कर सके, जैसा करने की उस समय तत्काल आवश्यकता थी। केवल एकमात्र उपाय था—नोवोरसोइस्क के अस्पताल में तत्काल ले जाया जाय।

बड़ी ही कठिनाई से ड्राइवर को वहाँ मोटर ले जाने के लिये प्रस्तुत किया गया। नर्स ने सरकारी कम्बल—जिसमें उसको [illegible]या—देने से इन्कार कर दिया। बड़ी मुश्किल से उसको मनाया गया। अब डॉक्टर महोदय किसी मीटिंग में थे। छुट्टी कौन दे? साढ़े नौ बज गये···रात घिर आयी···किन्तु डॉक्टर साहब का पता नहीं था। अन्ततः जब डॉक्टर साहब आये और माँ ने उनकी इस बात की निन्दा की तो डॉक्टर महोदय बोले—"क्या आप समझती हैं कि हम लोग फालतू समय व्यतीत करते हैं?"

"आप तेन्द्रयाकोव की पुस्तक 'दचके' पढ़िये"—माँ ने उनसे डाँटते हुए कहा। आखिर वह मार्क जैसे साहित्यकार की माँ थी।

और जब रास्ते में दचके खाती मोटर में अपने एकमात्र प्रिय पुत्र का सिर दोनों हाथ से गोद में रखे हुए माँ ने यह घटना मार्क को सुनाई तो मरणासन्न पुत्र के मुख से जैसे-तैसे ये शब्द निकल पाये—"हाँ, अम्माँ, तू इन लोगों को साहित्य से पीट!"

वास्तव में मेरे लिए उनके ये शब्द समस्त मार्क थे। ०

मूल रूसी से अनुवाद
सुरेन्द्र शर्मा

['नोवो मीर' अंक ५, १९६९ से साभार]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार विमल की चार कविताएँ

: १ :

जन्म-शताब्दियों वाला वर्ष

आज जब मेरे देश के सम्भ्रांत लोग—
गुरुओं महात्माओं की जन्मशताब्दियाँ मनाने के
धंधे में लग रहे हैं
मैं एक अदना आदमी की भूख का पर्व मनाने के लिए
अपने वक्त की सबसे भद्दी गाली ईजाद करने में
व्यस्त हूं।

वे लोग कितने खुश हैं
जो अब भी
खूबसूरत लिपियों में
अपनी प्रेमिकाओं को पत्र लिखते हैं
या प्रिय-जनों को
नए वर्ष की शुभकामनाएँ भेजते हैं।

मेरे लिए भाषा का इस्तेमाल केवल
गालियाँ ईजाद करने के लिए रह गया है।

गालियाँ—
उन सम्भ्रान्त लोगों के लिए
जो ठीक दिशा में दौड़ते हुए
अदना आदमी का रास्ता रोकने के लिए
गुरुओं-महात्माओं की अश्लील मूर्तियाँ गढ़ रहे हैं
किन्तु भूख के पाँव इतने सशक्त होते हैं
मूर्तियाँ तोड़कर निकल जाते हैं
सम्भ्रान्त लोगों के लिए गालियाँ छोड़ जाते हैं।

ज़ाहिर है गालियाँ गोलियाँ नहीं होतीं
फिर भी सम्भ्रान्त लोग—
इन गालियों से इतने पीड़ित हैं
कि अपनी सुरक्षा के लिए गोलियाँ जुटा रहे हैं।

: २ :

एक छोटी-सी लड़ाई

मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
एक झूठी लड़ाई में मैं इतना थक गया हूँ
कि किसी बड़ी लड़ाई के काबिल नहीं रहा।

मुझे लड़ना नहीं अब—
किसी छोटे कद वाले आदमी के इशारे पर—
जो अपना क़द लम्बा करने के लिए
पूरे देश को युद्ध में झोंक देता है।

मुझे लड़ना नहीं—
किसी प्रतीक के लिए
किसी नाम के लिए
किसी बड़े प्रोग्राम के लिए
मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
छोटे लोगों के लिए
छोटी बातों के लिए।

मुझे लड़ना है एक मामूली क्लर्क के लिए
जो बिना 'चार्ज शीट' के मुअत्तिल हो जाता है
जो पेट में 'अल्सर' का दर्द लिए
जेबों में न्याय की अर्जी की प्रतिलिपियाँ भरकर
नौकरशाही के फौलादी दरवाज़े
अपनी कमज़ोर मुट्ठियों से खटखटाता है।

मुझे लड़ना है—
जनतन्त्र में उग रहे बनतन्त्र के ख़िलाफ़
जिसमें एक गेंडानुमा आदमी दनदनाता है।

मुझे लड़ना है—
अपनी ही कविताओं के बिम्बों के ख़िलाफ़
जिनके अंधेरे में मुझसे—
ज़िन्दगी का उजाला छूट जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

मुक्ति के दस्तावेज़

मैं एक ऐसी व्यवस्था में जीता हूँ
जहाँ मुक्त ज़िन्दगी की तमाम संभावनाएँ
सफेद आतंक से भरी इमारतों के कोनों में
नन्हें खरगोशों की तरह दुबकी पड़ी हैं।
और मुक्ति के लिए छटपटाता मेरा मन—
वामपंथी राजनीति के तीन शिविरों में भटकता है
और हर शिविर से—
मुक्ति का एक दस्तावेज़ लेकर लौटता है।

और अब—
शिविर-दर-शिविर भटकने के बाद
कुछ ऐसा हो गया है
कि मुझसे मेरा बहुत-कुछ खो गया है
मसलन कई प्रिय शब्दों के अर्थ
चीज़ों के नाम
सम्बन्धों का बोध
और कुछ-कुछ अपनी पहचान।

अब तो हर आस्था गहरे संशय को जन्म देती है
और नया विश्वास अनेकों डर जगाता है

संशय और छोटे-छोटे डरों के बीच जूझता मैं—
जब कभी हताश हो जाता हूँ
तो न किसी शिविर की ओर दौड़ सकता हूँ
न ही किसी दस्तावेज़ में अर्थ भर पाता हूँ।

अब तो अपने स्नायुतंत्र में छटपटाहट ले
इस व्यवस्था पर—
केवल एक क्रूर अट्टहास कर सकता हूँ।

: ४ :

दीवार के इस पार, उस पार

सुरक्षा की एक छोटी-सी चाहत में
नींद और जागरण के बीच भटकते हुए
हर रात मन की है अनेक यात्राएँ
हर यात्रा के अंत पर मिलती है मुझे
धरती से आसमान तक उठी हुई
एक अभेद्य काली दीवार,
जिससे टकराकर हताश
मैं लौटा हूँ बार-बार।
किन्तु अचानक मिल गया है मुझे एक जादूई मंत्र
जिससे खुल गया है मेरे लिए
दीवार के उस पार का तंत्र।
जब से पहुँचा हूँ दीवार के इस पार
मेरे शरीर में रच गया है समझौतों का ज़हर
मेरी शिराओं में बहने लगा है चापलूसी का रक्त
मैं महसूस करता हूँ—
निकट आ गया है मेरी कुत्ताफ़जीहत का वक्त
मुझे अच्छी लगने लगी हैं
देश-भक्त कवियों की कविताएँ
गुदाज़-जिस्म सम्भ्रांत महिलाएँ
अफ़सरनुमा लोगों के फूहड़ लतीफे
और ज़िन्दगी में तरक्की करने के तरीके।
मेरे परिचितों की सूची में हो रही है
तरक्कीपसंद लोगों की भरमार,
जिनकी एक जेब में अमरीका का वीज़ा
दूसरी में माओ की लाल किताब।
इस रहस्यमय तंत्र में
जब मैं मरूँगा एक कुत्ते की मौत
तो दीवार के इस पार
कोई नहीं करेगा मेरी लाश को स्वीकार।
हाँ, दीवार के उस पार
तराई के जंगलों में
ठिठुरती रातों में भटकते हुए
गुरिल्ला नौजवानों का एक दस्ता
मेरी मौत पर रखेगा एक छोटा-सा प्रस्ताव—
कि आदमी ने जाने हैं अब तक जितने ज़हर
उनमें सबसे अधिक घातक है
सुरक्षा की एक छोटी-सी चाहत का ज़हर। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों (१९१९-३९) के बीच

शिवदानसिंह चौहान

मुझे जब १९१९ से लेकर १९३९ तक २० वर्ष के हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का आकलन करते हुए एक लेख लिखने को कहा गया तो मेरे सम्मुख एक सच्ची समस्या उठ खड़ी हुई।

मैं अभी तक नहीं समझ सका हूँ कि इस अन्वेषण का प्रारम्भ बिन्दु १९१९ का वर्ष ही क्यों चुना गया। इसका १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के रूप में घटित उस विश्वव्यापी महत्त्व की घटना से भी कोई सम-क्रमिक सम्बन्ध नहीं बैठता, जिसने अपने क्रान्तिकारी प्रभाव द्वारा मानव-इतिहास के संपूर्ण दिशाकोण को ही बदल दिया। न ही इसका सम्बन्ध किसी ऐसी देशीय घटना से है जिसने भारत के शहरी बुद्धिजीवियों या विशाल भारतीय जनसमूह को अपनी सामाजिक-राजनीतिक माँगों या आर्थिक उद्देश्यों के हेतु समाजवाद की ओर प्रेरित किया हो।

हम जानते हैं कि उस समय तक ये अभिलाषाएँ और उद्देश्य अत्यन्त अपरिभाषित, अनिश्चित और कुहरिल थे। यहाँ तक कि रौलट ऐक्ट का प्रकाशन और जन असन्तोष को भड़काने वाला १९१९ में जलियाँवाला बाग का भयंकर कत्लेआम भी इतना दंश पैदा नहीं कर पाए कि राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में 'पूर्ण स्वाधीनता' को अंगीकार किया जाता। इसके स्थान पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने असहयोग के उस प्रसिद्ध प्रस्ताव को ही पारित किया, जो गांधीजी के अनुसार 'शुद्धिकरण का आन्दोलन' था। गांधीजी के अनुसार असहयोग आन्दोलन वस्तुतः सामाजिक बहिष्कार की एक अत्यन्त प्राचीन विधि थी, जिसे जाति-नियमों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध प्रयोग में लाया जाता था। उन्हीं के शब्दों में—

"यह (असहयोग) जाति से ही सम्बद्ध था। यह एक ऐसा भयंकर दण्ड विधान है जिसे अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त किया जाता था। यह इस विचार पर आधारित है कि समूह बहिष्कृत व्यक्ति की कोई सहायता या सेवा नहीं करेगा।"

इस सन्दर्भ में 'बहिष्कृत' अंग्रेज थे, जिन्होंने स्वयं को उपरिजातीय बना लिया था और भारतीय जाति-तंत्र के सूचीस्तम्भ के शिखर पर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया था।

मैं इस बात को रेखांकित करना चाहता हूँ कि १९१९ के बौद्धिक वातावरण में, जबकि 'साध्य' पूर्णतया अपरिभाषित था और 'साधन' जाति-व्यवस्था के भयंकर परिगठन की चालू विधियों से ग्रहण किये जा रहे थे, हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव की खोज बेतुका प्रयास होगा। तत्कालीन हिन्दी साहित्य अपनी विशिष्ट स्थिति और विकास-गति के कारण समय की सामाजिक जागरूकता और राजनीतिक अभिलाषाओं के विकास-स्तरों को प्रतिबिम्बित न करके ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद की अधोगामी प्रवृत्तियों को प्रतिफलित कर रहा था, जिसे मंगलभाषित शब्दों में हिन्दू राष्ट्रवाद की संज्ञा दी जाती है।

आत्मौचित्यवादी दृष्टि से अनुकूलित हमारे मस्तिष्क को यह तथ्यात्मक कथन सहज स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः इसे और अधिक समीप से देखना होगा। भारत और विश्व के साहित्य-सन्दर्भ में रखकर यदि हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-लेखकों के विश्व-दृष्टिकोण का वस्तुगत अध्ययन किया जाय तो यह तथ्योद्घाटन होगा कि विश्व के अन्य भागों में उदित उन नये विचारों और साहित्यिक आन्दोलनों के प्रति अभिमुखता में हिन्दी लेखक हमेशा पिछड़ा रहा है जो, या तो आत्म-सजगता के कारण उत्पन्न आध्यात्मिक संकट से या मानव-स्थिति की वास्तविकता की गहरी सम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, उदित होती शक्तियों और [illegible] के प्रभाव स्वरूप समाज में मानव-सम्बन्धों, विचारों और सोच के तरीकों में हुए नये परिवर्तनों से, उत्पन्न होते हैं। इसीलिए अफलातूनी अर्थ में न सही, हिन्दी लेखक सत्य से दुगुना दूर है क्योंकि समसामयिक ब्राह्मण पुनरुत्थान का अनजाने ही प्रवक्ता होने के कारण उसने पूर्वजानुरूप मनोवेगों तथा अपवित्रीकरण-ग्रन्थि पर आधारित परम्परागत सामाजिक-धार्मिक मूल्य-व्यवस्था की लक्षण-समष्टि को आत्मसात कर लिया जिसके कारण अपनी सहजवृत्ति से वह उन सभी नवीन विचारों, जीवन-प्रणालियों और व्यवहार के तरीकों से नाक-भौं सिकोड़ता है जो उसकी परंपरागत धारणाओं से मेल नहीं खाते। भ्रम की इस मानसिक अवस्था में ये सब उसे परकीय, विरोधात्मक और उस 'महान् भारतीय समाज और उसकी प्राचीन संस्कृति' के लिए गम्भीर खतरा प्रतीत होते हैं, जिसे अन्य पुनरुत्थानवादियों की भाँति वह भी 'जाति-व्यवस्था वाला हिन्दू समाज' समझता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति या समाज स्वयं को बाह्य प्रभावों से अलग नहीं रख सकता। अतएव बदलती सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के दबाव में जब उसे उन बाहरी नवीन विचारों या मानव-व्यवहार और नैतिकता की नवीन धारणाओं को स्वीकार करना पड़ता है तो वह भी अन्य पुनरुत्थानवादियों की तरह या शहरी बुद्धिजीवियों की तरह उनका इस हद तक समंजन करता है कि समस्त सत्व व्यावहारिक रूप से समाप्त हो जाता है, केवल बाहरी रूप-रंग ही बच रहता है। अतः हिन्दी लेखक स्वभावतः सत्य से दूर जा पड़ता है।

मुझे आश्चर्य होता है कि मुझ समेत सभी हिन्दी लेखक अचेतनतः एक अपराध-ग्रन्थि से ग्रसित हैं क्योंकि उन्होंने सामूहिक रूप से स्वयं अपने जीवन, अपने लोगों को परित्यक्त करने जैसा अपराध किया है; अपनी मातृभाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी, बघेली, अवधी, बुन्देलखण्डी, ब्रज, हरियाणी, राजस्थानी, पहाड़ी, पंजाबी और अनेकों को हिंदी के उस समसामयिक रूप के लिए त्याग दिया है जिसे अंग्रेजों के संरक्षण में उनकी 'बाँटो और शासन करो' की नीति में सहयोग देने के लिए विकसित किया गया था और जिसके निर्माण में जहाँ तक सम्भव हुआ, सचेत रूप से उन सभी फारसी, अरबी और उर्दू व्युत्पत्ति के शब्दों को, जोकि उस समय तक उत्तरी भारत के शिक्षित हिन्दू और मुसलमान लोगों की परिनिष्ठित और नगरीय बोलचाल एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम बन चुके थे, बाहर निकालकर उनके स्थान पर संस्कृत जैसी मृत भाषा के अप्रचलित पुरातन शब्दों को रखा गया। यह ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के अग्रणी नेताओं के अनुकूल था क्योंकि वे समझ गये थे कि अब गुप्त काल या शंकराचार्य के उत्थान-काल की तरह संस्कृत भाषा को पुनरुत्थानवाद का अस्त्र नहीं बनाया जा सकता। अब ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के लिए वे क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग नहीं कर सकते थे (जैसा कि १६वीं और १७वीं शताब्दी में जबरदस्ती किया गया था), क्योंकि समतावादी मुगल शासन के दौरान निम्न जातियाँ जाति-व्यवस्था की अमानवीयता के प्रति जागरूक हो चुकी थीं और कबीर, रैदास, दादू, नानक जैसे अपने कवि-सन्तों द्वारा सिखाई 'ईश्वर के सम्मुख मानव की समानता' की अवधारणा को लेकर फिर उठने वाली उच्च जाति के विरोध में उठ खड़ी हुई थीं। लेकिन १९वीं शताब्दी की बदली हुई परिस्थितियों में, जबकि एक अंग्रेजी शिक्षित वर्ग उभरकर सामने आ गया था और उर्दू कम-से-कम उत्तरी भारत की सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित हो गई थी, ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद उत्तरी भारत की किसी भी क्षेत्रीय भाषा को अपना हथियार नहीं बना सकता था। उसे एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी (भले ही कृत्रिम रूप से बनाई जाय) जिसमें राष्ट्रीय स्तर पर कम-से-कम उच्च शहरी जातियों व उत्तर भारत के हिन्दुओं की भाषा बनने की सामर्थ्य हो, जिससे कि उन्हें उर्दू का विरोध करने के लिए फुसलाया जा सके तथा साथ ही इस नई भाषा के द्वारा उन्हें उस पौराणिक और रमणीय अतीत की अनोखी दुनिया में ले जाया जा सके जहाँ काल और इतिहास का कोई अस्तित्व नहीं है। भारतीय पुनरुत्थानवादियों की कामना थी कि आंतरिक सुख की इस निर्जीव जड़ मनःस्थिति में जाति-व्यवस्था फिर से अबाध शासन कर सकेगी जिसमें सह-मानवों से एकदम असम्पृक्त होकर आत्म-महानता और मोक्ष-प्राप्ति ही परम मूल्यवान होंगे, साथ ही हिन्दू समाज अंग्रेजी शिक्षा या मुस्लिम समतावाद के उदारवादी प्रभाव द्वारा अपवित्र होने से बच जायगा। प्रत्यक्षतः यह ब्राह्मण पुनरुत्थान तथाकथित 'सुधारवादी आंदोलन' के अतिरिक्त अन्य रूप धारण इसलिए नहीं कर सकता था क्योंकि हिन्दू समाज के पतनशील ढाँचे की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य उपज सैकड़ों ऐसी अमानवीय विसंगतियाँ थीं जिन्हें किसी दकियानूसी कुतर्क या प्राचीन धर्मग्रन्थों के आधार पर भी संगत नहीं ठहराया जा सकता था; अत: उनका विरोध करना या कम-से-कम उन्हें औपचारिक रूप से परित्यक्त करना इसलिए भी आवश्यक हो गया था जिससे कि इस सुधार से हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज कम पुराणपंथी, कम बर्बर दिखाई पड़े। अंग्रेजी और उर्दू बौद्धिक प्रत्यावर्तन की इस प्रक्रिया के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थीं क्योंकि दोनों ही भाषाएँ समान रूप से ईसाइयों, मुसलमानों व अन्य म्लेच्छों द्वारा प्रयुक्त की जाती थीं, जो इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी कदम को समर्थन देने के लिए वैचारिक स्तर पर तैयार नहीं हो सकते थे। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी और हिन्दी आंदोलन ने अपने प्रारम्भ काल से ही एक 'पवित्रतावादी', मुस्लिम-विरोधी, उर्दू-विरोधी, अंग्रेज़ी-विरोधी रुख अपनाया।

निश्चय ही, प्रारम्भ में हिन्दी लेखक उत्तर भारत के जनसामान्य की विभिन्न मातृभाषाओं को साहित्यिक विकास के मौलिक अधिकार से वंचित कर देने के अपराध में शरीक नहीं था, क्योंकि अभी तक हिन्दी में कोई साहित्य नहीं था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी माध्यम से साहित्य-रचना करने वाले तथाकथित हिन्दी क्षेत्र के प्रतिभाशाली युवा हिंदू लेखकों के उदय से पूर्व ही पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ इन भाषाओं को बहिष्कृत कर चुकी थीं। लेकिन अपने अभिभावकों के चुनाव को मौन स्वीकृति देकर व उसे ही स्वयं अपनाकर वे भी उस अपराध में सम्मिलित हो गये। हुआ यह कि घरों में विभिन्न मातृभाषाओं का प्रयोग करने पर भी उन्होंने हिन्दी को ही लेखन का माध्यम बनाया। व्यवहार के इस द्विभाजन ने उनमें 'खण्डित व्यक्तित्व' को पनपाया जो आज तक निरन्तर उनकी चेतना के विभिन्न स्तरों में अपने को प्रस्फुटित करता रहा है। प्रारम्भिक काल में तो हिन्दी लेखक गद्य और पद्य लेखन के माध्यम स्वरूप हिंदी और ब्रजभाषा के गुण-दोषों के अपरिणामी विवाद में उलझे रहे, लेकिन सरकारी संरक्षण, मुद्रण और प्रकाशन की सुविधाएँ तथा रोज़गार के अवसर उसी में उपलब्ध होने के कारण अंतत: हिंदी को ही चुना गया। लेकिन इस चुनाव ने प्रारम्भ के उनके सृजनात्मक प्रयासों को असफल बना दिया क्योंकि लगभग ४० वर्ष तक हिंदी लेखकों की कम-से-कम दो पीढ़ियों को वाक्य-विन्यास, शब्दों और मुहावरों के व्याकरण-सम्मत प्रयोग की समस्या से संघर्ष करना पड़ा—ऐसी समस्याएँ जिनका सामना अपढ़ बच्चों तक को जटिल विचारों को अभिव्यक्त करने में नहीं करना पड़ता, यदि वे अपनी मातृभाषा में करें तो।

अत: एक ओर आधुनिक विचारों और वैज्ञानिक चिंतन की दुनिया के सत्य से दुगुनी दूर; दूसरी ओर अपने लोगों की जीवंत और स्पंदित भाषाओं के विश्व से कटे, तथा साथ ही निर्माण की अल्पायु में ही ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के भँवर में फँस जाने से, हिंदी लेखकों की विश्वदृष्टि बाधित, विकृत, अंतर्विरोधों से ग्रसित और पूर्णतया पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति से प्रतिबंधित हो गई। इसका प्रभाव माध्यम पर भी पड़ा—उसका शब्द-ज्ञान, उसकी संरचना, उसका बिम्बविधान, अलंकार और स्वप्न-चित्र पुनरुत्थानवाद की भावना व रूढ़िवादी भाव-पद्धतियों से आच्छादित हो गये।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि का यह विस्तृत परीक्षण यह समझने के लिए आवश्यक था कि क्यों नवीन विचारों और घटनाओं के प्रति हिंदी लेखकों की प्रतिक्रिया इतनी विलंबित और परिधीय है।

इस समझ के बिना, मुझे संदेह है कि कोई इस बात की व्याख्या कर सकता है कि क्यों सर टॉमस मूर, विलियम मॉरिस व अन्य अनेकों के 'काल्पनिक समाजवाद' के दर्शन के विरुद्ध 'वैज्ञानिक समाजवाद' के व्यापक प्रतिपादक कार्ल मार्क्स और फ्रैडरिक एंगेल्स के विचारों ने १९वीं शताब्दी के भारतीय बुद्धिजीवियों की कल्पना को नहीं झकझोरा। इन विचारों ने यूरोप के सभी देशों के श्रमिक-वर्गों को आलोड़ित किया; ऐसे नये साहित्यिक रुझानों और आंदोलनों को जन्म दिया जिन्होंने यथार्थ के कलात्मक प्रतिफलन की यथार्थवादी प्रणाली पर अत्यधिक बल दिया तथा मानव-शोषण पर आधारित संग्रहणशील पूंजीवादी व्यवस्था की असमानताओं व अत्याचारों को उजागर करते हुए मानवतावाद की नवीन अवधारणा को सामने रखा और श्रमजीवियों को उनकी वास्तविक परिस्थितियों एवं भवितव्य का बोध कराया। यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि उस समय भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग संख्या में अत्यल्प था और समाजवाद के दर्शन तक उसकी स्वतंत्र पहुँच नहीं थी।

लेकिन इस पृष्ठभूमि और हिन्दी लेखक के इस सामान्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविज्ञान और बौद्धिक लक्षण-समष्टि की इस समझ के बिना न तो यह बात समझी जा सकती है न व्याख्यायित की जा सकती है कि क्यों संपूर्ण विश्व के मानव-मस्तिष्क को झकझोर देने वाली १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति की महान् घटना ने प्रेमचंद और शायद निराला को छोड़ शेष हिंदी लेखकों को प्रभावित नहीं किया और क्यों हिंदी का लेखक इस घटना के क्रांतिकारी संदेश के प्रति अगले डेढ़ दशक तक उदासीन और प्रतिक्रियारहित बना रहा। डेढ़ दशक पश्चात् जब स्वाधीनता का क्रांतिकारी आंदोलन, सिविल नाफरमानी आंदोलन, किसान और मज़दूर संघर्ष, मेरठ षड्यंत्र और जवाहरलाल नेहरू द्वारा समाजवाद की वकालत ने जन-सामान्य की मन:स्थिति को पूर्णतया बदल दिया व पुनरुत्थानवाद के प्रसार को कम-से-कम कुछ काल तक के लिए रोक दिया; जब छायावादी कविता अरण्य-रोदन के समान लगने लगी, समाजवादी विचारधारा पर आधारित प्रगतिशील लेखक आंदोलन का उदय हुआ। छायावादी कविता ने व्यक्ति पर बल देने वाले १९वीं शताब्दी के पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद और व्यक्ति की भूमिका का विरोध करने वाले ब्राह्मण पुराणवाद-पुनरुत्थानवाद (जिसे रहस्यवाद भी कहा जा सकता है) के तत्त्वों का व्यर्थ सामंजस्य करने का प्रयास किया। जैसा कि स्वाभाविक भी था, इन विरोधों के समंजन में वह असफल रहा और फलत: असंगत हो गया। साधारण शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी जैसी प्रथम श्रेणी की प्रतिभाओं के होते हुए भी छायावादी धारा सार्वभौमिक महत्त्व की महान् कविता उत्पन्न करने में असफल रही। उनकी इस असफलता ने भी किसी हद तक चौथे दशक के मध्य में उन्हें अपने सृजनात्मक संकट का समाजवादी विचारधारा में समाधान ढूंढ़ने की ओर प्रेरित किया। लेकिन उनका यह प्रयास मात्रा और गुण में असमान था।

कुछ आलोचक निराला की तीसरे दशक के प्रारम्भ की कविताओं में भी समाजवादी प्रभाव के तत्त्वों की खोज का सुझाव दे सकते हैं। इस तरह की १९२० में लिखित 'बादल राग' कविता है जिसमें कवि ने बादल को क्रान्ति का अग्रदूत चित्रित किया है और झुलसी पृथ्वी पर, सूखे बाल-वृक्षों पर, शोषण की चक्की में जिनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है उन किसानों पर वर्षा करने के लिए उससे मनुहार की है। १९२१ में लिखित दूसरी प्रसिद्ध कविता 'भिक्षुक' है जिसमें निराला ने एक भिखारी की हृदय-विदारक दरिद्रता और दुर्दशा चित्रित की है, जो अपने दो बच्चों के साथ फेंकी हुई 'पत्तल' से रोटी के टुकड़ों के लिए कुत्तों से होड़ लगाने को बाध्य हो गए हैं। हालाँकि ये कविताएँ सामान्य छायावादी गति और मन:स्थिति से अलगाव की सूचना देती हैं, इनसे इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि समाजवादी विचारधारा के प्रभाव ने कवि को जनसाधारण की दुर्दशा को सहानुभूति से देखने की ओर प्रेरित किया है। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि यह एक संक्रमणशील प्रभाव था (यदि ऐसा था तो), क्योंकि इसी काल में निराला ने अनेक ऐसी लम्बी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें राजनीतिक समस्याओं के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, यथा कवि मुस्लिम शासकों की सेवा में संलग्न हिन्दुओं के विश्वासघात पर, उनकी उस अकर्मण्यता और पुंसत्वहीनता पर जिसने उन्हें पराधीन बना दिया, विलाप करता है। 'जागो फिर एक बार', 'यमुना के प्रति', 'छत्रपति शिवाजी का एक पत्र' और अन्य अनेक ऐसी कविताएँ हैं जो हिन्दुओं की महिमा व पराक्रम काल की विरहाकुल स्मृतियों से भरी पड़ी हैं, साथ ही जो हिन्दू मिथकीय बिम्बों और प्रतीकों से मंडित हैं। और जिस बात की हम मार्क्सवादियों ने उपेक्षा की है, शायद ये कविताएँ उस विशिष्ट घटना काल को समझने का सूत्र प्रदान कर सकती हैं और इन प्रश्नों का सही उत्तर दे सकने में सहायक हो सकती हैं कि कैसे हिन्दी साहित्य में समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का समंजन और विकृतीकरण किया गया और क्यों अभी तक हिन्दी में सुसंगत धर्म-निरपेक्ष और जनवादी भावना से अनुप्राणित साहित्य नहीं लिखा गया। छायावादी कवियों ने समाजवादी विचारधारा को अंगीकार करने के पश्चात् अगले दशक में भी जन-समूह की सामाजिक और आर्थिक मुक्ति के समाजवादी तरीकों तथा व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति के तथाकथित वेदान्ती तरीकों में काल्पनिक संवाद कराकर अपनी 'विरुद्धों के सामंजस्य' की परम्परागत मन:स्थिति का परिचय दिया और इसीलिए पुन: वे किसी सार्वभौमिक संगति व महत्त्व के महान् काव्य का सृजन करने में असफल रहे। दुर्भाग्य से मुझ समेत समस्त मार्क्सवादी समीक्षक इन प्रयासों की अर्थहीनता और साहित्यिक मानदण्डों तथा सौन्दर्य-विषयक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधारणाओं की बेहूदगी को देखने में असमर्थ रहे तथा बिना यह समझे कि जीवन और समाज सम्बन्धी पुनरुत्थानवादी और समाजवादी दृष्टिकोणों में मूलभूत विरोध है, हमने इनका अभिनन्दन किया।

चौथे दशक के अन्तिम चरण में जबकि हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभुत्व था, निराला ने 'भिक्षुक' कविता की परम्परा में कुछ और कविताएँ लिखीं, जिनमें 'वह तोड़ती पत्थर' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें जून के असह्य गर्मी के दिनों में सड़क-निर्माण कार्य हेतु पत्थर तोड़ती हुई युवा स्त्री का सशक्त रेखाचित्र है। वर्ग-विभक्त समाज के प्रति उसके रोष को अत्यन्त सूक्ष्मता से कलात्मक व्यंजना द्वारा कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—कवि की ओर देखकर सड़क पार स्थित धनवान व्यक्ति के प्रासाद की ओर वह अत्यन्त उद्धत दृष्टि से देखती है और उसकी पेशानी से पसीने की बूंदें टपकती हैं और फिर वह अपना काम शुरू कर देती है—मानो अनुच्चारित ही उसने उद्घोषित किया हो—"मैं तोड़ती पत्थर।" इस कविता में निश्चित रूप से शोषितों की वर्ग-सचेतन उद्धत मनःस्थिति प्रतिबिम्बित हुई है, जिसे कवि ने अत्यन्त सफलता से पहचाना है। यह कविता सहज मानवीय सहानुभूति से आगे जाती है जिसे शायद कवि ने गरीबों के प्रति दया और हितैषिता की परम्परागत और अपमानजनक दृष्टियों से अपने मोहभंग के बाद अर्जित किया है। दो वर्ष पूर्व १९३५ में लिखित 'दान' कविता कवि के इस मोहभंग का विवरण प्रस्तुत करती है।

जयशंकर प्रसाद के ऊपर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बहुत स्पष्ट नहीं है। अपने महाकाव्य 'कामायनी' के 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्गों में प्रसाद ने प्रलय की दन्तकथा को लाक्षणिक रूप में विश्वास या श्रद्धा और तर्क या बुद्धि के संघर्ष रूप में प्रस्तुत किया है और विस्तार से दिखाया है कि कैसे 'बुद्धि' का प्रतिनिधित्व करने वाली इड़ा विज्ञान की सहायता से आधुनिक सुविधाओं से लैस, उद्योगों और शिल्पकलाओं से स्पन्दित एक ऐसे मनोवांछित महानगर का निर्माण करती है, जो सभी को जीवन-निर्वाह के साधन प्रदान करने वाले सामाजिक नियमों से चालित है और मनु जिसके प्रजापति हैं। किन्तु यह भौतिकतावादी सभ्यता लालच, स्वार्थों के संघर्ष तथा दूसरी बुराइयों को जन्म देती है, लोग विद्रोह कर देते हैं, शहर ध्वस्त हो जाता है, मनु अन्ततः सांत्वना और मोक्ष के लिए स्वयं को श्रद्धा की उपशामक बाँहों में समर्पित कर देता है और दोनों नगर को त्यागकर आन्तरिक आनन्द की आध्यात्मिक दुनिया में प्रवेश करते हैं। पौराणिक बिम्ब-योजना और पौराणिक समाधानों के प्रति इस पूर्वग्रह पर किसी को भी आश्चर्य होगा कि कैसे २०वीं शताब्दी का कोई कवि कल्पना की मनमानी क्रिया में संलग्न हो सकता है और मनमाने ढंग से मस्तिष्क की ज्ञानात्मक क्रिया का द्विभागीकरण करके यह प्रदर्शित कर सकता है कि एक विरोध और संघर्ष की ओर ले जाती है और दूसरी शान्ति तथा सुख की गारन्टी देती है। कुछ आलोचकों द्वारा अपने भोले मन में इन दो सर्गों में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव ढूँढने की बात का अधिक-से-अधिक यही अर्थ हो सकता है कि जीवन के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण रखने वाले किसी भी व्यक्ति की तरह वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा के प्रति प्रसाद की प्रतिक्रिया भी सर्वथा नकारात्मक है। लेकिन अपने उपन्यास 'कंकाल' में प्रसाद ने, समाजवादी विचारधारा के प्रभाव-स्वरूप न सही, अधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। हिन्दू समाज की ऊँची जातियों द्वारा प्रेम को सम्मान्य भाव नहीं समझा गया और इसीलिए उसे कभी भी 'कर्त्तव्य' या विवाह के विधि-विधान के सम्मुख अधिक महत्त्व नहीं मिल सका। लेकिन कंकाल की तारा इस अमानवीय परम्परा को तोड़ती है और उस व्यक्ति के साथ रहती है जिसे वह प्यार करती है। लेकिन उसके इस साहसिक कदम का 'प्रगतिशील और मानवतावादी' प्रभाव इसलिए क्षीण हो जाता है कि वह उस निम्न जाति से सम्बन्धित है जिसने कभी भी ऊँची जातियों द्वारा कठोरता से चालित अमानवीकृत नैतिकता की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया। शायद प्रसाद किसी ऐसी उच्च जाति की लड़की की कल्पना नहीं कर सकते थे जो किसी भी अन्य विचार से प्रेम की उच्चता को प्रतिपादित करे।

अमूर्त रूप में ही सही, समाजवादी विचारधारा के प्रति सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिक्रिया अधिक सकारात्मक थी। वे ऐसे कवि हैं जो उस दुनिया में रहे हैं जहाँ यथार्थ के अनगढ़, भद्दे, वीभत्स पक्षों का अस्तित्व न होकर केवल अच्छाई, सुन्दरता और प्रकाश का ही साम्राज्य है। इस प्रकार की काल्पनिक दुनिया में जीता हुआ ही कवि चौथे दशक में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स से प्रभावित हुआ। मार्क्सवादी विश्वदृष्टि को अपनाने से पूर्व उसका गहन अध्ययन करने वालों में शायद वे सबसे पहले कवि हैं। अन्वेषण के अन्तर्गत काल के पिछले चार या पाँच वर्षों के मध्य पन्त ने ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं जिन पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। ये कविताएँ 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' नामक तीन काव्य-संग्रहों में संग्रहीत हैं। इनमें से अनेक कविताओं में उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को सत्यापित किया है, समाजवादी समाज के निर्माण में श्रमिक-वर्ग के योग को स्पष्ट किया है और परम्परागत सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगाये हैं। विशेष रूप से 'ग्राम्या' में, वे अपनी विचार और कल्पना की दुनिया से निकलकर कालाकांकर के वास्तविक पुरुषों और स्त्रियों के सम्पर्क में आए और उनके समूह या व्यक्ति व्यवहार के कुछ सुन्दर शब्द-चित्र खींचे हैं। समस्त व्यापार में अपने सहगामियों के व्यापक दुःखों के प्रति कवि में सहज सहानुभूति विद्यमान है। लेकिन कल्पनाजीवी कवि के लिए यथार्थ की दुनिया में यह प्रवास काफी अधिक था और इसीलिए वह अपनी उस कल्पना की दुनिया में लौट गया जहाँ संघर्षों और अन्तर्विरोधों का कोई अस्तित्व नहीं है; जहां पुनरुत्थानवाद और समाजवाद मिलकर एक हो जाते हैं; जहाँ पुराणपंथ और विज्ञान अपनी चारित्रिक बुराइयों को छोड़कर, पूर्ण मानवीकृत रूप धारण कर हाथ-में-हाथ डालकर प्रकाश और आनन्द के स्वर्ग पर आरोहण करते हैं। यह बात बेतुकी अवश्य लग सकती है, लेकिन इससे स्पष्ट होता है कि कैसे परम्परा में निमज्जित मस्तिष्क अपनी अभिरुचियों को नहीं त्याग सकता और वास्तविक को यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।

चौथे दशक के अन्त में छायावादी प्रवाह में दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और बच्चन जैसे बड़े कवि उभरकर सामने आए। 'दिनकर' ने 'क्रान्ति' के गीत गाए, हालांकि उसकी राय में यह ध्वंस और विनाश की एक ऐसी आदिम शक्ति है जो एक ही वेग में जीवन और समाज की समस्त बुराइयों, पीड़ाओं और लूटमार को समाप्त कर देगी। लेकिन यह दृष्टिकोण समाजवादी विचारधारा के प्रभाव-स्वरूप उतना नहीं था, जितना आक्रामक राष्ट्रवाद के कारण था, जो कभी भी समाजवाद समेत उस सभी के विरुद्ध अन्ध-घृणा में परिवर्तित हो सकता था जो हिन्दू समाज के बाहर का हो; क्योंकि पुनरुत्थानवादी कल्पना के तत्त्व उनकी कविताओं की भाषा की मूल संरचना में विद्यमान हैं। यही बात बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो कवि ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता और श्रमिक-वर्ग के संघर्षों में सक्रिय भागीदार थे। उनकी 'जूठे पत्ते', 'नरक-विधान' और 'विप्लवज्ञान' कविताएँ समाजवादी चेतना को उतना प्रदर्शित नहीं करतीं जितना आक्रामक राष्ट्रवादी क्रोध के विस्फोट को।

बच्चन एक भिन्न श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके पूर्ववर्तियों का हिन्दी भाषा के संस्कृतीकरण पर इतना अधिक आग्रह था कि वह कभी भी सामान्य जन के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो सकती थी। प्रेमचन्द के समान बच्चन भी उस उदार कायस्थ जाति से थे जिसे उसकी प्रबुद्धता और व्यापक दृष्टि के कारण पुनरुदित उच्च जातियाँ अछूतों के समकक्ष समझती थीं। अतः बच्चन अपने काव्य में न तो अपवित्रीकरण-ग्रन्थि से पीड़ित हो सकते थे और न ही ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद से प्रभावित। अतः व्यवहार में उन्होंने यथार्थ के प्रति हिन्दी कविता और भाषा के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन किया। उनकी भाषा जन-सामान्य की बोलचाल के तरीकों और अनुभवों से युक्त भाषा है। उसमें न तो 'पवित्रतावाद' के लिए कोई प्रयास है और न ही अरबी और फारसी व्युत्पत्ति के शब्दों का ही बहिष्कार है। 'मधुशाला' और 'मधुकलश' की कविताएँ खुले रूप में हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथ, ब्राह्मण नैतिकता, जातिव्यवस्था की अमानवीयता और सामाजिक विधि-निषेधों का मज़ाक उड़ाती हैं। 'निशा निमंत्रण' जैसी कविताओं में प्रगति-चेता दृष्टि मिलती है। उनकी दृष्टि में किसी भी प्रकार का रहस्यवाद या रूढ़िवाद नहीं था। कवि धर्म, वर्ग, जाति, वर्ण पर आधारित हर प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध लड़ा और जन सामान्य की अभिलाषाओं को वाणी देते हुए उचित मानवीय आधार पर मानव-सम्बन्धों को गठित करने की उसने माँग की। यदि मानव के प्रति, मानव-सम्बन्धों के प्रति किसी दृष्टिकोण को ही कवि द्वारा समाजवादी विचारधारा के अंगीकार की कसौटी माना जाय तो पुरानी पीढ़ी के लोगों में बच्चन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जो इस पर खरे उतरते हैं, भले ही उन्होंने मार्क्सवाद का उतना परिश्रमपूर्ण अध्ययन न किया हो, जितना पंत ने। इस कवि के सम्बन्ध में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

अन्य उल्लेखनीय बात यह भी है कि आयु के साथ उसने भावनात्मक या वैचारिक स्तर पर पुराणपंथी रूढ़िवादिता की ओर प्रत्यावर्तन नहीं किया, जो कि पुनरुत्थानवादी बन्धन से अपने को पूर्णतया मुक्त न कर सकने वाले कवियों की स्वाभाविक परिणति थी। आयु के साथ के मानसिक अनुभव और ज्ञान की सीमाओं का विस्तार हुआ है, उसकी सहानुभूति का दायरा बढ़ा है और, चाहे उसकी काव्यात्मक संवेदना में ह्रास हुआ हो, लेकिन दृष्टिकोण निश्चित रूप से आधुनिकीकृत और मानवीय होता गया है।

चौथे दशक के अन्त में हिन्दी साहित्य को समाजवादी विन्यास प्रदान करने वाला प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन भी, अपने उन अगणित उत्साही युवा कवियों में से, जिन्होंने इस आन्दोलन में सम्मिलित होकर अपनी क्रान्तिकारी कविताओं के माध्यम से जन-सामान्य की, बेहतर व्यवहार और बेहतर जीवन की आशाओं और अभिलाषाओं को अत्यन्त भावप्रवणता से प्रतिबिम्बित किया, कोई भी बड़े महत्त्व का कवि पैदा नहीं कर पाया। इनमें से कुछ में वैसे लक्षण अवश्य विद्यमान थे किन्तु उनकी प्रतिभा अन्वेषण के अन्तर्गत इस काल के पश्चात् ही फलीभूत हुई।

अब हम कथा-साहित्य पर आते हैं। जैसा कि सर्वविदित है, हिन्दी कथा-साहित्य में उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। उनकी विभिन्न कृतियों के या उनके मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है या फिर उन्हें विश्व-साहित्य के असाधारण प्रतिभासम्पन्न साहित्यकारों की श्रेणी में रखने में मतान्तर हो सकता है, परन्तु यदि लेखन-काल और कृतियों में चित्रित सामाजिक जीवन के व्यापक आयामों के संपूर्ण संदर्भों में विचार करें तो उनकी महानता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उनकी यथार्थ के प्रति सहज प्रवृत्ति थी। लेकिन, चूँकि प्रेमचन्द प्रचलित अर्थ में प्रतिभावान नहीं थे, इसलिए उनकी यह यथार्थवादी प्रवृत्ति क्षीण या समाप्त हो सकती थी यदि उन्होंने जनसामान्य से अपना सम्पर्क न बनाये रखा होता, या जीवन पर्यन्त आने वाली भ्रान्तियों को दूर न किया होता, या अपने-आपको पुनरुत्थान के प्रचलित बहाव में बहने से बचाये न रखा होता। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय जीवन की वास्तविकता, सामाजिक असमानता, स्तम्भित कर देने वाली जड़ता, नैतिक भ्रष्टाचार, अमानवीय व लौह-जकड़ वाली वर्णवादी जाति-व्यवस्था तथा इस सबके साथ-ही-साथ दलित और शोषित लोगों के हृदय में सुलगते असंतोष व कभी-कभार उसकी बाह्य परिणति को अत्यन्त यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया। प्रेमचन्द के प्रथम दो उपन्यास, 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त निम्न-कोटि के नमूने हैं तथा अस्पष्ट व अपरिपक्व विचारों के कारण अत्यन्त महत्त्वहीन हैं। लेकिन अपने तीसरे उपन्यास 'सेवासदन' में एक वास्तविक समस्या को अत्यन्त स्पष्टता से प्रस्तुत किया है कि कैसे एक हिन्दू स्त्री पर-गमन के संदेह में निज पति द्वारा परित्यक्त होकर वेश्यालय की शरण लेती है। इस तरह की बर्बर स्थितियाँ दुहरे मानदण्ड वाले हिन्दू समाज की अपनी विशिष्टताएँ हैं, जिसके नियम पर-गमन के अपराध या उसके सन्देह मात्र पर स्त्री के प्रति अत्यन्त कठोर हैं, लेकिन वे इसका कोई भी मानवीय निदान प्रस्तुत नहीं करते। हालाँकि प्रेमचन्द अपनी अपवित्रीकरण-ग्रन्थि से न उबर सकने के कारण न तो इस समस्या का निदान ही प्रस्तुत कर पाये और न ही उसके पति गजधर को अपनी पत्नी को लौटा लेने के लिए झुका पाए। उन्होंने केवल अन्याय को तीखे शब्दों में उजागर ही किया, वे गजधर द्वारा यह स्वीकार न करा पाये कि उसका सन्देह वस्तुतः गलत था और इससे कितना बड़ा अन्याय हुआ था। उपन्यास में कुंवर साहब नाम का पात्र, जो कि कार्यपालिका का सदस्य भी है इस बात को स्वीकार करता है कि अवैध-क्षेत्रों का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि जनसाधारण का शोषण करने वाले जमींदारों, नौकरशाहों, पूँजीपतियों और धनवान लोगों का अस्तित्व है। यदि शोषण को समाप्त कर दिया जाय तो ये अवैध क्षेत्र भी समाप्त हो जायेंगे। यह उपन्यास महान् अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद १९१८ में प्रकाशित हुआ। हालाँकि उपन्यास में क्रान्ति का कोई जिक्र नहीं है लेकिन हिन्दू स्त्री के उत्पीड़न के प्रति गहरी संवेदना व आत्मीयता इस बात का प्रमाण है कि समाजवादी क्रान्ति का मुक्तिदायी प्रभाव प्रेमचन्द की हृत्तन्त्री को छू गया था।

किसान समस्या को लेकर चलने वाले उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में यह और अधिक स्पष्ट हो गया। यह उपन्यास १९१८-१९ ई० में लिखा गया था और १९२२ में प्रकाशित हुआ। उपन्यास के केन्द्र-स्थल गाँव में जमींदार ज्ञानशंकर और उसका प्रबन्धक गौस खाँ अपने काश्तकार किसानों की अत्यन्त

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्दयता से लूटमार और दमन करते हैं। इससे किसानों में क्रोध और प्रतिकार की भावना पनपती है जिसकी परिणति हिंसा में होती है। गाँव की चरागाह में गौस खां मनोहर की पत्नी को पीट देता है जिस पर अत्यन्त शान्तिप्रिय मनोहर भी उसकी हत्या कर डालता है और परिणामस्वरूप गाँव में पुलिस राज का भयंकर आतंक व दमन प्रारम्भ हो जाता है। बर्तानिया में शिक्षित व मानव मात्र के प्रति सम्मान के विचारों से प्रभावित प्रेमशंकर (ज्ञानशंकर का भाई) इस घटना से दुःखी होकर किसानों की उन्नति के लिए प्रेमाश्रम की स्थापना करता है। मनोहर का पुत्र बलराज वर्ग-सचेत किसान है। वह किसान और मज़दूर राज्य के विचार से अत्यन्त प्रभावित है तथा अत्यन्त उत्साह से रूसी क्रान्ति की बात करता है, उसके अनुसार केवल वही इस सम्पूर्ण अन्याय को समाप्त कर सकती है। हालाँकि प्रेमचन्द ने मनोहर और उसके वृद्ध मित्र कादिर की तुलना में बलराज के चरित्र को आदर्श रूप में नहीं उभारा है, लेकिन तत्कालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के वर्ग सचेत पात्र को लाना ही अपने-आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है—प्रेमशंकर का चरित्र। उसके द्वारा किसान समस्याओं के लिए प्रस्तुत गांधीवादी समाधान अवश्य हवाई है, किन्तु उसका भारत से बाहर शिक्षित होना व अधिक विकसित और मानवीय दृष्टिकोण अपनाना उल्लेख्य है। यह बात रेखांकित करने की है कि 'प्रेमाश्रम' हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें न केवल जाति-विभाजन और उसकी बुराइयों का ही चित्रण किया गया है अपितु उससे आगे अन्याय और शोषण के मूल वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष का भी चित्रण है। अतः यह सामाजिक यथार्थ के उस नवीन आयाम के ग्रहण को प्रदर्शित करता है जिसे अक्तूबर क्रान्ति और समाजवादी विचारधारा ने संभव बनाया था।

'निर्मला' और 'कायाकल्प' के पश्चात् १९२७-२८ में लिखे अपने उपन्यास 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने फिर से वर्ग-संघर्ष की समस्या को उठाया है। 'रंगभूमि' में पूंजीवादी औद्योगीकरण के प्रसार व ग्राम्यजीवन पर उसके घातक और विषैले प्रभावों को दिखाने का प्रयास है। मेरे विचार से इस समस्या को अत्यन्त कृत्रिम ढंग से उठाना और अंधे किसान सूरदास (जिसकी ज़मीन पूंजीपति जॉन सेवक उद्योग के लिए लेना चाहता है) द्वारा संघर्ष का नेतृत्व कराना, एक प्रकार के कृत्रिम वातावरण का निर्माण करता है। ऐसा लगता है कि काल के प्रवाह में, तथा मशीन, मशीन-निर्मित सामान व सामान्यतः संपूर्ण औद्योगीकरण को शंका की दृष्टि से देखने वाली गांधीवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार के कारण प्रेमचन्द पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव क्षीण या धुंधला हो गया, जिसने उनपर ग्राम्यजीवन की अनिवार्य अच्छाई की परम्परागत भारतीय दृष्टि को गहरा दिया। सामंतवाद में अनेक बुराइयों के होते हुए भी सामंती सामाजिक सम्बन्धों के प्रति प्रेमचन्द का मानसिक लगाव इस उपन्यास में स्पष्ट हो जाता है। लेकिन ये भ्रम चौथे दशक में ही समाप्त हो गये और प्रेमचन्द ने अपने अंतिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' में किसान समस्या को फिर से उठाया। उसी समय विदेशों में अध्ययन के दौरान मार्क्सवाद के प्रभाव में आये युवक राष्ट्रभक्तों ने स्वाधीनता के राष्ट्रीय आंदोलन को गांधीवादी सीमाओं में बद्ध कर देने का विरोध किया था। इस उपन्यास में प्रेमचन्द सम्पूर्ण भारतीय परिस्थिति पर एक यथार्थवादी की तरह दृष्टि डालते हैं और होरी, धनिया, गोबर, झुनिया (सभी खेतिहर) जैसे जीवंत; तथा ज़मींदार अमरपालसिंह, उद्योगपति खन्ना व अन्य अनेक सशक्त पात्रों का निर्माण करते हैं। ये पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं और विभिन्न वर्ग-सम्बन्धों, दृष्टिकोणों व नैतिकता को संपूर्णता में प्रतिबिंबित करते हैं। यहाँ प्रेमचन्द कोई कृत्रिम या आरोपित समाधान नहीं खोजते अपितु उपन्यास की दुखान्त परिणति यह प्रभाव छोड़ती है कि शोषक और शोषित वर्गों के विरोधी हितों के बीच कोई भी समझौता नहीं हो सकता, न ही इसका कोई अल्पकालिक समाधान संभव है।

यहीं से हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील आंदोलन का प्रारम्भ होता है। यह आंदोलन चौथे दशक के सशक्त किसान आंदोलनों और श्रमिक-संघर्षों का परिणाम था। आंदोलन के उत्थान में सहायक दूसरे कारण थे—जवाहरलाल नेहरू द्वारा स्वाधीनता संघर्ष के सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को समाजवादी शब्दावली में परिभाषित किया जाना; समाजवादी व साम्यवादी गुटों को मिलाकर एक समाजवादी दल की स्थापना; दल का नेतृत्व ब्रितानिया और अमेरिका में शिक्षित उन युवक बुद्धिजीवियों के हाथ में होना जो इस बात के प्रति पूर्ण जागरूक थे कि जर्मनी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इटली, स्पेन और जापान में उभरता हुआ फासिज्म शक्ति, स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

समाजवादी विचारधारा के इस प्रभाव के कारण स्वभावतः विचारों में टकराव प्रारम्भ हुआ। यह टकराव और संघर्ष जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया। साहित्य में इस संघर्ष ने प्रगतिशील विचारों के विरोध का रूप धारण किया। प्रगतिशील लेखकों का प्रथम घोषणा-पत्र कुछ युवक लेखकों द्वारा १६३५ में लन्दन में तैयार किया गया। उसी वर्ष दिसम्बर के अंत में इलाहाबाद में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का गठन किया गया और उस ऐतिहासिक दस्तावेज पर प्रेमचन्द, फिराक, निराला, पंत जैसे प्रसिद्ध हिन्दी और उर्दू के लेखकों ने हस्ताक्षर किये। घोषणा-पत्र ने भारतीय समाज में हो रहे महान् परिवर्तनों पर प्रकाश डाला और लेखकों से आग्रह किया कि वे रहस्यवाद और झूठी आध्यात्मिकता या पतनशील अंधविश्वासों और विचारों में शरण न खोजकर इन क्रांतिकारी परिवर्तनों को अभिव्यक्ति प्रदान करें। उस सबको, जो निष्क्रियता, उदासीनता, पलायनवाद या अंधविश्वासों को जन्म देता था, प्रतिक्रियावादी करार दिया गया और उस सबको जो बौद्धिकता की भावना, साहस व प्राचीन मान्यताओं को तर्क के आधार पर परीक्षित और विश्लेषित करने की भावना पैदा करे—प्रगतिशील स्वीकार किया गया। टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव और भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण लेखकों ने इस आन्दोलन का हृदय से स्वागत किया। विशेषकर उदीयमान युवक लेखकों ने इस आंदोलन में अत्यन्त उत्साह दिखाया। लेकिन सरकार इस आंदोलन पर बरस पड़ी, ब्रिटिश नियंत्रित व स्थानीय बूर्जुआ प्रेस ने इसे मॉस्को-प्रेरित चित्रित किया तथा हिन्दू कट्टरपंथ के अगुआ व पुनरुत्थान की भावना से अनुप्राणित रूढ़िवादी लेखकों ने इसे 'भारतीय-संस्कृति-विरोधी' आंदोलन कहा। अप्रैल १६३६ में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन जब प्रेमचन्द की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ तो प्रेमचन्द को 'घृणा के प्रचारक' कहकर उनकी निन्दा करते हुए अनेक लेख हिन्दी पत्रिकाओं में छपे जिनमें उनकी कहानियों और उपन्यासों से दृष्टांत देकर यह सिद्ध किया गया था कि कैसे प्रेमचन्द ब्राह्मणों के पात्र आधिपत्य को चुनौती देने वाले नीची जातियों के पात्रों को जान-बूझकर चुनते हैं और ब्राह्मण पात्रों को भ्रष्टाचारी निर्दयी व अन्धविश्वासी रूप में चित्रित करते हैं। उ प्रकार १६३६ में इलाहाबाद में हुए हिन्दी-उर्दू प्रगतिशी लेखकों के अधिवेशन में पठित मेरा लम्बा लेख—जिस मैंने हिन्दी में पहले-पहल साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या की थी—जब १६३७ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हु तो हिन्दी की अग्रणी पत्रिकाओं में हिन्दी के जाने-माने लेखको द्वारा लिखित लगभग एक दर्जन लेख सामने आए जिनमें उग्र पुकार थी कि हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य के सृजन मेरा कार्यक्रम वस्तुतः भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करने ही एक प्रयास था। इससे एक विवाद और टकराव प्रारम्भ हुआ। लखनऊ से पंत ने 'रूपाभ', नरोत्तम नागर 'उच्छृंखल' तथा इलाहाबाद से मैंने 'प्रभा' नामक पत्रिका प्रकाशन किया। नई और पुरानी पीढ़ी के बहुत-से गण्यमा लेखकों ने इन पत्रिकाओं में सहयोग व योगदान दिया राहुल सांकृत्यायन, नरेन्द्र शर्मा, यशपाल, रामविलास श प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी और अन्य अनेक ले भी इस संघर्ष में सम्मिलित हो गए जिन्होंने प्रतिक्रिया घातक आक्रमणों का डटकर मुकाबला किया। 'प्रगति लेखक संघ' की शाखाएँ अन्य शैक्षिक और सांस्कृतिक के में भी फैल गईं। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक प्रगति आंदोलन हिन्दी में अत्यन्त प्रभावशाली प्रवृत्ति बन था। यह गतिशील प्रभाव १६४७ की राजनीतिक स्वाधी तक बना रहा।

हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों पर समाज विचारधारा के इस प्रभाव ने उन्हें पुनरुत्थानवाद की क्रियावादी विचारधारा से मुक्त किया और किसी हद जनसाधारण के यथार्थ जीवन व उनकी समस्याओं को बिम्बित किया। इस प्रभाव की शक्ति का अंत तो अभी हुआ, किन्तु आंदोलन का प्रभाव मन्द और असंगठित हो है। इस मंदता और असंगठन के कारण का विवेचन समीक्षा की सीमा के बाहर है और एक स्वतंत्र अध्ययन अपेक्षा रखता है।

अनुवादक : कर्णसिंह चौह

[यह निबंध मूलतः 'नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय', नई दिल्ली के लिए लिखा गया था।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता

मार्क्सवादी-लेनिनवादी संस्कृति-विज्ञान तथा सौन्दर्यदर्शन की चिरन्तन आधुनिकता

रमेश कुन्तलमेघ

अपने सम्पूर्ण दीप्तिमान सूर्य को 'देखने' के लिए छोटे तथा स्वच्छ दर्पण अनिवार्य होते हैं !

इसलिए वस्तुओं और सम्बन्धों और घटनाओं वाले अपने संसार तथा समाज की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में ही हम अपनी सामाजिक चेतना, अपने वैयक्तिक अनुभव तथा अपनी पूरी मौलिक प्रकृति को हासिल करते हैं। इसलिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी द्वन्द्वन्याय की केन्द्रीय धुरी **'सम्पूर्णीकरण'** (टोटलाइज़ेशन) की धारणा है। यह धारणा एक सीमित अनुभव या कुछ घटनाओं को लेकर सामान्यीकरण नहीं करती, बल्कि अनेक सत्यों की सम्पूर्णता के साथ एक सत्य का समन्वय करती है। एक ताजी मिसाल लें। आज हम वियतनामी युद्ध के कारणों पर जब विचार करते हैं तो अस्तित्ववादी इसे मनुष्य की हिंसावृत्ति का प्रमुख कारण बताते हैं, अध्यात्मवादी वेटिकन पोप ईश्वर-कोप का प्रतिफल बताते हैं, निक्सन कम्युनिस्टों की घुसपैठ बताते हैं और माओ त्से-तुंग अमरीकी साम्राज्यवाद से जनता का लोकयुद्ध बताते हैं। अतः इनमें सत्य और भ्रान्ति मिल गई हैं, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी तत्वों का अलगाव हो गया है, और विश्व की सम्पूर्णता से कटाव और जोड़ाव भी हो गया है। इसलिए पहले तो एक विश्व दृष्टिकोण अनिवार्य है, दूसरे अनेक सत्यों एवं गल्पों के संघर्ष को समझना जरूरी है, और तीसरे प्रमुख कारण और मूल निर्णय की खोज कर पाना अपेक्षित है। **कारणता हमेशा व्याख्या से जुड़ी है** और तथ्यों की व्याख्या में कई कारणों को लिया जा सकता है। लेकिन अंततोगत्वा एक बड़ा निर्णायक कारण ही व्याख्या के परस्पर विरुद्ध और पृथक् तत्वों को भी जोड़ सकता है और **निष्कर्ष** निकाल सकता है। ऐसी विश्लेषण-पद्धति द्वन्द्वन्याय कहलाती है। यह पद्धति 'कारण' के बजाय 'अन्तर्विरोध' का इस्तेमाल करती है। **अन्तर्विरोध** : अर्थात् प्रकृति या समाज, या मनुष्य को गतिशील बनाने वाला अन्तर-सम्बन्ध तथा अन्तर-दशा ! अतः द्वन्द्वन्याय के अनुसार विकास अन्तर्विरोधों के द्वारा ही होता है। इनमें से प्रमुख तथा केन्द्रीय अन्तर्विरोध सम्पूर्णता से बँधा होता है। इस तरह व्याख्या को वैज्ञानिक तथा सही तथा मूल्यपूर्ण बनाने के लिए सम्पूर्णीकरण जरूरी है।

द्वन्द्वन्याय वाली सम्पूर्णीकरण की धारणा अमूर्त और वैश्वक, अटल और अचल, शाश्वत और अद्वैत न होकर विचार और पदार्थ, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी, चेतना और सत्ता, चिंतन और कर्म आदि की अर्थात् **परस्पर विरुद्धों की 'एकता'** पर केन्द्रित है। आदर्शवादी धारणा **परस्पर समानों की एकता पर** आश्रित होने के कारण केवल ब्रह्म और आत्मा की, चैतन्य और भावना की, शक्ति और माया की द्वन्द्वहीनता तथा समरसता की बात करती है। इस तरह यह महामाया निर्लिप्त 'विशुद्ध' पर टिकी है। विशुद्ध विचार की यह धारणा एक ओर शरीर को अधम अपावन मानती है तो दूसरी ओर चिदंश रस को ब्रह्मानंदसहोदर। अतः इस धारणा में जीवशास्त्रीय अनुकृति अथवा रहस्यपरक आवृत्ति ही मिलेगी। इसलिए यह धारणा मूर्त ऐतिहासिक **वस्तु** और उसके कलावस्तु में सौंदर्यतात्त्विक **प्रतिबिंब** को रीति तथा रस, शरीर तथा आत्मा, जड़ तथा चेतना, भोग तथा आनन्द की विभक्ति से खंडित कर देती है। यह प्रतिवादी प्रकार की वस्तुओं को जड़ तथा भौतिक मानने का नतीजा है। अतः विशुद्धि मूलतः आवृत्ति है और मानवीय चेतना तथा सामाजिक यथार्थता का चिरंतन द्वैत बनाये रखती है। किन्तु मार्क्सवाद अमूर्त धारणाओं के माध्यम से, चिंतन की विशुद्ध गति के अनुमान की जो प्रारम्भिक उपेक्षा करता आ रहा था उसे सबसे पहले तो लेनिन ने दूर किया, फिर माओ-त्से तुंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने; और हाल में सार्त्र ने। लेनिन ने अनुभववाद-आलोचना के प्रसंग में बताया कि धारणाएँ बिंबों [illegible] की उच्च-तर दशाएँ हैं जो चेतना से मिलकर चिंतन बनती हैं। अतः बिम्ब (इमेज), चिंतन (थाट), विचार (आइडिया) और धारणा (कान्सेप्ट) मनुष्य के द्वारा यथार्थता के प्रतिबिंब अथवा पुनरुत्पादन अथवा पुनर्नव्यता के रूप-प्रतिरूप हैं। अतएव धारणा और विचार मनुष्य के संज्ञान तथा अभिज्ञान की समस्या से जुड़े हैं। लेनिन ने स्पष्ट किया कि धारणाएँ अचल-अटल न होकर निरन्तर गतिशील और सतत परिवर्तनशील हैं; अन्यथा वे जीवन को प्रतिबिंबित ही नहीं कर सकतीं। इस सूत्र को माओ ने आगे बढ़ाते हुए बताया कि किसी समाज-व्यवस्था के नींवाधार (बेस) तथा सुपरिगठन (सुपरस्ट्रक्चर) के बीच पृथक् और विशुद्ध ढंग के बिंब-प्रतिबिंबवादी कारण-संबंध न होकर अंतर्विरोध हैं। पहले बहुधा विचारों को एकतरफा भौतिक आधार का प्रतिबिंब माना जाता था अर्थात् नींवाधार द्वारा सुपरिगठन को प्रभावित करने की एकपक्षीय बात ही उठती थी। किन्तु अब यह पाया गया कि सुपरिगठन तथा नींवाधार के बीच भी अन्तर्विरोध हैं; और सुपरिगठन अर्थात् **विचार** भी नींवाधार पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। अतः बिंब-प्रतिबिंबवाद का अगला कदम यह हुआ कि विचार भी कर्म तथा अभ्यास में कायान्तरित होकर **भौतिक शक्ति** बन सकते हैं। इसका नतीजा यह भी निकला कि भौतिक आधार के बदलने पर विचार स्वतः ही तदनुकूल रूपांतरित नहीं हो जाते बल्कि वे रूढ़ियों और आदतों, परंपराओं और संस्कारों के रूप में मानवीय चेतना में गहराई तक धँसे होते हैं। मार्क्स ने स्वावलम्बी विचारों अर्थात् नींवाधार से विच्छिन्न विचारों को कतई मंजूर नहीं किया था। किन्तु जब समाजवादी नींवाधार में भी विचारों की समस्या तथा मनुष्य की विमुक्ति की समस्या उठी तो यह प्रस्थापना भी हुई कि एक समाजवादी नींवाधार पर पूँजीवादी सुपरिगठन के संवर्धित होने के भी वास्तविक अंदेशे मौजूद हैं। इस बीज का सूत्रपात लेनिन ने ही किया था— जब उन्होंने बाहरी **प्रतीति** (एपीयरेंस) से **सारत्व** (एशेंस) को, और **आकस्मिक** से **नियम** को पहचानने की बात कही थी। सुपरिगठन का क्षेत्र चेतना एवं संस्कृति का क्षेत्र है। यह प्रतीति का क्षेत्र है। अतः प्रतीतियों के जो धारणा रूप बनते हैं—उनको सामाजिक संबंधों की सम्पूर्णता से संबद्ध करके ही, —उनसे नियम (जनरलाइज़ेशन) हासिल हो सकते हैं। नींवाधार के सामाजिक संबंधों को बदलने के साथ ही सुपरिगठन के मानवीय संबंध अपने-आप नहीं बदल जाते। इसलिए **सामाजिक क्रान्ति** के बाद **सांस्कृतिक क्रान्ति** इतिहास का नियम और विकास का धर्म है; अन्यथा मानवीय विमुक्ति पुनः एक भ्रम बन जाएगी। अतः क्रांति को नींवाधार पर जाकर ही नहीं रुक जाना चाहिए अर्थात् केवल सम्पत्ति के उन्मूलन में ही इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए; बल्कि संस्कृति के क्षेत्रों तक क्रांति का सूर्य चमकना चाहिए। अतः हम द्वंद्वन्याय (डाइलेक्टिक्स) के विश्व-दृष्टिकोण को अंगीकार करते हैं, उसके अन्तर्विरोधात्मक सम्पूर्णीकरण के आलोक में विकास और मनुष्य की समस्याएँ जाँचते हैं, तथा उसके केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी रूप के द्वारा ही अन्तर्विरोधों को दूर कर सकते हैं। अतः द्वंद्वन्याय ही सही विमुक्ति है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवादी धारणा में कार्यकारणन्याय वाली यांत्रिक बाण जैसी गति का स्थान 'एकता-संघर्ष-सामंजस्य' वाली शंख जैसी गति ले लेती है जो स्वतः ऊर्जित है। आदर्शवादी विचारधारा में संस्कृति में केवल एकता और समन्वय, पार्थक्य और समरसता की बात होती है अर्थात् उसके अंतर्गत **संस्कृति** में या तो एकपक्षीय **रिनेसाँ** की धारणा होगी अथवा **अराजकता** की! लेकिन द्वंद्वात्मक भौतिकवादी धारणा के वृत्त में संस्कृति में रूप और विषय का, व्यक्ति और वर्ग का एक चिरंतन द्वन्द्व स्वीकृत है जिसकी वजह से संस्कृति के आकृतिबंध में कभी **क्रांति** होती है तो कभी **अराजकता**; कभी संस्कृति अर्थात् सुपरिगठन (के गुण) समाज-व्यवस्था (मात्रा) को बदल देता है तो कभी बिना नींवाधार को बदले ही विचार 'अगली लम्बी छलाँग' (कल्चरल लीप) लगा लेते हैं; कभी समाजव्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है किन्तु संस्कृति पिछड़ी रह जाती है। अतः विचारों के इतिहास में संस्कृति के ऐसे गतिवाद के गम्भीर अनुशीलन का अभी भी इन्तज़ार है। सार्त्र ने इस ओर द्वंद्वात्मक तर्क की पद्धति से यकुम कदम उठाया है। उन्होंने सामान्यीकरणों पर आधारित **सूक्ष्म 'सम्पूर्णीकरण'** अर्थात् कोरे सैद्धांतिक चिंतन को नामंजूर किया है क्योंकि यहाँ मनुष्य के अनुभव तथा चिंतन का **'आंतरिकीकरण'** (इंटारियोराइज़ेशन) नहीं हो पाता। अतः सार्त्र द्वंद्वन्याय को अभिकर्ता के **दृष्टिकोण** से भी देखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू करते हैं। अब संस्कृति का सर्वांगीण वेश बदलता है। अब, एक विशिष्ट स्थिति में, किसी नेपोलियन तथा इस नेपोलियन के बीच परिवर्तन आ जाता है; अब हम सूक्ष्म के बजाय **मूर्त 'सम्पूर्णीकरण'** की भूमि पर आते हैं और **कोई** नेपोलियन के **बजाय यह** नेपोलियन उपस्थित पाते हैं। अतः **अनेक** नेपोलियनों की सम्भावना की अमूर्त निश्चयता के स्थान पर विशिष्टता की धुरी पर यही साक्षात्-जीवंत-बूर्जुआ एकल नेपोलियन मिला जो फ्रांसीसी क्रांति को उत्कर्ष तक ले गया। इस भाँति हम देखते हैं कि एंगेल्स ने आर्थिक एकल-वाद को निरर्थक, अमूर्त तथा फूहड़ कहा है; तथा अस्तित्व-धर्मा मार्क्सवादी सार्त्र ने एकल सही विचार तथा वास्तविक कर्त्ता की विलक्षणता को खोजा है। अतः हम देखते हैं कि केवल सामान्य आर्थिक दशाओं को अथवा मात्र आदर्श सद्-भावनापूर्ण विचारों को इतिहासांदोलक भूमिका नसीब नहीं होती। इसके लिए अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी के बीच के अन्यो-न्यान्य संबंध होना आवश्यक हैं। फ्रेंज़ मेहरिंग ने द्वंद्वन्याय को भौतिकवाद से पृथक् करके उसे मात्र इतिहास-दर्शन (ऐतिहासिक भौतिकवाद के बजाय) बना दिया था, प्रकृति के द्वंद्वन्याय को पृथक् कर दिया था तथा मार्क्स को एंगेल्स से जुदा कर दिया था। रोज़ा लुक्सेमबर्ग ने मात्र व्यक्तिमत्ता के आधार पर, संघर्ष को नकारकर, पूंजीवादी व्यवस्था के आकस्मिक विघटन और शोषित जनों के आकस्मिक उभार की मिथकल्पना की थी। यही गलती सार्त्र भी कहीं कर रहे हैं। अतः मार्क्सवाद-लेनिनवाद में से हम मार्क्स से लेनिन को, लेनिन से माओ को, माओ से चे को और चे से हो को पृथक् करके बचकानापन और संशोधनवाद का शिकार बनेंगे। मार्क्सवाद-लेनिनवाद तो आद्यन्त एक विश्वदृष्टिकोण है तथा उसकी समसामयिकता सापेक्ष्य एवं चिरंतन है। अतः जो विचार (या विचारधारक अभिकर्त्ता) यथार्थ ऐतिहासिक शक्तियों को प्रतिबिंबित करते हैं, तथा उनसे अनुकूलित होते हैं, वे ही अमूर्त से मांसल तथा वैश्वक से विशिष्ट हो जाते हैं अर्थात् व्यवहार एवं अभ्यास में वे साक्ष्य एवं प्रमाण बन जाते हैं। आर्ष कसौटी 'व्यवहार' (प्राक्सिस) की ही है। तब ऐसे तपे एवं कर्मठ विचारों के लिए ही कहा जाता है कि वे 'भौतिक-शक्ति' बन जाते हैं। तब—कथन एवं विश्वास के बजाय—उनकी कसौटी कर्म होती है। अगर ऐसे विचार किसी कला-कार के हैं अथवा कलाकृति में हैं तब उसमें समाज निथारा और निहारा जाता है। जब समाज के बेहद संत्रस्त वर्ग धुंधले ढंग से ही जागरूक होने लगते हैं तब मनुष्य की प्रकृति में भी विचित्र मनोसामाजिक परिवर्तन होता है; तब पुराने मूल्य, पुराना मनोविज्ञान और पुरानी जीवनदृष्टि निरर्थक लगने लगती है; तब नये प्रकार के विचार जन्म लेते हैं और मनुष्य में **चिति** (साइके) का नया स्नायु-जाल फैलता है। लेकिन 'सही विचार' कैसे आते हैं, यह ज्ञान के समाजशास्त्र का क्षेत्र है। माओ और चे ने इस पर कुछ सैद्धांतिक प्रस्थापनाएँ की हैं: पहले की जनता के बीच के अन्तर्विरोधों को लेकर; तो दूसरे की क्रांतिकारी के त्याग एवं उत्सर्ग को लेकर।

विचार भौतिक शक्ति ही नहीं, **'बिम्ब'** भी हो जाते हैं अर्थात् विचार एक अनुभव को गहराते तथा अभिज्ञान को चमकाते हैं। तब ऐसे बिम्बात्मक विचार **'विषय'** या **'विषयवस्तु'** (कान्टेन्ट) में भी रूपायित हो जाते हैं। अतः कला सामाजिक चेतना का ही एक रूपबंध है। यह रूपबंध **इस** कलाकृति में मूर्त होता है तथा **इसी** प्रकृति की 'वस्तुओं' अथवा **हमारे** यथार्थजगत् का 'प्रतिबिंब' होता है। किन्तु स्वयं प्रकृति की वस्तुएँ मनुष्य के दिमाग तथा प्रत्यक्षीकरण के बाहर होती हैं तथा यथार्थ-जगत् का अस्तित्व मानवीय चेतना से स्वतंत्र होता है। फलतः मूर्त ऐतिहासिक वस्तु का कलात्मक प्रतिबिंब देशकाल बहिर्भूत भी होता है। कला में प्रतिबिंब की 'वस्तु' तथा 'विधि' दोनों ही ऐसी हैं कि कलाकृति में वह (प्रतिबिंब ही) वस्तु का सृजन करता है, पुनरुत्पादन करता है, प्रक्षेपण करता है जिससे अन्ततोगत्वा वही मूल एवं मूर्त वस्तु बिंब-कल्पना की वस्तु बन जाती है। अतः कला सामाजिक चेतना का वह स्वरूप एवं प्रतिबिंब बन जाती है जो एक साथ अतीत का पुनरुत्पादन, वर्तमान का प्रत्यक्षण तथा भविष्य का प्रक्षे-पण करती है। क्यों? और; कैसे??

हम संपूर्ण बाहरी यथार्थता के वस्तुलक्ष्यी पक्ष अर्थात् **'दर्पण'** तथा मानवीय चेतना के आत्मलक्ष्यी पक्ष अर्थात् **'दीपक'** के सद्यःप्राकृतिक महारूपक के द्वारा ही रचना एवं कर्म के सूत्रों को पकड़ सकते हैं। किंतु यह भी स्पष्ट होने लगता है कि चेतना और वस्तुलक्ष्यी यथार्थता के बीच बिंब-प्रतिबिंब-न्याय वाला सीधा, सहज एवं विकासवादी संबंध नहीं है। इनके बीच किंचित् अंतर्विरोध भी हैं। कुछ उदा-हरण लें: चेतना अर्थात् सुपरिगठन के धरातल पर एक ही संपूर्णबंध (अर्थात् संस्कृति) कला और विज्ञान, धर्म और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति, सौंदर्य और नैतिकता, कानून और दर्शन आदि के नाना रूपों में प्रतिबिंबित होता है। कुछ रूपों में प्रतीति ज्यादा तथा सारत्व अवगुण्ठित होता है, तो कुछ में सारत्व ज्यादा और प्रतीति क्षीण। अतः इस धरातल पर अभी तक यह कम स्पष्ट हो सका है कि ये विचारधारात्मक रूप आपस में किस मात्रा तक घुलें-मिलें कि आधार वाले रूप का विषय तत्त्व न बदले अर्थात् किस तरह दर्शन कलात्मक दर्शन या राजनीति राजनीतिक अर्थरचना, या नैतिकता वैज्ञानिक नैतिकता ही बनी रहे। द्वंद्वन्याय ने कला को एकांतिकता से विमुक्त कर दिया है। लेकिन सुपरिगठन के अपने विविध-बहुल स्वरूपों की परस्पर एकता तथा विभेद की अपेक्षित छानबीन नहीं हुई है। इस क्षेत्र में हम "**अस्मिता (आइडेंटिटी) एवं अन्तर (डिफरेंस) की एकता**" अर्थात् कांट्रेडिक्शन को लागू करके थोड़ा-सा आगे बढ़े हैं। कभी कला और दर्शन में अस्मिता कायम हो जाती है, तो किसी चरण में कला और राजनीति में विरोध; किसी अवस्था में कला और विज्ञान में अस्मिता स्थापित होती है तो किसी स्थिति में धर्म एवं सौंदर्य में निषेध। इसका मतलब यह हुआ कि सामाजिक चेतना की संपूर्णता में जो अभिनव गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है उसका प्रभावक आंतरिकीकरण नहीं हो सका है। यह कारण भी हो सकता है कि पूरे सुपरिगठन का तदनुसार कायाकल्प नहीं हुआ हो। यह सही है कि मूलाधार की अपेक्षा सुपरिगठन देर से तथा परोक्ष ढंग से ही बदलता है; और पूरी तरह एक साथ नहीं बदलता। अतएव उसके अंगों में से कभी राजनीति बदल जाती है तो कला पिछड़ जाती है; कभी विज्ञान छलाँग लगा जाता है तो नैतिकता स्तब्ध हो जाती है; कभी ओपेरा समुन्नत हो जाता है तो महाकाव्य मर जाता है। इसके अलावा कभी-कभी तो सुपरिगठन के अंगों के बीच भी रूप-विषयवस्तु के-जैसे द्वंद्व कायम हो जाते हैं; उदाहरणार्थ, राजनाति का रूप कानूनी तथा विषयवस्तु नैतिक हो जाती है (धनात्मक); कला का रूप सौंदर्यात्मक तथा विषयवस्तु धार्मिक हो जाती है (धनात्मक-ऋणात्मक); धर्म का रूप कानूनी तथा विषयवस्तु राजनीतिक हो जाती है (ऋणात्मक); इत्यादि-इत्यादि। अलबत्ता इनका असर आश्चर्यपूर्ण होता है क्योंकि ये अर्धमिश्रित रूप विचारधारा के अंतर्विरोध छिपा या खुला डालते हैं। वास्तव में ये विचित्र रूपायन गुणात्मक परिवर्तनों की बारीकी तथा नवीनता को अंगीकार करते हैं। अतः इस नजरिये से कबीर या तुलसी निराला या मुक्तिबोध आदि के रचना-संसारों को परखने पर नितांत नयेपन का उन्मेष होगा। मार्क्सवादी लेनिनवादी सौंदर्यदर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान को ये प्रबल सम-सामयिक नई चुनौतियाँ मिली हैं क्योंकि अब तो यह राज खुल गया है कि चेतना के क्षेत्र में बिंब-प्रतिबिंब न्याय का प्रकृतवाद, तथा नींवाधार-सुपरिगठन के बीच कारण-कार्य न्याय का विकासवाद लागू करने पर हम आगे भी संस्कृति एवं समाज में पल्लवग्राहिता तथा प्रतीतिमाया की तोतारटंत 'भ्रांति' में उलझे रहेंगे। अतः अर्नस्ट फिशर ने कलारूप में सीधे विचारधारा के अनुप्रवेश से तथा सुशाने लैंगर और ग्रोम्ब्रिच ने कलारूप में भ्रांतिमंडल (रेल्म आफ़ इल्यूजन) के समावेश से आगाह किया है।

नींवाधार-सुपरिगठन का अभियंता रूपक वास्तुकला से ठोस तथा दृश्य क्षेत्र का है। अतः पाकविद्या के अनिर्वचनीय तथा उपभोग्य स्वाद (रस) के रूपक से तो यह ऊँचा तथा श्रेष्ठ है ही! किंतु द्वंद्वात्मक विश्लेषण के ज्यादा अनुकूल यह रूपक नहीं पड़ा। शायद इस रूपक के कारण ही (बा में) मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान में 'संघर्ष और एकता' बजाय 'समन्वय और एकता' पर गलत बल दिया जा रहा जिससे कलाकार के वर्गीय चरित्र और उसके आत संघर्ष के बीच सारे महीन सूत्र टूटते चले गये हैं। यही नहीं कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में सामाजिक वर्ग संबंधी आधि वर्ग की धारणा ही छिछले ढंग से छापी गई है। अतः कल कार के चरित्र की तरह कला के वर्गीय चरित्र की अनुमि बहुत छिछली हुई है। फलस्वरूप समसामयिक मार्क्सवा इस क्षेत्र में भी क्रांतभेदन किया है।

जोसेफ़ स्तालिन ने पुरानी मार्क्सवादी प्रस्थापना क हुए कहा था कि समाजवाद कायम हो जाने के बाद वर्ग समाप्त हो जाता है। सोवियत संघ में समाजवाद के नीं धार को सुरक्षित रखने के लिए स्तालिन ने सुपरिगठन भारी नुकसान पहुँचाया। अब यह भी माना जाता है अगर सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के लोक-जन 'सांस्कृतिक क्रांति' को कर लिये होते तो क्रांति के पश की नौकरशाही का केन्द्रीयकरण, अनावश्यक हिंसाओं आतंक, विचारविवाद (पोलेमिक्स) की गलाघों व्यक्तिपूजा की बुराई आदि नहीं आ पातीं। फलतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं संस्कृति में निर्जीवता भी नहीं आती। किंतु वह नहीं हुआ। स्तालिन के विपरीत ख्रुश्चोव ने सुपरिगठन की मरम्मत करने में नींवाधार को ही तोड़ने-फोड़ने में कामयाबी पाई। सामाजिक क्रांति के बाद सांस्कृतिक क्रांति की ऐतिहासिक निश्चयता से गुज़रने पर समाजवादी चीन ने पाया कि समाजवाद कायम हो जाने के बाद भी एक अनवरत वर्ग-युद्ध जारी रहता है। अतएव अब 'वर्ग' (क्लास) की धारणा केवल वंशानुगतिक न होकर आचार-विचारपरक हो गई। आर्थिक वर्ग, सामाजिक वर्ग तथा जन्मजात वर्गीय व्यक्ति के आगे का यह चरण संपूर्ण संस्कृति तथा चेतना के प्रभामंडल रूपान्तरित कर देता है। "वर्ग की परिभाषा मानसिक दशा से की जाती है, और मानसिक दशा का उद्‌घाटन आचरण में होता है।"[1] पहले के गरीब किसान शक्ति द्वारा भ्रष्ट हो जाते हैं और एक भूतपूर्व जमींदार एक सम्मानित सर्वहारा हो सकता है (तोलसतोय)। अतः केवल पूर्वजीवनी निर्णायक नहीं है। व्यक्ति को तो यही साबित करना है कि आज उसकी अभिवृत्ति एक सर्वहारा की है। जब भ्रष्ट बूर्ज्वा शासनों पर समाजवादी व्यवस्था की जीत होती है तब—मध्यवर्ती चरण में—शासन चलाने के लिए, शिक्षा-प्रसार के लिए, उद्योगों को चालू रखने के लिए कर्मियों की कमी होती है। निम्न वर्गों में शिक्षा और प्रशिक्षण की इस कमी से निम्न बूर्ज्वा तथा मध्य वर्ग के लोग ही यह आरम्भिक आपूर्ति करते हैं और यह 'मिथ्या चेतना' ग्रहण कर लेते हैं कि वे तिलिस्म से समाजवादी हो गये हैं जबकि बूर्ज्वा व्यक्तिवाद और गैर-राजनीतिक चेतना उन पर हावी बनी रहती है। अतः संक्रांति-चरण में शक्ति, विशेषाधिकार या शिक्षा की निधि ही वर्ग-विभेद का आधार बन जाती है। अतः सुपरिगठन में **राज्य** की नौकरशाही को उलटने-पलटने तथा पार्टी की प्राधिकारी नौकरशाही को खत्म करने का काम भी सांस्कृतिक क्रांति को करना पड़ता है। सांस्कृतिक क्रांति का विस्फोट नींवाधार पर न होकर सुपरिगठन के धरातल पर होता है जिससे 'वर्ग' की धारणा आजकल आर्थिक एवं सामाजिक संदर्भों से परे एक सांस्कृतिक कैटेगरी हो गई है। अतः 'संस्कृति' के क्षेत्र में केवल साहित्यिक, कलात्मक तथा वैज्ञानिक ज्ञान ही नहीं आता, बल्कि मानवीय आचरण तथा सार्वजनिक नैतिकता भी आती है। अतः वर्गीय चरित्र का अनुमापन आर्थिक-सामाजिक भूमि से संक्रमित होकर नैतिक-सांस्कृतिक धरातल पर अभिषेकित हो गया है। अतः माओ ने क्रांति को शाश्वत चरित्र, तथा वर्ग-संघर्ष को निरन्तर विकास प्रदान किया है। कुछ पूर्ववर्ती मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं में संस्कृति को किसी वर्ग का भोला-भाला और अवचेतन स्राव माना जाता था। आज वही संस्कृति सोची-समझी तथा सचेतन प्रतिबद्धता साबित हुई है। अतः "आज चीन में वर्ग-संघर्ष वस्तुतः बुराई के खिलाफ़ संघर्ष है। दूसरे शब्दों में, वर्ग मनुष्य के बाहर तथा इर्द-गिर्द न होकर उसके अभ्यंतर में है। यह वह शाश्वत पैशाचिक प्रलोभन है जिससे मनुष्य को चिरन्तन लड़ाई लड़नी है।"[2] अतः अगर लेनिन ने अपने विश्लेषण को **'सामाजार्थिक रूपायन'** (Ekonomische Gesellschhafts formation) की मार्क्सीय धारणा से समारम्भ किया तो माओ ने 'सामाजासांस्कृतिक रूपायन' की अनिवार्यता से। केन्द्र का यह बंकिम मोड़ आगे भी चीन तथा रूस जैसे भूतपूर्व पिछड़े देशों में कृषि-क्रान्ति तथा कृषि-संस्कृति की कई पहेलियाँ सुलझा सकेगा। सांस्कृतिक क्रांति का लक्ष्य "कृषक चीन—मानवीयतया अक्षत और संश्लिष्ट, भोले और निष्कलंक चीन—को गँवारू तथा कारीगर समाज से एक टैक्नोलॉजिकल समाज में इस ढंग से छलांग लगवाना है कि वह कम्युनिज़्म के अपरिहार्य निम्न-बूर्जुआ-चरण से न गुजरे। संक्षेप में, किसान को—कृषक समाज के समग्र आदमी को—टैक्नोलॉजिकल स्वतन्त्रता उपलब्ध कराना है। यह एक गरीब, पैबन्दलगे, लगभग दीनहीन किन्तु मानवीय दृष्टि से अक्षत मनुष्य के साथ मिलकर टैक्नोलॉजिकल स्वतंत्रता प्राप्त करना है।...सांस्कृतिक क्रांति की यूतोपिया एक भविष्यवादी वैज्ञानिक उपन्यास की सभ्यता होगी जो किसानों से आबाद रही।"[3] अतएव अनगढ़ गरीबी और दस्तकारी वाले समाज से—निम्न-बूर्जुआ चरण से गुज़रे बिना—सीधे टैक्नोलॉजिकल सभ्यता की विवेकशीलता में आ जाना अब एक यूतोपियन यथार्थता है। वर्गसंघर्ष और सांस्कृतिक संघर्ष की एकता की यह बिलकुल नई और अद्वितीय मिसाल है।

लेनिन की संस्कृति संबंधी वैज्ञानिक प्रस्थापनाएँ भी बेहद आंदोलक हुई हैं। बहुधा पार्टी की थीसिसों, पार्टी-साहित्य और पार्टी पेम्फलेटों के विशेष प्रबंधन को लेकर उन्होंने **'बड़ी मशीन के एक पुर्जे'** का जो रूपक दिया था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको लेकर असंगत विवाद उठाये गए। गोर्की के साथी लेनिन ही ने एक ओर क्रांति और रोमांटिकवाद को, तथा दूसरी ओर समाजवाद और यथार्थवाद को एकत्र करने का एकांशक वा अद्वितीय मॉडल अंकुरित किया था; मोत्मार्ट, वाग्नर और तोल्सतोय जैसे कलाकारों के सांस्कृतिक पैटर्नों को सर्वप्रथम उद्घाटित करके यह स्पष्ट किया था किस तरह एक बूर्ज्वा संस्कृति में **एक** नहीं, बल्कि **दो** संस्कृतियाँ होती हैं; और **क्रांति** के साथ **संस्कृति** को जोड़कर 'सांस्कृतिक क्रांति' का 'आर्केटाइपल' आदर्श भी पेश किया था। लेनिन ने ही यह घोषणा की थी कि समाजवादी राज्य **पूँजीवादी व्यवस्था** में उत्पन्न संस्कृति को मुसल्लम नामंजूर नहीं करता। समाजवादी संस्कृति पूँजीवादी व्यवस्था में पनपे विज्ञान, तकनालॉजी, ज्ञान और कलादि को उस सीमा तक ग्रहण करती है जिस सीमा तक वह **सामूहिकवाद** के लिए खतरा न हो। इसी बिन्दु पर उन्होंने सबसे पहले **ऐतिहासिक** अतीत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत पर महारत हासिल करने की आधुनिक सर्वहारा आवश्यकता को उजागर किया था ताकि **सांस्कृतिक मूढ़ता** से जो युद्ध छेड़ा जाय वह लोगों में वर्ग-संघर्ष की पूरक **सांस्कृतिक क्रांति** की शमा जला दे। द्रष्टा लेनिन ने ही उस यूतोपिया का सही स्वप्न देखा है, जब सभी श्रमिक सर्वहारा जन शनैः-शनैः बौद्धिकों में रूपायित हो सकेंगे। इस तरह लेनिन ने ही सांस्कृतिक क्रांति (वर्ग-संघर्ष) और अन्तर्राष्ट्रीय कामगर (मानवतावाद) की ऐतिहासिक धारणाओं के द्वंद्वैक्य वाले संकेत दिये हैं जिन्हें 'येनान्फोरम में वार्ता' (माओ), 'मानवतावाद तथा वर्ग-चेतना' (लुकाच), 'समाजवाद तथा मनुष्य' (चे गुएवारा) जैसे संलेखों में हजारों फूलों के रूप में पुष्पित किया गया है। यहीं एकतान व्यापार खुलता है।

इस बिंदु से मार्क्सवादी संस्कृति-दर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान में कई आंदोलक त्रिज्याएँ निकली हैं। मुक्ति-युद्ध में जूझते हुए समाज के लिए चे गुएवारा कहते हैं कि उसे पूरे-का-पूरा एक महान् शिक्षा-शिविर में बदल दिया जाना चाहिए जहाँ भौतिक प्रोत्साहन का स्थान नैतिक प्रोत्साहन, तथा लाभ का स्थान बलिदान ले ले। अधम गरीबी की अवस्था में केवल शरीर ही कलंकित नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण मानसिक जगत् और स्नायुचक्रों की प्रतिक्रिया भी विकृत और कुंठित हो जाती है। दमन तथा संत्रास के विश्वासघाती तथा भ्रष्ट एवं स्वार्थांध वातावरण में आदर्शवादी मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं, मूल्य पाखंड के पर्याय हो जाते हैं, मुखौटों के बीच असलियत की पहचान नामुमकिन हो जाती है और पतन के सामंतीय-पूँजीवादी संस्कार छद्म मनोविज्ञान में ढलकर अवसरवादी **अनुभववाद** बन जाते हैं। अतः ऐसे पर्यावरण में सौन्दर्यबोध के सिद्धांतों तथा उससे ज्यादा सौंदर्यभाव के बोध पर असर होता है। यहाँ ही तो अनुभव के अतिक्रमण (Transcendence of experience) की समस्या उठती है। यह मार्क्सवादी 'स्थिति-अतिक्रमण' (de passement) है। इसका सारत्व अमल, व्यवहार अभ्यास (प्राक्सिस) में घनीभूत है। प्रेक्सिस तो द्वंद्वात्मक आवश्यकता का उद्घाटन करता है जब विविध उपलब्ध संभावनाओं के बीच में से एक व्यक्ति अपने निजी स्वभाव का स्वतन्त्र **चुनाव** करता है। यह चुनाव ही अनुभव का अतिक्रमण कराता है, चेतना को सामाजिक चेतना में तबदील करता है, अनुकृति को कलाकृति में रूपांतरित करता है और श्रम का रचना में कायान्तरण कर देता है। अतः मार्क्सवादी 'चाहिए'-पन (ought-ness) नैतिक कर्तव्य से भिन्न एक सौन्दर्यसामाजिक अन्तर्वर्ग (केटेगरी) है क्योंकि यह मानवीय अस्तित्व की तात्त्विक संभावना है। यह गैर-यूतोपियन है और यह सौन्दर्यनैतिक है। संपूर्ण मानवीय अस्तित्व को प्रभावित करने वाला 'परिवर्तन' तो ऐसा गुणात्मक परिवर्तन है जो समस्त व्यवस्था को ही बदल दे। ऐसा गुणात्मक परिवर्तन ही स्वतन्त्र हो सकता है। ऐसा गुणात्मक परिवर्तन ही मानवीय विमुक्ति ला सकता है अर्थात् मानवीय गुणबोधकता (सेंसिबिलिटी) एवं संवेदनशीलता (सेंसिटिविटी) की विमुक्ति! हर्बर्ट मार्क्यूस कहते हैं कि स्थापित समाजों की संवृद्धि तथा उन्नति के साथ भी तो मानवीय अस्तित्व की असहनीय दशाओं को परिवर्तित किया जा सकता है (अर्थात् यहाँ मूल व्यवस्था नहीं बदलती) किन्तु यह तो मात्रात्मक परिवर्तन है। भारत में पेट-भराऊ सूखी रोटी और साँसचलाऊ रोज़गारी ही जीवन योग्य मानवीय दशा पैदा कर देती है। यह गुणात्मक **परिवर्तन** तो अवश्य है, लेकिन **स्वतंत्रता** नहीं है। नई स्वतन्त्रता **नई आवश्यकताओं** तथा **नई संतुष्टियों** के द्वारा प्रतिफलित होती है। पूंजीवादी समाज की आवश्यकताएँ वैयक्तिक, आक्रामक और दमनकारी हैं। इसकी संतुष्टियाँ भी बेशर्म उपभोक्तावाद (कंज़ूमरिज्म) पर टिकी हैं—इफ़रात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपभोग तथा ऐश व मज़े का छिछला भोग! अतः मार्क्यूस के अनुसार इस समाज में दमन के लिए अनेक संस्थाएँ और विधियाँ हैं जो मनुष्य का चेतन तथा अवचेतन दोनों ही नियन्त्रित करती हैं क्योंकि वे वास्तविक आवश्यकताओं की तृप्ति करती हैं तथा सम्भावित आवश्यकताओं पर शासन करती हैं। अतः विप्लवी सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का दमन केवल चेतन के नियन्त्रण द्वारा ही नहीं होता, बल्कि अवचेतन के संचालन द्वारा भी होता है। अतः स्थापित समाज में भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की जो तुष्टि होती है वह भी व्यवस्था की ज़रूरतों तथा हितों के मुताबिक ही होती है, अर्थात् अति उत्पादन—अति लाभ—अति उपभोग के त्रिकोण के अन्तर्गत! 'आवश्यक' की सीमा मानवीय है, किन्तु 'अतिशय' अमानवीय है। गरीब आवश्यक के बिना पदावनत होते हैं और उसे पाकर मानवीय हो जाते हैं। अमीर अतिशय के कारण **अमानुषिक** होते हैं। अतः अगर अमीरों तथा उनकी अतिशयता का विलयन हो जाय तो गरीब मानवीय हो जाते हैं। अतः सामाजिक अग्रगमन उपभोग (कंज़म्पशन) के द्वारा अर्थात् मुनाफ़ों (अमेरिका) और समृद्धि (सोवियत संघ) के द्वारा न आकर तकनीकी तथा मानवीय दक्षताओं से आता है, जब 'आवश्यक' तो प्रदान किया ही जाता है तथा 'अतिरिक्त' वर्जित हो जाता है। 'अतिरिक्त' लाभ और शोषण का, तथा भोग और विलास का हेतु है। अतिरिक्त ही अमेरिका के अतिसमृद्ध समाज को युद्ध निष्ठ समाज में बदल चुका है। वह युद्ध-निष्ठ समाज दुनिया के सभी कोनों में विमुक्ति के खिलाफ़ लड़ता है तथा आतंक और गुलामी फैलाता है। अतिरिक्त में उत्पादन और विनाश की एकता है। अतिरिक्त के बजाय आवश्यक से जुड़ने की प्रक्रिया मनुष्य और तकनालाजी के सम्बन्धों की सांस्कृतिक छानबीन भी तो है। अतः बिना अति उत्पादन के भी तकनालाजिकल उन्नति हो सकती है, बिना निम्न-बुर्जुआ संस्कृति के दौर के भी गरीब आदमी तकनालाजिकल स्वतन्त्रता पा सकता है। अतः आत्मनिर्भर प्राक्सिस की द्वंद्वात्मक आवश्यकता हमें विमुक्त कर सकती है; अर्थात् गरीबी और उन्नति की एकता कायम की जा सकती है, दस्तकारी और न्यूक्लियर तकनालाजी के स्तर मिलाये जा सकते हैं। कितनी सही और वास्तविक यूतोपिया है यह! यह सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा यथार्थ बना दी गई है।

अतएव, सांस्कृतिक क्रांति उस पूंजीवादी तख्त को उलट देती है जो मनुष्य तथा वस्तुओं को पहले तो एक ही सतह पर रखता है, उसके बाद वस्तुओं को मनुष्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण तथा उससे स्वाधीन बना देता है। फलतः एक रेफ्रिजेरेटर एक सोहणे बच्चे से ज्यादा प्यारा हो जाता है, दहेज एक युवा नारी से ज्यादा प्रभावशाली हो जाता है, कपड़े-गहने निश्छल सौंदर्य से ज्यादा गुणवान हो जाते हैं। इस तरह उपभोग का मायाजाल हमारी मानवीय चेतना और नैतिक दायित्व का पूर्णतः दमन कर डालता है। अतः उपभोग—विशुद्ध उपभोग—में केवल अतिरिक्त लाभ और स्वार्थ रहता है जो बेहद व्यक्तिवादी, बेहद अराजनैतिक, बेहद अमानवीयकृत और बेहद निर्दय है। वहशी उपभोक्तावाद से हमारी लड़ाई का सीधा मतलब दलन-दमन की संस्थाओं एवं प्रणालियों का उन्मूलन करना है अर्थात् दासता से विमुक्ति है, अर्थात् संस्कृति-उपभोक्ता [फिल्म, टेलिविज़न, रंगीन पत्रिकाएँ, रेडियो सेट, पाकेट बुक, आदि] से संस्कृति-भोक्ता बनना है। अमीरी के अतिरिक्त को विसर्जित करने पर गरीबी का आवश्यक रह जाता है। ऐसी **गरीबी** में स्वभावतः **शुचिता** का समावेश है। अतः आज की दुनिया में (चीन और वियतनाम और क्यूबा की तरह) गरीबी एवं शुचिता की अस्मिता ही मनुष्य की नार्मल दशा होनी चाहिए। यही उस दमन के उच्छेदन का समसामयिक मार्ग है जो हमारे अस्तित्व की गहराई वाले सामन्तीय-पूंजीवादी संस्कार में धँस गया है, क्योंकि पुरानी आवश्यकताओं तथा पुरानी तुष्टियों ने हममें दमनकारी समाज का एक आभ्यंतरिक पुनरुत्पादन भी कर डाला है। दमन के सातत्य को कैसे रोका जाए? दमन की संस्थाओं तथा पद्धतियों ने हमारे भारतीय समाज में अमीरों के द्वारा गरीबों का शोषण, अतिरिक्त के द्वारा आवश्यक का भ्रष्टाचार फैलाया है। इसलिए हम अपने दैनिक जीवन में रोज़ ही बड़े-बड़े आतंक और अन्याय, लूट और लिप्सा, शोषण और नीचता देखते अथवा भोगते हैं किन्तु सामूहिक सूत्र का गाथागान नहीं हो पाता। अतः गरीबी और शुचिता की मैत्री के बजाय अमीरी और भ्रष्टाचार की मैत्री ही चहुँव्यापी है। इसका एक कारण हमारी सामन्तीय संस्कृति में त्रासदी का निषेध तथा इतिहासबोध की अनुपस्थिति रही है। किन्तु अपने वर्तमान में कुछ दूजी बात भी है। राजनैतिक आज़ादी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद आर्थिक गुलामी के शोषणपंजे [illegible] से छुड़ाने के लिए सत्ताधारी वर्ग तथा मोनोपली-बुर्जुआ-वर्गों ने साधारण एवं मध्यवर्गीय लोगों का शनैः-शनैः—देशभक्ति तथा दहशत का छद्म इस्तेमाल करके—**"अवराजनैतिकीकरण"** कर डाला। अतः सन् पैंसठ तक जनता बिलकुल उदासीन, बुद्धिजीवी बेहद अहंपूजक, तथा राजनैतिक पार्टियाँ बेहद अवसरवादी हो चुकी थीं। संस्थाओं एवं पद्धतियों द्वारा दमन-दलन ने मानवीय चेतना और सामाजिक यथार्थता को अनेक मिथकीय भ्रान्तियों में जकड़ डाला। हम यही देखते हैं कि आधुनिक व्यवस्था के सुपरिगठन की प्राथमिक एवं तात्त्विक शक्ति **राजनीति** है जो दैनिक है। इसलिए सुपरिगठन में **विचारधारा** (ideology) को केन्द्रीय धुरी मिली है। इसी प्रकार नींवाधार की बुनियादी शक्ति **अर्थरचना** है। कोई भी नया फेनामेना या सांस्कृतिक पैटर्न राजनीति से तटस्थ होकर अराजक एवं निरर्थक हो जाता है। अतः सामूहिक तथा सांस्कृतिक चेतना को खत्म करने के लिए अवराजनैतिकीकरण कर दो, और उसे जाग्रत करने के लिए **'ध्रुवान्तीकरण'** कर दो!! जनचित्त तो आज संस्कृति के राजनैतिक दर्शन वाले रूप से ही आन्दोलित हो सकता है क्योंकि राजनैतिक गुटबाज़ी और कूटनैतिक तिकड़म के आगे कानून और व्यवस्था, कला और धर्म तो निचली कोटि के अनुत्पादक प्रकार्य हैं। इसी तरह दूसरी प्रक्रिया मंडी-बाज़ार की चली—**'अवसांस्कृतीकरण'** की। संस्कृति के क्षेत्र में फ़िल्में, कामुक अफ़साने, जासूसी उपन्यास और पश्चिमी उपभोक्तावाद ने हमें निज-संस्कृति-विहीन बना डाला।

इसलिए अब मौन बहुसंख्यक अवराजनैतिकीकृत तथा अवसांस्कृतिकीकृत हैं। अतः वे मात्र तत्काल में जिन्दा हैं। वे अभी भी सामाजिक परिवर्तन तथा वैचारिक क्रान्ति में प्रतिबद्ध सहभागी बनने के योग्य ही नहीं रहे। यह भयानक बात सुपरिगठन के धरातल पर घटी है।

नींवाधार के धरातल पर स्वार्थ और शोषण, लाभ और उपभोग, सम्पत्ति और सत्ता के परिवेश में गरीब पदावनत हुए तथा श्रीमन्त अमानवीय बने। उक्त परिवेश की पद्धतियाँ ही ऐसी हैं कि व्यक्तिवाद और गैर-राजनैतिकीकरण के उन्मेष के साथ-साथ **'अमानवीयकरण'** भी होता है अर्थात् सामान्य सामाजिक संबंध और विमुक्तिकारक सौन्दर्य-सांस्कृतिक चेतना का उच्छेदन होने लगता है। अतः यहाँ सामान्य मनोविज्ञान और सामाजिक जीवन ही निरर्थक एवं अराजक हो जाता है। अतः जीवन पर अधोमुखी और निकृष्ट पक्ष का आतंक गालिब हो जाता है। इंसान पर आतंक, संत्रास, अत्याचार, नृशंसता, अकेलेपन, आत्म-निर्वासन, पशुता, कायरता आदि की अंधी कुज्झटिका छा जाती है। इसके सहवर्तन में ही आदमी का **'पाशविकीकरण'** भी होता जाता है। पाशविकीकरण में प्रेम का स्थान घृणा, दया का स्थान ज़ुल्म, सत्य का स्थान नृशंस शक्ति, सौंदर्य का स्थान लालसा, नैतिकता का स्थान एब्सर्ड उच्छृंखलता ले लेती है। अतः आजकल पुलिस अफसर, या डाक्टर या घनी भौंहों वाले नेता, या निरंकुश बुद्धिजीवी या नगरसेठ झट् से पलक मारते अथवा फट् से चुटकी बजाते ही किसी की हत्या अथवा **बर्बादी** कर सकते हैं। कुछ छोटी-सी बातें हैं जो दो माहों में पंजाब के हमारे छोटे-से शहर जालंधर में घटीं। पहले एक नक्सली क्रान्तिकारी युवक दयासिंह को पुलिस ने रात में सरहिन्द नहर पर लेजाकर गोली से उड़ा दिया और रात-भर गीदड़ों द्वारा लाश को खाने के लिए छोड़कर डाकू के मुठभेड़ में मारे जाने की सरकारी घोषणा की। एक दूसरी वारदात में एक बस-ड्राइवर सोहनसिंह पर इतने अत्याचार किये गए कि वह मर गया। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट से पता चला कि (सेक्स प्रतिद्वन्द्विता के कारण) पुलिस ने लाठियों से उसके अंडकोश कुचल डाले थे, गुदा से डंडा ठूंसा था जिससे गुर्दा (किडनी) फट गया। एक तीसरी घटना के अनुसार एक युवा कवि अवतारसिंह 'पाश' को डकैती और हत्या के मामलों में गिरफ्तार किया गया है। आजकल ऐसी अनेक खबरें सुनाई पड़ रही हैं जिनमें किसी-न-किसी बहाने विद्रोही युवा गिरफ्तार किए जा रहे हैं। पहले की राजभक्त तथा आज की देशभक्त भारतीय पुलिस के लिए तो भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद, डाकू मानसिंह और ठग नटवरलाल, दयासिंह और ड्राइवर सोहन सिंह, सभी एक तरह के मुज़रिम हैं। यह प्रशासन के अवराजनैतिकीकरण का वेदांती उदाहरण है। अतः इस दमन और घुटन से विमुक्ति कैसे हो? हम मानवीय अस्तित्व की गहराइयों में धँसे इस दमन के आतंक से हम कैसे विमुक्त हों?? हम क्या करें? उफ़...!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, पाशविकीकरण और अराजनीतिकीकरण के केंद्रों से ही बलिदानपूर्ण मानवीयकरण तथा क्रांतिकारी ध्रुवीकरण का महान् पुनर्जन्म भी होता है ! दमन और आतंक के इस नैरंतर्य से हमारा पहला विच्छेद ही चेतना के साथ हमारा पहला अनुप्रवेश भी है ! और, यह एक दीर्घकालिक आत्मसंघर्ष भी है ! !

अत: व्यवस्था के अंतर्गत ही जो प्रतिवादी शक्तियाँ आविर्भूत हो रही हैं, केवल वे ही हमारी मानवीय विमुक्ति कर सकती हैं। इन शक्तियों से जुड़ने की समस्या **'स्थिति के अतिक्रमण'** (depassement) की समस्या है। यदि **अनुभव** का अतिक्रमण हमें निर्वैयक्तिक बनाता है और **समाज** का अतिक्रमण हमें नया बनाता है, तो **वर्तमान** का अतिक्रमण हमें भविष्य से जोड़ता है। अत: 'मानवीय संवेदनशीलता और गुणबोधकता की विमुक्ति निजी नहीं है; बल्कि वह मानवीय अस्तित्व तथा उसके पर्यावरण का रूपांतर करने वाली एक शक्ति है।'[४]

इसलिए 'विमुक्ति-बोध' का तात्पर्य मानवीय सृजनात्मकता एवं चेतनता की अस्मिता है । और इसलिए 'कला' (सुपरिगठन का एक अप्रधान रूप) **संपूर्ण** मानवीय अस्तित्व तथा सत्व के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह नई आवश्यकताओं एवं संवेदनशील तृप्तियों के द्वारा हमें विमुक्त करती है। यह निश्चय है कि दासता अथवा विमुक्ति के लिए कला और मनोविज्ञान सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य साधन बने रहेंगे। यह भी तय है कि आज **कला** ऐतिहासिक परिवर्तन का कर्मक नहीं हो सकती। (सुपरिगठन के अंतर्गत मध्य काल में यह कार्य **धर्म** ने किया था; आज **राजनीति** करती है)। किन्तु आज भी कला सुपरिगठन की एक मानवीय ईंट है; आज भी मानवीय संवेदनशीलता के विकास का प्रतिबिंब है और आज भी यह संस्कृति का सुंदर कमल तथा विचारधारा की भावोच्छल अंतर्धारा है। अत: कला की आवश्यकता ही हमें वह स्वतंत्रता देती है जो एक विमुक्त तथा श्रेष्ठतर मानवीय अस्तित्व को प्राप्त करे; जो उत्पादन-शक्तियों के साथ-साथ सृजनात्मक कल्पना द्वारा समाज का निर्माण भी कर सके। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तकनीक और कला, कार्य और क्रीड़ा, उत्पादन और रचना आदि किसी एक ऐसे बिंदु पर अभिमुख हो सकती हैं जहाँ इनके विभेद विसर्जित होने लगें। यह तभी वास्तविक हो सकती है जब कला एक ओर तो संस्कृति तथा विचारधारा (सुपरिगठन) का आवश्यक सहखंड बने; दूसरी ओर पूंजीवादी शोषण और मुनाफाखोरी के हुक्मों से बरी हो जाये तथा तीसरी ओर एक साथ (सहवर्ती) तकनीक और क्रीड़ा हो जाए ! यही विमुक्त मनुष्य के लिए कला की आवश्यकता होगी ! ! इस तरह विमुक्ति में कला (सौन्दर्य) और कौशल (टैकनोलॉजी) का समभाग कायम हो सकेगा। समाज और प्रकृति के अंतर्गत मनुष्यों तथा वस्तुओं की छिपी क्षमताओं के उद्घाटन से कला टैकनोलॉजी के समीप जा सकती है, तथा टैकनोलॉजी क्रीड़ा भी बन सकती है। अत: नये समाज को एक कलाकृत्य रूप में भी देखा जा सकता है (मार्क्यूज़)। हर्बर्ट मार्क्यूज़ की इस धारणा के समानांतर ज्योर्ज़ी लुकाश् ने कहा है कि 'संपूर्ण मनुष्य' ही 'मनुष्य की संपूर्णता' में शनै:-शनै: रूपांतरित होता जाता है। अत वे अरिस्तोतलीय कैथार्सिस के डायोनीशियन वृत्त के असमान मार्क्सीय वृत्त के **'अपोलोकैथार्सिस'** की प्रस्थापना करते हैं। इस भाँति अंततोगत्वा 'पार्टी मशीन का पुर्जा' बनने वाली पैम्फलेट-लेखन की कला की सीमित एवं सही धारणा की गलत व्याख्या समाप्त होती है और कला सांस्कृतिक क्रांति का एक दीपक तथा एक दर्पण बनकर अभिषेकित होती है जिसके द्वारा मनुष्य वर्ग तथा समाज के दमनों से विमुक्त होने की तैयारी कर सकता है। अत: समाज का टैकनोलॉजिकल एवं सौंदर्यतात्त्विक पुनर्निर्माण सहवर्ती ढंग से हो सकता है अगर पूंजीवादी निर्धन न्यूनता तथा समृद्ध अतिरिक्तता, शोषण और मुनाफे से विमुक्त हुआ जाय।

और, इसके लिए वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का समूल उच्छेदन ही पहली तथा महत्तम शर्त है ताकि पूर्ण गुणात्मक परिवर्तन हो।

इसके लिए विकलांग मनोवृत्तियों तथा जीर्ण-शीर्ण चेतना का भंजन करना ही होगा। इसके लिए नई, अतिक्रांत तथा प्रतिद्वंद्वी मूल्यों के प्रति संवेदना तथा जागरूकता को उन्मीलित करना ही होगा। इसका अर्थ यह है कि पहले मर्यादित विचार की कीमत ली जाती थी। अब विद्रोही विचार की कीमत त्याग और बलिदान, क्रांति और त्रासदी से अनिवार्यत: चुकानी पड़ेगी। अत: अब विचार और भावना विलास और विनोद न होकर, अभ्यास तथा आचरण की कसौटी पर, द्वंद्वात्मक आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला के संस्कृति और विचारधारा का अंग होने का, कला के दर्पण और दीपक होने का, अस्त्र और अलंकार होने का मार्क्सीय आदर्श यही है। अतः सामाजिक शिल्प में कला एक दैश्वक ईंट है : नींवाधार के सुपरिगठन की एक कल्पनाधर्मी मूर्त ईंट !!

नींवाधार-सुपरिगठन के इस विराट् रूपक में न तो कोई बिंब-प्रतिबिंब न्याय वाला संबंध है (अर्थात् सुपरिगठन अकेला बिंब नहीं है); और न ही बीज-फूल वाला विकासवाद है; बल्कि इसमें अंतर्विरोध भी है जिसकी अभिव्यक्ति 'स्वतः गतिवाद' (auto-dynamism) द्वारा होती है। मार्क्स की इस धुरीण धारणा को लेनिन ने विकसित करके बताया कि 'प्रक्रिया' में छलाँग भी लग जाती है तो सूत्रभंग भी हो जाता है। सुपरिगठन अगर भौतिक तथा विचारधारात्मक झीना आवरण उढ़ाता है तो उसे अनावरण करने वाला द्रष्टा भी होता है। सुपरिगठन ही मनुष्य की समस्या तथा सौंदर्यबोधात्मक यथार्थता की समस्या उठाता है। सुपरिगठन के द्वारा ही मनुष्य वर्तमान तथा तात्कालिक अनुभव का अतिक्रमण करता है। सुपरिगठन ही विप्लवी सामाजिक परिवर्तन की अंतर्मुखी आवश्यकता की छटपटाहट को ज्ञानगोचरीभूत करता है। सुपरिगठन ही चेतना तथा सृजनात्मकता को विमुक्त करता है।

नींवाधार इतना प्रत्यक्ष और सरल नहीं होता। सुपरिगठन ज्यादा प्रतीत और प्रत्यक्ष होता है। अतः अर्थतत्त्व छिपा होता है; और राजनीति तत्त्व में छद्म एवं कला रूपों में फांतासी छा जाती है। जिस तरह विशिष्ट सामाजार्थिक चरणों में उत्पादन-संबंध प्रमुख होते हैं उसी तरह विशिष्ट ऐतिहासिक नींवाधार के अंतर्गत, सुपरिगठन में भी उसके किसी **एक** अंग की व्यापकता तथा प्रमुखता हो जाती है। मध्यकाल में यह भूमिका **धर्म** की थी तो आज **विज्ञान** की। किन्तु सुपरिगठन में लोक जीवन की सामाजिक चेतना की प्राथमिक अभिव्यक्ति **राजनीति** ही है। कभी-कभी तो यह भ्रांति छा जाती है कि मध्यकाल में नींवाधार-सुपरिगठन दोनों में धर्म का प्रभुत्व है और आधुनिक युग में दोनों में अर्थ का अधिकार है। सुपरिगठन में उसके किसी एक रूप के प्रभुत्व के कारण विज्ञान, नीति, कानून, दर्शन आदि में उसी एक ही विषयवस्तु का नाना रूपों में अप्रत्यक्ष प्रक्षेपण हो जाया करता है। मध्यकाल में मानों धर्मतत्त्व ही कला, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीति, कानून आदि के विविध रूपों में मुखर हो उठा था। इस स्थिति पर मार्क्सवादी संस्कृति-विज्ञान को बारीकी से ग़ौर करना होगा क्योंकि राष्ट्रीय इतिहास तथा सांस्कृतिक परंपरा में यह चुनौती और पहेली है। ऐसी अवस्था का मतलब यह हो सकता है कि सामाजिक चेतना में थोड़ी-बहुत उथल-पुथल नज़र आ रही थी, किन्तु मूलरूपेण नींवाधार के उत्पादन-संबंध अचल रहे। अतः सांस्कृतिक अंगड़ाई सामाजिक क्रांति में छन नहीं पायी और गहराई से प्रभावित नहीं कर पायी क्योंकि मनुष्य का संपूर्ण अस्तित्व एक पक्षीय हो गया है अर्थात् संपूर्ण अस्तित्व का संपूर्ण पक्षों में प्रसार नहीं हुआ जिससे नई आवश्यकताएँ तथा नवीन संवेदनाएं उद्भूत नहीं हो पाईं। इसलिए यथार्थता का प्रत्यक्षीकरण यथासंभव (यथावत् के बजाय) का अतिक्रमण करके फांतासी हो गया। फलतः **विचार** (आइडिया) एक मूर्त भौतिक शक्ति के बजाय मिथ्या **फान्तासी** (की शक्ति) में रूपांतरित हो गया। अतएव समकालीन यथार्थता अद्‌भुत और विद्रूप, उदात्त और भोंडी, का द्वंद्वचित्र होकर भी आती है।

एक स्थिति और भी है। विशिष्ट सामाजार्थिक आकृतिबंध के अंतर्गत सुपरिगठन के ही आपसी अंगों के बीच पूरक मैत्री अथवा अविरोधी (non-antagonistic) अंतर हो जाते हैं। पहले कला और कानून के बीच अन्तर था (कवि निरंकुश था तथा काव्य व्याकरण बहिर्भूत था) तो आज कला और राजनीति के बीच यह हालत है। यहाँ माध्यम का स्वभाव भी असर डालता है, किन्तु वर्गों के आपसी अंतर्विरोधों का प्रभाव भी प्रकट होता है। कवि तथा वर्ग के विश्वदृष्टिकोण (वर्ल्ड-व्यू) की देन भी हैं, ऐसे अविरोधी अंतर्विरोध!

ये अंतर्विरोध जब किसी प्रमुख संस्कृति रूप (धर्म या राजनीति) के कुरुक्षेत्र में सक्रिय होते हैं तब वे घटनाओं तथा कलाकृतियों, दोनों के **स्वरूपों** एवं **शैलियों** की संरचना भी करते हैं। भक्तिकालीन महाकाव्य एवं लीलापद, भक्ति-उपासना (मधुर या मर्यादावादी) एवं कृषक-विद्रोह (छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह) आदि ऐसे विपरीत प्रतीयमान घटक हैं, जिनके सारसत्व **एक** हैं। अतः हमें मार्क्सवादी कलाशास्त्र एवं संस्कृति-विज्ञान में कला और धर्म की सम्बन्धता के साथ साथ राजनीति और दर्शन के अंतर्वर्गों (केटेगरीज़) को भी जोड़ना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम इससे कैसे इन्कार कर सकते हैं कि एक ही सम्पूर्ण यथार्थता के पुनरुत्पादन अथवा प्रतिबिंब सुपरिगठन के अनेक रूपों में—भिन्न-भिन्न माध्यमों से गुज़रने पर—भिन्न-भिन्न पड़ेंगे। हम कह चुके हैं कि यह संज्ञान और अभिज्ञान की समस्या है। यह दोहरी प्रक्रिया है। यदि एक ओर **मनुष्य पर** बाहरी दुनिया का प्रभाव पड़ता है तो दूसरी ओर **बाहरी दुनिया पर** मनुष्य का प्रभाव भी पड़ता है। यह दूसरा प्रभाव मनुष्य की व्यावहारिक क्रियात्मकता (प्रेक्टिकल ऐक्टिविटी) है। इसलिए एक ही यथार्थता का प्रतिबिंब राजनीतिशास्त्र और काव्य पर, दर्शन और मनोविज्ञान पर भिन्न-भिन्न पड़ेगा। अतः ये कई प्रतिबिंब मिलकर ही सामाजिक यथार्थता एवं मानवीय दशा की समग्रता रचते हैं। अतः मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन को सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थता तथा ऐस्थेटिक यथार्थता की अस्मिता (आइडेंटिटी) ढूंढनी ही पड़ती है। यह भी ध्यातव्य है कि यथार्थता का राजनैतिक प्रतिबिंब कलात्मक प्रतिबिंब से ऊँचा हो सकता है; अथवा उसका दार्शनिक प्रतिबिंब नैतिक प्रतिबिंब से श्रेष्ठतर हो सकता है। यह गुणात्मक तुलना है। इसलिए सौंदर्यबोध एवं कला में मार्क्सवाद **ऐन्द्रियिक प्रतिबिंब** से आगे उन **विवेकशील निर्णयों** का हाशिया भी जोड़ता है जो विश्व के बहिर्भूत कर्मठ रूप हैं। अतः भारतीय संस्कृति का 'आधुनिकताबोध' इतना अधिक अमूर्त एवं एकांगी हो गया है कि वह दर्शन तथा विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के आधुनिकता-प्रत्ययों से संगति नहीं जोड़ सका। स्वयं कार्लमार्क्स ने कला एवं सौंदर्यशास्त्र के लिए **प्रत्यक्षीकरण** की दो दृष्टियों का अनुमोदन किया था। फरवरी, १८४८ की फ्रांसीसी क्रांति की बाबत किताबों पर तफ़सिरा करते हुए, घटनाओं एवं इंसानों के चित्रण की सच्चाई के बारे में, उन्होंने लिखा था : "यथार्थता में **रैफेलवादी सौंदर्यदृष्टि** का परित्याग और **रेम्ब्रांवादी सौंदर्यदृष्टि** का ग्रहण किया जाए।" उनका आशय यह था कि रैफेलवादी सौंदर्यदृष्टि में सभी चित्रात्मक सचाई गायब हो जाती है क्योंकि उसमें शान-शौकत और आवश्यक वस्तुओं की अलंकृति का अंकन होता है जिससे वास्तविक स्वरूप प्रायः लुप्त हो जाता है। लेकिन रेम्ब्रांवादी सौन्दर्यदृष्टि अपने चटकीले रंगों में घटनाओं और घटनापूर्ण लोगों का अंकन करके, अनावश्यक सजावट का परित्याग करती हुई, 'सजीव' मानवीय गुण झलका देती है।[५] इस अछूती और अनूठी दिशादृष्टि का परिवर्तन तथा संक्रमण होना अभी शेष है। इसके ज़रिये कला-इतिहास में रुचि (टेस्ट) एवं शैली (स्टाइल) की द्वंद्वात्मक संबंधता भी ढूँढ़ी जा सकती है।

इसी के साथ एक पहलू और भी अनछुआ-सा रह गया है। जिस तरह यथार्थता से मनुष्य के राजनीतिक या दार्शनिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी तरह सौंदर्यतात्त्विक सम्बन्ध भी विलक्षण होते हैं। यूं सौंदर्यतात्त्विक सम्बन्ध ज्यादा आदिम हैं। प्राचीन मिस्र, ग्रीस, या चीन या भारत में इन सम्बन्धों में स्पष्ट **अन्तर** तथा आकृतिबध वाला ऐक्य भी मिलेगा। इस दृष्टि से हमें लोकतात्त्विक मिथकों, परीकथाओं तथा निजंधरों आदि का अनुशीलन करना होगा ताकि मानवीय अतर्लोक समझा जा सके। इस दृष्टि से जार्ज थाम्पसन ने प्राचीन यूनानी समाज का, तथा देवराज चन्नण, आर० एस० शर्मा, डी० डी० कोसाम्बी आदि ने प्राचीन भारतीय समाज का अध्ययन करके आंदोलक हाशिये उद्घाटित किये हैं। **कबीलों** के विघटित होने की स्थिति में धार्मिक मिथकों तथा परी-कथाओं में काफ़ी वैषम्य (कंट्रास्ट) था। **कुलों** (क्लान) की परम्परा कायम होने पर मिथकों तथा निजंधरों (लीजेण्ड्स) के बीच भेद करना मुश्किल हो गया; तथा आरम्भिक **वर्गों** के रच-रचाव की कुछ परिस्थितियों में निजंधर और इतिहास के अन्तर धुंधले हुए। अतएव यथार्थता के 'कलात्मक बिंबों' के मार्क्सीय अध्ययन की अनेकानेक दिशाएँ खुलना अभी भी शेष हैं।

उपरली बहस में शुरू से लेकर आखिर तक एक महासूत्र समस्याओं का निवारक बनकर खुलता हुआ मिल सकता है। वह है, **पद्धति की समस्या** का! इस क्षेत्र में सत्य की प्राप्ति तथा मूल्य की खोज **'उपागम'** (एप्रोच) तथा **'पद्धति'** (मेथड) के द्वारा ही हो सकती है। पद्धति की समस्या मार्क्सीय विज्ञान में व्यवहार या अमल (praxis) की समस्या बनकर उभरी है। इसे सार्त्र ने मूलतः स्थिति के अतिक्रमण (de passement) से संलग्न किया है। पद्धति की समस्या कलाकृति में रूप एवं विषयवस्तु का, समाजदर्शनों में सिद्धांत (थियौरी) एवं अमल (प्रेक्टिस) का, राजनीति में क्रांति एवं जड़ता का, किसी विचार में दर्शन एवं विज्ञान का सघर्षी सामंजस्य उपस्थित करती है। इसी समस्या को अंगीकृत करने के कारण मार्क्सवादी फिलासफी भी है तथा आइडियोलाजी भी; विज्ञान भी है तथा समाजविज्ञान भी; सिद्धांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है तथा अमल भी। इतनी विविधता तथा समग्रता का असली कारण यह है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद समाज एवं प्रकृति के पृथक् अंगों या खण्डों के बजाय **सम्पूर्ण** पर अधिष्ठित है। अतः वह एक सिद्धांत के बजाय कई सिद्धांतों का महापुंज है जो हमारे समाज की सभी गतिविधियों तथा क्रियाओं की, द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से व्याख्या करके आगामी गति एवं दिशा का निर्देश भी करता है। यह एक द्वंद्वात्मक कानून है कि 'सम्पूर्ण' (अंशी) हमेशा 'अंशों' या खण्डों के कुल जोड़ से **अतिरिक्त** भी होता है। इसीलिए अपनी समाज-व्यवस्था के विराट् या समग्र सत्यों की उपलब्धि उसके विभिन्न अंशों एवं पक्षों के पृथक्-पृथक्, नन्हें-नन्हें सत्यों से कतई नहीं हो सकती। उसके लिए आधुनिक युग के एक विराट् प्रमुख दर्शन की ज़रूरत है। केवल मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही ऐसा विराट् तथा प्रमुख दर्शन और विज्ञान है जिसका एक सम्पूर्ण पद्धतिशास्त्र (मेथडालाजी) तथा विश्व दृष्टिकोण है।

पद्धति में दृष्टिकोण या उपागम (एप्रोच) की महत्ता है। यही परिणाम की यथार्थता और सत्यता, प्रामाणिकता और निश्चयता को तय करता है। अतः **दृष्टिकोण** एवं **पद्धति** मार्क्सवादी संस्कृति-विज्ञान तथा सौंदर्यदर्शन की दो आजानुबाँहें हैं। **पद्धति की समस्या** ही तो बैलगाड़ी और अपोलो-११ की तकनालाजी की, हथकरघे और कम्प्यूटर के संचालन की, अलंकार और व्याकरण की समस्याओं के रूप ग्रहण करती है। यह समस्या नृत्य में मुद्रा की, काव्य में रीति की, नाट्य में अभिनय की, तथा साहित्य में रूप की समस्या है। अतः जब तक किसी एक उपागम का आधार नहीं होता, तब तक पद्धति का मौलिक तथा सिद्ध प्रयोग या नियमन नहीं हो सकता। जब तक उपागम के साथ विश्व-दृष्टिकोण नहीं जुड़ता तब तक कर्म या कृति सार्थक, उपयोगी और जीवितम् नहीं बन पाती। पद्धति व दृष्टिकोण के द्वारा ही—**क्रीड़ा** (खेलकूद) तथा **लीला** (दैवी भ्रामक क्रीड़ा), **रचना** (मानवीय सहज क्रिया) तथा **श्रम** (उत्पादन क्रिया) आदि को तात्त्विक सम्बन्ध के, एवं एक मानवीय चेतना के, एक सूत्र में गूँथा जा सकता है। ये माध्यमों तथा विधियों के जरिये बदलते हुए एक **विषय** के प्रतिरूप हैं। यथार्थता को कलाकृति में किस तरह से प्रतिबिंबित एवं प्रतिप्रस्तुत किया जाय, यह कलाकार के उपागम एवं दृष्टिकोण की तथा माध्यम को ढालने वाली पद्धति की समस्या है। इसीलिए कला में पद्धति एक सिद्धांत (एप्रोच, आउटलुक, वर्ल्डव्यू, प्वाइण्ट ऑफ़ व्यू) है।··· रोमान्तिकता या यथार्थता एक बिंदु पर आकर पद्धति भी बन जाती हैं, यद्यपि वे सिद्धांत भी हैं।

प्रत्येक **कलात्मक पद्धति** का अपना एक **संदर्शन** (विज़न) होता है और वह पद्धति अपनी भाषा की भी तलाश करती है। पद्धति द्वारा मानवीय व्यवहार तथा कलासामग्री के परिष्कार का भी एक अभिज्ञान होता है। किन्तु मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन में पद्धति को भी गुरुगम्भीर बनाने की जो कठमुल्ला आदत डाली गई है उससे फार्म (रूप) तथा संरचना (स्ट्रक्चर) को अपार क्षति हुई है। हम एक ही प्रमेय (आब्जेक्ट) अथवा संघटना (फेनामेना) को यथार्थवादी विवरण, अथवा रोमांतिक भावावेग, अथवा आधुनिक बौद्धिकता की दृष्टि से पेश कर सकते हैं। अतः एक ही विषयवस्तु में दृष्टिकोण एवं पद्धति की भिन्नता रूप-शैली की भिन्नता में परिलक्षित होती है।

किन्तु पद्धति को केवल रीतिपरक कौशलों एवं कुशलताओं में ही नहीं जकड़ा जा सकता। पद्धति तो यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण से नई आवश्यकताओं को संबद्ध करने की अनवरत चेष्टा है। अतः यह संयोग (चांस) के अपवाद के बजाय चयन (च्वाइस) के विवेक को प्रमुखता देती है। अतः पद्धति एक अमूर्त आदर्श (आइडियल) का मूर्त प्रारूप (मॉडल) में कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) करती है। उपर्युक्त बातों को नज़रंदाज़ करके कभी मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन में केवल इसी प्रस्थापना का बोलवाला रहा था कि **विषयवस्तु** (कान्टेन्ट) ही **रूप** (फार्म) का निर्धारण करती है तथा रूप उस पर नितांत आश्रित है। किन्तु यहाँ इनकी 'संघर्ष-में-एकता' की अवस्था को विच्छिन्न करके बिंब-प्रतिबिंबवाद में पनाह ली जाती है जिससे एक ओर तो कलारचना का बाहरी रूप ऊबड़खाबड़ होता रहा है तथा दूसरी ओर आंतरिक कथ्य भी नारों एवं अमूर्त टाइपों में प्रभावहीन होता रहा है। केवल यही नहीं हुआ। अवसर रूप की उपेक्षा की गई क्योंकि **दृष्टिकोण-पद्धति के सातत्य** में से पद्धति को अलग-थलग कर डाला गया। आवेश के एक क्षण में रचा गया प्रगीत; कौशलसिद्धि के दस वर्षों में चित्रित किया गया लियोनार्दो-द-विंची कृत 'ईसा का प्रीतिभोज'; कई पीढ़ियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कई हज़ार हाथों द्वारा निर्मित किया गया खजराहो का मंदिर-मंडल; शताब्दियों से पुनरावृत्त तथा प्रचुर किया गया भरतनाट्यम् अथवा मणिपुरी रास का रूप—इन सबमें एक एकान्तिक व्यक्ति से लेकर कारीगरों के एक या कई समूहों का, एक क्षण से लेकर एक युग का, तथा एक नितांत स्वयंप्रकाश्य पद्धति से लेकर एक विराट् तकनालाजी का समावेश होता है। अतएव हमें एक और सूत्र मिलता है: पद्धति और संरचना (स्ट्रक्चर) के आपसी संबंध भी माध्यम की नई प्राकृतिक गुणात्मक शक्तियों का अन्वेषण करते हैं। इस क्षेत्र में मार्क्सीय संरचनावाद लेवी स्ट्रास-सम्मत संरचनावाद से ज्यादा संवर्द्धित है। पहले तो दृष्टिकोण में प्रवृत्त्यात्मकता (टेंडेन्शियसनेस) के प्रकट रूप को इतना तूल दिया जाता रहा कि घटना, चरित्र, वातावरण आदि सभी नीरस तथा यांत्रिक बन गए। इसलिए "सैकड़ों फूलों को फूलने दो" का रूपक कला में, तथा "हजारों चिंतनों को तर्कवितर्क करने दो" का रूपक विज्ञान में लागू करने की चेष्टा हुई। किन्तु इसे भी छोड़ दिया गया। अतः प्रवृत्त्यात्मकता और विलक्षणता की एकता कैसे की जाय, कैसे प्रवृत्त्यात्मकता का अप्रत्यक्ष ढंग से परिपाचन किया जाय, आदि मार्क्सवादी सौंदर्य विज्ञान की समस्याएँ हैं जो आत्माभिव्यंजना एवं प्रोपेगंडा के विरोधी कांट्रेडिक्शन को उच्चतर विचारधारात्मक धरातल पर समाप्त नहीं कर पाई हैं, बल्कि उलटे स्वयं उलझती गई हैं। मुमकिन है कि इसकी एक वजह यह भी हो कि कई कलाकार सिद्धान्त रूप में तो सजे-धजे होते हैं किन्तु मानवीय व्यवहार की दृष्टि से बिल्कुल छिछले तथा अपने ही सिद्धान्त के प्रतिरोधी (भले ही अवचेतन ढंग से हों) निकलते हैं। अतः वे जीवन के सत्यों तथा कला के वैचारिक सत्यों की मैत्री नहीं कर पाते। अतः इस अभ्यासी धरातल से ही उनके संज्ञान तथा अभिज्ञान के धुंधले तथा अंधे होने की शुरुआत होती है। सार्त्र ने अपनी एक पुस्तक **'दि प्राब्लेम आफ़ मेथड'** में इस समस्या को उठाया है। यद्यपि हम उनके दृष्टिकोण से अनेक तरह से असहमत हैं, फिर भी उन्होंने एक 'सम्पूर्ण' का परिदृश्य (पर्स्पेक्टिव) दिया है। सुशाने लैंगर ने मिथकरचनात्मक दृष्टिकोण से विषयवस्तु को अनुभूति (फीलिंग) से, तथा रूप को अनुभूति के बिंब (इमेज) से प्रतिपादित करके 'अनुभूति—रूप की एकता' स्थापित की है जिससे कलाकृति का एक (अर्नेस्ट कैसीरर सम्मत) **'प्रतीकात्मक रूप'** (सिम्बालिक फार्म) में अभिषेक हुआ। इस स्थापना से दूर तक सहमत होकर आगे बहुत-कुछ हासिल किया जा सकता है।

रूप तथा विषयवस्तु की एकता में अन्य कई अन्तर्विरोध हैं। वस्तु (आब्जेक्ट) ही रूप के उत्पादन का निमित्त होता है। अतः अगर रूप के विचार को प्लेटोनिक ढंग से एक परिपूर्ण रूप में ढालने की भ्रान्ति पर विश्वास कर लिया जाए तो वस्तु समय से बहिर्भूत हो जाती है। तब रूप समय का अतिक्रमण कर सकता है। इस खतरनाक प्रस्थापना में ही रूढ़िवाद छिपा है। काल और रूप के ये सम्बन्ध अनुकृति में चुकते-चुकते कृति को ही तहस-नहस कर डालते हैं। आवृत्ति और अनुकृति का नतीजा नीरसता, एकरसता, स्तब्धता, निष्क्रियता होते-होते अन्ततोगत्वा निरर्थकता और अराजकता होता है जो अन्त में सृजनात्मकता को प्रतिक्रियावादी बना डालता है। अतः निरन्तरता को चिरन्तनता की भ्रान्ति में बदल दिया जाता है। इतिहास में स्वर्णयुग की अथवा कला में कालजयी कृति की धारणाओं की संगति अगर यथार्थता के साथ नहीं बैठाई गई तो वह पारलौकिकता से संलग्न होकर पुनः इतिहास के बाहर हो जाती हैं। इतिहास के बाहर की इस अचलता की लम्बी भारतीय यंत्रणा, आतंक, अव्यवस्था और अन्धता को हम भोग ही रहे हैं! यह तो इतिहास की अनुपस्थिति के बोध की कल्पवल्ली है: रूढ़िवाद तथा प्रतिक्रियावाद के पारिजातों से खिली हुई!!

रूप एवं विषयवस्तु की एक दूजी विचित्रता तब प्रकट होती है जब इन दोनों के बीच एकता के बजाय अस्मिता (आइडेंटिटी) मंजूर की जाए। यह उपरली पहेली का ही एक दूसरा हाशिया है। यह रोमांटिक सौंदर्यदृष्टि का दोष है जिसके मुताबिक अमूर्त तथा अनुभूत भाव—माध्यम की प्रकृति तथा सीमा तथा अनुशासन पर पूर्णविघ्नेन दिग्विजय पाकर—हूबहू, कोरमकोर, अपरिवर्तनीय अर्थात् अपने मूल-रूप में मूर्त तथा अभिव्यक्त हो सकता है। इसी तरह क्लासिकल दृष्टि का भी दोष है जिसके अनुसार रूप के अनुशासन तथा नैपुण्य के समानुपात से कोई मामूली भाव भी बिल्कुल बदलकर श्रेष्ठ बनाया जा सकता है।

लेकिन रूप-विषयवस्तु की एकता का एक गूढ़ द्वंद्वात्मक अन्तर तब उद्घाटित होता है जब मुक्तिबोध प्रसाद की **'कामायनी'** में वर्णित तंत्रसाधना, शैवानन्दवादी मोक्ष आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से खुल्लमखुल्ला असहमत होकर 'सहृदयत्व' का निषेध करके—तन्मयीभवन को चुनौती देते हैं, तथा उन्हें कलात्मक कमजोरियाँ बताते हैं। यहाँ वे एक प्रतिबद्ध पाठक के रूप में कवि की प्रत्यक्ष दार्शनिक प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) को—कलात्मकता के ही नाम पर अस्वीकारते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ कला-इतिहास में रुचि (टेस्ट) के बजाय चिन्तन (थाट) पर आग्रह हुआ है।

इसी क्रान्तदर्शी परिस्थिति की व्याख्या की लम्बी प्रतीक्षा थी। बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने इसे **'परकीयकरण-प्रभावन'** (ऐलियेनेशन इफेक्ट) की संज्ञा दी। इस तरह मध्यकालीन **'साधारणीकरण'** और सहृदय आशंसक की धारणा को खंड-खंड करती हुई **'परकीयकरण'** और प्रतिबद्ध आशंसक की मार्क्सीय धारणा के जन्म ने भरत से लेकर जगन्नाथ तक के, और अरस्तू से लेकर रिचार्ड्स तक के सौंदर्यचक्रों की धुरी तोड़ दी। यह एक महत्तम सौंदर्यबोधात्मक क्रान्ति है।

ब्रेष्ट के अनुसार जब गोएथे और शिलर यह मानते हैं कि प्रकृति के सौंदर्य तथा कला के सौंदर्य में एकता है तो वे गलत हैं, क्योंकि इनके बीच स्पष्ट अन्तर्विरोध है। अतः कलाकृति के संदर्शन और प्रदर्शन के बीच कलाकार और श्रोता, अथवा नाटककार और दर्शक के बीच भी **एकता** [सहृदयत्व (अभिनवगुप्त), निर्वैयक्तिकता (कांट), निर्लिप्तता (क्रोचे)] के बजाय **अन्तर** होता है। इसी तरह पात्रों तथा दर्शकों की विचारधाराएँ भी विभिन्न हैं क्योंकि कला की जन्मभूमि तो सुपरिगठन की विचारधारा का पालना है। अतः कला में रूप-वस्तु के बीच ही नहीं, कलाकार-आशंसक के बीच भी एकताभेद के उभयात्मक द्वन्द्व चलते हैं। अतः कलाशंसा में आशंसक को समाधिस्थ न होकर पार्टिसिपेट करना है। मूलतः विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच कला की आशंसा की असली स्थिति यही है अर्थात् आशंसक समाधिस्थ न होकर सक्रिय सहभागी है और मनोविकारातीत **'सहृदय'** न होकर एक प्रतिबद्ध **'असहमत'** है। अतः वह **साधारणीकरण-भावन** के बजाय **परकीयकरण-प्रभावन** के वृत्त में बँधता है। इस तरह यहाँ (सहृदयाह्लाद एवं तदाकारत्व के बजाय) बौद्धिक चिंतना तथा वर्गीय विभेद है। आगे तो ब्रेष्ट ने यह प्रस्थापना भी की कि श्रेष्ठ महाकाव्यों एवं नाटकों का केवल भावलोक ही नहीं होता, बल्कि उनका सामाज-सांस्कृतिक तथा सामाजराजनैतिक चरित्र भी होता है। अतः केवल कुछ परिगणित भावों (त्रास एवं करुणा) तक ही सीमित रहकर आधुनिक मनुष्य अरिस्तोतेलीय 'कैथार्सिस' द्वारा उपचारित हो ही नहीं सकता। उसका मनोसौंदर्यात्मक निदान तो 'परकीयकरण-भावन' द्वारा ही हो सकेगा। परकीयकरण में केवल तदनुभूति (empathy) ही नहीं होती बल्कि **विस्मय** (astonishment) भी होता है जो तदाकारत्व के बजाय परत्व एवं दूरत्व वाली ऐलियेनेशन की प्रक्रिया को संचारित करता है। अतः परकीयकरण-प्रभावन द्वारा तात्कालिक यथास्थिति से 'असंबद्ध' (dissociate) हुआ जाता है। यह **'अतिक्रमण'** (transcendence) की प्राथमिक अवस्था भी है।

अब पुनः एक नई पहेली खुलती है: प्रतिबद्ध चिंतनभेद के रहते हुए भी सहमति की। अगर वैष्णव हज़ारी प्रसाद द्विवेदी कम्युनिस्ट शोलोखोव कृत 'धीरे बहो दोन, रे!' की मार्क्सवादी दुनिया की प्रशंसा करें; अथवा मार्क्सवादी नामवरसिंह वारिसशाह की 'हीर' में सूफ़ी करुणा की आशंसा करें; अथवा ज्योर्जी लुकाश रैफेल की 'मैडोन्ना' अथवा एल ग्रिको कृत 'ईसा को सूली' जैसे चित्रों की अनुशंसा करें तो रूप-वस्तु के अन्तर एक विलक्षण गहराई में खुलते हैं। यहाँ दो स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति में 'सत्य' की समस्या है: कृतियों के कलात्मक सत्यों से आशंसक असहमत हैं; तथापि वे उनकी आशंसा करते हैं। ज़ाहिर है कि यहाँ कृति के कलात्मक सत्य पाठकों की नज़रों में निजी 'तथ्य' अथवा पूर्वाग्रही 'यथार्थ' होकर ही प्रस्तुत होंगे। अतः पाठक कलाकार के शैल्पिक कौशल की, अथवा अभिव्यक्ति की ईमानदारी की आशंसा कर रहे होते हैं। तथापि जब आशंसक और कलाकार के घोषित विश्वास भिन्न-भिन्न हों, और तब भी पाठक कृति के कलात्मक सत्यों की भी प्रशंसा करें, तब कहीं-न-कहीं वे पाठकगण रूप से संबद्ध होकर स्वयं को विषयवस्तु से भरसक असंपृक्त कर रहे हैं। यह तब होता है जब एक भावयित्र कलाकार की हैसियत से पाठक कृति के कारयित्र कलाकार से हृदयसंवाद करने की **मिथ्याचेतना** के प्रभामंडल में चमत्कृत हो जाता है। तब वह अमूर्तीकरण (एब्सट्रैक्शन) के द्वारा कलाकार की अनुभूति से तादात्म्य करने को उद्यत होता है। इसीलिए भट्टनायक ने एक निष्ठावान पाठक को पार्वती-शिव की संभोग-क्रीड़ा चित्रित करने वाले महाकवि कालिदास से तदाकृत तो कराया है; किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्तीकरणों अर्थात् मात्र कान्ता[illegible] के द्वारा। अतः स्पष्ट है कि यद्यपि पाठक कलाकृति की 'विशिष्टता' (पर्टीकुलेरिटी) में तल्लीन है तथापि वह उसके सामान्य प्रकथनों का खंडनात्मक विश्लेषण नहीं कर रहा है। यह सत्य के प्रति पाठक के औसत कलात्मक एप्रोच का नमूना है जहाँ वह कृति के सत्यों तथा अपने दार्शनिक सत्यों की तुलना नहीं करता; बल्कि 'विशिष्ट' कृति के कलात्मक सत्यों के अवगुंठनों को स्वाभ्यास से अनावृत्त करता हुआ वैश्वक मानवीय संवेदना तथा सामाजिक यथार्थता की वास्तविक भूमि पर आता है। ये स्थितियाँ 'कला के इतिहास' में यथार्थता के 'ऐतिहासिक रूपों' तथा कृति के 'प्रतीकात्मक रूपों' के बीच रुचि एवं निर्णय की समस्याएँ उठाती हैं। इसीलिए हम कला के इतिहास में विश्वदृष्टिकोण के आधार पर ही भिन्न-भिन्न युगों में, अथवा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों से, मूल्यांकन करते हैं। इस मूल्यांकन-चक्र में हम 'रुचि के इतिहास' तथा 'ज्ञान के इतिहास' को भी गूंथकर एक सम्पूर्ण सौंदर्यदर्शन एवं सौंदर्यविज्ञान का पैटर्न प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए पद्धति और दृष्टिकोण और संरचना के मार्क्सीय भेद-प्रभेद विकसित होते चले जाना चाहिए।

ऐतिहासिक नींवाधार-सुपरिगठन की द्वंद्वात्मक एकता के पूर्व अगर कोई ऐसा चरण रहा हो जब समाजव्यवस्था में इन दोनों का अंतर पृथक् न हो पाया हो, तब उसके संदर्भ में मनुष्य और समाज के, श्रम और सृजन के, व्यक्ति और समूह के आश्चर्यजनक संबंधों का उन्मीलन होगा। मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने इस सांस्कृतिक नृतत्त्वशास्त्र का भी उद्घाटन किया है।

ऊपर की स्थिति श्रम-विभाजन के पहले अवश्य ही प्राक्-इतिहास में थी। इस क्षेत्र में मार्क्सवादी पद्धतिशास्त्र ने मनुष्य की समस्या को उठाया है तथा यहाँ उसकी अद्वितीय उपलब्धियाँ आर्थिक से ज्यादा सौंदर्यतात्त्विक हैं।

उस आदिम अवस्था में मानवता का शैशव था और मनुष्य की जैविक इन्द्रियों को शनैः-शनैः मानव स्वभाववर्ती बनाया जा रहा था। उस समय मानवीय सत्ता का वैभव अधिसंचित (एक्युमुलेट) हो रहा था। उस चरण में (स्पष्ट श्रम-विभाजन न होने के कारण) यदि एक ओर 'मनुष्य' प्राकृतिक था, तो दूसरी ओर 'श्रम' भी सामूहिक एवं सामान्य था। [illegible] मनुष्य 'सामूहिक' था (समाजवादी नहीं); और 'प्राकृतिक' भी। उस सुपरिगठन-नींवाधार की अभेदक अवस्था में वह अपनी आत्म-क्रियात्मकता को प्रकृति में प्रतिबिंबित करता था। अतः वह आत्म-निर्वासित (सेल्फ-ऐलियेनेटेड) भी नहीं था। उस चरण में मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति अधिग्रहणपरक (एक्विज़ीटिव) नहीं थी; बल्कि सृजनात्मक तथा सहयोगात्मक थी। उस चरण में मनुष्य का अपने पर्यावरण के साथ सौंदर्यबोधात्मक एवं रहस्यविस्मयात्मक सामंजस्य था। अतएव ऐसे आदिम समाजों में मनुष्य का प्रत्यक्षीकरण ही मिथकवित्वपूर्ण (माइथो-पोइक) था। उसमें आर्थिक एवं सौंदर्यतात्त्विक, सौंदर्यतात्त्विक एवं जादुई, जादुई एवं कर्मकांडी, कर्मकांडी एवं सौंदर्यतात्त्विक क्रियात्मकताएँ अन्तर्ग्रथित थीं। उन समाजों में अर्थतत्त्व (मूलाधार) तथा सौंदर्यतत्त्व (सुपरिगठन) की केन्द्रीय अस्मिता थी। यह श्रमविभाजन के पूर्ववर्ती संपूर्ण मानवीय अस्तित्व तथा संपूर्ण मानवीय सत्ता की उस सामूहिक विमुक्ति की प्रोमेथियन गाथा है जब कला ही विमुक्ति थी। विमुक्ति—चेतनता तथा सृजनात्मकता के अर्थ में!

अतः उन समाजों में कला का संबंध मानवीय गर्भाधान से भी था तो खेतों की प्रजनन-उर्वरता से भी; बर्तन सजाने से भी था और गुफा खोदने से भी। अतः सौंदर्यबोधात्मक और आर्थिक और संस्कारित—तीनों एक थे। तकनीक और कला एकक थी। समाज और व्यक्ति एक थे। समाज और कलाकृति एक थी। तब कला का तथा मनुष्य का सुपरिगठन से अलगाव अथवा नींवाधार से अंतर्विरोध नहीं था। तब कला नींवाधार तथा सुपरिगठन, दोनों का एक समान अंग थी अर्थात् भौतिक शक्ति विचारों को जगाती थी तथा विचार भौतिक शक्ति होते थे। इसलिए कला के उद्गम में मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान श्रम तथा कर्मकांड, कर्म तथा रचना, कार्य तथा चिंतन की द्वंद्वात्मक भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कला को हमेशा अन्य विचारधारात्मक रूपों से गूंथे रहता है।

अतएव मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान में पद्धति की यह शाश्वत समस्या आज भी मौजूद है कि आर्थिक घटकों तथा सुपरिगठन के प्रमुख स्वरूपों से कला की वैसी आदिम एकता को किस भाँति उपलब्ध किया जाय! किन्तु आज इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विकास में—सुपरिगठन के अधिनायकत्व के साथ साथ—कला और अर्थतत्त्व की 'अस्मिता' का दर्जा 'अंतर्विरोध' ने ले लिया है। अलबत्ता आदिम समाजों की परिस्थितियों में कला तथा कामतत्त्व की अस्मिता (फ्रायडवाद), कला और जादू या कर्मकाण्ड की अस्मिता (कैसीरर) आदि की स्थापनाएँ भी हुई हैं। लेकिन कला तथा श्रम (लेबर) की अस्मिता (मार्क्सवाद-लेनिनवाद) ही एक विश्वैतिहासिक संदर्शन रूप में व्यापक तौर पर प्रमाणित हुई है।···श्रम के कारण कला और तकनीक का, वर्ग और वर्ग का, नींवाधार और सुपरिगठन का जो विभाजन हुआ है उसने अस्तित्व (being) तथा भाविता (becoming), अस्मिता (identity) तथा आत्म-परकीयकरण (self-alienation) की समस्याएँ भी पैदा की हैं।

आधुनिक समाजों में **आत्म-परकीयकरण** या **आत्म-निर्वासन** की समस्या ज़बर्दस्त है। हमारे लेख में यह अंतिम समस्या है। मार्क्सवादी दर्शन तथा विज्ञान में तो इसके धनात्मक तथा ऋणात्मक, दोनों पक्ष लिये गये हैं, लेकिन मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान में इसे एक निषेध-परक संघटना के रूप में ही बेहद लिया गया है; जबकि उसे एक सृजनात्मक सिद्धांत के रूप में (उर्फ़ as a creative principle के रूप में) बेहद कम उभारा गया है। अतएव आत्म-परकीयकरण (आत्म-निर्वासन) की दशा को एक सृजनात्मक दशा में बदलना भी सबसे महान् समसामयिक चुनौती है।

इसे समझने के लिए दो हाशिये चाहिए। आदिम समाज में कला और अर्थतत्त्व, श्रम और सर्जना की अस्मिता के हाशिये को हम स्पष्ट कर चुके हैं। अस्मिताओं में अंतर विकसित होने पर परकीयकरण का आविर्भाव होने लगता है।

दूसरे हाशिये के लिए हमें पहले नवयुवक श्री कार्ल मार्क्स की कलाकार-विषयक धारणा परखनी होगी। उनके मानस में सोफोक्लीज़, यूरीपिडस और ईस्किलस जैसे यूनानी नाटककारों; होमर, दान्ते और गोइथे जैसे महाकवियों; शेक्सपियर और शिलर जैसे रंगमंच-कर्मियों; तथा लियोनार्दो, रैफेल और रेम्ब्राँ जैसे चित्रकारों के क्लासिक एवं रिनैसाँधर्मी नायक-बिंब थे। अतः उन्होंने प्रत्येक कलाकार को एक **'संपूर्ण मनुष्य'** के रूप में ही प्रतिरूपित किया है। उनका यह संपूर्ण मनुष्य ही उनके संपूर्ण 'सामाजार्थिक रूपायन' (सोशियो-इकोनामिक फार्मेशन) की धारणा से संबद्ध हुआ है।

आदिम साम्यवादी अवस्था में उन्होने प्रत्येक मनुष्य को 'कलाकार' और 'श्रमिक' पाया था। अतः उन्होंने **'प्रत्येक मनुष्य एक कलाकार, तथा प्रत्येक कलाकार एक संपूर्ण मनुष्य, तथा प्रत्येक संपूर्ण मनुष्य एक श्रमिक कलाकार'** के त्रिभुज की संरचना की। इसके द्वारा उन्होंने कलात्मक सृजनात्मक तथा आर्थिक उत्पादकता के बीच सामंजस्य की यूटोपिया रची जिसे चे और सार्त्र और मार्क्यूस ने संभावना की कैटेगरी सिद्ध किया।

इस तरह प्रागैतिहासिक आदिम समाज और रिनैसाँ संस्कृति की धारणाओं के कांत संयोग से मार्क्स ने एक सर्वज्ञ तथा श्रमिक, संपूर्ण तथा सर्वकर्त्ता कलाकार का मॉडल प्रस्तुत किया। इस प्रारूप (मॉडल) में श्रम तथा सृजन के बीच ऐक्य है। लेकिन इतिहास के चरण में श्रम का विभाजन होते ही पहले तो कलाकार एक 'विशेषज्ञ' (स्पेशलिस्ट) तथा 'अभ्यासी' (एक्सपर्ट [कारीगर]) बना। फिर आधुनिक पूँजीवादी आकृतिबंध में एक अमूर्त वस्तु (एब्सट्रैक्ट थिंग) होकर 'आत्म-निर्वासित' हो गया। इसी उपक्रम में कुछ विशिष्ट एवं अभ्यासी व्यक्ति तो कलाकार हो गये तथा बाकी सारे जनसमूह में कलात्मक क्षमताओं का दमन हो गया। अतएव एक स्तर पर कलाकार एवं कलाकृति के बीच तथा दूसरे स्तर पर कलाकार एवं जनता के बीच परकीय-करण (एलियेनेशन) बढ़ा। यह दुधारी चपेट है।

तो, यह दुहरा आत्म-परकीयकरण है। पहला तो इस लिए हुआ कि कलाकार सर्वाभ्यासी के बजाय मात्र विशेषज्ञ बन गया। अतः जिस तरह कोई कारीगर मजदूर बनकर अपने कौशल की निजता खोकर फैक्टरी में मात्र एक नीरस कर्म की जीवनपर्यन्त नकलें या आवृत्तियाँ किया करता है, मशीन का गुलाम हो जाता है, अपने श्रम में वैयक्तिक आवेग को खो देता है तथा अंत में मनुष्य के बजाय 'चीज़' या माल बन जाता है (सारांश में आत्म-निर्वासित हो जाता है); उसी तरह कलाकार—दूसरे ढंग से कलात्मक कृत्य में—आत्मपरकीय हो जाता है। कलाकार का आत्म-परकीयकरण इसलिए होता है कि मनुष्य तथा प्रकृति के संघ के रूप में, अथवा मनुष्य तथा समाज के सामंजस्य के रूप में 'व्यवस्था' चकनाचूर हो गई है; कलाकृति रुपयों में निराकार (एब्सट्रैक्ट) हो गई है; तथा कलाकार निजड़ा और अजनबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया है। अंततोगत्वा वह केवल एक अकेले अजनबी 'विशेषज्ञ' में संकुचित हो गया है। हमारे अधिकांश कलाकर्मी तो कला को मनोरुचि (हॉबी) से ज्यादा दर्जा देने की शक्ति एवं सम्भावना तक खो चुके हैं। शेष जनसमूह में भी उसकी आर्केटाइपल कलात्मक क्षमताओं का दमन हो गया है क्योंकि गरीबी और शुचिता के स्थान पर गरीबी और भ्रष्टाचार की एकता हो चुकी है, तथा दमन की संस्थाओं एवं पद्धतियों ने नई मानवीय दिशाओं को कुचल डाला है। फलतः **आत्म-परकीयकरण** के साथ-साथ एक ओर **अव-मानवीयकरण** (डि-ह्यूमेनाइजेशन) तथा **अव-वैयक्तीकरण** (डि-पर्सनलाइजेशन) की दशाएँ जुड़ी हैं तो दूसरी ओर **पाशविकीकरण** (ब्रूटलाइजेशन), **अव-राजनैतिकीकरण** (डि-पोलिटिकलाइजेशन), दासता (सर्वीच्यूड), इफ़रात (सुपरफ्लुअस) तथा छिछले (सुपरफ़ीशियल) की स्थितियाँ फैली हैं। अतः आत्म-परकीयकरण की दशा में मनुष्य ने स्वयं को, तथा प्रकृति एवं समाज को रूपांतरित करने की स्वतंत्रता खोकर गुलामी की बेड़ियाँ पहन लीं। आत्म-परकीयकरण गुलामी की वह दशा है जब मनुष्य कार्य की प्रक्रिया (प्रोसेस) तथा श्रम की प्रपत्ति (प्रोडक्ट) दोनों पर से अपना अधिकार तथा अनुराग खो देता है। तदनुसार कलाकार भी कला-माध्यमों की पद्धति तथा कला की विषयवस्तु के विवेकशील निष्कर्षों (मूल्यों) का अपना संज्ञान तथा अभिज्ञान खो देता है। इन्हें खोकर वह फूहड़ता (एब्सर्डिटी) तथा अविवेकशीलता (इर्रेशनलिटी) की अंधी दुनिया में अकेला निरर्थक सिसीफसियन कर्म करता हुआ संत्रास (हॉरर) तथा व्यथा (सफ़रिंग) भोगता है। जिस तरह परकीयकरण या निर्वासन की **भौतिक अभिव्यक्ति** में आर्थिक शोषण की प्रक्रिया है, उसी तरह उसकी **कलात्मक अभिव्यक्ति** में सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक प्रत्यक्षीकरण का विलयन है। आज कलाकार एक विशेषज्ञ बन गया है, तथा कलाकृति एक बाज़ारू माल (कमोडिटी)। इसलिए कलाकार कब, क्यों और कैसे पुनः विशेषज्ञ से सर्वज्ञ या सम्पूर्ण हो सकता है अर्थात् सुपरिगठन की व्यापकता को यथाशक्ति पुनः प्राप्त कर सकता है और कलाकृति को कलात्मक मूल्यों की अमूल्यता से मंडित कर सकता है, तथा अपनी खोई स्वतंत्रता एवं विवेकशीलता को दुबारा प्राप्त कर सकता है—इनका उत्तर भी आत्म-परकीयकरण की दशा में ही अंतर्निहित है। अतः आत्म-परकीयकरण परिवर्तन का 'आंतरिक कारण' है। आत्म-परकीयकरण की दशा में दमन जितना गहरा और अतिरिक्त होता है अर्थात् आत्म-यंत्रणा जितनी तीव्र होती है, उतना ही प्रबल संघर्ष होता है अर्थात् आत्म-संघर्ष होता है। दमन-संघर्ष के इस द्वंद्व से क्रांति अथवा सृजन द्वारा एक उच्चतर स्तर पर कृति अथवा कार्य की कल्प-रचना होती है। अतः संघर्ष से विच्छुरित किया गया आत्म-परकीयकरण **नैतिकरण** की डायलेक्टिक्स है। परन्तु संघर्ष से जुड़कर यह **स्वतन्त्रता** की डायलेक्टिक्स में रूपांतरित हो जाता है।

जब आत्म-परकीयकरण की **मानवीय बंधकता** (ह्यूमन बान्डेज) यह चेतना व्युत्पन्न करती है कि यह अवस्था शाश्वत न होकर **अन-ऐतिहासिक** (अन-हिस्टोरिकल) और **अ-प्राकृतिक** (अन-नेचुरल) है और यह बदली भी जा सकती है, तब आत्म-परकीयकरण का कायाकल्प हो जाता है अर्थात् वह प्रगति का एक **'गतिशाली एवं रचनाधर्मी सिद्धान्त'** बन जाता है।

यह मार्क्स ने अपने प्रिय कवि ईस्किलस से पाया था कि लम्बे व्यथाभोग (सफ़रिंग) से ही विवेक (विज़डम) प्राप्त होता है। अतः मानवजाति को भी आत्म-परकीयत्व की गहरी सुदीर्घ टीस सहनी होगी। इसके बाद ही वह **विवेक**, तथा स्वयं को विमुक्त करने का **संकल्प** प्राप्त कर सकेगी। इसके लिए उन्होंने सिसिफ़स की फूहड़ता के बजाय प्रोमेथियस के **विप्लव** को परिलक्षित किया। परवर्ती मार्क्सवादी जीवन-दर्शन तथा कर्मसंघर्ष में **'क्रांति'** और **'उल्लास'** पर इतना प्रबल तथा एकांगी आग्रह हुआ कि वह कृत्रिम तथा असंगत भी लगने लगा। समसामयिक स्थिति में तो **'क्रांति'** और **'त्रासदी'** के हाशियों का भी विराट् सत्य हमें स्वीकार करना ही होगा। यह तो स्वीकार करना ही है कि अब बिना क्रांति के हमारी विमुक्ति तथा उद्धार कदापि नहीं हो सकता, किन्तु यह करुण सत्य भी स्वीकार करना होगा कि क्रान्ति का तो रास्ता ही यातना और आतंक से होकर गुज़रता है। यह **निराशा** की नहीं, अपितु **त्याग-बलिदान** की अनुभूतियाँ हैं। माओ, चे, हो जैसे दार्शनिक कर्मठों के अलावा रेमंड विलियम्स तथा लुई आल्थुज़र ने इस नवीन समसामयिक आयाम का उन्मेष किया है। यह मार्क्सवादी दर्शन के क्षेत्र में बेहद मानवीय और बेहद भावुक संसार को शामिल करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणमुग्ध करने वाली दिशा है।

इस तरह अवमानवीयकरण के प्रति जागरूक एवं सक्रिय होने का संज्ञान, भोग के बजाय बलिदान की चेतना, तथा आत्मयंत्रणा के साथ आत्म-आह्लाद का उन्मेष ही हमारा आगामी '**'युवानव' आधुनिकता बोध**' होने जा रहा है। मार्क्स की सर्वज्ञ मनुष्य की धारणा को माओ ने सर्वांगीण संस्कृति की क्रान्ति द्वारा विकसित किया। उन्होंने एक ओर **लाल** (कम्युनिस्ट) तथा **विशेषज्ञ** की मैत्री कायम की तो दूसरी ओर **कवि** तथा **किसान** की। इसी कड़ी में चे गुएवारा ने **लाल** तथा **गुरिल्ला** तथा **कवि** की त्रयी बनाई। अतएव अब नये मनुष्यों की संवेदनशीलता तथा गुणग्राहकता अर्थात् मनोविज्ञान भी नितांत भिन्न है। अतः इनकी सौंदर्यबोधात्मक संचेतना भी भिन्न हो गई है। ये धारणाएँ कई व्यावहारिक प्रारूपों पर टिकी हैं; जैसे, संपूर्ण समाज को एक शिक्षा-स्कूल बना देना (माओ); संपूर्ण समाज का नैतिक पुनर्निर्माण करना (चे); संपूर्ण समाज की कलात्मक पुनर्रचना करना (मार्क्यूज़)। समसामयिक नये मनुष्यों के आविर्भाव की ये कुछ साक्षात् यथार्थताएँ हैं।

जिस तरह सामाजार्थिक परिवर्तनों के माध्यम में एक **अकेला मनुष्य** एक **आर्थिक वर्ग** बन जाता है, उसी तरह कलात्मक माध्यम में **कलाकार** अपनी **पूरी प्रकृति** पहचानता है। यह पहचान तब पूरी होती है जब व्यक्ति का वैचारिक पुनर्जन्म हो, समाज में क्रांति हो, या संस्कृति में नवोद्धार का सूर्य दीप्तिमान हो उठे! अपनी संपूर्ण प्रकृति को पहचानने के लिए कलाकार के सामने भी पद्धति की समस्या पेश होती है। उसका दृष्टिकोण तथा उसके कृतित्व की प्रकृति मिलकर ही उसे अपनी पूरी प्रकृति की पहचान करा सकते हैं।

स्पष्ट है कि कलाकार का सर्वमान्य दृष्टिकोण या एप्रोच **मानवीय बन्धकता से 'मानवीय स्वतंत्रता' की ओर अग्रसर होता है।** और, अब इस अग्रगमन में आत्मनिर्वासन का आत्मसंघर्षी होते चले आना आवश्यक होता जा रहा है। अगर हममें तथा तुममें मानवीय स्वतंत्रता की आवश्यकता ही विलुप्त होती चली जा रही है, अगर हम कुछ सुविधाओं की प्राप्ति को ही गुणात्मक परिवर्तन का भ्रम मान लेते हैं, अगर हम संपूर्ण व्यवस्था के साथ लड़ाई को उद्यत नहीं होते, तो अस्तित्ववादी शून्यता, अंधरूढ़िवादी राष्ट्रवाद अथवा कपटी मानवतावाद स्थापित व्यवस्था के द्वारा—संस्थाओं तथा पद्धतियों के द्वारा—हमारे चेतन तथा अवचेतन, दोनों को ही नियंत्रित दास बनाए रखेगा। तब आत्म-परकीयकरण मात्र **पाशविकीकरण** की एक शाश्वत दशा बनकर ज्यादा भयानक, आतंककारी और संत्रासपूर्ण होता चला जाएगा। त्रासदी तथा बलिदान की स्वीकृति के बगैर हम समसामयिक उद्धार नहीं पा सकते और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अंतर्गत आत्म-परकीयकरण के भोग को क्रांतिकारी तथा सृजनात्मक नहीं बना सकते। यही हमारी चिरंतन समसामयिकता है।

अतः कलाकार अपनी रचना में अपने विश्वदृष्टिकोण से मंडलाकृत प्रत्यक्षीकरण को जितने गुण या मात्रा में खोता चला जाएगा, अपनी रचनाप्रक्रिया में उद्देश्य और परकीयकरण, विरेचन और संघर्ष आदि को जितना खोता चला जाएगा, उतना ही उसकी कला में अवमानवीयकरण से उद्भूत व्यर्थता-बोध, निरर्थकता-बोध, निष्कासन-बोध, मृत्यु-बोध, फूहड़ता-बोध, संत्रास-बोध, वेदना-बोध आदि छोटे-छोटे विचारधारात्मक बिन्दुओं में थर्राएँगे। ये सभी बोध मिलकर भी क्रांति तथा बलिदान के उन्मेष तक पहुँचने में असमर्थ हैं। यहाँ भी मार्क्सवादी जीवन-दर्शन ही हमें आगे ले जा रहा है। हमारे विश्व के लोकयुद्ध तथा गुरिल्लायुद्ध इसके ज्वलंत महान् प्रमाण हैं।

अतएव **आत्म-निर्वासन** की दशा से—संघर्ष एवं उल्लास के ज़रिये—**आत्म-पुनर्वास** (सेल्फ-एसर्शन) अर्थात् 'आत्म' की पुनर्स्थापना में ही कलाकार और इंसान अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को स्वयंसिद्ध कर सकता है।

कभी मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र ने आत्म-परकीयकरण के बाल-अंकुर रोमांटिसिज़्म से लेकर ही रोपे थे। रोमांतिकवाद में मनुष्य की जो धारणा थी वह एक व्यथाभोगी प्राणी (सफ़रिंग बीइंग) की थी। मनुष्य इसलिए व्यथा भोगता है क्योंकि वह संवेदनशील है; और संवेदनशील होने के कारण ही मनुष्य आवेशशील (पैशनेट) प्राणी है। आवेश इंसान की वे क्षमताएँ हैं जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिए चेष्टारत हैं[६]।' किन्तु अब तक तो इसका वटवृक्ष व्यथा को बलिदान (सेक्रिफ़ाईस) में तथा संघर्ष को क्रांति (के उल्लास) में रूपायित कर चुका है।

अतएव यही शर्त है कि मनुष्य की सृजनात्मकता उन सामाजिक संस्थाओं तथा आवश्यकताओं से अस्मिता कायम करे जो स्थापित समाज-व्यवस्था को बदलने को कटिबद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रतिबद्ध हैं। व्यवहार तथा अमल की दृष्टि से ज्योर्ज सिमेल की उक्त स्थापना कलाकार को अनुबद्ध (इंगेज्ड) से प्रतिबद्ध (कमिटेड) बनाने की अनिवार्यता बख्शती है। आत्म-परकीयकरण की हताशा (डेस्पेअर) का ही तो आत्म-स्वाग्रह के उल्लास में परिपाक होता है। तदपि इसके लिए सामाजिक चेतना की छलाँग आवश्यक है।

कुछ समाजशास्त्री आत्मपरकीयकरण को संगठन (आर्गनाइज़ेशन) का परिणाम मानते हैं (मैक्स बेबर); तो कुछ इसे कर्मचारीतंत्र (ब्यूरोक्रेटाइजेशन) में ही तिरोभूत करते हैं (कार्ल मानहाइम)। किन्तु ये दोनों तो सहयोगी कारण हैं; प्रधान नहीं।

मूलतः आत्म-परकीयकरण की आंतरिक दरिद्रता और शुचिता ही आंतरिक वैभव को जन्म देती हैं ("मैनुस्क्रिप्ट्स : १८४४")। अतः आत्म-वैभव और बाह्य संघर्ष ही अवमानवीयकरण को समाप्त कर डालते हैं।

आत्मवैभव एवं बाह्य संघर्ष में ही 'संपूर्ण मनुष्य' तथा 'मनुष्य की संपूर्णता' (लुकाश्) निहित है। ऐसा निर्माण ही मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन तथा विज्ञान की सबसे विराट् तथा विशाल समस्या है—नये मनुष्य का निर्माण! मनुष्य की विमुक्ति!!

समापन के पूर्व समारम्भ, पुनश्च।

अपने सम्पूर्ण दीप्तिमान सूर्य के उगने के पहले छोटे तथा चमकीले दीपक अनिवार्य होते हैं।

ऐसी ही एक घटना हुई डिक्सन (कैलीफोर्निया) में, मई १९७० में; जब नौ वर्ष की एक छात्रा पमेलक्रास ने, स्कूली काम के बदले, युद्धकारी राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन को एक पत्र में लिखा कि "तुम स्कूल, कागज, किताबों के स्थान पर युद्ध पर इतना धन क्यों खर्च करते हो?; प्रक्षेपणास्त्र वाले विधेयक को तो तुमने स्वीकृति दे दी लेकिन स्कूल-विधेयक को क्यों रोक लिया?; हवा में फैलने वाली गंदगी को रोकने के लिए तुमको कुछ करना चाहिए। अस्पतालों को भी और धन देना चाहिए।" बड़े और चतुर निक्सन ने, उसे जवाब दिया, "तुम अपने स्कूल का काम करो, तथा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों के बारे में निर्णय का काम राष्ट्रपति पर छोड़ दो।"

क्या आप इस उत्तर को धोखा और अंधेर नहीं मानते? क्या स्वयं अमरीकी छात्रशक्ति और युवाशक्ति इससे असहमत नहीं है?? क्या अमरीकी समृद्ध समाज ने एक स्वतन्त्र समाज को अवरुद्ध नहीं कर दिया है?

इसीलिए तो पमेलक्रास इस धरती के कोने-कोने में है। वह मेरी बिटिया है, तुम्हारी बहन है, उसकी दोस्त है, उसकी मरीज़ और उसकी गुड़िया है। वह बड़ी होने पर हिप्पी बन सकती है, अजीथा या निर्मला पंच दी कृष्णामूर्ति हो सकती है, वह एक कामगर युवती या एक सोहनी या नर्तकी हो सकती है, वह सब-कुछ हो सकती है क्योंकि भारत की गरीबी के उपनिवेश में अँधेरे के आतंक को चीरती हुई वह एक छोटा तथा चमकीला दीपक बनने की अनिवार्यता को मंजूर कर चुकी है। वह तो दीप्तिमान सूर्य का स्वागत करने वाली है, मड़ीदा दीवा है!!

पाद-टिप्पणियाँ

१. जोन राबिन्सन : 'दि कल्चरल रिवोल्यूशन इन चाइना', पृ० १५, पेंग्विन, इंगलैंड, १९६९।
२. 'दि रेड बुक एण्ड दि ग्रेट वाल' अलबर्टो मोराविया, पृ० ६०, पैंथर पेपरबैक, लंदन १९६९।
३. वही, पृ० ८०-८२।
४. हर्बर्ट मार्क्यूज—'लिबरेशन फ्राम दि ऐफ्लुएंट सोसायटी' लेख, पृ० १८४ डेविड कूपर द्वारा संपादित 'दि डायलेक्टिक्स आफ लिबरेशन', पेंग्विन, १९६८।
५. दे० 'कला में प्रत्यक्षीकरण : मार्क्सीय राफेलीकरण और रेम्ब्रॉकरण,' पृ० ४७, —रमेश कुन्तल मेघ, 'आलोचना' पूर्णांक अक्तूबर-दिसम्बर, १९६७।
६. मार्क्स : 'मेनुस्क्रिप्ट्स : १८४४'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद

सुरेन्द्र चौधरी

यह आकस्मिक नहीं हुआ कि छठे दशक की शुरुआत के साथ अस्तित्ववाद का राजनीतिक अन्तर्विरोध काफी स्पष्ट होकर सामने आ गया। हाइडेगर ने घोषित रूप से अपने दर्शन को 'सद्दर्शन' की संज्ञा देकर इस राजनीतिक अन्तर्विरोध से अपने को मुक्त कर लिया। फ्रांस में १९५२ में सार्त्र ने 'ले तां मोदर्न' में कैम्यू के ऊपर जो आक्षेप किए और उनसे जो विवाद पैदा हुआ वह इसी अन्तर्विरोध का परिणाम था। '६० में कैम्यू की मृत्यु और सार्त्र की नई घोषणा के साथ इस लंबे विवाद का अन्त हो गया। इस विवाद के अन्तिम परिणाम तक पहुँचने की यात्रा में कई पड़ाव थे। **वस्तुतः इस संपूर्ण विवाद की पृष्ठभूमि उस विरोध में थी जिसमें व्यवहार और नैतिकता के सवाल को अन्तिम रूप में ये लेखक-दार्शनिक हल करना चाहते थे।** साँजुपेरी और कैम्यू की मृत्यु, हाइडेगर की तटस्थता और सार्त्र की निर्णयात्मक घोषणा ने इस सवाल को स्वतः अन्तिम परिणाम की ओर पहुँचा दिया। **यह अन्तिम परिणाम था अस्तित्ववादी दर्शन का समापन।**

शुद्ध दार्शनिक स्तर पर फोन रिन्टेलीन और हाइडेगर का विवाद जर्मनी में लगभग इसी समय शुरू हो गया था। सार्त्र-कैम्यू के बीच का विवाद उनके राजनीतिक दृष्टिकोण की टकराहट का परिणाम था। प्रतिश्रुत साहित्य के लिए यह विवाद कोरे दार्शनिक निर्णय का विषय हो भी नहीं सकता था। स्वयं सार्त्र इस विवाद का निर्णय कोरे दार्शनिक स्तर पर नहीं करना चाहते थे।[1] यास्पर्स और कैम्यू अलग-अलग दृष्टिकोण और मंतव्य से इतिहास के कुछ निर्णयात्मक सवालों पर बहस कर रहे थे। सार्त्र की रुचि इसी विषय में अधिक थी। राइन होल्डनीबुहर ने 'फ़ेथ एण्ड हिस्टरी' में इस बहस की प्रस्तावना की अच्छी रूपरेखा प्रस्तुत की है। स्पष्ट है कि छठे दशक में आकर अस्तित्ववादियों के बीच में दर्शन की विधि, स्वतन्त्रता और मानवीय व्यवहार, इतिहास और स्वतन्त्रता तथा कुछ अन्य निर्णयात्मक विषयों पर एक लंबी बहस शुरू हो गई थी। इस बहस का केन्द्र था इतिहास और मानवीय स्वतंत्रता। यह बहस अस्तित्ववाद के संभावित विकास या परिणति की रूपरेखा स्पष्ट कर रही थी।

इस लंबे विवाद के बीच कहीं सार्त्र को खुद अपना भाववाद मानवीय स्वतंत्रता और इतिहास के संदर्भ में अधूरा और अमूर्त्त-सा मालूम पड़ रहा था। यह सही है कि जिस अभिशप्त चेतना के भीतर वे सत्ता का सार (स्वतंत्रता) सिद्ध करना चाह रहे थे उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियां समकालीन जीवन की थीं। मगर यह निर्णय तब तक ऐतिहासिक नहीं हो सकता था जब तक इस 'अकारण और उद्देश्यहीन सत्ता' के बोध को वे इतिहास की भूमिका में संगत न कर लें। खुद फ्रेंच साहित्य में यूगेनी पॉतियेर से लेकर संपूर्ण वामपंथी साहित्यिक भूमिका के विरोध में पड़नेवाली ये स्थापनाएँ सार्त्र को परेशान कर रही थीं। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए बोवुआ ने लिखा है—'सार्त्र ने एक भाषण साहित्य पर और दूसरा उपनिवेशवाद पर दिया[2]। ये दोनों भाषण अगर संकलित-अनूदित होते तो उनसे उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता था कि इस काल-खंड में सार्त्र इतिहास के निर्णयात्मक सवालों को अधिक व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने लग गए थे।

इन सारे विवादों को यूर्गेन रूहेल ने 'कम्युनिज्म और अस्तित्ववाद' का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व कहा है[3]। स्पष्ट है कि इतिहास के संदर्भ में सार्त्र ने अपनी उस स्थापना को दुहराना बेमानी समझा था जिसमें **'आत्मचेतना'** अनिवार्य **सत्य होकर रह जाती है।** अस्तित्ववादी विषयी की निर्वैयक्तिक आत्मचेतना इतिहास में उदाहृत होने से बार-बार रह जाती थी। इसलिए अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लम्ज़ ऑफ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेथड' में घोषित रूप में सार्त्र ने स्वीकार किया कि मार्क्स-वादी दर्शन के भीतर अस्तित्ववाद एक विचारधारा है। मार्क्सवादी दर्शन के भीतर समय-समय पर स्वतंत्र विचार-धाराएँ अपना अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करती रही हैं। जर्मनी में 'अन्स्टेंब्लाक' इसके उदाहरण हैं। 'नववामपक्ष' एक ऐसी ही विचारधारा है।

स्पष्ट है कि छठे दशक में अस्तित्ववाद का व्यावहारिक संकट उसे धीरे-धीरे इतिहास के मूर्त्त दायरे में खींचकर ला रहा था। **इतिहास के इस दबाव को अस्तित्ववादी सार्त्र ने सबसे खुले रूप में स्वीकार किया।** सार्त्र का अस्तित्ववाद के 'फाइटेइज़्म' से अलग होकर यह स्वीकार करना कि **'इतिहास के प्रश्न आधिभौतिक स्तर पर हल नहीं किए जा सकते'**, यह सिद्ध करता है कि इस समय में सार्त्र का संपूर्ण चिंतन अपनी व्यावहारिक परिणति की ओर सचेष्ट हो चुका था। अस्तित्ववादी दर्शन की रूपरेखा स्पष्ट करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। फिर भी कुछ मौलिक सवालों पर विचार किए बिना हम उसके विस्तार और परिणाम की सही व्याख्या नहीं कर सकते।

अस्तित्ववादी दर्शन में मूलतः इस वस्तुजगत् के सम्बन्ध में ही कुछ अमूर्त निष्कर्ष निकाले गए थे। वस्तुजगत् को साधारण (प्रतीयमान) दृश्यसत्ता के रूप में बदला नहीं जा सकता। ऐसा करना उसे आभास में परिणत कर देना होगा। स्पष्टतः इस रूप में वस्तुजगत् का सत्य स्वतन्त्र रूप में सिद्ध नहीं होता। यह ठीक है कि 'नववामपंथी' मार्क्सवादियों और अस्तित्ववादियों में कई विषयों पर सहमति है और कई ऐसे विषय हैं जिनका विश्लेषण दोनों ही लगभग समान द्वन्द्वात्मक विधि से करते मालूम पड़ते हैं। किन्तु, वस्तुजगत् की मूल-भूत अवधारणा को लेकर उनमें कभी समानता नहीं रही। वस्तुजगत् की साधारण दृश्य सत्ता आभास से अधिक महत्त्व की नहीं मानी जा सकती। **इसी आभास जगत् की कच्ची पृष्ठभूमि पर अस्तित्ववादी आत्मचेतना का विराट् दर्शन तैयार करते हैं।** इस विराट् आत्मचेतना की इच्छाओं को वे पूर्ण स्वतंत्रता का नाम देते हैं। आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वतंत्रता की इस धारणा को हाइडेगर और लूकाच ने समान रूप से आलोचना का विषय बनाया है।[४] इस प्राति-भासिक जगत् और चेतना के संबंध को जिस जटिल ढंग से सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'बींग एण्ड नथिंगनेस' में देखा है उसमें न तो जगत का ऐतिहासिक स्वरूप ही द्वन्द्वात्मक रूप में स्पष्ट हो पाता है और न आत्मचेतना का स्वरूप ही।

दृश्यसत्तावाद पद्धति नहीं है, विधि है। किन्तु यह पद्धति एक ओर हूसेर्ल के शुद्ध भाववाद में जाकर गुम हो गई है और दूसरी ओर सार्त्र के उभयवाद में। ज्यांवाह्ल ने अपने एक लेख में बड़ी सूक्ष्मता से, हाइडेगर के सन्दर्भ में, इन परिणतियों की ओर इशारा किया है।[५] **यहां आत्मचेतना बन्द सत्ता बन जाती है।** इतना ही नहीं, यहाँ विश्लेषण के क्रम में अनिवार्य और आकस्मिक का भेद भी लगभग सत्ता के सन्दर्भ में मिटा दिया जाता है। इस व्यक्तिबद्ध आत्म-चेतना से सम्पूर्ण अस्तित्व की व्याख्या बेहद भ्रामक परिणाम उत्पन्न करती मालूम पड़ती है। यह आत्मचेतना इतिहास और स्वतन्त्रता दोनों के मूर्त क्षेत्र को धुंधला करती है। **सार्त्र के 'बींग एण्ड नथिंग्नेस' तक के विकास में इतिहास एक सिरे से गायब है।**

इतिहास की इस क्षति का कारण उनका तात्कालिक अनुभव का दर्शन ही था। अपने इस आहत पक्ष की ओर सार्त्र का ध्यान लगभग उसी समय गया जब वे अपनी पुस्तक 'बींग एण्ड नथिंग्नेस' पूरी कर रहे थे। १९४३-४६ के बीच इतिहास के प्रश्नों से वे लगातार जूझते रहे। **'वस्तुवाद और क्रांति'** शीर्षक लेख इतिहास के **सन्दर्भ में सार्त्र का आत्मसाक्षात्कार** है। यह लेख उनकी सप्रश्नताओं का एक लम्बा दस्तावेज़ है। मगर इस लम्बे लेख में भी उनकी उल-झन साफ़ हुई मालूम नहीं पड़ती। इस दृष्टि से अल्जीरियाई स्वतन्त्रता-संग्राम और लातीनी अमरीका से उनके सम्पर्क ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कहे जाएँगे। इसी समय ब्राजील में उन्होंने 'द्वन्द्ववाद' पर कई भाषण भी दिए। अपने एक परिपत्र में उन्होंने लिखा—"यह स्वतंत्रता (अल्जीरिया की), मैं दुहरा-ऊँगा, एक ध्रुव सत्य है। अगर कुछ अनिश्चित है तो वह फ्रांस में जनतंत्र का भविष्य है।"

इसी समय में पूंजीवादी जीवन-व्यवस्था और अर्थतंत्र से उनकी वास्तविक टकराहट शुरू हुई और इतिहास एक मूर्त, व्यावहारिक तथ्य के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत हुआ। मूर्त व्यवहारों के जगत् से हमारी आत्मचेतना का दुहरा सम्बन्ध होता है इसे सार्त्र तब जान पाए। इतिहास के भीतर वे उस आत्मसम्पूर्ण स्वतन्त्रता का क्षय अपनी आँखों देख रहे थे जिसके लिए वे प्रतिश्रुत थे। अल्जीरिया, लातीनी अमरीका,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका और भारत के मुक्ति-संग्राम के सन्दर्भ में उनकी आत्मचेतना का स्वतंत्र निर्णय निरर्थक चाहे न हुआ हो, मगर विवश जरूर हो गया था। यही नहीं, कई दूसरे सन्दर्भों में भी सार्त्र को ये सीमाएँ बहुत साफ़-साफ़ दीखने लगीं। युद्ध-पीड़ित फ्रांस के अनुभव तो तात्कालिक ही थे, पूरे यूरोप का आत्मसंकट भी एक आततायी अनुभव हो रहा था। ऐसी स्थिति में इतिहास को अमूर्त आत्मनिर्णय के संदर्भ में देखना उनके लिए असंभव-सा हो गया।

आदमी को अमूर्त आत्मचेतना में बदल देना जर्मन भाववाद की विशेषता रही है। सार्त्र की दार्शनिक विधि अब तक जर्मनी की ज़मीन पर ही विकसित हुई थी। वहाँ 'उत्क्षेपक आत्मचेतना' सारे विरोधों को निर्वैयक्तिक वास्तविकता (?) की ज़मीन पर हल कर लेती है। फ्रांसीसी मार्क्सवादी चिन्तक पोलित्ज़र ने अस्तित्ववादियों की आलोचना इसी विशेष सन्दर्भ में की है। उन्होंने सार्त्र की आलोचना करते हुए यह दिखलाया है कि अस्तित्ववादी अमूर्तताओं को वास्तविकता से बदलकर वास्तविक स्वतन्त्रता के सवालों से किस तरह कतरा जाया करते हैं। उनकी यह दृष्टि व्यवस्था का पोषण करती है। कैम्यू अल्जीरियायी जनता की भयावह यंत्रणाओं के सवाल से इसी तरह कतरा गया था। पोलित्ज़र ने लिखा—"अपनी नैतिक सदिच्छा के बावजूद सार्त्र का दर्शन इतिहास के जीवन्त सन्दर्भ में अधूरा ही नहीं पड़ता बल्कि एक अर्थ में इतिहास-विरोधी भी हो जाता है।"

आधुनिक मानवीय इतिहास में सत् और सत्ता का व्यवच्छेद केवल धर्म-रूपक नहीं है। वह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस व्यवच्छेद (ऐलियनेशन) को पाटने की जमीन शुद्ध दर्शन में प्राप्त नहीं होती। उस छद्मदर्शन में तो शायद और भी नहीं जिसमें इतिहास को नजरअन्दाज करके इस सवाल को दुहराया गया हो। आदमी का अपने सत् से अलगाव धर्म-दर्शन का एक स्वतन्त्र विषय है। हम यहाँ उस दृष्टि से इस व्यवच्छेद की व्याख्या नहीं करते। इतिहास के भीतर अलगाव की यह समस्या एक दूसरे ढंग से ग्रहण की जाती है। मार्क्स ने इतिहास के भीतर उस सबसे बड़ी घटना का संकेत किया जिसमें मनुष्य और मनुष्य से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ समय के सन्दर्भ में आकर सिकुड़ गईं।

सार्त्र वस्तुतः स्वतन्त्रता की एक मूर्त पद्धति नहीं बना पाते, फलतः उनकी ज्ञान-मीमांसा खतरनाक है। इस खतरे की ओर मार्क्सवादी तथा अस्तित्ववाद-विरोधी चिन्तकों का ही ध्यान नहीं गया, स्वयं सार्त्र का भी ध्यान गया। उन्हें अपनी विधि को नए सिरे से परीक्षित-परिवर्तित करने की आवश्यकता भी मालूम पड़ी। 'प्रॉब्लम्ज़ ऑव मेथड' इसी आत्मसंघर्ष का परिणाम है। ख़ैर, यहाँ हम 'एलियनेशन' के ऐतिहासिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें। सामाजिक सम्बन्धों को व्यक्तियों के सरल सम्बन्ध में बदलकर सार्त्र ने एक तरह से समाज को एक स्वतन्त्र संस्थान की हैसियत नहीं दी। वर्तमान राज्य-विभाजित, वर्ग-विभाजित समाज व्यक्तियों का सरल सम्बन्ध या समुच्चय नहीं है। वह एक स्वतन्त्र संस्थान है। लेनिन ने राज्य के सन्दर्भ में इस तथ्य को बहुत पहले ही उजागर किया था। सामाजिक अन्तर्विरोध को जिस सरल समीकरण से सार्त्र ने अब तक देखा था, उसमें ऐतिहासिक-सामाजिक विकास के अन्तर्विरोध नगण्य हो जाते थे।[६] मानवीय सत् को इस प्रकार एक निरर्थक परिणति देकर सार्त्र ने लगभग इतिहास-विरोध का परिचय दिया था।

१९४७-६० के बीच सार्त्र की इतिहास-सम्बन्धी धारणा में जो परिवर्तन हुए वे उनके फुटकल लेखों-टिप्पणियों-वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाते हैं। यह परिवर्तन उतना आकस्मिक और सहज नहीं है जैसा वह एक नज़र में लगता है। सार्त्र अस्तित्व की वस्तुबद्धता (फ़ैक्टिसिटी) और अपनी स्वतन्त्रता की धारणा को कभी सहज रूप में संगत नहीं कर पाए। वैसे यही अन्तर्विरोध उनके बाद के विकास का कारण भी बना।

अगर मनुष्य वस्तुतः स्वतन्त्र है तो उसकी वस्तुबद्धता कोई समस्या नहीं है। और अगर आदमी अपनी सत्ता में वस्तुजगत् से बँधा हुआ है तो उसकी स्वतन्त्रता की समस्या केवल आत्मनिर्णय की समस्या नहीं रह जाती। इस सवाल पर सार्त्र ने बाद में काफ़ी गम्भीर ढंग से सोचा है। अपनी पुस्तक 'क्रीतीक द ला रेज्यों दायलेक्तीक' में वे इस सवाल से टकराते हैं। सिमोन द बोवुआ लिखती हैं—"लिसोव्स्की की प्रेरणा से सार्त्र उस बीच मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के सम्बन्ध की परीक्षा कर रहे थे। निश्चय ही इस रचना में सार्त्र वस्तुबद्धता और स्वतन्त्रता को इतिहास के भीतर परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं। मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन की ओर उनका झुकाव इसी प्रयत्न का परिणाम है।"

ऑरी लेफ़ेव्र लिखते हैं—"आधुनिक मनुष्य धीरे-धीरे, एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से और वस्तुओं तथा जगत् के आक्षेप से, अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर के उस संकट से सचेत हुआ है जिसे हम उसका भीतरी व्यवच्छेद कह सकते हैं (discontinuous in himself)।" निश्चय ही इस व्यवच्छेद को इतिहास के माध्यम से या इतिहास पर आक्षेपित कर सार्त्र ने बाद की अपनी रचनाओं में पहचाना। उनकी पहचान का रास्ता काफी टेढ़ा-मेढ़ा है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस पहचान की बाधाएँ भी सार्त्र के लेखन में किसी भी दूसरे अस्तित्ववादी चिन्तक की अपेक्षा अधिक हैं। मैं जब ऐसा कहता हूँ तो मेरे ध्यान में मेरल्यो-पॉन्टी विशेष रूप से आ जाता है। लूकाच ने इस पहचान को बड़ी सफ़ाई से कान्ट और बर्गसाँ के दर्शन से उदाहृत किया है और उन अन्तर्विरोधों की भी व्याख्या की है जिनके कारण यह पहचान इतिहासेतर हो गई है। सार्त्र इतिहास के बाहर से क्रमश: भीतर की ओर आते हैं। यहीं वे बर्गसाँ से अलग होते हैं।

आधुनिक मनुष्य अपने इस अलगाव को पीड़ा और विडम्बना की मिली-जुली दृष्टि से देखता है। सार्त्र, कैम्यू, साँजुपेरी, बोवुआ आदि का साहित्य इसी मिली-जुली पीड़ादायक विडम्बना का साहित्य है। यह पीड़ादायक विडम्बना सच्चे अर्थों में सार्वभौम चरित्र की हो गई है। उसे हम आधुनिक सभ्यता की पीड़ादायक विडम्बना कह सकते हैं। यह विचित्र बात है कि दर्शन में बहुत-सी अमूर्त स्थितियों के बावजूद साहित्य में इन लेखकों ने इस अनुभव को पूरे विस्तार और सामर्थ्य से व्यक्त किया है। इस अनुभव की सैद्धान्तिक व्याख्या पॉन्टी ने अपनी रचना 'सेंस एण्ड नॉनसेंस' में की है। **आत्मविरोध का यह संकट वस्तुबद्धता के कुछ नए आयाम प्रस्तुत करता है। व्यक्ति-चेतना-विश्व के सम्बन्ध में यह संकट इतिहास का आयाम है।**

सार्त्र ने मानवीय वास्तविकता को अनिवार्यता और संयोग के बीच विचित्र ढंग से विभाजित कर दिया है। हम यहाँ उस जटिल व्याख्या में नहीं पड़ेंगे। यह व्याख्या कोई स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पाती। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके लिए संयोग (contingency) ही स्वतन्त्रता की परिस्थिति है। वे आगे चलकर इस संयोग और तथ्यबद्धता को भी एक ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[७] परिस्थिति और प्रेरणा भी अन्तत: एक हैं। इस तरह अनिवार्यता यहाँ दो संयोगों के बीच दबी-दबी दीख पड़ती है। एक संयोग तो हमारी सम्पूर्ण सत्ता का ही है, किन्तु इस संयोग के भीतर भी हम कहीं होते हैं (देश); कभी होते हैं (काल) और **किन्हीं गुणों के साथ होते हैं।** सार्त्र की व्याख्या के अनुसार देश-काल-गुण की विशेषता और वैयक्तिकता अपने-आप में खुद एक संयोग है।[८] अस्तु अस्तित्ववादी अर्थ में होना अनिवार्यता और संयोग की अन्तर्क्रिया है।

इस विभाजन के साथ मानवीय वास्तविकता बड़ी भयावह हो जाती है। संत्रास इसी विभाजित मानवीय वास्तविकता की आत्मचेतना है। सार्त्र अपने साहित्य में इसे समकालीन इतिहास की पीड़ा से जोड़ने की चेष्टा करते हैं। **मगर अनिवार्यता जहाँ इतिहास का आयाम है वहाँ संयोग इतिहासेतर आयाम है।**

शुद्ध दार्शनिक ज़मीन पर भी अस्तित्ववाद की असंगतियाँ कम नहीं थीं। चेतना और आत्मचेतना का जैसा विराट् प्रपंच सार्त्र ने अपनी पुस्तक सत् और शून्य में खड़ा किया है उसकी तुलना में पॉन्टी का विश्लेषण अधिक परिपक्व और ग्राह्य माना गया। अस्तित्ववाद के समर्थकों को भी सार्त्र की अपेक्षा पॉन्टी का विश्लेषण अधिक ग्राह्य था। वस्तुत: उसका 'फेनोमेनॉलॉजी ऑव परसेप्शन' अधिक व्यवस्थित ग्रन्थ है। पॉन्टी सार्त्र का सहयोगी और मित्र था। मगर चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में ही उनका चिन्तन क्रमश: अलग-अलग दिशाओं में विकसित होने लग गया था। पॉन्टी चेतना और आत्मचेतना के विभाजन को स्वीकार नहीं करता। उसने सार्त्र के आँ-स्वा (en soi) और पूर-स्वा (Pour Soi) जैसे कल्पित विभाजन को अस्वीकार करते हुए कहा—'न तो शुद्ध सत्ता की आत्मरूपता की कोई स्थिति होती है और न शुद्ध वस्तुरूपता की। अस्तित्व की गतियों में देह और मानस का संयोग हर क्षण अपनी पूर्णता ढूँढ़ता चलता है।'

मानवीय स्थिति और स्वतंत्रता का प्रकरण शायद अस्तित्ववाद का सबसे आकर्षक पहलू है। इसका प्रभाव सारी दुनिया के साहित्यशास्त्र पर और समकालीन चिंतन पर किसी-न-किसी रूप में पड़ा है। 'नववामपंथी' कहे जाने वाले मार्क्सवादी भी इससे प्रभावित हुए हैं। विश्व का युवा वर्ग सार्त्र के इसी चिंतन पक्ष से सबसे ज्यादा प्रभावित मालूम पड़ता है। मैं और मेरी स्थिति से मैं और मेरी स्वतन्त्रता तक का यह चिन्तनक्रम निश्चय ही कुछ लोगों को विशेष मालूम पड़ा। सार्वभौम की तुलना में विशेष का यह आग्रह जरूर नैतिक आकर्षण रखता है। व्यक्ति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिकता के अनुकूल होने के कारण भी उसका अवकाश अधिक है। विशेष की इस विशिष्ट परिस्थिति को सरल शब्दों में यों समझा जा सकता है। ईश्वर की मृत्यु के साथ मानवीयता के सार का सार्वभौम रूप समाप्त हो गया। जो कुछ तब बच जाता है वह विशेष व्यक्ति का विशेष इतिहास है। यह विशेष व्यक्ति अपनी 'भावधारा के अनुसार स्वयं को जीता है।'[६] सार्त्र का यह तर्क इतना सरल नहीं है जितना मेरे अन्वय से मालूम पड़ता है। स्वतन्त्रता को वह आत्मपूर्ण मानता है। फिर भी यह स्वतन्त्रता परिस्थितियों से बँधी है। यह स्थापना उतनी मौलिक नहीं है। हाइडगेर ने ग्रीक चिन्तकों के अपने विश्लेषण में एनाखिमाइन्डर और परमेनाइडीज़ में इस अस्तित्ववादी अन्तर्दृष्टि को रेखांकित किया है।

मार्क्सवाद से अस्तित्ववाद की टकराहट के ये ही दो पक्ष हैं। अस्तित्ववाद के भाववादी रूपांतर और मार्क्सवाद से उसकी टकराहट के प्रसंग पर हम विस्तार से लिख आए हैं। अब हम उसके दूसरे पक्ष पर थोड़ा और विचार करेंगे। जैसा कि मार्जोरी ग्रीन (Grene) ने लिखा है—"(अस्तित्ववाद का) समाधान उस नैतिक मूल्य में नहीं होता जिसकी हम उससे आशा करते थे···इसके विपरीत (उनमें) हमें पुराने नैराश्य की नई अभिव्यक्तियाँ ही मिलीं।" अस्तित्ववाद की तुलना में दैनंदिन जीवन के महत्त्व और अधिकार को मार्क्सवाद अधिक व्यावहारिक पूर्णता में स्वीकार करता है। इस सम्बन्ध में हम प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ वाह्ल का एक उद्धरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। 'फ्रांसीसी दर्शन की वर्तमान स्थिति' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने लिखा—"सत्ता के प्रकृत संकट के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता एक अनिवार्यता बन जाती है। फिर भी हमें इस ओर से सचेत रहना चाहिए कि हमारा यह, हमारे दैनंदिन जीवन का स्वभाव बन गया है, अपना एक अलग दार्शनिक महत्त्व भी रखता है। हमारे दैनंदिन जीवन के अपने संतुलन भी हैं, अपनी संगति है और अपने सत्तात्मक (Ontological) व्यापार भी हैं। इस दैनंदिन जीवन को अप्रामाणिक (Unauthentic) कहना भारी भूल होगी! हम इस प्रकार साधारण आदमी के मूल्य और महत्त्व को नजरअन्दाज़ करेंगे। यह मार्क्सवाद की विशेषता है कि उसमें दैनंदिन जीवन अधिक अधिकारपूर्ण ढंग से परिभाषित हुआ है।"

अस्तित्ववादी संत्रास ऐतिहासिक कोटि की धारणा नहीं है, आधिभौतिक कोटि की धारणा है। कुछ लोग भ्रम से इसका विनियोग ऐतिहासिक कोटि में करते हैं। मार्क्सवाद इस सनातन संत्रास के सन्दर्भ में व्यावहारिक जीवन के विरोधों की व्याख्या करना स्वीकार नहीं करता। लूकाच, गोल्डमैन, लेफेब्र, ऑगस्त कार्नू जैसे कम्युनिस्ट-गैर-कम्युनिस्ट मार्क्सवादी चिन्तकों ने अस्तित्ववादी संत्रास को धर्म-दर्शन के पतन का ही रूपक माना है।

ऐतिहासिकतः कोई भी दर्शन, चाहे वह जितना भी अपूर्ण हो, इसलिए महत्त्वपूर्ण होता है कि वह अपने-आपमें एक लक्षण बन जाता है। किन्तु अस्तित्ववादी दर्शन में इस 'विशेष की ऐतिह्यता' की एक विशेष स्थिति है जिससे सामान्य व्यक्ति की पहचान लगभग असंभव हो जाती है। यह साधारण व्यक्ति अस्तित्ववादियों के अनुसार निरन्तर अपनी स्वतन्त्रता से भागनेवाला छद्म विश्वासी है, जबकि इस साधारण में ही मार्क्सवादी क्रान्ति की (और स्वतन्त्रता की भी) संभावनाएँ देखता है। यही मूलभूत विरोध उनके चिन्तन को परस्पर विरोधी दिशाओं में ले जाता है या कुछ मौलिक सवालों पर आमने-सामने ला खड़ा करता है। भोक्ता व्यक्ति की सामान्यता किसी भी स्थिति में नकारी नहीं जा सकती और न उसके उन बौद्धिक उपायों को ही नकारा जा सकता है जिनके द्वारा वह अपने अनुभवों को विश्व में प्राप्त होता है।

व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति को अस्तित्ववादी जितने निरपेक्ष ढंग से देखते हैं उसे देखते हुए तो यही लगता है कि अस्तित्ववाद सेल्फ़ की हाइपरट्राफ़ी है। उसकी स्वतन्त्रता एक अमूर्त निर्णय है और उनका सम्पूर्ण दर्शन एक वैयक्तिक व्यामोह के अलावा और कुछ नहीं है। मगर मुक्ति के इन लँगड़े निष्कर्षों के बावजूद मानवीय नियति और परिस्थिति का जैसा ऊहापोह इनके दर्शन में है उससे हमें काफ़ी हद तक अपने को समझने में मदद मिली है। फिर भी, सार्त्र की घोषणा के बावजूद, मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की संगति की कोई ज़मीन स्पष्टतः हमें नहीं मिलती।

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. ल'एक्सप्रेस, नवंबर १९५६ में सार्त्र का साक्षात्कार।
२. सिमोन द बोवुआ, फ़ोर्स ऑव सर्कम्सटैंस, पृ० ५५६।
३. यूर्गेन रूहेल, लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन (१९६९), अंग्रेज़ी अनुवाद।
४. जार्ज लूकाच, एक्ज़िस्तांशियलिज़्म एंड मार्क्सिज़्म, १९४८ (पेरी)।
५. ज्याँ वाह्ल, 'फ्रीडम एण्ड एक्ज़िस्टेंस इन सम रीसेंट फिलॉसफीज़' —'फिलासफी एण्ड फ़ेनॉमिनालॉजिकल रिसर्च, भाग ८, नं० ४।
६. जे० कानप्दा, 'लें'क्ज़िस्तांशियलिज़्म न'ए पा अ'म्यूमनिज़्म', पृ० ७९. (पेरी, १९४७)
७. सार्त्र, बीइंग एण्ड नथिंग्नेस, पृ० ४८७ (अंग्रेज़ी अनुवाद)।
८. उपरिवत्, पृ० ३०८।
९. सार्त्र, बीइंग एण्ड नथिंग्नेस, स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अध्याय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेज़ी देब्रे और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ

जोआ कारतीम

लातीनी-अमरीकी क्रांतिकारी रणनीति सम्बन्धी विचार-विमर्श में रेजिस देब्रे एक मील-स्तम्भ बन गये हैं। उनके प्रबन्ध ने पुरातनपंथी कम्युनिस्ट पार्टियों के सुधारवाद और सुधारवाद पर आक्रमण करने वाले वामपंथी समुदाय के बीच विभाजन-रेखा खींच दी। ये वामपंथी भी आपस में बँटकर दो हो गये। एक का प्रमुख उद्देश्य हो गया : गोरिल्ला दस्ते का संगठन और विकास। दूसरे पुरातनपंथी तथा मृतप्राय कम्युनिस्ट पार्टियों के अत्यन्त उग्र तत्वों और आरामतलब वामपंथियों को पुन:संगठित करने में लग गये। और कम्युनिस्ट मजदूर पार्टी अथवा क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर दी—मानो बिना मजदूरों के कोई कम्युनिस्ट पार्टी भी हो सकती है या कोई कम्युनिस्ट पार्टी ऐसी भी हो सकती है जो क्रान्तिकारी न हो।

देब्रे का मुख्य उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि पुरातनपंथी कम्युनिस्ट पार्टियाँ, जिनका संगठन शहरों में केन्द्रित है, सत्ता पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वहारा का नेतृत्व करने के योग्य नहीं हैं। लातीनी-अमरीकी वर्ग-संघर्ष की विशिष्ट अवस्था नये किस्म के हिरावल दस्ते और गोरिल्ला दस्ते की माँग करती है। लातीनी-अमरीका के क्रांतिकारी अनुभव को एक पद्धति प्रदान करने वाले इस प्रबन्ध का काफी प्रभाव दीख पड़ा। [देब्रे के इस प्रबन्ध का, जो पुस्तक रूप में 'क्रांति में क्रांति' शीर्षक से प्रकाशित हुई, आधार क्यूबा की सफल क्रांति है।] इस पुस्तक के प्रकाशन के एक ही वर्ष के भीतर ब्राज़ील के वामपंथी दो हिस्सों में बँट जाने को बाध्य हो गये। एक ने देब्रे के प्रतिपक्षी और दूसरे ने विपक्षी के रूप में अपने को परिभाषित किया।

देब्रे की इस पुस्तक के आधार पर होने वाली सैद्धान्तिक बहस की तीव्रता में कमी नहीं है। 'गोरिल्ला अथवा पार्टी' से सम्बन्धित सवाल ने सिद्धान्त और रणनीति के क्षेत्र में ध्रुवीकरण ला दिया और इसी अवस्था ने देब्रे के प्रतिपक्षी और विरोधी से आगे जाने की बाध्यता पैदा कर दी। परिणामस्वरूप देब्रे को नकारनेवाले उससे आगे नहीं जा सके, उससे आगे वे गये जिन्होंने उन्हें गम्भीरता प्रदान की।

आज के सच्चे क्रांतिकारी यह समझ रहे हैं कि अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व से ग्रस्त समाज में क्रांतिकारी लोक-युद्ध के कठिन रास्ते पर चलकर ही कोई विकल्प शक्ति जीत हासिल कर सकती है। इस लोकयुद्ध का सर्वोत्तम रूप गोरिल्ला 'दस्ता' है जो क्रांतिकारी जन सेना का प्रारम्भिक स्वरूप है।

प्रश्न यह उठता है कि देब्रे के प्रबन्ध को गम्भीरता प्रदान करना क्यों आवश्यक था ? इसका सम्बन्ध उन व्यक्तियों से जुड़ा है जिन्होंने उसे गंभीरता प्रदान की। जिस प्रकार क्रांतिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रांतिकारी कार्य नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार क्रांतिकारी कार्य के अभाव में क्रांतिकारी सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है। किसी सिद्धान्त को अगर कार्य में परिणत नहीं किया जाय अथवा जिसकी कार्य-परिणति समाज के आमूल परिवर्तन की दिशा में न ले जाय तो वह सिद्धान्त क्रांतिकारी सिद्धान्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, कोई क्रांतिकारी सिद्धान्त किसी कार्य-परिणति का पूर्ण पूर्वानुमान कभी नहीं होता : जब हम उसे प्रगतिशील रूप में कार्यान्वित करते हैं तो उसकी सीमाएँ और अपूर्णता सामने आती हैं। इस प्रकार क्रांतिकारी कार्य सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित और सतत विकसित करता है। टुटपूँजिए बुद्धिजीवियों के गंदले दिमाग को ही दोनों में फ़र्क दिखलाई पड़ सकता है।

अतः जिन लोगों ने देब्रे के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने की कोशिश की और उसे गम्भीरता प्रदान करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की चेष्टा की, वे विश्वव्यापी पैमाने पर दुनिया की जनता के सबसे बड़े शत्रु अमरीकी साम्राज्यवाद से मुकाबला लेने में शोषित जनता के लड़ाकू हिरावल दस्ते, वियतनामियों के वीरतापूर्ण संघर्ष, क्यूबा की क्रांति और ग्वेवारा के उदाहरण के अनुयायी थे।

पारम्परिक संगठनों की अवसरवादिता से टूटकर अलग होने वाले ब्राज़ील के क्रांतिकारियों ने देब्रे में एक विश्वसनीय पथप्रदर्शक पाया। उन्होंने देब्रे के प्रबन्ध को अक्षरशः लिया और 'क्रांति में क्रांति' पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्त की सीमाओं को समझने में असमर्थ रहे। उन्हें ऐसा लगा कि क्रांति से सम्बन्धित सभी प्रमुख सैद्धान्तिक और सांगठनिक समस्याओं का यह पुस्तक उनके लिए हल प्रस्तुत करती है। उन्हें यह भी लगा कि इसे एक बार पढ़ लेने के बाद बस सिर्फ रायफल और नक्शे से लैस कामरेडों के साथ क्रांति की जा सकती है।

लेकिन समस्या इतनी सरल नहीं है। समस्या यह है कि किस प्रकार पुरातनपंथी पार्टी को नकारने के सिलसिले में हमारा सम्बन्ध मजदूर वर्ग से न टूटे। किस प्रकार गोरिल्ला दस्ते को शोषित जनता का समर्थन प्राप्त हो जिसमें वह दस्ता सम्पूर्ण शोषित जनता का हिरावल दस्ता बन सके? किस प्रकार साम्राज्यवादी दमन के विजयी प्रतिरोध को ठोस रूप में खड़ा करने के लिए गोरिल्ला मोर्चों का एक सूत्र रचा सके। सर्वाधिक कठिन कार्य है इस 'गोरिल्ला दस्ते (foco) की तैयारी' और इस सम्बन्ध में देब्रे कोई दिलचस्प बात नहीं कहते। अपने विश्लेषण में वे हमेशा यह समझ बैठे हैं कि गोरिल्ला दस्ता हथियारबन्द और अन्य सामग्रियों से सज्जित किसी मोर्चे पर तैनात है।

१९६७ का वर्ष बोलीवियाई गोरिल्ला की अस्थायी हार और ग्वेवारा की हत्या जैसी महान् दुखांत घटना का वर्ष था। यह यकीन करना मुश्किल लग रहा है कि लातीनी-अमरीकी क्रांति के महान् नायक के कमान पर चलने वाले एक समूह ने इतनी सारी गलतियाँ एक साथ कैसे कीं। और गलतियाँ सिर्फ तैयारी में ही नहीं की गयी थीं बल्कि अवधारणा में भी थीं। कितना भी दुःखद क्यों न हो लेकिन इसे अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि गोरिल्ला दस्ते (foco) के समर्थन अथवा सहयोग के लिए राजनीतिक मोर्चा बनाने में ग्वेवारा ने गम्भीर राजनीतिक भूल की। इस राजनीतिक मोर्चे में सिद्धान्त और रणनीति सम्बन्धी अत्यन्त विषम विचार रखने वाला नौकरशाहीनुमा और अवसरवादी विरोधी समूह इकट्ठा हो गया था।

इन गलतियों से जो दुखान्त घटना देखने को मिली इसका पूर्वाभास देब्रे को नहीं था। और इन गोरिल्लाओं की वीरता के प्रति बोलीविया के किसानों की उदासीनता भी बेमिसाल थी। देब्रे के लिए समाज के विभिन्न वर्गों का विश्लेषण, विशिष्ट समूह की विशिष्ट समस्याओं और आवश्यकताओं, कार्यक्रम और नारों का सही निर्धारण आदि बातें बिल्कुल बेकार और महत्त्वहीन थीं। उन्होंने यह समझ रखा था कि जनता को जीतने के लिए हथियारों से लैस प्रचार एक विश्वजनीन फार्मूला है। जब तक हाथ में रायफल लेकर कोई बात न कही जाय तब तक जनता के सामने जाकर किसी के कुछ कहने का कोई अर्थ नहीं। यह साबित करने के बदले कि सर्वहारा का कार्यक्रम तभी वास्तविक विकल्प शक्ति बन सकता है जब उसकी रक्षा हथियारों से लैस होकर की जाय और इस पर जोर देने की बजाय कि सिद्धान्त और कार्य द्वन्द्वात्मक रूप में एक-दूसरे पर निर्भर हैं, देब्रे ने यह समझाया कि शासक वर्ग के दमन यन्त्र के विरुद्ध संघर्ष ही सर्वहारा क्रांति के लिए जनता को अपने पक्ष में करने का पर्याप्त साधन है। अपनी पुस्तक में वे 'सशस्त्र प्रचार' और शस्त्र का प्रचार के बीच फ़र्क नहीं दिखला सके, जिससे यह पता चलता है कि मार्क्सवादी विज्ञान को उन्होंने कम करके आँका है।

हमारा ऐसा विश्वास है कि मार्क्सवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रोशनी में क्रांतिकारी कार्य की शुरुआत कभी भी की जा सकती है—उसका स्वरूप कितना भी आरम्भिक क्यों न हो।

द्वन्द्वात्मकता के कुछ नियम हैं। उनमें एक यह है कि सत्य ही समग्र है। इसकी रोशनी में विचार करने पर देब्रे का सिद्धान्त 'झूठा' ठहरता है क्योंकि वह असम्पूर्ण है। अवश्य ही देब्रे की आलोचना इस बिना पर नहीं की जानी चाहिए कि उसने क्या नहीं कहा बल्कि इस बिना पर कि उसने अपने सामने जो सैद्धान्तिक उद्देश्य रखा था उसे प्राप्त करने के लिए उसे क्या 'कहना आवश्यक' था।

देब्रे एक विशिष्ट किस्म के आचार्य हैं यानी वह एक मार्क्सवादी 'बुद्धिजीवी' हैं। एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी राजनीतिक कार्यकर्ता भी हो सकता है। देब्रे वह नहीं हैं। कोई भी बुद्धिजीवी कितना भी निरीक्षण और अध्ययन करे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ांतिकारी समस्याओं और उद्देश्यों एवम् कार्यों से सम्बन्धित उसका मूल्यांकन हमेशा 'बाहरी' ही कहा जायेगा। क्योंकि उसने उन्हें अपनी तात्कालिक समस्याओं के रूप में नहीं जिया है जिस पर उसके अपने संगठन के जीवित रहने का सवाल निर्भर हो। गोरिल्ला अथवा पार्टी, पार्टी के हथियारबन्द अंग अथवा गतिशील सामरिक महत्त्व के रूप में गोरिल्ला, ग्रामीण तथा शहरी गोरिल्ला, अतीत के अनुभव और वर्तमान की सीख—इन्हीं अवधारणाओं को लेकर बुद्धिजीवी देब्रे ने विचार किया है। देब्रे ने बहुत सारे ऐसे प्रतिपादन किये हैं जो आश्चर्य में डाल देते हैं। अपनी पुस्तक 'क्रांति में क्रांति' में पृ० ७५ पर उन्होंने एक उदाहरण दिया है कि 'पहाड़ और जंगल बुर्जुवा और किसान को सर्वहारा बना देते हैं और नगर सर्वहारा को बुर्जुवा बना देता है। यह आश्चर्य में डाल देने वाली मूर्खता है। इस कथन को आसानी से नकारा जा सकता है: पेत्रोग्राद के बुर्जुवा सर्वहारा ने अक्तूबर क्रांति की और स्पेन की नागरिक सेना दो वर्षों तक माद्रिद में फ़ासिज्म के प्रतिरोध में वीरतापूर्ण ढंग से लड़ती रही।

देब्रे द्वारा इस्तेमाल किये गये मुहावरों का जिसमें देब्रे की प्रतिपादन शैली की रूढ़िवादिता शामिल है, अक्षरशः अर्थ निकालने से गोरिल्ला दस्ते की कार्रवाई के आरम्भ से पहले की तैयारी की अवधि, स्वतःस्फूर्त जन आंदोलन की अवधारणा, हथियारबन्द प्रचार की प्रभाव-क्षमता का मूल्यांकन, सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण के दरम्यान वितण्डावाद और रीतिवाद और अन्ततः हिरावल दस्ता और क्रांतिकारी वर्गों के संगठन में सैन्यवाद का रूप आदि से सम्बन्धित गलत विचार फैलते हैं।

गोरिल्ला दस्ता की तैयारी की अवधि

देब्रे अपनी कृति (क्रांति में क्रांति) में कहीं भी गम्भीरता से यह सवाल नहीं खड़ा करते हैं कि गोरिल्ला दस्ते की तैयारी कैसे की जानी चाहिए और इसकी तैयारी कौन करेगा। "कार्य-पद्धति यह बतलाती है कि यह समस्या बुनियादी है।" एक तरफ तो देब्रे चीनी अथवा वियतनामी क्रांति युद्ध की तरह लातीनी-अमरीका में यांत्रिक रूप से युद्ध शुरू करने की तीव्र आलोचना करते हैं और दूसरी तरफ क्यूबा के अनुभव की हू-ब-हू नकल करने की वकालत करते हैं।

देब्रे ने 'पार्टी' और 'गोरिल्ला' को दो अमूर्त अस्तित्वों के रूप में देखा है। इसी से देब्रे की सबसे बड़ी कमजोरी प्रकट होती है। पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किये गए विश्वासघातों और भटकाव को पार्टी के संगठनात्मक रूप पर थोप दिया जाता है मानो उनके संगठनात्मक रूप ने ही उनमें राजनीतिक भटकाव पैदा किया है, जबकि बात इसके प्रतिकूल है। भौतिकवादी द्वन्द्वात्मकता का इस्तेमाल करने और कार्यक्रम और पार्टी, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त और संघर्ष के व्यावहारिक ढंग की परस्पर निर्भरता का अध्ययन करने के बदले और बिना यह साबित किये कि सुधारवादी सिद्धान्त ही सुधारवादी कार्यों को 'उचित' ठहराता है, देब्रे ने पार्टी संगठन के स्वरूप से ही अवसरवादी रणनीति और टुटपूंजिए बुर्जुवा भटकाव का निष्कर्ष निकाल लिया।

हमारे सामने लेनिनवाद की स्थायी विरासत है जिसे देब्रे नहीं पचा सके हैं। यही कमी उनकी गलतियां खोलती है। वह विरासत है: वर्ग-संघर्ष की हरेक मंजिल पर और हरेक अवस्था में क्रांतिकारी रणनीति का प्रतिपादन। लेनिन ने वर्ग-विश्लेषण, राजनीतिक लाइन की व्याख्या और हिरावल दस्ते के संगठन के स्वरूप को अलग करके कभी नहीं देखा। देब्रे ने ऐसा नहीं किया है। लेनिन संरचना और संयोग की अवस्था के बीच, विश्व पैमाने पर रणनीति के उद्देश्यों और प्रत्येक अवधि में प्रत्येक क्षेत्र के संघर्ष के विशिष्ट उद्देश्यों के बीच के फर्क को कभी नहीं भूले।

क्रांतिकारी युद्ध की सम्पूर्ण प्रक्रिया में गोरिल्ला 'दस्ता' (foco) की तैयारी का महत्त्व अन्य पहलुओं के बराबर है। यह एक आधारभूत कार्य है। देब्रे इस पर कोई जोर नहीं देते। वे इसे क्रांतिकारी प्रक्रिया की एक अवधि के रूप में नहीं लेते हैं बल्कि यह समझते हैं कि यह क्रांति के पूर्व का इतिहास है। यानी अपनी पुस्तक 'क्रांति में क्रांति' के अंत के हिस्से में वह स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि 'सैनिक दस्ता (foco) की स्थापना के बाद राजनीतिक आंदोलन की ओर बढ़ना चाहिए। अतः जिन क्रांतिकारियों के सामने यह सवाल है कि हम क्या करें? उनके लिए देब्रे का सीधा जवाब है: सैनिक 'दस्ता' बनाओ। और रणनीति सम्बन्धी इस सवाल, कि इस सैनिक दस्ता की स्थापना किस प्रकार की जाय, का भी उतना ही सीधा जवाब है: ऐसे कैडर इकट्ठा करो जिन्हें सैनिक प्रशिक्षण हो और जिनके पास धन, हथियार तथा अन्य सामग्री हो, कार्रवाई किये जाने के लिए चुने गये क्षेत्र में डिपो बनाओ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त भू-भाग की पड़ताल करो और शत्रु के पहुँचने की प्रतीक्षा करो जो तुम्हें युद्ध में रत कर दे। [illegible] पाते हैं कि कोई भी क्रांतिकारी संगठन, जो गोरिल्ला युद्ध को तेज़ करना चाहता है, के सामने ऐसे सवाल महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इससे भी बदतरीन स्थिति यह है कि सैनिक कार्यों के 'राजनीतिक प्रभाव' पर ही केवल ज़ोर डालने से सैनिक संघर्ष की राजनीतिक समस्याएँ पीछे छूट जाती हैं, क्योंकि गोरिल्ला की समस्या यह जानना नहीं है कि भाड़े की सेना पर किस प्रकार गोली चलाई जाय बल्कि यह कि गोली चलाने का कार्य किस प्रकार किया जाय जिससे क्रांतिकारी वर्ग यह महसूस करे कि (१) गोली 'उसके हिरावल' दस्ते ने चलाई है और (२) वह गोरिल्ला दस्ता द्वारा चलाये जाने वाले प्रचार के हरेक स्तर पर हरेक तरह से हिस्सा ले।

सुधारवादी भीरु व्यक्तियों के लिए देब्रे का नुस्खा इस प्रकार है : हिरावल दस्ता घात लगाकर हमला करे, प्राणदण्ड दे, सम्पत्ति का अपहरण करे और राजनीतिक-सैनिक कार्यों को आगे बढ़ाये। हमारा कहना है कि समस्या को इस तरह खड़ा करना दुर्भाग्यपूर्ण है। सुधारवादियों का जवाब सशस्त्र संघर्ष नहीं है। जो इसकी तैयारी कर रहे हैं वे इसे अच्छी तरह समझते हैं। उनके सामने मुख्य कठिनाई यह नहीं है कि सशस्त्र कार्यों की शुरुआत किस प्रकार करें या गोरिल्ला कारंवाई आरम्भ करने वाले कैडर किस प्रकार उक्त क्षेत्र में भेजे जाएँ बल्कि यह कि "एक सही और सुनिश्चित, रणनीति के अन्तर्गत यह गोरिल्ला कार्य कैसे शुरू करें।"

देब्रे ने अपनी पुस्तक में जिस तथ्य की उपेक्षा की है वह यह है कि क्रांतिकारी युद्ध के लिए तैयारी की अवधि वर्ग-संघर्ष की एक 'विशिष्ट अवस्था' है जिसके अपने नियम हैं और अपनी आवश्यकताएँ हैं और वह सर्वहारा क्रांति के ऐतिहासिक उद्देश्यों की अपने पर जवाबदेही लेने वाले राजनीतिक संगठन से यह माँग करती है कि वह मार्क्सवादी ढंग से, यानी जो वैज्ञानिक और क्रांतिकारी ढंग है, इसका संचालन करे।

गोरिल्ला दस्ता सर्वहारा हिरावल दस्ते की सामरिक गतिशील टुकड़ी है। यह वर्ग-संघर्ष का श्रेष्ठ स्तर है और इस स्तर को प्राप्त कर सर्वहारा हिरावल दस्ता यथार्थ में अपने को सर्वहारा हिरावल दस्ता के रूप में संघटित करता है। लेकिन मुख्य संघर्ष ही एकमात्र संघर्ष नहीं है और जो संगठन एकमात्र रूप से मुख्य संघर्ष को ही अपना संघर्ष [illegible] से मुकाबले की अवधि में जन-समूह से कट जाता है, अलग-थलग हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि क्रांतिकारी संगठन को पहले प्रचलित संघर्ष के सभी रूपों में हिस्सा लेना चाहिए और बाद में चलकर, वर्ग संघर्ष के 'अंतिम क्षण' में सामरिक कारंवाई शुरू करनी चाहिए। इस प्रकार का विचार भ्रष्ट नौकरशाहों के दिमाग की उपज ही हो सकती है जो आरामतलबी से वर्ग संघर्ष में हिस्सा लेने की इच्छा रखते हैं और सत्ता पर अधिकार करने के क्षण आने पर ही अपनी कुर्सी छोड़ना चाहते हैं। जो ऐसा सोचते हैं उनके लिए तो ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिस पर उन्हें अधिकार करना है। जब हम इसे नकारते हैं कि क्रांतिकारी संगठन को एकमात्र रूप में सामरिक कारंवाई की दिशा में गोरिल्ला दस्ता की कारंवाई में ही लग जाना चाहिए तो इसका अर्थ यह है कि इसके साथ ही हम दो तरह के भटकाव को भी नकारते हैं :

(1) Putschism—blanquism अथवा सैन्यवाद को नकारते हैं जो यह समझता है कि शासक वर्ग के दमन-कारी यंत्र के निर्णायक मुकाबले का कार्य केवल हिरावल दस्ते का है जिसका अर्थ यह हुआ कि वर्ग की बजाय हिरावल दस्ता क्रांति कर सकता है।

(२) स्वेच्छावादिता (Spontaneism) को भी नकारते हैं जिसका दावा यह है कि जन समूह स्वतः गोरिल्ला दस्ता के साथ हो जायगा और गतिशील सामरिक टुकड़ी को स्वतः अपना हिरावल दस्ता मान लेगा।

ब्राज़ील में क्रांतिकारी युद्ध की तैयारी के अनुभव ने इन भटकावों के खतरे को स्पष्ट कर दिया है और उनसे बचने का रास्ता भी दिखा दिया है।

अनेक व्यक्तियों ने अपने कार्यों के दरम्यान एक बुनियादी सिद्धांत की उपेक्षा की है, और इनमें देब्रे भी शामिल हैं। वह सिद्धान्त यह है कि गोरिल्ला कार्य क्रांतिकारी कार्य का आरम्भ नहीं है। देब्रे की संकीर्ण व्याख्या करने वाले ही सिर्फ यह समझते हैं कि गोरिल्ला कारंवाई के पूर्व के सारे राजनीतिक कार्य अवसरवादी हैं और इसका नतीजा बोलीविया में क्रांति करनेवाले ग्वेवारा और उनके कामरेडों को भुगतना पड़ा।

इसीलिए हमें एक ऐसे क्रांतिकारी संगठन की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो गोरिल्ला युद्ध को सम्पूर्ण जनता के युद्ध का रूप दे सके। इसका मुख्य उद्देश्य सामरिक कार्रवाई की दृष्टि से गोरिल्ला दस्ते का निर्माण करना तथा उसे विकसित करना है, लेकिन उसका व्यापक उद्देश्य है उसे समग्र जनता के युद्ध में बदल देना। इससे स्वेच्छावादिता के समर्थकों का वह दावा सिद्ध नहीं होता कि सभी प्रकार के प्रचलित संघर्ष गोरिल्ला दस्ता के लिए सहायक सिद्ध होंगे। गोरिल्ला दस्ता के सहायक तत्वों की सतर्क योजना होनी चाहिए, यानी हिरावल दस्ता और जनता के बीच सम्पर्क सूत्रों का निर्माण क्रांतिकारी कार्य के बुनियादी नियम के अनुसार किया जाना चाहिए। हिरावल दस्ते को जनता से कदम भर ही आगे होना चाहिए—न इससे अधिक और न कम। ऐसी बात नहीं है कि हिरावल दस्ते द्वारा संघर्ष शुरू किये जाने और आगे बढ़ाने के बाद "यह जनता का काम है" कि वह उसके साथ हो ले बल्कि हिरावल दस्ते का यह काम है कि वह अपना संगठन इस प्रकार करे कि जनता की क्रांतिकारी शक्तियों में ध्रुवीकरण पैदा हो। हिरावल दस्ते को वर्ग-संघर्ष की ठोस प्रक्रियाओं से कटकर अलग होना नहीं है, उसे आरम्भ से ही यानी गोरिल्ला दस्ते की तैयारी की अवधि से ही क्रांतिकारी वर्गों में अपना ठोस आधार बनाना है। इस ठोस आधार का रूप सांगठनिक हो अथवा राजनीतिक, लेकिन किसी भी हालत में इसे मजदूरों, किसानों और मध्यवर्ग के उस हिस्से के, जिसका स्वार्थ सर्वहारा की क्रांति से जुड़ा है, जन आंदोलन के लिए सही लाइन का प्रतिनिधित्व करना है।

हथियारबन्द प्रचार की प्रभाव-क्षमता की अतिरंजना

इस प्रकार हमने यह देखा कि देब्रे ने अपनी पुस्तक में सशस्त्र प्रचार और शस्त्र के प्रचार के बीच का भेद नहीं दिखाया है। देब्रे का कहना है: सैनिक कार्रवाई के बाद आता है सशस्त्र प्रचार का कार्य, न कि उसके पहले। मुख्य बात यह है कि वर्तमान अवस्था के अन्तर्गत सफल सैनिक कार्रवाई ही प्रचार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप है (देखिये क्रांति में क्रांति, पृ० ५६)। दूसरे शब्दों में देब्रे यह कहना चाहते हैं कि हिरावल दस्ते को पहले अपनी 'सैनिक कार्रवाई' के आधार पर जनता को जीतना चाहिए और बाद में 'राजनीतिक' रूप में। शासक वर्ग के दमनकारी यंत्र के विरुद्ध अपने संघर्ष के आरम्भ में हिरावल दस्ता केवल अपने प्रति जिम्मेदार होता है। देब्रे के कथन में शायद यह भी छिपा है कि देश का किसान वहाँ के पहाड़ और जंगल की तरह महज उसका एक हिस्सा है। भाषा हथियार की होती है, केवल हथियार की। बोलीविया में कुछ ऐसा ही हुआ और वहाँ के किसान ग्वेवारा और उनके कामरेडों के वीरतापूर्ण संघर्ष को समझ नहीं सके। हालाँकि ग्वेवारा को हमेशा यह महसूस होता रहा कि उन किसानों को अपने पक्ष में जीतना आवश्यक है। इसका जिक्र ग्वेवारा ने अपनी डायरी में किया है। १९६७ के मई महीने में लिखी गयी अपनी डायरी के अंश में उन्होंने उल्लेख किया है कि उस अवधि की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह थी कि उन्हें 'किसानों के सहयोग का नितांत अभाव था।' किसानों का विश्वास जीतना 'मन्द चरण और धैर्य का काम है।' सैनिक कार्रवाई की गूंज, गोरिल्ला दस्ते की लड़ाई की क्षमता, आत्मत्याग और साहस अपने आप में पर्याप्त हों भी तो वे हिरावल दस्ते के गिर्द जनता का ध्रुवीकरण करने में अयोग्य अथवा अक्षम होंगे।

न तो सैनिक सफलता के अभाव की बिना पर यांत्रिक रूप से राजनीतिक असफलता को समझ सकते हैं और न राजनीतिक असफलता ही यांत्रिक रूप से सैनिक ह्रास का कारण बतला सकती है। इन दोनों पहलुओं का आपस में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। वह इस प्रकार है कि अगर सैनिक सफलता को राजनीतिक सफलता का रूप नहीं दिया गया तो वह सैनिक सफलता निरर्थक सिद्ध होती है और अगर राजनीतिक कार्य सैनिक कार्य की ओर आगे नहीं बढ़ता तो उस राजनीतिक कार्य का भी कोई मानी नहीं है।

देब्रे की मान्यता के प्रतिकूल वर्तमान अवधि में लातीनी अमरीका में चल रहे वर्ग-युद्ध की विशिष्टता यह नहीं है कि सैनिक कार्रवाई के बाद राजनीतिक कार्य किये जा रहे हैं (इस तरह की कार्रवाई को Blanquism, putschism अथवा सैन्यवाद कहते हैं) बल्कि साम्राज्यवादी और उसके स्थानीय प्रतिनिधियों के वर्ग प्रभुत्व का जहाँ जोर है उसके सम्मुख शोषित वर्ग के लिए आरम्भ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष चलाने के अलावा कोई दूसरा राजनीतिक विकल्प नहीं है। ग्वेवारा के शब्दों में अगर उन्हें 'किसानों के अपने प्राचीन सम्बन्ध से बने सहयोग' प्राप्त नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी दमन यंत्र सामरिक स्तर पर गोरिल्ला दस्ते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपने घेरे में कर लेंगे और किसी ग्वेवारा की असीम वीरता भी उसे नहीं बचा पायेगी क्योंकि हथियारों के आँख नहीं होती।

देब्रे की गलती यह थी कि उन्होंने हथियारबंद कार्यों को अपने-आप में ही प्रचार मान लिया।

वर्ग शत्रु के दमन यंत्र के विरुद्ध मुख्य संघर्ष आरम्भ करने का अर्थ यह है कि गोरिल्ला और उनके सहयोगी वास्तव में सम्पूर्ण शोषित जनता के सम्मुख विकल्प सर्वहारा शक्ति का रूप खड़ा कर रहे हैं। शोषितों की चेतना में इस वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया को प्रतिबिंबित होने के कई उपाय हैं। इर्द-गिर्द अगर गोरिल्ला दस्ता हो तो ऐसी संभावना है कि लोग उसका महत्त्व समझें। लेकिन शायद ऐसा संभव नहीं है कि इर्द-गिर्द के सारे लोग घायल गोरिल्ला की मदद में पहुँच जायें। संभावना कौन-सा रूप लेगी यह इस बात पर निर्भर है कि सर्वहारा किसान और किसानों की प्रत्येक श्रेणी में विभिन्न स्थानों में वर्ग-संघर्ष की वस्तुनिष्ठ अवस्था क्या है और सर्वहारा क्रांति से जुड़े वर्गों के सम्मुख हिरावल दस्ता अपने संघर्ष को किस 'रूप' में प्रस्तुत करता है।

हथियारबंद प्रचार से संबंधित देब्रे के प्रबंध की जो सबसे बड़ी विचित्रता है और जो उसके यांत्रिक और द्वंद्वात्मकता-विरोधी स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है वह यह है कि वह राजनीतिक और सैनिक कार्य के बीच अमूर्त विरोध खड़ा करते हैं। और अपने इस प्रबंध को उचित ठहराने के लिए वह राजनीतिक कार्य पहले आरंभ किये जाने और बाद में सैनिक स्तर तक पहुँच जाने को असम्भव बतलाते हैं। उनके अनुसार हथियारबंद प्रचार को सैनिक कार्रवाई के पूर्व और विशिष्ट मंज़िल मानने का मतलब होगा शत्रु को अनावश्यक रूप से उकसाना······लातीनी अमरीका के अधिकांश देशों के किसानों की मौजूदा सामाजिक, सैद्धांतिक और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं में किसी भी प्रचार दल पर, हथियारबंद हो या न हो, निगरानी रखी जायगी और उसका पता कर खात्मा कर दिया जायगा, भले ही उसका रूप आरंभिक क्यों न हो··· (देखिए 'क्रांति में क्रांति' पृ० ५६)। इस कथन से दो सम्भावनाएँ सामने आती हैं: हथियारबंद प्रचार, जो राजनीतिक-सैनिक कार्रवाई नहीं है, से देब्रे का क्या मतलब है इसकी जाँच करना। और दूसरा यह कि गोरिल्ला युद्ध में राजनीतिक और सैनिक पहलू के बीच के संबंध का सही उत्तर न तो वह है जिसकी देब्रे तरफदारी करते हैं (यानी यह कि राजनीतिक कदम के पहले सैनिक कदम जरूरी है), न ही वह है जिस पर देब्रे प्रहार करते हैं (यानी यह कि राजनीतिक कार्य के बाद सैनिक कार्य आता है)। इसका सही उत्तर यह है जिसका ज़िक्र देब्रे नहीं करते हैं कि क्रांतिकारी संघर्ष आरंभ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष का मिला-जुला रूप है। ये दोनों कार्य एकबद्ध हैं। हम देब्रे की अवधारणा संबंधी भूलें ऊपर बतला चुके हैं जिससे उनकी इस गडमड स्थिति का पता मिलता है। देब्रे यह दिखला पाने में असमर्थ हैं कि सुधारवादी कम्युनिस्ट पार्टियों के अवसरवादी कार्य ही वे आधार हैं जो पार्टी के सांगठनिक रूप की अवसरवादिता का रहस्य खोलते हैं, लेकिन ऐसा करने की बजाय वे यांत्रिक रूप से संगठन के सैनिक रूप में क्रांतिकारी राजनीति खोज निकालने की चेष्टा करते हैं।

जन आंदोलन के स्वेच्छावादी रूप की अवधारणा

देब्रे के अनुसार सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता है जो जन सेना का आरंभिक रूप है। उनके अनुसार कोई (राजनीतिक) मोर्चा इसका संगठन नहीं करता है बल्कि गोरिल्ला दस्ता ही राष्ट्रीय क्रांतिकारी मोर्चे को रूप देता है। देब्रे का यह भी कहना है कि जो कुछ **मौजूद** है उसी के आधार पर मोर्चा बनाया जाता है, न कि केवल मुक्ति के कार्यक्रम के आधार पर। (देखिए 'क्रांति में क्रांति' पृ० ८२)

इसमें संदेह नहीं कि जन-आंदोलन के स्वेच्छावादी रूप से संबंधित संग्रह में देब्रे का यह कथन स्थान पाने योग्य है। लेकिन जैसा कि गलत विश्लेषण में अक्सर होता है, देब्रे भी गलत विकल्प से आरम्भ करते हैं।

देब्रे की इस योजना से यथार्थ कहीं ज्यादा जटिल है क्योंकि गोरिल्ला दस्ता विकसित होकर जो रूप लेगा वह कोई मोर्चा नहीं होगा बल्कि वह जन सेना होगी। और सेना सेना होती है मोर्चा नहीं।

देब्रे का तर्क हमें और आगे उलझाव की ओर ही ले जाता है। देब्रे जब यह कहते हैं कि सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता है तो इससे उनका मतलब यह है कि गोरिल्ला दस्ता ही हिरावल दस्ता संगठन का प्राथमिक रूप है। इसके पूर्व या इतर हिरावल दस्ता नाम की कोई चीज नहीं है और इसका विकास हिरावल दस्ता के रूप में तभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है जबकि उसका अस्तित्व देहात में हो। यहां हमें हिरावल दस्ता की भूमिका और वर्ग की भूमिका के बीच खेदजनक उलझाव मिलता है। देब्रे यह नहीं देख पाते हैं कि यद्यपि **ग्रामीण क्षेत्र में ही** हिरावल दस्ता सत्ता पर अधिकार करने के लिए जनता को संगठित कर सकता है (क्योंकि इसके बाद ही मजदूर वर्ग शहर में सत्ता पर अधिकार कर सकता है), लेकिन वह शहर ही है जहां वह अपना संगठन कर सकता है और हिरावल दस्ता संगठन के रूप में अपनी मोर्चाबंदी कर सकता है। जिस तरह गोरिल्ला दस्ता के बगैर किसान वर्ग अपने को क्रांति के लिए संगठित नहीं कर सकेगा, उसी प्रकार नगर में राजनीतिक-सैनिक हिरावल दस्ता के बिना सर्वहारा न तो गोरिल्ला दस्ता को सामरिक कार्रवाई को प्रभावशाली मदद पहुँचा सकता है और न हथियारबंद किसान वर्ग को ही। ऐसी स्थिति में सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता (foco) नहीं बल्कि हिरावल दस्ता संगठन है और गोरिल्ला दस्ते का निर्माण और विकास उसके सामरिक महत्त्व का कार्य है। हिरावल दस्ता सर्वहारा क्रांति से यथार्थ में दिलचस्पी रखने वाले वर्गों के सभी प्रकार के संघर्ष का नेतृत्व करेगा और इसी रूप में वह हिरावल दस्ता उस गोरिल्ला दस्ता को प्रभावित करेगा।

सामाजिक विश्लेषण में रूपवाद और संगठन सैन्यवाद

'क्रांति में क्रांति' पुस्तक लेनिनवादी अर्थ में रणनीति से सम्बन्धित पुस्तक है। इसका सम्बन्ध इस विषय से है कि क्रांति कैसे की जाय। 'अतः इसकी हरेक पंक्ति से इस प्रश्न के ठोस जवाब की अवश्य आशा की जानी चाहिए कि पूंजीवादी राजसत्ता को किस प्रकार गिराया जाय।'

इस पुस्तक में वे हथियारबंद संघर्ष की दो विशिष्ट युक्तियों की जांच पेश करते हैं : (१) हथियारबंद आत्म-रक्षा, (२) गोरिल्ला आश्रय। जहां तक केवल युक्तियों का प्रश्न है देब्रे का विश्लेषण सर्वोत्तम है। लेकिन ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिसका सम्बन्ध रणनीति से न हो, और ऐसी कोई रणनीति नहीं है जिसका कड़ा निर्धारण प्रतिरोधी शक्तियों के स्वरूप और उनकी संघर्ष क्षमता पर निर्भर न हो। अतः यह आवश्यक है कि लातीनी-अमरीकी क्रांति की रणनीति के सन्दर्भ में देब्रे की युक्ति दृष्टि की जांच की जाय।

युक्तियों का प्रमुख उद्देश्य होता है क्रांतिकारी प्रक्रिया के विशिष्ट स्तर पर (मंजिल पर) संघर्ष का मुख्य रूप निश्चित करना। सैद्धान्तिक स्तर पर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लातीन-अमरीका के विभिन्न कम्युनिस्ट संगठनों द्वारा प्रयोग में लाई गई विभिन्न युक्तियों की कमियों का विश्लेषण करते हुए देब्रे अनुभवजनित ढंग का प्रयोग करते हैं। अपने इस ढंग में वह अवसरवादी युक्तियों को नकारते हुए आगे बढ़ते हैं और परिणामतः संघर्ष के मुख्य रूप का निर्धारण गोरिल्ला दस्ता के रूप में होता है जो क्रांतिकारी हिरावल दस्ता की सामरिक गतिशील टुकड़ी है। अगर इस अंतिम परिणाम को सही मान भी लें तो इस प्रणाली की कमजोरी यह है कि इससे सिर्फ यह प्रकट होता है कि क्यों अवसरवादी युक्तियां उपयोगी नहीं होतीं। और पुस्तक के अंत में पाठक को यह एहसास होता है कि गोरिल्ला युद्ध इसलिए आवश्यक है क्योंकि अन्य उपाय सफल नहीं हुए। ऐसा नहीं महसूस होता कि गोरिल्ला युद्ध सही ढंग है। ऐसा प्रभाव इसलिए पड़ता है चूंकि देब्रे सही ढंग का निर्धारण सभी भ्रामक हलों को नकारकर और सेना दस्ता के रूप में उसकी सैनिक कार्रवाई का सही विश्लेषण के माध्यम से करते हैं। लेकिन वर्ग संघर्ष के मुख्य रूप के तौर पर गोरिल्ला युद्ध के कार्य का ठोस विश्लेषण कर वह इस नतीजे पर नहीं पहुँचते। देब्रे का सम्पूर्ण तर्क 'पार्टी या गोरिल्ला' पर केन्द्रित है। यही कारण है कि वे यह दिखाना भूल जाते हैं कि आज लातीनी अमरीका में गोरिल्ला युद्ध वर्ग संघर्ष का श्रेष्ठ रूप है।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद एक वैज्ञानिक प्रणाली है। इसके सही प्रयोग से ही हमें सर्वहारा क्रांति की रणनीति और युक्तियों की परिभाषा मिल सकती है। सर्वहारा और उसके बन्धुओं की युक्तियों का सही निर्धारण प्रत्येक ऐतिहासिक मंजिल के वर्ग-संघर्ष के मुख्य पहलू की वैज्ञानिक परिभाषा, मुख्य पहलू और अन्य पहलुओं की सम्मिलित अवस्था के मूल्यांकन और राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर शोषित और शोषकों के बीच विभिन्न शक्तियों के सम्बन्धों की सही समझदारी के द्वारा उचित ढंग से हो सकता है।

क्रांतिकारी मार्क्सवादियों ने जिस आधार पर पूरी मानवजाति के सबसे बड़े शत्रु अमरीकी साम्राज्यवाद से मुकाबले के लिए तथाकथित 'समाजवाद के शांतिपूर्ण रास्ते'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तिरस्कृत कर हथियारबन्द संघर्ष [illegible] रास्ते के रूप में स्वीकार किया उनके गम्भीर अध्ययन से ही गोरिल्ला युद्ध का ठोस आधार पाया जा सकता है। यह अवश्य दिखाया जाना चाहिए कि पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियों ने क्यों इस समस्या को न समझने की जिद कर ली है। लेकिन यह वैज्ञानिक ढंग से दिखाया जाना चाहिए। सर्वहारा का उद्देश्य त्यागकर इन पार्टियों ने जो विश्वासघात किया है उसे सामाजिक और राजनीतिक कारण बतलाते हुए स्पष्ट किया जाना चाहिए। उनके विरुद्ध अंत तक विरोध आवश्यक है जिन्होंने वियतनाम को इस युद्ध में दुःखद रूप से अकेला छोड़ दिया है और मात्र हथियार भेजकर अपने चेहरे की लाज बचा रखी है। और यहीं देब्रे बिल्कुल सही उतरते हैं जब यह कहते हैं कि हमें अपने विरोध को अवश्य ही कार्यरूप देना चाहिए। और इसी अर्थ में 'वामपंथी' अवसरवाद के सारे 'दस्तावेजों' से देब्रे की कृति का अर्थ कई गुना बढ़ जाता है। लेकिन एक मार्क्सवादी अपना तर्क इस दृढ़ मान्यता से आरम्भ करता है कि क्रांतिकारी सिद्धान्त के अभाव में क्रांतिकारी कार्य असंभव है, एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, दोनों के सम्मिश्रण से ही समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन संभव है। इस दृष्टि से देब्रे पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियों के बुर्जुआ हो जाने को उनके राजनीतिक कार्यक्रम से कभी नहीं जोड़ पाते हैं। देब्रे का यह आग्रह, कि उनका सुधारवाद मुख्यतः शहरी जीवन की सुविधाओं और सुखों पर निर्भर है, हास्यास्पद है। पारम्परिक पार्टियों के अवसरवाद और विश्वासघात का बुनियादी कारण यह नहीं है कि वे ग्रामीण क्षेत्र में जाना नहीं चाहते हैं, या शहर में ही शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करना पसंद करते हैं बल्कि यह कि वे मुख्य शत्रु के विरुद्ध संघर्ष नहीं करते हैं।

देब्रे में सैद्धान्तिक दृढ़ता की कमी है और यही कारण है कि वह समस्या के तल तक नहीं पहुँच पाते हैं और यही कारण है कि वह यह नहीं कह पाते हैं कि पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियाँ सोवियत कूटनीति और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की उसकी रणनीति के अन्तरराष्ट्रीय यन्त्र हैं। यह हर कोई जानता है कि रूस के शासक नौकरशाह अमरीकी साम्राज्यवाद और शोषित जनता के हिरावल दस्ते के बीच मुठभेड़ को हर संभव तरीके से विध्वंस करने की कोशिश करते हैं।

परिमाणतः क्रांतिकारी रणनीति के विस्तार की मांग [illegible] यह नहीं है कि गोरिल्ला दस्ते की सैनिक विशिष्टता की परिभाषा की जाय। बल्कि यह निर्धारण करना है कि : १. आज की ऐतिहासिक मंजिल पर वर्ग-संघर्ष की प्रकृति क्या है, और २. जनयुद्ध के रूप में गोरिल्ला का स्वरूप निर्धारण करना है जिसका वह मुख्य एवं प्रत्यक्ष रूप है; किंतु एकमात्र अथवा पर्याप्त रूप नहीं।

१. आज के युग में अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व-पूंजीवाद का आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से एकीकरण वर्ग-संघर्ष के चरित्र का निर्धारण करता है। अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में पूरे विश्व का बुर्जुआ आज एक विश्व पद्धति में इस प्रकार संघटित है कि पूंजीवादी देशों के बीच बाजार से सम्बन्धित प्रतिरोधों को पूंजीवाद का प्रमुख केन्द्र वाशिंगटन राजनीतिक रूप से नियंत्रित करता है। लेनिन के युग की तुलना में आज की दुनिया के पूंजीवादी देशों के बीच जो धुरी योग है उसमें नया तत्त्व यह है कि साम्राज्यवादी देशों के बीच राष्ट्रीय प्रतिरोधात्मक तत्त्व नहीं रह गये हैं, जिसका नतीजा यह है कि सभी साम्राज्यवादी देश अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व के अधीन एक ही खेमे में हैं। फ्रांस का राष्ट्रपति अपने को फ्रांसीसी पूंजीवाद का हिमायती कह सकता है, परन्तु यह तो वर्ग-संघर्ष का पूरक पहलू है, क्योंकि फ्रांसीसी पूंजीवाद और अमरीकी पूंजीवाद के बीच का अन्तर्विरोध कभी प्रतिरोधात्मक नहीं होगा। चूंकि विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष धुरी-योग के कारण प्रतिरोधात्मक तत्त्व समाप्त हो गये हैं; इसलिए साम्राज्यवादी देशों के बीच आपस में कभी युद्ध नहीं होगा। १९१४-१८ और १९३९-४५ के प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की तरह विभिन्न पूंजीवादी देशों के बीच के अन्तर्विरोध विश्व धुरी-योग पर हावी नहीं होंगे। अतः पूंजीवादी देशों के दमन-यंत्र का विनाश 'स्वतः' नहीं होगा। दूसरे शब्दों में यह विनाश तब तक नहीं होगा जब तक क्रांतिकारी जन-सेना प्रत्यक्ष रूप से उसमें हिस्सा न ले। कब्ल इसके कि अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व पूंजीवाद का एकीकरण कर दिया जाय, सर्वहारा अपने को निरस्त्र ढंग से शस्त्र-सज्जित कर ले। यानी पहले वह अपना राजनीतिक संगठन बनाये और अपने राजनीतिक संघर्ष को और एक हद तक निरस्त्र हिंसा को विकसित करे, तब हथियारबंद होने और सत्ता पर अधिकार करने के लिए अपने देश के प्रमुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गों का सामाजिक, राजनीतिक और सैनिक रूप से खात्मा कर स्थिति का लाभ उठाये। १८७१ में पेरिस कम्यून में, १९१७ में रूस में, १९१८ में जर्मनी और हंगेरी में, १९४४-४५ में चीन में, १९४४-४५ में वियतनाम में, १९४२-४५ में युगोस्लाविया में यही हुआ।

इस प्रकार आज के साम्राज्यवादी पूंजीवाद का राजनीतिक-सैनिक एकीकरण तीसरे अन्तरराष्ट्रीय ज़माने के साम्राज्यवाद की अपेक्षा गुणात्मक रूप में विशिष्ट है। उस ज़माने के साम्राज्यवाद की विशिष्टता थी 'विश्व बाज़ार' का एकीकरण और साम्राज्यवादी देशों में आपस की बेरोक प्रतियोगिता, जबकि आज हम 'संगठित प्रतियोगिता' देख रहे हैं जिसके अन्तर्गत और कुशल ढंग से शोषण किया जाता है। सामाजिक उत्पादक शक्तियों की दृष्टि से बहु-साम्राज्यवाद और एक-साम्राज्यवाद जैसी दो मंज़िल के बीच का फर्क स्पष्ट है : अन्तर-साम्राज्यवादी संघर्ष के युग में उत्पादक शक्तियाँ वे थीं जो औद्योगिक क्रांति और भारी मशीन के आगमन से गतिशील हुई थीं। आज के युग में, जो अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा पूंजीवादी शोषण की एकीकृत विश्व पद्धति का युग है, इलेक्ट्रानिक, न्युक्लीयर और साइबरनेटिक की क्रांति ने अमरीकी आधिपत्य के लिए भौतिक अवस्थाओं का निर्माण कर दिया है। न्यूक्लीयर ब्लैकमेल और आटोमेशन ने सभी साम्राज्यवादी देशों को अमरीकी साम्राज्यवाद के अंगूठे के नीचे कर दिया है। राष्ट्रवादी पूंजीवाद इस प्रक्रिया को कतई नहीं बदल सकता। इसके साथ ही साम्राज्यवाद के साथ 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' की रणनीति ने पूरे विश्व की शोषित जनता को मानव जाति के सबसे बड़े दुश्मन के विरुद्ध संघर्ष में 'दुखद रूप से अकेला' छोड़ दिया है। ऐसी ही रणनीति के आधार पर आज की दुनिया में अमरीकी साम्राज्यवाद और उसकी राष्ट्रीय कठपुतली सरकार और शोषित जनता और उनके सहयोगी सर्वहारा राज्यों के बीच विशिष्ट मुकाबले में सोवियत संघ पार्श्व में जा खड़ा हुआ है।

हमारे युग में पुलिस (जो शोषकों के लिए शोषितों से अपने वर्ग-स्वार्थ की आंतरिक रक्षा का एक यंत्र है) और सेना (जो एक बुर्जुआ राज्य के लिए दूसरे बुर्जुआ राज्य से बाहरी रक्षा का यंत्र है और संकट की घड़ी में ही अपने ही राष्ट्र के शोषितों के खिलाफ शोषक की रक्षा का भी यंत्र बनता है) के बीच का भेद मिट गया है। आज पूंजीवादी देशों में पुलिस और सेना के बीच केवल वर्दी और हथियार का फर्क रह गया है।

संक्षेप में लेनिन के युग में पूरी शोषित जनता के लिए विकल्प शक्ति स्थापित करने का सर्वहारा का ऐतिहासिक उद्देश्य बुनियादी तौर पर सैनिक उद्देश्य नहीं था। उस युग में 'ठीक समय पर' पूंजी की सत्ता के खिलाफ आक्रमण के योग्य मजदूर वर्ग के पेशेवर राजनीतिक लड़ाकुओं का ठोस क्रांतिकारी संगठन ही पर्याप्त था। यह क्षण तभी आ सकता था जब अन्तर-साम्राज्यवादी युद्ध में बुर्जुवा सेना का खातमा हो गया होता। आज जबकि ऐतिहासिक रूप में अन्तर-साम्राज्यवादी युद्ध की सम्भावना समाप्त हो चुकी है, लातीन-अमरीका में विकल्प सर्वहारा शक्ति के लिए आरम्भ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष की आवश्यकता है जिसका मुख्य रूप हथियारबंद वर्ग-संघर्ष है।

२. गोरिल्ला युद्ध पूरी जनता का युद्ध है। गोरिल्ला दस्ता उसका मुख्य और प्रभावशाली रूप है इसलिए नहीं कि गाँव की अपेक्षा शहर में पकड़ा जाना आसान है, इसलिए भी नहीं कि गांवों में सर्वहारा बना देने का जादुई गुण है और शहर में बुर्जुवा बना देने के गुण हैं, इसलिए भी नहीं कि पहले अर्द्ध-सामन्तवाद से किसानों को मुक्त किया जाना चाहिए और तभी सर्वहारा के ऐतिहासिक हितों की चिन्ता की जा सकती है, बल्कि इसलिए कि आज लातीन-अमरीका में चल रहे वर्ग-संघर्ष की वस्तुगत अवस्थाओं में क्रान्तिकारी हिरावल दस्ते की प्रथम आवश्यकता है गाँवों में अपनी शक्ति संचय करने की, जिससे बाद में शहरों में राज्यसत्ता पर विजय हासिल की जा सके। यह स्पष्टीकरण आवश्यक है इसलिए कि अधिकांश लोग यह नहीं समझ पाते हैं कि क्यों रणनीति को सर्वप्रथम गाँवों के क्षेत्र में विकसित करना चाहिए, न कि शहरों में। और रणनीति और युक्ति को गड्डमड्ड कर देखने वाले कुछ कामरेड ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि गाँवों में ही संघर्ष के उत्तम रूप का विकास हो सकता है क्योंकि ब्राजील में किसानों की संख्या सर्वहारा की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। यह विचार एक तरफ क्रान्ति के चरित्र और वर्ग-विरोध तथा आज के युग के मुख्य उद्देश्य और दूसरी तरफ इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन (युक्ति) के बीच भ्रांति प्रकट करता है। यह सर्वहारा क्रान्ति है, और किसान ब्राजीली क्रांति में उस सर्वहारा का मुख्य अंग है। और आज के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग का मुख्य उद्देश्य है हथियारबन्द संघर्ष के ज़रिये विकल्प मजदूर-शक्ति खड़ा करना जिसका रूप होगा क्रांतिकारी जन-सेना। इस उद्देश्य की प्राप्ति का माध्यम होगा गोरिल्ला दस्ता जो आगे चलकर गोरिल्ला युद्ध का रूप लेगा। अतः युक्ति के लिहाज से हिरावल दस्ता संगठन को अपनी मुख्य टुकड़ी गाँवों में भेजनी चाहिए। परिणामस्वरूप लातीन अमरीका में जनता के क्रान्तिकारी संगठन की शुरुआत गाँवों में ही हो सकती है। आज के ब्राजील की अपेक्षा १९१७ के रूस में किसान और सर्वहारा के बीच सांख्यिकी अनुपात में फर्क होने के बावजूद रणनीति सम्बन्धी भूमिका सर्वहारा के ही हाथ थी, जैसा कि सदा होता है, और वर्ग-संघर्ष की मंजिल में भी दूसरी थी।

परिणामस्वरूप गोरिल्ला दस्ता किसानों के लिए ही संघर्ष का उत्तम रूप नहीं है बल्कि पूर्ण शोषित जनता के लिए है। गोरिल्ला दस्ते की स्थापना देहात में करने का यह अर्थ नहीं है कि किसान सर्वहारा से अधिक क्रान्तिकारी है। (ऐसा समझना दक्षिण-पंथी और टुटपुंजिया विचार है जो मार्क्स-वादी प्रणाली और विज्ञान की गहरी अनभिज्ञता प्रकट करता है।) हमारे संघर्ष की विशिष्ट अवस्था में सामाजिक संरचना के सबसे कमज़ोर सम्पर्क सूत्र को विध्वंस करने का सही माध्यम है गोरिल्ला कार्य। यह तथ्य कि बुर्जुवा राज्य सत्ता का सूत्र गाँवों में कमजोर होता है, एक राजनीतिक-सैनिक तथ्य है जो उन अवस्थाओं को प्रकट करता है जिनमें वर्ग-प्रभुत्व चरितार्थ होता है या ऐसा कहें कि उन अवस्थाओं को प्रकट करता है जिनमें शोषितों के दमन का यन्त्र प्रभावशाली रूप लेता है। पूंजीवाद के विषम विकास का निम्न स्तर देहात में दिखाई पड़ता है या जैसा कि गुंदर-फ्रैंक का कहना है कि देहात 'अर्द्ध-विकास' का सबसे विकसित रूप प्रकट करता है।

यह विश्वास करना कि संघर्ष का मुख्य रूप देहात में जन्म लेता है, क्योंकि आज सर्वहारा की बजाय किसान अधिक क्रान्तिकारी है, अधिकांश वामपंथी लड़ाकू कामरेडों की भ्रांति में फँस जाना है। वे कामरेड बुर्जुवा सिद्धान्त 'अर्थवाद' से अपने को पूरी तरह नहीं तोड़ सके हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं। 'अर्थवाद' का सार है राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष की धारा को कार्यरूप में गलत दिशा देना और सैद्धान्तिक और राजनीतिक चेतना को क्षति पहुंचाने की हद तक आर्थिक नियतिवाद की अतिरंजना करना। नतीजतन 'अर्थवाद' मार्क्सवादी विज्ञान पर बुर्जुवा 'विज्ञानवाद' के प्रभाव की अभिव्यक्ति है।

क्रांतिकारी सिद्धान्त के स्तर पर यह कहना उतना ही गलत है कि संघर्ष का मुख्य रूप देहात में जन्म लेगा क्योंकि किसान अधिक क्रांतिकारी हैं, जितना यह कहना कि उसका मुख्य रूप नगर में जन्म लेगा क्योंकि सर्वहारा किसान से अधिक क्रांतिकारी है। राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच की भ्रांति की झलक दोनों उदाहरणों में समान रूप से मिलती है क्योंकि संघर्ष के मुख्य रूप का निर्धारण पद्धति (शासन) के सबसे कमजोर सम्पर्क सूत्र के आधार पर होता है न कि क्रांति के चरित्र के सम्बन्ध में अटकलबाजियाँ करने से।

यह सर्वहारा क्रांति तभी पूरी होगी जब सर्वहारा नगरों में राजसत्ता पर अधिकार कर लेगा और पूरी शोषित जनता का नेतृत्व करते हुए समाजवाद का निर्माण शुरू करेगा। लेकिन हमारी समस्या तो क्रांति की शुरुआत करने की है, क्रांतिकारी जनसेना के संगठन की है। गोरिल्ला दस्ते के कार्य के ज़रिये ही यह सम्भव है क्योंकि वह सर्वहारा हिरावल दस्ता संगठन की सामरिक महत्त्व की टुकड़ी है जो देहात में पद्धति (शासन) के सबसे कमज़ोर सम्पर्क-सूत्र के विरुद्ध आक्रमण को दिशा देता है। देहात में इस गोरिल्ला दस्ते को रूप देने का अर्थ है कि जन-सेना देहात में ही संग-ठित की जा सकती है। सबसे कमजोर सम्पर्क-सूत्र के संदर्भ में औद्योगिक उत्पादन के सामाजिक-आर्थिक भार और राज-नीतिक-सैनिक प्रभुत्व को गडमड करना लेनिनवाद को तिलांजलि देना है। इस प्रकार जब अवसरवादी यह कहते हैं कि आज हमारा उद्देश्य शहरों में स्थिर होना चाहिए क्योंकि वहां औद्योगिक उत्पादन का भार अधिक है तो वे यह भूल जाते हैं कि क्योंकि शहरों में सामाजिक-आर्थिक दबाव सबसे ज्यादा है इसलिए बुर्जुवा की सरकार उन शहरों में ही अपने दमन यंत्र का भी इस्तेमाल भारी पैमाने पर करेगी। शायद अवसरवादियों की भ्रांति इस तथ्य से ज्यादा झलकती है कि वे दूसरे स्तर के दबाव का मुकाबला करने के न तो अभ्यस्त हैं और न करने की इच्छा-शक्ति रखते हैं।

अनुवादक : प्रेमेन्द्र

['न्यू लेफ्ट रिव्यू'—५९, जनवरी-फरवरी १९७० के अंक से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रासंगिकी

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे

प्रभात कुमार त्रिपाठी

सांप्रदायिक दंगों को लेकर की जाने वाली बहसों में जो सबसे बड़ी गलती की जाती है वह यह है कि इनमें सांप्रदायिकता के ऊपर ज्यादा ज़ोर दिया जाता है और दंगों पर कम। अगर ज़रा भी ठंडे दिल से सोचा जाये तो यह समझते देर न लगेगी कि दंगावाली प्रवृत्ति सांप्रदायिकता का चेहरा पहनकर सामने आती है और निदान करने वाले रोग की जड़ों को समझने में भूल करते हैं। रांची से लेकर अहमदाबाद तक जो कुछ भी हुआ या होता रहता है, उसके पीछे सांप्रदायिकता का ज़हर काम नहीं कर रहा था—यह मानना भूल है, लेकिन यह मानना कि हिंदू-मुसलमान के बीच सांप्रदायिक सद्भाव के वातावरण से सब-कुछ ठीक हो जाने वाला है—एक दूसरी बड़ी भूल है।

सांप्रदायिकता के ज़हर और उसके परिणामों के ऊपर सोचते हुए, आज सबसे ज्यादा ज़रूरत इस बात की है कि हम भीड़ और व्यक्ति की मानसिकता को समझने की कोशिश करें। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सांप्रदायिकता की भावना व्यक्ति में दंगों के पहले और दंगों के बाद भी होती है। लेकिन, वह दंगों में तभी बदल पाती है जब व्यक्ति का विवेक, भीड़ की उत्तेजना का अंश हो जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि दंगा करने वाली भीड़, गुंडा-नेतृत्व की अनुगामिनी होती है और वह न केवल हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के तथाकथित पुराने ज़हर के द्वारा उत्तेजित की जा सकती है, बल्कि भीड़ को उकसाने के लिए किसी भी समय कोई भी ज़हर पैदा किया जा सकता है। अक्सर यह मानने में मुझे संकोच होता रहा है कि हिन्दू-मस्लिम सांप्रदायिकता, हज़ार वर्षों के इतिहास का ज़हर छिपाये है और दंगे सिर्फ इसी कारण होते हैं। मेरे इस संकोच के कारण हैं क्योंकि बिलकुल नये ज़हर के द्वारा भीड़ को उकसाया जा सकता है। बम्बई में शिवसेना के कारनामे, असम में असमियों और बंगालियों के झगड़े और मुंगेली में सवर्णों और हरिजनों की लड़ाई—हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के कारण पैदा हुई दुर्घटनाएं नहीं थीं।

सिर्फ हिंदू-मुसलमान के बीच की साम्प्रदायिकता के कारण ही अगर दंगे हो जाते हों तो फिलवक्त उनके बीच किसी 'पूरी एकता' की बात किताबी और काल्पनिक है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच इतनी एकता हर वक्त रही है जितनी एकता दो विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्तियों में हो सकती है। हिन्दुस्तान के जन-जीवन को आत्मीयता से देखने पर यह बात प्रमाणित होती है कि अपने दैनिक व्यवहारों में हिन्दू-मुस्लिम कितने घुले-मिले हैं।

दरअसल साम्प्रदायिक दंगों को लेकर हिन्दू-मुस्लिम की एकता की बात बार-बार उठाने वाले लोग बेहद चालाक लोग हैं। यह बात एक साधारण-से-साधारण आदमी भी महसूस करता है कि अपने दैनिक-व्यवहारों में हिन्दू-मुस्लिम उतने एक हैं, जितने कि हिन्दू और हिन्दू और मुसलमान और मुसलमान भी नहीं हैं। इसकी तुलना में प्रान्तीयता और भाषा सम्बन्धी अलगाव की भावना ज्यादा प्रबल है। कुछ दिन पहले मैंने राजमोहन झा की एक कहानी 'बीच का समय' पढ़ी थी। इस कहानी में दंगे की अवधि को लेकर हिंदू पात्र के मन में अलगाव की जो पीड़ा बतायी गयी है, उससे यह बात साबित होती है कि आम तौर पर हिन्दू और मुसलमान दोनों यह अलगाव महसूस नहीं करते रहते हैं और दंगे के बाद अकस्मात ही उन्हें यह महसूस होने लगता है कि वे दो भिन्न दुनियाओं के लोग हैं।

मैंने पहले भी कहा है कि एकता की बात उठाने वाले लोग काफी चालाक हैं। इस तरह की चालाकी करने वालों में हिन्दुस्तान के राजनेता प्रमुख रहे हैं। पिछले बाईस वर्षों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिकता की भावना को व्यक्तिगत धार्मिकता से अलग कर, कौमी दंगों में परिवर्तित कर देने का मुख्य श्रेय, राजनेताओं को ही है। राजनेताओं का एक वर्ग है जो अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर मुसलमानों को भारतीय जीवन की मुख्य धारा से काटकर रखने की चालाक कोशिश करता रहा है। गोकि यह सच है कि स्वतन्त्रता के बाद से लेकर अब तक मुसलमानों के मन में असुरक्षा की भावना लगातार बढ़ती रही है, लेकिन इस असुरक्षा के आतंक को अलगाव के अस्त्र से नहीं काटा जा सकता।

नेताओं का एक दूसरा वर्ग भी है जो अपनी दकियानूस और मध्ययुगीन मानसिकता को ढाँकने के लिए भारतीयकरण के चालाक मुहावरे का उपयोग करता है। यह वर्ग खतरनाक है क्योंकि यह सम्प्रदाय-विशेष की व्यक्तिगत धार्मिकता को, अभारतीय होने का प्रमाण मान सकता है और मनवा भी सकता है। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर भारतीयकरण का मतलब क्या हो सकता है? क्या जो आदमी अपने भाषणों में, वेदों और उपनिषदों के मंत्र उद्धृत कर सकता है, वही भारतीय है? क्या हिन्दुस्तान के आम मुसलमान को इस बात की फुर्सत भी है कि वह भारत के अलावा किसी दूसरे देश की बात सोच सके? सच तो यह है कि हिन्दुस्तान का आम आदमी—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान—खुद को ज़िंदा रखने की इतनी कठिन लड़ाई लड़ रहा है कि उसे अपने और अपने परिवार के अलावा और किसी के बारे में सोचने की फुर्सत ही नहीं है।

अभी हाल 'सारिका' में मैंने बदी उज्जमा की एक कहानी पढ़ी थी। इस कहानी में एक मुसलमान दर्जी है जिसे कई कारणों से बिहार का अपना गाँव छोड़कर पूर्वी पाकिस्तान जाना पड़ता है। वहाँ रहकर भी वह अपनी मुस्लिम धार्मिकता को बिहार के 'अपने गाँव' से अलग करके नहीं देख पाता। बहुत पहले लिखी गई मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' भी इसी बात की गवाही देती है कि जो असली भारतीय-जन है, उसके भारतीयकरण का सवाल नहीं उठता। यह जरूर है कि अब उसके मनुष्य होने या न होने के सवाल को शिद्दत से महसूस किया जाना चाहिए। सामान्य भारतीय जन जिस तरह की ज़िन्दगी बसर कर रहा है, उससे शक होता है कि लिखने-पढ़ने वाले हम लोग, भाषण देने वाले नेता, और देश चलाने वाले साहब लोग—उसे आदमी की तरह ज़िन्दा रहने का नैतिक हक देना चाहते भी हैं या नहीं?

भारतीय-जन की इस करुण हालत को सांप्रदायिकता की समस्या के समानान्तर देखने की जरूरत है। इसलिए कि पिछले बाईस वर्षों में एक 'नकली भारतीय' भी पैदा हो गया है और अंग्रेज़ी न केवल इसकी जुबान में है बल्कि इसके सोचने-समझने का तरीका भी अंग्रेज़ों जैसा है। यह आकस्मिक नहीं है कि अंग्रेज़ों के द्वारा बोये गये विष-बीज को यह पढ़ा-लिखा वर्ग जाने-अनजाने सींच रहा है। ऊपरी मेल-मिलाप और रहन-सहन की एकता के बावजूद 'शहरी हिन्दू और मुसलमान' गाँव के अनपढ़ लोगों से ज्यादा दकियानूस और क्रूर हैं। यह भी आकस्मिक नहीं है कि मुसलमानों में 'पॅन-इस्लामिज़्म' और हिन्दुओं में 'कट्टर-हिन्दूवाद' को उकसाने वाले लोग अंग्रेज़ी-दीक्षा से दीक्षित रहे हैं। रिक्शेवाला यूनुस और होटल कामगार या बीड़ी मज़दूर घासीराम के दिलों में धार्मिकता के बावजूद अलगाव की धूर्त और क्रूर भावना नहीं है, लेकिन पुलिस इन्सपेक्टर वर्मा और अध्यापक मुहम्मद हुसैन के दिलों में दुश्मनी बढ़ती रही है। सांप्रदायिक दंगों में हिस्सा लेने वालों में अनपढ़ मज़दूर हो सकते हैं लेकिन ऐसे दंगों को पैदा करने में चालाक लोगों का हाथ रहता है।

कितनी अजीब बात है! शिक्षा से मनुष्य अपनी पाशविकताएँ भूलता है, लेकिन हमारे यहाँ शिक्षित होने के बाद लोगों की पाशविकताएँ बढ़ी हैं। लोगों के दिमाग तंग हुए हैं। इस लेख के आरंभ में ही मैंने कहा है कि सांप्रदायिक दंगों में—दंगे पर विचार कम किया जाता है। सांप्रदायिकता की भावना को दंगे में बदलने से रोका जा सकता है। उसका तात्कालिक दमन किया जा सकता है। पर दंगे रुकते नहीं हैं। रोक सकने वालों के दिमाग तंग और सड़े हुए हैं। बड़े-बड़े शहरों के बड़े-बड़े पुलिस अफसरों के सोचने का ढंग या तो गुरु गोलवलकर-जैसा है या एक कदम आगे बढ़कर बाल ठाकरे-जैसा।

सन् १९६४ के मार्च महीने में मेरे अपने शहर रायगढ़ में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। दुर्घटना के वक्त मैं वहाँ मौजूद नहीं था। बाद में मैंने कई लोगों से सुना कि पुलिस वाले चाहते तो दंगा रुक सकता था। कई लोगों ने तो दबी जुबान से यह भी कहा कि क्लक्टर और पुलिस वालों ने दंगा करने वालों को छूट दे रखी थी। ये लोग अपनी बात खुलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए नहीं कह पाते हैं क्योंकि डरते हैं। औसत हिन्दुस्तानी आदमी की हालत यह हो गयी है कि अगर वह खून होते हुए भी देख ले तो 'फँस जाने' के डर से गवाही नहीं देगा। नतीजा यह होता है कि 'दंगा-तत्त्व' की छान बीन कभी नहीं हो पाती। गुंडे अपना काम पूरा कर जाते हैं। पुलिस वाले और अफसर लोग तंग दिमागों से अपना दायित्व पूरा करने में लगे रहते हैं। अक्सर यह होता है कि दंगे के वक्त एक हिन्दू पुलिस वाला अपने को पुलिस वाला नहीं बल्कि हिन्दू समझता है—और हिन्दू-गुंडे के साथ उसके संबंध हिन्दू-भाई जैसे हो जाते हैं।

लेकिन ऐसा क्यों है? सारी ऊपरी आधुनिकता के बावजूद, अफसरों, नेताओं और पुलिस वालों का दिमाग इतना तंग क्यों है? वे भारतीयता के अर्थ को इतना संकीर्ण क्यों कर लेते हैं? जवाब है शिक्षा। पिछले बाईस वर्षों में और उसके पहले भी—शिक्षा के प्रारंभिक सोपान से लेकर अन्त तक, लोगों के दिमाग में भारतीयता की एक गलत तसवीर भरी जाती रही है। नतीजा यह हुआ है कि हम भीतर से मध्ययुगीन और दकियानूस रह गये हैं। हम अपनी परंपरा को बड़ी-बड़ी पोथियों में सुरक्षित जानकर खुश हैं। आधुनिकता का मतलब हमारे लिए टेरेलिन के कपड़े और सिनेमा के गाने हैं। स्वतन्त्रता के बाद हमने, शिक्षा के द्वारा आधुनिक संस्कृति की परिकल्पना को पुष्ट करने का ज़रूरी काम नहीं किया है। इसलिए हमारे देश के पढ़े-लिखे लोग देश के सबसे ज्यादा अय्याश लोग हैं। ये वे लोग भी हैं जिनके दिमागों में सांप्रदायिकता से फायदा उठाने की चालाकियाँ भरी हुई हैं।

जाहिर है कि जहाँ सांप्रदायिकता की भावना से लड़ने के लिए, शिक्षा में बुनियादी परिवर्तन की ज़रूरत है, वहीं अकस्मात उबल पड़ने वाले दंगों को रोकने के लिए, उस इलाके के अफ़सरों के दिमाग ठीक करने की ज़रूरत भी है। जनता की तकलीफ से बेखबर, सत्ता की लड़ाई में मगन रहने वाले राजनेता सोचें कि देश के टूटने का मतलब—उनका भी अन्त है। □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन-जन्मशती का एक आलोचनात्मक उपहार

नामवर सिंह

सोवियत संघ से आने वाली हर पुस्तक की तरह चेलिशेव की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता'[1] का भी सबसे पहले राजनीतिक महत्त्व है। इस राजनीतिक कुतूहल को शांत किये बिना पुस्तक के साहित्यिक महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करना संभव नहीं है; इसलिए आरंभ में ही यही स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चेलिशेव की इस पुस्तक में ऐसा सनसनीखेज़ कुछ भी नहीं है—खास तौर से ऐसी कोई चीज़ तो निश्चय ही नहीं है जिसे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के खिलाफ़ इस्तेमाल किया जा सके। उदाहरण के लिए पंतजी की परवर्ती काव्य-साधना के विषय में, जिसकी परिणति 'लोकायतन' में हुई है, चेलिशेव की भी यही मान्यता है कि "जिस मात्रा में पंतजी आदर्शवादी दर्शन के घने वन की गहराइयों में पैठते जाते हैं, उतनी ही मात्रा में उनकी कविता का कलात्मक स्तर गिरता जाता है, उसकी भावात्मक परिपुष्टि, भाषा का सौंदर्य, उज्ज्वलता एवं अभिव्यक्तिशीलता घटती जाती है, प्रतिमांकन धुँधला-सा होता जाता है।" (पृ० २२०) इसी प्रकार 'पल्लव' और 'गुंजन' में चेलिशेव भी "प्रगतिशील स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की प्रधानता मानते हैं" (पृ० १०३) और 'ग्राम्या' को "आलोचनात्मक यथार्थवाद की ड्योढ़ी पर" (पृ० १४५)। यह मूल्यांकन सामान्यतः हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के मत से ही मिलता-जुलता है।

किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि चेलिशेव की पुस्तक हिंदी आलोचना का रूसी अनुवाद मात्र है। यह सही है कि पुस्तक में हिंदी आलोचकों के मत कदम-कदम पर उद्धृत किये गए हैं—मार्क्सवादी आलोचकों से ज्यादा गैर-मार्क्सवादी आलोचकों के, जिनमें से कुछ के नाम तो औसत हिंदी पाठक के लिए भी नये हैं; और कम-से-कम दो की छूट तो खटकती भी है: रामचन्द्र शुक्ल और रामविलास शर्मा; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने विवेचन में चेलिशेव उद्धृत आलोचकों के मत पर निर्भर नहीं हैं। पंतजी के काव्य के संबंध में उनकी व्युत्प्रेक्षाएँ अपनी हैं और निष्कर्ष तक पहुँचने की पद्धति भी।

चेलिशेव की आलोचनात्मक क्षमता की विशेषता पंतजी की काव्य-साधना के ऐतिहासिक विश्लेषण में सबसे ज्यादा प्रकट हुई है। पंतजी की कविता में विकास के तीन सोपानों की चर्चा तो प्रायः की जाती है किंतु काव्य के स्तर पर विकास-पथ के ब्यौरे देने का कार्य चेलिशेव ने किया है। इस दृष्टि से पंतजी की कविता में 'प्रगीत-नायक' की अवधारणा का विकास सबसे उल्लेखनीय है। "पंतजी का आरंभकालीन प्रगीत-नायक विस्फारित नेत्रों से संसार को ताकता है, उसकी महानता से आश्चर्यचकित हो उठता है, आनंदित हो जाता है, दुःख तथा आशा-निराशा का अनुभव करता है, पर निषेध का शब्द उसके मुँह से कभी नहीं निकलता और न वह दुष्टता के विरुद्ध संघर्ष ही छेड़ता है।" (पृ० ४५) 'गुंजन' तक पहुँचते-पहुँचते वह "प्रगीत-नायक अपनी अनेक भ्रांतियों और वैयक्तिक मनोविन्यासों से मुक्त हो जाता है, अपने निजी सुख एवं कल्याण को वह अब समस्त जनता के सुख से भिन्न नहीं मानता।" (पृ० ६६) चौथे दशक के मध्यकाल अर्थात् 'युगांत' तक आते-आते पंतजी के प्रगीत-नायक का यह विशेष स्वभाव प्रकट होता है: "काव्यगत 'मैं' और बाह्य माध्यम अर्थात् तीव्र और निर्मम वास्तविक के बीच हृदयभेदी एवं अजेय संघर्ष का अभाव।···वह कल्पना-मय स्वप्नसृष्टि से मुँह मोड़ते हुए जनता के समीप आकर उनकी सहृदयतापूर्वक सहायता करना तो चाहता है पर

१. सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता; लेखक: ई० चेलिशेव; प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य: दस रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानता नहीं कि यह कैसे किया जाय।" (पृ० १८७) इसके बाद "'ग्राम्या' संग्रह में पंतजी का काव्यनायक मानवतावादी मनुष्य का प्रतीक है। वह गहरे सामाजिक अन्याय को सह लेता है, पूर्ण जीवन के स्वप्न देखता है। श्रमजीवी कृषक वर्ग की दयनीय दशा के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हुए, शोषण, अंधकार एवं अज्ञान से मुक्त समाज के अपने प्रिय आदर्शों को साकार रूप न मिलने से बहुत व्यथित होते हुए भी पंतजी का काव्यनायक एक निष्क्रिय स्वप्नदर्शी ही रह जाता है।" (पृ० १९२) इसी प्रकार कवि की साधना के अन्य सोपानों में भी 'प्रगीत-नायक' की परिकल्पना को प्रस्तुत करते हुए चेलिशेव ने ठोस रूप में विकास की रेखाएँ निरूपित की हैं।

प्रगीत-नायक के अतिरिक्त बिंब-विधान का विकास-निदर्शन भी चेलिशेव के विवेचन की मुख्य विशेषताओं में से एक है। उषा और प्रभात के बिंब पंतजी की कविता में आदि से अंत तक बराबर प्रयुक्त हुए हैं, किंतु चेलिशेव की सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि ने यह लक्षित किया कि उषा और प्रभात के बिंबों में क्रमशः अर्थ-परिवर्तन होता गया है। इस दृष्टि से 'वीणा' के प्रभात संबंधी बिंब से 'गुंजन' का प्रभात-बिंब भिन्न है और 'गुंजन' से 'युगांत' का तथा 'युगांत' से 'स्वर्ण-किरण' के प्रभात-बिंब विशिष्ट हैं। इस प्रकार चेलिशेव ने पंतजी के बिंब-विधान का जो ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह इस क्षेत्र में उनकी विशिष्ट देन है।

इसी प्रकार चेलिशेव ने पंतजी के सौंदर्यबोध, सर्जनात्मक प्रणाली, काव्य-भाषा तथा छंद-योजना का भी क्रमिक विकास दिखलाया है। मार्क्सवादी आलोचना से जिन्हें यह शिकायत है कि उसमें काव्य के कला पक्ष के विवेचन की उपेक्षा की जाती है उन्हें यह देखकर संतोष होगा कि चेलिशेव की इस पुस्तक में एक-तिहाई से अधिक अंश काव्य-शैली के विवेचन से संबद्ध है। उल्टे चेलिशेव को यह शिकायत है कि "यद्यपि पंतजी के विषय में अब तक बहुत लिखा गया है, तथापि उनकी कला-प्रणाली के विकास की समस्या लगभग अछूती ही रही है। यदि कभी-कभार पंतजी की कला-प्रणाली की चर्चा छिड़ती भी है तो नियमतः उसमें उनकी कविता का स्वच्छंदतावादी स्वरूप ही दर्शाया जाता है।" (पृ० २२३) संभवतः इसी अभाव की पूर्ति के लिए चेलिशेव ने पंतजी की काव्य-साधना के प्रत्येक सोपान की कला-प्रणाली का विवेचन विस्तार से स्वतंत्र अध्यायों में किया है जिससे उनकी सूक्ष्म कलाग्राही दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। एक ऐसे अध्येता के लिए यह उपलब्धि साधारण नहीं है जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं है।

चेलिशेव के विश्लेषण की विशेषता सबसे अधिक पंतजी के जीवन-दर्शन के प्रसंग में व्यक्त हुई है। पंतजी का जीवन-दर्शन हिंदी आलोचकों के बीच सबसे ज्यादा विवादास्पद रहा है और उसके विषय में प्रायः एकांगिता प्रदर्शित की गई है। किंतु चेलिशेव ने द्वंद्वात्मक दृष्टि का सफल उपयोग करते हुए उस जीवन-दर्शन में निहित असंगतियों को ही लक्षित नहीं किया बल्कि उसे समग्रता में भी देखा है। इस द्वंद्वात्मक दृष्टि के उपयोग का एक उदाहरण है 'ग्राम्या' का विश्लेषण, जिसे प्रायः अन्तर्विरोधों से मुक्त प्रगतिशील और यथार्थवादी माना जाता है। इस प्रसंग में चेलिशेव ने एक ओर शिवदानसिंह चौहान और दूसरी ओर विक्टर बालिन की मान्यताओं का खंडन करते हुए लिखा है कि "ग्राम्या संग्रह के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पंतजी की समस्त काव्य-साधना की तरह ही इसमें भी उनकी वैचारिक भूमिका एवं सृजन प्रणाली की असंगति एवं अनिश्चितता दिखाई पड़ती है। यह सही है कि अपनी अन्य रचनाओं की तुलना में पंतजी इस संग्रह में जन-जीवन के अत्यधिक निकट पहुँचे हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह यथार्थवादी बन गए।" (पृ० १८२) इस कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है : "उक्त संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि एक स्वच्छंदतावादी कलाकार के रूप में ही हमारे सामने आता है।…कवि की भाववादी विचारधारा, गांधीवाद के भाववादी-मानवतावादी आदर्शों का अनुयायित्व और प्रत्यक्ष भारतीय वास्तविकता के स्थान में अखिल मानवतावादी नैतिक रूपांकन के प्रयत्न उक्त (यथार्थवादी) प्रवृत्तियों के विकास में बाधक बने रहे। वास्तविकता के प्रति असंतोष के कारण पहले ही की तरह रूपांकन की ऐतिहासिक वास्तविकता को क्षति पहुँची और कवि अपने भाववादी-मानवतावादी आदर्शों तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के संबंध में काल्पनिक स्वप्नों के आधार पर वास्तविकता का पुनर्निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील रहा।…" पर अब कवि के स्वच्छंदतावाद का स्वरूप उसकी प्रारंभिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधना के कालखंड की तुलना में बहुत-कुछ परिवर्तित हुआ है, उसमें अधिक सक्रिय रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।" (पृ० १८३) 'ग्राम्या' के विषय में चेलिशेव का यह मूल्यांकन यही नहीं कि युक्तिसंगत है बल्कि मेरी जानकारी में इतना संतुलित मूल्यांकन अन्यत्र दुर्लभ है।

द्वन्द्वात्मक दृष्टि का दूसरा उदाहरण है 'पंचम दशक से सप्तम दशक की दार्शनिक कविता' के प्रसंग में चेलिशेव का विश्लेषण। पंतजी के इस परवर्ती विकास को कुछ लोग नितान्त रहस्यवादी मानते हैं। चेलिशेव ने इस मत का खंडन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि इस काल में भी पंतजी मार्क्सवाद से विमुख नहीं हुए। (पृ० २२६) चेलिशेव की दृष्टि में "प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोणों के सन्देहपूर्ण संश्लेषण में ही पंतजी की विचारधारा एवं काव्य-साधना की वैचारिक निर्बलता के मूल निहित हैं। यहीं से उनके वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों का सूत्रपात होता है जो वास्तविकता से कहीं दूर हैं और कहीं-कहीं उसका मिथ्या अर्थ लेते हैं। इन सभी कारणों से पंतजी की युद्धोत्तरकालीन काव्य-साधना में निष्क्रिय एवं प्रतिक्रियावादी स्वच्छन्दता-वाद की धारा का उदय हुआ, जिससे वास्तविकता के यथार्थ चित्रण में और मानव को उसके भगवत् जीवन की समस्त जटिलता के बीच समझ लेने में बाधा आई। वैचारिक भूमिका की भ्रमपूर्णता कवि के लिए मनुष्य के आन्तरिक विश्व की थाह लेने, उसके स्वभाव का उद्घाटन करने, सामाजिक माध्यम के साथ उसका संबंध दिखाने और सुन्दर-तर जीवन के लिए संघर्ष की दिशा में उसका मार्गदर्शन करने में बाधा बन गई।" (पृ० १६४) चेलिशेव ने पंतजी के मानववाद और आशावाद को उनके चिंतन की शक्ति मानते हुए भी इस मानववाद की सीमा की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा है कि "मनुष्य के अधिकार की घोषणा एवं मानव-व्यक्तित्व के अपने मूल्य का समर्थन करते हुए तथा भावी 'स्वर्णयुग' के पूर्ण मानव, 'सांस्कृतिक चेतना' के विकास इत्यादि के स्वप्न देखते हुए पंतजी तत्वतः मनुष्य को सामा-जिक जीवन से पृथक् कर देते हैं और उसकी चेतना को कोई एक ऐसी पृथक् वस्तु मानते हैं जो बाह्य प्रभावों के परे और किसी विशिष्ट ऊर्ध्व नियम के अनुसार विकसित होती है। पंतजी की युद्धोत्तरकालीन रचनाओं में मानव जैसे देश और काल-बाह्य स्वरूप में उपस्थित होता है जो वर्ग-विषयक एवं राष्ट्रीय स्वत्व से वंचित है।" (पृ० १६५)

पंतजी की पाँच दशकों की लम्बी अवधि के बीच फैली हुई काव्य-साधना में बदलते हुए जीवन-दर्शन का समग्रतः मूल्यांकन करते हुए चेलिशेव ने अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि वे विचारों में वस्तुतः सारसंग्रही अथवा सर्वोत्तमग्राही (एक्लेक्टिक) हैं। पंतजी में सर्वोत्तमग्राहिता की प्रवृत्ति 'युगवाणी' में भी थी (पृ० १४३) और 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'लोकायतन' तक के काल में भी (पृ० १६१, २२६)। उन्होंने वस्तुवादी और भाववादी जीवन-दृष्टियों के सामंजस्य का असंभव प्रयास निरंतर किया। (पृ० १६४) किन्तु चेलिशेव का विश्लेषण यहीं समाप्त नहीं होता। उन्होंने इससे भी आगे जाकर इस अन्तर्विरोधपूर्ण जीवन-दृष्टि के ऐतिहासिक-सामाजिक कारणों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार कवि के "वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों में प्राप्त होने वाली सर्वोत्तमग्राहिता, असंगति और विरोधाभास प्रायः वही हैं जो भारतीय बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की विचार-धारा द्वारा पूर्णतया अपनाए हुए थे; इनमें भारतीय समाज में उक्त वर्ग की दोमुँही भूमिका प्रतिबिंबित होती थी जो गठन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण संभव हुई थी। स्वामी विवेकानन्द, गांधीजी और श्री अरविन्द का अनुगमन करते हुए पंतजी ने पंचम-षष्ठ दशकों की अपनी कविता में भारतीय सभ्यता के असाधारणत्व और विशिष्ट आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देने का प्रयत्न किया—यह सभ्यता मानो बुर्जुआ समाज के वर्ग-कलहों सहित सभी असंगतियों की औषधि थी।" (पृ० १६१) यदि युगवाणी-ग्राम्या काल में यह असंगति काव्य के लिए विशेष अहितकर नहीं हुई तो इसलिए कि उस समय देश के स्वाधीनता-संघर्ष में वामपक्षी शक्तियों का उभार था और कवि उनके साथ एक हद तक अपना लगाव महसूस करता था। इसके विपरीत पाँचवें-छठे दशक में यदि यह असंगति काव्य के लिए घातक सिद्ध हुई तो उसका कारण यह है कि उसमें प्रतिक्रियावादी विचारों का अनुपात अधिक हो गया जिसके मूल चेलिशेव के अनुसार तत्कालीन भारतीय जीवन में विद्यमान थे। यहाँ चेलिशेव ने उन आलोचकों का खंडन किया है जो कवि में इन प्रवृत्तियों के उदय को किसी दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रभाव या उसके चरित्र की वैयक्तिक विशेषताओं या फिर स्वास्थ्य के बिगाड़ पर आधारित मानते हैं। (पृ० १८५) कहने की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

नहीं कि चेलिशेव ने पंतजी की वैचारिक असंगतियों के वस्तुगत सामाजिक कारणों का निर्देश करके हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया है; और इससे पंतजी के साथ ही अन्य कवियों को भी समझने में मदद मिलती है। उल्लेखनीय है कि इस काल में पंतजी के सहकर्मी किन्तु उनसे अधिक विद्रोही और सामाजिक चेतना-संपन्न निराला में भी अध्यात्मवादी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठी थीं।

इसके बावजूद चेलिशेव ने पंतजी को इस बात का श्रेय दिया है कि वे पाँचवें-छठे दशक की क्षयग्रस्त प्रवृत्तियों से मुक्त रहे और पश्चिम की उस बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी विचारधारा का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा, जिससे ग्रस्त प्रयोगवादी लेखक मानवता-विरोधी भूमिका निभा रहे थे। (पृ० १८७) चेलिशेव के अनुसार "मानव में, सदसद् विवेक बुद्धि की उज्ज्वल शक्तियों की विजय में, अपनी मातृभूमि तथा समस्त मानवता की स्वाधीनता में **आशावादी विश्वास** ने हमारे मानवतावादी कवि के लिए अपने साहित्य में पतनशील प्रवृत्तियों के प्रवेश के विरुद्ध विश्वासार्ह सुरक्षा-साधन का काम किया।" (पृ० १८६) यह सही है कि पंतजी इस काल में भी हमेशा की तरह प्रचंड आशावादी बने रहे। सवाल यह है कि इस आशावाद से पंतजी की कविता का क्या हित हुआ ? चेलिशेव यह स्वीकार करते हैं कि इस आशावाद के बावजूद पंतजी की कविता का पतन हुआ; फिर साहित्य की पतनशील प्रवृत्तियों से बचने का क्या लाभ ? सभी जानते हैं कि परवर्ती निराला में पंत से आशावाद कम था—बल्कि निराशा का स्वर ही प्रधान था; फिर भी निराला पंत से श्रेष्ठ कविताएँ दे गए। क्यों ? स्पष्ट है कि कविता में उत्कर्ष या ह्रास का सम्बन्ध आशा या निराशा से अनिवार्य नहीं है; आशा और निराशा अपने आप में काव्य के उपकारक नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण है आशा और निराशा में निहित सामाजिक वस्तु। किन्तु लगता है कि चेलिशेव इस प्रश्न की जटिलता में न जाकर केवल एक अतिसरलीकृत निष्कर्ष से सन्तुष्ट हो गए।

वैसे, चेलिशेव ने 'ज्योत्स्ना' नाटिका की कला-प्रणाली का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया है उससे स्पष्ट है कि वे आशावादी जीवनदृष्टि को काव्य के उत्कर्ष का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते। 'ज्योत्स्ना' नाटिका अपने लोकमंगलवादी स्वर और आशावादी जीवनदृष्टि के बावजूद एक असफल कृति है क्योंकि उसमें "कोई चरित्र-दर्शन नहीं है। इसके समस्त पात्र बस लेखक की कुछ निश्चित कल्पनाओं के थक्के हैं। इसीलिए नाटक का संघर्ष और उसके कथानक का विकास चरित्रों के टकराव एवं विकास के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न हुए हैं।" (पृ० ७५) वस्तुतः जैसा कि चेलिशेव ने एक अन्य प्रसंग में कहा है, " 'प्रकृति के अक्षय सामंजस्य के कवि' पंतजी के सृजनात्मक व्यक्तित्व के लिए कोई भी तीव्र विरोधाभास या टकराव अपरिचित ही है।" इसलिए "पंतजी के काव्य-नायक के स्वभाव में सच्ची नाटकीयता का अभाव ही है।" (पृ० १०७) स्पष्ट है कि काव्य के लिए सीधी-सरल आशा या निराशा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आशा और निराशा का टकराव। पंतजी इस टकराव से अपने-आपको साफ बचाकर आशा के कल्पना-लोक में जा छिपते हैं और उनके आशावाद की यह काल्पनिकता ही उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। ऐसा नहीं है कि पंतजी की इस कमज़ोरी से चेलिशेव अपरिचित हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस काल्पनिकता के कारण 'दिग्विजय' शीर्षक संगीत-रूपक प्रभावशाली नहीं बन पड़ा, जो वस्तुतः चेलिशेव के परमप्रिय विषय प्रथम सोवियत अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष उड़ान के गौरवार्थ लिखा गया था। इस कृति की असफलता का कारण बतलाते हुए चेलिशेव ने लिखा है कि "उसमें वास्तविकता का कोई गुमान भी नहीं दिखाई देता। रूपक के प्रसंग का अंकन ठोस ऐतिहासिक घटना-स्थिति से कटा हुआ-सा है, अन्तरिक्ष-विजय की समस्या उसमें भाववादी, साधारणीकृत और नैतिक धरातल पर उठाई गई है।" (पृ० २१०) आशावादी पंतजी इसी वायवीपन के साथ कविता में भारतीय जनता अथवा विश्व-मानव की मंगल कामना करते हैं और काव्य का अमंगल होता है। इसलिए इस वायवी आशावाद और मानववाद से भारत-सोवियत मैत्री के आयोजनों को भले ही बल मिले, न तो काव्य को कोई शक्ति मिलती है और न इतिहास को ही! कायदे से चेलिशेव की तर्क-पद्धति इसी निष्कर्ष की ओर ले जाती है, किन्तु खेद है कि वे किन्हीं कारणों से इस निष्कर्ष से बचने का प्रयास करते दिखते हैं।

जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण को चेलिशेव इतना मूल्यवान मानते हैं कि उन्हें यह दृष्टिकोण अनिवार्यतः श्रेष्ठ काव्य का आधार प्रतीत होता है। उनका कुछ ऐसा खयाल है

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि क्रान्तिकारी दर्शन अपनाने मात्र से श्रेष्ठ कविताओं की रचना सम्भव हो जाती है। 'युगवाणी' में पंतजी की 'श्रमिक' शीर्षक कविता देखकर वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "जीवन के पुनर्निर्माण में मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी और प्रधान भूमिका को पहले-पहले स्पष्ट और निश्चित रूप से घोषित करने वाले पंतजी इस बात में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचन्द से भी काफी आगे बढ़ गए।" (पृ० १३१) इसी प्रकार 'युगवाणी' में 'प्रकाश' आदि कविताओं को देखकर वे यह कहते हैं कि "प्रभात के प्रतीक में क्रान्तिकारी आशय भरते हुए पंतजी रवीन्द्रनाथ से आगे बढ़ गए हैं।" (पृ० १३७) संभवतः इसी वजह से उनकी दृष्टि में 'क्रान्ति' और 'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविताएँ "सर्वोच्च शिखर जैसी प्रतीत होती हैं।" (पृ० १४२) स्पष्टतः चेलिशेव की दृष्टि में स्वस्थ सामाजिक दृष्टि और 'श्रमिक', 'क्रान्ति', 'मार्क्स' आदि कुछ निश्चित विषय ऐसे हैं जिन पर लिखी हुई कविता अनिवार्यतः अच्छी होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता के मूल्यांकन के लिए यह दृष्टि निहायत सपाट है। जीवन-दर्शन तथा सृजनात्मक प्रणाली के सम्बन्धों के अतिसरलीकरण से ही ऐसी दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। अनेक स्थलों पर भौतिकवादी द्वन्द्वन्याय का अत्यन्त सफल प्रयोग करने वाले चेलिशेव ऐसे अवसर पर यह भूल जाते हैं कि वास्तविकता के आधार से विच्छिन्न आशावाद—चाहे वह क्रान्तिकारी आशय से ही पूर्ण क्यों न हो, कविता को "सामान्यताओं के सागर" में डुबो देता है और कविता अपनी जीवंतता खो बैठती है। इसीलिए अच्छे-से-अच्छे विषय पर भी कभी-कभी बेहद खराब कविताएँ देखने में आती हैं। संभवतः इसी वजह से कुछ आलोचक 'यूटोपिया' को साहित्य के लिए अनुपयुक्त मानते हैं।

फिर भी इन सीमाओं के बावजूद चेलिशेव ने पंतजी की कुछ कविताओं के कलात्मक गुणों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो हिन्दी काव्य की व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र की मूल्यवान निधि है। इस दृष्टि से 'युगवाणी' की 'दो लड़के', 'दो मित्र' तथा 'ग्राम्या' की 'गाँव के लड़के', 'ग्रामीण युवती' आदि कविताओं का विश्लेषण अत्यन्त मार्मिक है। इसी प्रकार 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक लम्बी कविता का विश्लेषण भी अत्यधिक मौलिक है। वैसे, 'परिवर्तन' की इस व्याख्या से पूरा का पूरा सहमत होना मुश्किल है। चेलिशेव का यह कहना सही है कि "इस रचना के प्रतीक गहरी सामाजिक-ऐतिहासिक विषय-वस्तु से अनुप्राणित हैं," किन्तु उसे १९१९-२३ के साम्राज्यवादी दमन और उसके प्रतिरोध का प्रतिबिम्ब कहना आलोचक का मानसिक आरोप है। "कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल" जैसे अतीतोन्मुख दोहद के भाव से आरम्भ होने वाली कविता जिस सामाजिक 'परिवर्तन' की व्यंजना करती है उसका सम्बन्ध पुरानी सामन्ती व्यवस्था के विनाश से अधिक है, साम्राज्यवादी दमन से कम। यही नहीं बल्कि 'परिवर्तन' के 'प्रलय' और 'मृत्यु' के प्रतीकों में प्रथम महायुद्ध की छाया देखना तो और भी हठाकृष्ट है। चेलिशेव ने इस कविता में जीवन-मृत्यु और सृष्टि-प्रलय के द्वन्द्वात्मक विन्यास को सही लक्षित किया है, किन्तु इसके बाद इस पर विचार करना आवश्यक है कि कविता की संरचना में इस द्वन्द्व का विकास नहीं होता बल्कि चक्राकार आवृत्तियाँ होकर ही रह जाती हैं, जिसके कारण यह कविता कुछ फुटकल गीतों की शृंखला बनकर रह गई है। कारण, पंतजी की 'परिवर्तन' की धारणा ही चक्राकार एवं आध्यात्मिक है। उसमें किसी प्रकार के वास्तविक परिवर्तन और विकास के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए जीवन-प्रेम और आशावादी स्वर के बावजूद यह कविता अंततः एक भँवर में छोड़कर रह जाती है।

किंतु यह पुस्तक केवल सुमित्रानंदन पंत के मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं है। चेलिशेव ने पंतजी की कृतियों का विस्तृत विश्लेषण इसलिए किया है कि "पंतजी की कृतियों और उनके जीवन-दर्शन के विश्लेषण से समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के महत्त्वपूर्ण नियमों को ढूंढ़ निकालना सुकर हो जाता है।" (पृ० १८) इस प्रकार इस पुस्तक में चेलिशेव का मुख्य प्रयोजन है **पंतजी के माध्यम से आधुनिक भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण नियमों की खोज**। इस दृष्टि से पुस्तक की 'भूमिका' संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के जिस प्रमुख नियम का चेलिशेव ने उल्लेख किया है वह है स्वच्छंदतावाद के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय। यह नियम चेलिशेव की अपनी खोज नहीं है बल्कि इसे प्राच्य साहित्य के सोवियत विशेषज्ञ प्रोफेसर नि० इ० कोनरड पहले ही निरूपित कर चुके हैं और चेलिशेव इस नियम के लिए प्रोफेसर कोनरड के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आभारी हैं। 'यथार्थवाद की समस्याएँ तथा पूर्वी देशों के साहित्य' (१९५७) शीर्षक निबंध में कोनरड ने यह स्थापित किया है कि "जहाँ पाश्चात्य देशों के साहित्य में यथार्थवाद का उदय स्वच्छंदतावाद के बाद क्रमिक रूप में हुआ, पूर्वी देशों के साहित्य ने स्वच्छंदतावाद के पथ पर चरण रखा ही था कि उस पथ को ठीक से अपना लेने के पहले ही त्वरा से आगे को अर्थात् यथार्थवाद की ओर लपक पड़ा; इस कारण यथार्थवाद में गिनी जाने वाली बहुत-सी रचनाओं में स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान रहे।" कोनरड के अनुसार यह ऐसी विशेषता है जिसकी आवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में सभी पूर्वी साहित्यों में होती रही। भारतीय साहित्य पर इस नियम को लागू करते हुए चेलिशेव ने यह लिखा कि "भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय हुआ।" (पृ० १०) हिंदी साहित्य में पंत, निराला, प्रसाद के साथ प्रेमचन्द का उदय इस नियम की सत्यता का ठोस प्रमाण है। हिंदी आलोचक इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित रहे हों, ऐसा तो नहीं है, किंतु इतने स्पष्ट रूप से उन्होंने इस नियम को निरूपित नहीं किया था; इसलिए इस विशेषता की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय निश्चय ही चेलिशेव को देना होगा।

पर सवाल इस नियम के सत्यापन का है। यथार्थवाद का जो भी अर्थ लिया जाय, यह कहना गलत है कि स्वच्छंदतावाद के साथ यथार्थवाद का उदय केवल पूर्वी देशों के साहित्य की विशेषता है। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों या फिर रूसी साहित्य के रोमांटिक कवि और कथाकार पुश्किन में यथार्थवाद के सन्निवेश को इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर जहाँ तक हिन्दी कविता के इतिहास का सम्बन्ध है, एक तरह का यथार्थवाद तो स्वच्छंदतावाद से पहले ही विद्यमान था जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदीयुगीन 'इतिवृत्तात्मकता' की संज्ञा दी थी। आखिर बीसवीं सदी के शुरू में 'कृषक', 'विधवा' और 'अमलतास' जैसे विषयों पर लिखी हुई वर्णनात्मक कविताएँ यथार्थवादी नहीं तो क्या थीं! क्या वे कविताएँ आरंभिक प्रगतिशील युग की यथार्थवादी कविताओं की याद नहीं दिलातीं? इसलिए तात्पर्य यदि हिंदी के स्वच्छंदतावादी काव्य में यथार्थवाद के समावेश से है तो सचाई यह है कि छायावादी कवियों ने प्रयास करके उस स्थूल यथार्थवाद का तिरस्कार किया था। निराला की 'भिक्षुक' जैसी आरंभिक कविताएँ वस्तुतः पूर्ववर्ती सुधार-युग के करुणोत्पादक यथार्थवाद का ही अवशेष मालूम होती हैं जिन्हें अतिरिक्त गौरव देना गलत है। और यदि छायावाद में यथार्थवाद के समावेश का अर्थ कविता को यथार्थ के निकट ले जाने से है तो फिर छायावाद की ऐसी संकुचित परिभाषा करनी पड़ेगी जिसका जीवन के यथार्थ से कोई संबंध न हो। किन्तु जैसा कि चेलिशेव ने स्वयं स्वीकार किया है, "वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्घाटन की स्वच्छंदतावादी प्रणाली आधुनिक हिंदी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण नियम-सी रही है।" (पृ० २) ऐसी स्थिति में जबकि स्वच्छंदतावाद "वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्घाटन की प्रणाली" है, उसमें अलग से यथार्थवाद के समावेश की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए कोनरड द्वारा स्थापित और चेलिशेव द्वारा समर्थित नियम का केवल यह अंश हिंदी के लिए सत्य ठहरता है कि यहाँ यथार्थवाद में भी स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान थे, जैसा कि प्रगतिशील काव्य में दृष्टिगोचर होता है, यहाँ तक कि प्रेमचन्द के "आदर्शोन्मुख यथार्थ" वाले 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' जैसे आरंभिक उपन्यासों में भी स्वच्छंदतावाद मिश्रित यथार्थवाद की ही झलक मिलती है। उल्लेखनीय है कि पंतजी की काव्य-साधना के विवेचन के दौरान चेलिशेव ने भी कहीं 'यथार्थवाद मिश्रित स्वच्छंदतावाद' या 'स्वच्छंदतावाद मिश्रित यथार्थवाद' जैसी अवधारणा का सहारा नहीं लिया है। इसके विपरीत उन्होंने 'प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद', 'क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद' तथा 'सक्रिय स्वच्छंदतावाद' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है जो स्पष्टतः स्वच्छंदतावाद के अधिक यथार्थोन्मुख छोर के सूचक हैं।

किन्तु इसके बावजूद चेलिशेव की उक्त स्थापना हिन्दी स्वच्छंदतावाद के निजी वैशिष्ट्य को समझने में काफी दूर तक सहायक है। इस संदर्भ में चेलिशेव की एक अन्य धारणा पर्याप्त प्रासंगिक है। उनका कहना है कि "हिन्दी कविता में छायावाद के कुछ अनुसंधानकर्ता-आलोचक छायावाद पर यूरोपीय स्वच्छंदतावाद के प्रभाव का अतिमूल्यांकन करते दिखाई देते हैं।...यह स्वीकार करना चाहिए कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास-पथ पर पश्चिमी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, पर यह प्रभाव उतना निर्णयकारी नहीं रहा है।" इस प्रकार चेलिशेव ने हिन्दी छायावाद के राष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया है । मतलब यह है कि हिंदी छायावाद का वह राष्ट्रीय वैशिष्ट्य क्या है ? क्या इस वैशिष्ट्य का सम्बन्ध केवल भारत की धार्मिक-सांस्कृतिक परंपराओं तक ही सीमित है ? चेलिशेव इस विषय में काफी स्पष्ट हैं । उन्होंने हिन्दी छायावाद को नवीन सांस्कृतिक जागरण तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्रतिबिंब माना है । इसका अर्थ यह है कि हिंदी के छायावाद की विशिष्टता भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है । चेलिशेव ने जहाँ इतने आलोचकों के मत उद्धृत किए हैं, वहाँ वे इस संदर्भ में स्पष्टता के लिए रामविलास शर्मा का यह कथन उद्धृत कर सकते थे : "अंग्रेज़ी के रोमांटिक साहित्य और हिन्दी के छायावादी साहित्य में महत्त्वपूर्ण भेद है । हिंदी का छायावादी साहित्य सामंत-विरोधी औद्योगिक क्रान्ति के बाद का साहित्य नहीं है । वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्षकाल का साहित्य है । उसमें सबसे सशक्त स्वर देश की स्वाधीनता और जनतंत्र प्राप्त करने की आकांक्षा का स्वर है ।...अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य का एक सीमांत समाजवादी विचारधारा को छूता है तो दूसरा आदर्शवाद की घटनाओं में डूबा हुआ है । हिन्दी के छायावादी साहित्य का एक सीमांत साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी विचार-धारा को छूता है तो दूसरी ओर सामन्तवाद का समर्थन करने वाली अनेक आदर्शवादी धाराओं में डूबा हुआ है ।" (लोकजीवन और साहित्य, पृ० ८२-८३) ।

वस्तुतः राष्ट्रीयता के साथ स्वच्छंदतावाद के उदय का सम्बन्ध घनिष्ठ है । यदि भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का उदय भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष से संबद्ध है और इस प्रकार भारतीय स्वच्छंदतावाद के अपने विशिष्ट चरित्र का निर्माण हुआ, तो इसके साथ भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य में भी स्वच्छंदतावाद की अपनी जातीय विशिष्टता है । इस दृष्टि से हिंदी का छायावाद बंगला के स्वच्छंदतावादी काव्य से एक हद तक समानता रखते हुए भी बहुत-सी बातों में भिन्न है । यही बात मराठी, गुजराती, मलयालम, उर्दू अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा के स्वच्छंदतावाद के बारे में भी कही जा सकती है । चेलिशेव के विवेचन की यह सीमा है कि जहाँ उन्होंने भारतीय स्वच्छंदतावाद के राष्ट्रीय वैशिष्ट्य की बात उठाई वहाँ उन्होंने इस वृहत्तर परिवृत्त में हिंदी छायावाद की अपनी विशिष्टताओं का सवाल नहीं उठाया, उलटे उन्होंने जगह-जगह रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को अतिरिक्त महत्व दिया । जहाँ इतना सामान्य प्रश्न भी न उठाया गया हो वहाँ हिंदी छायावाद सम्बन्धी अन्य गहरे प्रश्नों की अपेक्षा ही क्या ?

वस्तुतः हिंदी के छायावादी काव्य की राष्ट्रीय विशेषता की चर्चा करते समय सम्पूर्ण विश्व-साहित्य के स्वच्छंदतावादी आन्दोलनों के राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का उल्लेख करना आवश्यक है । स्वयं यूरोप के ही प्रायः हर देश का रोमांटिक काव्यान्दोलन एक हद तक दूसरे देश से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपने राष्ट्रीय गौरव का उन्नायक रहा है । इंग्लैंड के रोमांटिक आन्दोलन ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा ली, किन्तु उसने अपने देश की लोक कथाओं, लोक गीतों, मिथकों आदि को आधार बनाकर साहित्य को राष्ट्रीय रंगत दी । इसी प्रकार रूस, पोलैंड, हंगेरी, जर्मनी और इटली का भी रोमांटिसिज़्म प्रथमतः अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक गरिमा को चिंता से संबद्ध था । प्रत्येक देश के रोमांटिसिज़्म ने सामान्य जन-जीवन का आधार लेकर उस अभिजात वर्ग के विरुद्ध विद्रोह किया जो अपनी रुचियों में विदेशी—सामान्यतः फ्रांसीसी संस्कृति का गुलाम था । और अपने इस प्रयास में रोमांटिक कवियों को दूसरे देश के साहित्य से प्रेरणा लेने में कोई विरोधाभास न दिखा । इस प्रकार यदि हिंदी के छायावादी कवियों ने अंग्रेजी साम्राज्य से लड़ते हुए भी अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य से प्रेरणा ली तो इसमें न तो कोई विरोधाभास था और न राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का निषेध ही ।

फिर भी चेलिशेव का यह कहना सही है कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में पश्चिमी साहित्य का प्रभाव **निर्णयकारी** नहीं रहा है । उन्होंने इस प्रभाव का अतिमूल्यांकन करने वाले हिंदी आलोचकों का खंडन उचित ही किया है, किंतु वे इस ब्योरे में नहीं गए कि वे आलोचक दरअसल थे कौन ? यह प्रश्न अनावश्यक नहीं है । इससे आधुनिक कविता के विकास के अन्य अनेक प्रश्न उलझे हुए हैं ।

वस्तुतः जिन आलोचकों ने हिंदी छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया था वे छायावाद के विरोधी और प्राचीन काव्य के समर्थक थे । पाश्चात्य प्रभाव का हौवा खड़ा किया गया था अंध राष्ट्रवादी आग्रह के साथ । उल्लेखनीय है कि वे छायावाद को अभारतीय ही नहीं बल्कि असामाजिक, पलायनवादी और अस्वस्थ मनोवृत्ति की उपज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते थे। प्रतिक्रिया की ये शक्तियाँ छायावाद युग में ही समाप्त नहीं हो गईं। उन शक्तियों के आक्रामक प्रयास छायावाद के बाद प्रगति, प्रयोग, नयी कविता तथा आज के दौर में भी देखे जा सकते हैं। इन नई काव्य-प्रवृत्तियों पर उनके आरोप भी वही पुराने हैं: पाश्चात्य प्रभाव का हौवा। चेलिशेव की इस पुस्तक के संदर्भ में हिंदी साहित्य की इस स्थिति का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि स्वयं वे भी आगे चलकर पाश्चात्य प्रभाव के उसी अतिमूल्यांकन के शिकार हो गए हैं। पांचवें से सातवें दशक की जिस कविता को उन्होंने पश्चिम के पतनशील बुर्जुआ साहित्य का प्रभाव कहा है, वह भी छायावाद के समान ही अपना राष्ट्रीय वैशिष्ट्य रखती है। पंतजी की दृष्टि से देखने पर निश्चय ही उस पर पतनशील पाश्चात्य साहित्य का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ेगा, लेकिन चेलिशेव के लिए कोई विवशता तो नहीं कि वे और बहुत-सी बातों में पंतजी की जीवन-दृष्टि को असंगतिपूर्ण मानते हुए भी इस मामले में उन्हीं की दृष्टि अपनाएँ। सचाई तो यह है कि पाँचवें दशक और उसके बाद की हिंदी कविता का विकास पंतजी के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। आखिर जो पंत बकौल चेलिशेव अपनी काल्पनिक जीवन-दृष्टि के कारण इस काल की जीवंत वास्तविकता से कटे रहे, वे इस काल की कविता के ही प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं? आश्चर्य है कि चेलिशेव की द्वन्द्वात्मक दृष्टि इस स्पष्ट असंगति को न देख सकी। एक वस्तुवादी आलोचक के नाते उन्हें यह प्रश्न करना चाहिए था कि क्या मुक्तिबोध जैसे कवि पतनशील पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव की उपज हैं? लगता है, चेलिशेव के सामने यह प्रश्न ही नहीं उठा, इसलिए उनसे पाँचवें दशक के बाद के साहित्य के विकास के सही नियमों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्हें न तो इस काल के भारतीय जीवन की वास्तविकता का सही ऐतिहासिक बोध है और न उस वास्तविकता को प्रतिबिंबित तथा परिवर्तित करने वाले काव्य से ही परिचय है। इसीलिए वे इस काल के भारतीय साहित्य में यथार्थवाद की सीमाबद्धता और निर्बलता पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि आधुनिक भारतीय कवि "अभी भी भारत के ऐतिहासिक विकास के खाके को विस्तृत एवं पूर्ण रूप में उद्घाटित एवं स्पष्ट नहीं कर पाए?" (पृ० १८) संभवतः निराशा का यह स्वर सुमित्रानंदन पंत पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करने का परिणाम है।

हिंदी की समकालीन कविता में निस्सन्देह अनेक असंगतियाँ हैं। वास्तविकता के कलात्मक उद्घाटन में यह कविता सर्वथा निर्दोष नहीं है और कुछ कवियों के वैचारिक-सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी हैं। किन्तु इन सबको पश्चिम के पतनशील बुर्जुआ साहित्य का प्रभाव कहना अतिसरलीकरण है। कविता के इन मनोगत भ्रमों को सही-सही आँकने के लिए वर्तमान भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों का वस्तुगत विश्लेषण अपेक्षित है। चेलिशेव ने इस ब्योरे में जाने के बजाय सरलता और सुविधा का मार्ग अपनाया और समकालीन कविता को कवियों की विचारधारा में निःशेष करके दूसरे अतिसरलीकरण की भूल की।

किंतु इस असहमति के बावजूद चेलिशेव की पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। सुमित्रानंदन पंत पर इतनी मुकम्मल और संतुलित पुस्तक दूसरी नहीं है। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में आधुनिक हिंदी कविता का ऐसा ऐतिहासिक विश्लेषण कम हुआ है। मार्क्सवादी आलोचना असंदिग्ध रूप से इस पुस्तक से समृद्ध हुई है। इस तथ्य का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि यह पुस्तक संयोग से लेनिन जन्मशती के वर्ष में प्रकाशित हुई है और आधुनिक भारतीय साहित्य के विषय में अपनी गहरी दिलचस्पी तथा पैनी समझ का प्रमाण देकर चेलिशेव ने एक स्तर पर महान् लेनिन के क्रान्तिकारी उद्देश्य में ही योग दिया है। लेनिन जन्मशती के अवसर पर एक सोवियत अध्येता का हिंदी के लिए इससे उपयुक्त उपहार और क्या हो सकता है? ▱

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अराजकतावाद से लेनिनवाद की ओर

विश्वनाथ त्रिपाठी

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ७८वें वर्ष में प्रवेश कर चुके हैं। इस आयु में अपनी पिछली मान्यताओं को बदलना मुश्किल काम है। ऐसे लोग दुर्लभ हैं जो इस परिपक्वावस्था में भी विकास करने की क्षमता बनाए रख सकते हैं। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की पुस्तक 'नीलकंठ गोर्की' पढ़कर पता चलता है कि वे ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तियों में से हैं। चतुर्वेदी जी अपने को अराजकतावादी घोषित करते रहे हैं, प्रिंस क्रोपाटकिन के परम भक्त रहे हैं। अराजकतावादी होने के बावजूद वे गांधी, रवीन्द्रनाथ, सी० एफ० एण्ड्रयूज और राजेन्द्र प्रसाद और जवाहरलाल नेहरू के प्रशंसक रहे हैं। एक साथ इतने महापुरुषों का प्रशंसक होना ही प्रकट करता है कि वे विचारों में अराजकतावादी और व्यवहार में मानवतावादी रहे हैं। उनका जीवन घटना-संकुल रहा है, हिन्दी पत्रकारिता के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, तीव्र विवादों को उठाया और उकसाया है, निराला और उग्र जैसे साहित्यकारों पर प्रहार किया है और हजारीप्रसाद द्विवेदी, दिनकर और अज्ञेय जैसे लेखकों-कवियों के प्रारम्भिक रचनात्मक-विकास से सम्पृक्त रहे हैं। उन्होंने पत्रकार, विचारक और आन्दोलनकारी के रूप में जो कुछ किया है, उस सबसे सहमत या असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन उनकी दीर्घ और निरन्तर समाज-साधना को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना उनके विरोधियों और प्रशंसकों सबका कर्तव्य है।

जिस-तिस किसी आदमी को संस्था कह देना आसान है, किन्तु किसी व्यक्ति का संस्था बन पाना निहायत मुश्किल काम है। इसके लिए निष्ठा, दृढ़ता, संगठन-शक्ति, कौशल, धैर्य सभी कुछ चाहिए। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी में ये गुण हैं, इसीलिए वे सचमुच एक व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। संस्थाधिपति प्रायः लक्ष्मीपति भी बन जाते हैं। मैंने जितना उन्हें देखा है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि वे अपरिग्रही भी हैं। बड़े-बड़े गांधीवादी और आदर्शवादी क्या-से-क्या हो गए हैं, इसे देखकर सोचें तो समझ में आता है कि चतुर्वेदी जी कितने श्रद्धास्पद हैं! यह भी समझ में आता है कि पुरानी मान्यताओं का मोह छोड़ पाने की शक्ति का सम्बन्ध अपरिग्रह से भी है।

चतुर्वेदी जी ने 'नीलकंठ गोर्की' में घोषित किया है :

"दुर्भाग्य की बात है कि मेरे मन में यह आशङ्का उत्पन्न हो गई है कि महात्मा जी के तरीके को हमने असफल बना दिया है और लेनिन की कार्य-पद्धति ही इस मुल्क का उद्धार कर सकेगी। पशु-श्रेणी के करोड़ों व्यक्ति समझाने-बुझाने से नहीं मानने के। वे डंडे के बूते पर ही सही मार्ग पर लाए जा सकेंगे।"

महात्मा जी का तरीका असफल क्यों हो गया?

गांधीजी ने धनपतियों को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। वे मानते थे कि राजा और धनपति भी समाजवादी हो सकते हैं यदि वे समाज की सेवा करें। वे धनवानों को 'ट्रस्टी' बनने की राय देते थे। लेकिन चतुर्वेदीजी ने समझ लिया है कि **"हमारे देश का साधन-सम्पन्न वर्ग ट्रस्टी बनने को तैयार नहीं। अन्याय से अर्जित धन-सम्पत्ति पर वह युग-युगान्तर तक अपना काबू रखना चाहता है, पर समस्त जनता में अनन्त काल तक धैर्य धारण करने की शक्ति नहीं। जब फोड़े का इलाज मरहम-पट्टी से न हो सके तो आपरेशन अनिवार्य हो जाता है।"**

ऐसी स्थिति में लेखक का क्या कर्तव्य है?

चतुर्वेदीजी ने यह पुस्तक मुख्यतः लेखकों को परिस्थिति और कर्तव्य से अवगत कराने के लिए लिखी और संपादित की है। लेखकों का क्या कर्तव्य है इस पर उन्होंने स्वयं विचार किया है और गोर्की की प्रसिद्ध कहानी 'एक पाठक'

नीलकंठ गोर्की : लेखक, बनारसीदास चतुर्वेदी, प्राप्ति स्थानः नवहिन्द प्रकाशन, सुल्तान बाजार, हैदराबाद; मूल्य ८० पैसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुवाद भी दे दिया है। इस कहानी का अनुवाद श्री प्रकाश चन्द्र चतुर्वेदी ने किया है। यह कहानी गोर्की की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी है—साहित्यकारों के लिए। साहित्यकार यदि यश-प्राप्ति के लिए ही लिखता है तो वह सूदखोर है। कहानी में एक पात्र के रूप में चित्रित पाठक कहानीकार से कहता है : "तुम तो इसलिए देते हो कि जीवन से और जन से और अधिक प्राप्त कर सको। तुम इतने दरिद्र हो कि कुछ भी भेंट नहीं दे सकते। तुम सूदखोर हो, अपने अनुभव के टुकड़ों को उधार देते हो जिससे व्याज के रूप में तुम्हें यश प्राप्त हो सके।" (पृ० ३२)। उदास, थकी और हारी ज़िन्दगी सभी मूल्यों पर व्यंग्य करती है। लोग ओछेपन के सामने हथियार डाल चुके हैं। ओछेपन से हारा हुआ व्यक्ति "सूअरों की भांति सदा ज़िन्दगी बिताना चाहता है·· जब भी उसके सामने कोई 'आदर्श' का नाम लेता है वह व्यंग्य से हंस देता है।" और यह हंसी भी कैसी होती है? यह हंसी सहज निष्कपट और सरल नहीं होती—"अब वे हंसते हैं दुष्टता से, ओछेपन से; अक्सर आँसुओं के बीच से"। इस स्थिति से लोगों को उबारने के लिए उन्हें गतिशील बनाना है, उन्हें ज़िन्दगी की खूबसूरती की ओर आकृष्ट करना है। इसके लिए साहित्यकार को मनुष्य के पशुत्व को कोड़े लगाने की जरूरत है। स्थिति ऐसी है कि मनुष्य को प्रेम करने वाले साहित्यकार के लिए मनुष्य के पशु पर कोड़े लगाना अनिवार्य हो गया है।

इस कहानी को 'नीलकंठ गोर्की' में सम्मिलित करने का उद्देश्य साहित्यकारों को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करना था। गोर्की के प्रति चतुर्वेदीजी के आदर की भावना का मुख्य कारण उसकी संघर्षमयता है। चतुर्वेदीजी महापुरुषों की जीवनी पढ़ने और लिखने के बेहद शौकीन रहे हैं। उन्होंने "प्रिंस क्रोपाटकिन, महात्मा गांधी, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, स्टिफन ज्विग और मैक्सिम गोर्की के जीवन-चरित्र बड़ी रुचि से पढ़े हैं" लेकिन इन महापुरुषों और गोर्की में महान् अन्तर यह है कि "गोर्की समाज के सबसे निचले वर्ग से निकलकर ऊपर आये थे"। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जानते हैं कि "गरीबी किसे कहते हैं इसीलिए वे 'प्रथम' पांच भाग्यशाली चरितनायकों के महत्त्व की कद्र करते हुए भी कहते हैं : "तथापि मेरी स्वाभाविक सहानुभूति निस्सन्देह उस दुर्भाग्यशाली अभागे छठे व्यक्ति यानी गोर्की के प्रति है। मैं प्रथम पांचों की प्रशंसा करता हूँ पर मेरी हार्दिक श्रद्धा तो गोर्की को ही समर्पित है।" (मैक्सिम गोर्की का आत्मचरित्र)।

चतुर्वेदीजी गोर्की के दोनों रूपों—व्यक्ति और साहित्यकार से प्रभावित हैं। वे व्यक्ति और साहित्यकार की अभिन्नता पर बल देने वाले चिन्तक हैं। आज ऐसे निर्भीक चिन्तकों की बड़ी आवश्यकता है। चतुर्वेदीजी की ईमानदारी का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि मृत्यु की छाया में बैठ कर उन्होंने लेनिन के रास्ते को श्रेयस्कर बताया। मृत्यु और परलोक का भय बड़े-बड़े क्रांतिकारियों को भक्त और रहस्यवादी बना देता है। लेकिन चतुर्वेदीजी ने आपरेशन थियेटर में जाने के पूर्व इस देश के लोगों को गांधीवादी रास्ते की सीमाएँ बताईं। उन्होंने साहित्यकारों से विशेष अनुरोध किया कि वे समय के अनुसार अपने कर्तव्य को पहचानें और उस पर चलें। देश की दशा को सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से तो राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही बदल सकते हैं। लेकिन सभी लेखक राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं बन सकते। राजनैतिक कार्यकर्ता न बन पाना एक बात है और राजनीति से कोई सरोकार न रखना या उसे साहित्यकार के लिए संदर्भहीन समझना दूसरी बात है।

जनता साहित्यकार से अपेक्षा रखती है कि वह जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने की कोशिश में अपने ढंग से काम करे। देश की जनता ज्यों-ज्यों सचेत होती जाएगी उसकी यह अपेक्षा बढ़ती जाएगी। चतुर्वेदीजी ने साहित्यकारों को सावधान किया है : "वह वक्त शीघ्र ही आने वाला है जब कि इस देश की जाग्रत जनता प्रत्येक सजीव लेखक से सवाल करेगी—जनाब! किस प्रकार की समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते हैं और तदनुसार काम करने की कितनी सामर्थ्य है?"

यानी साहित्यकार को प्रतिबद्ध होना पड़ेगा—सामाजिकता से, उसे अधिक जवाबदेह होना पड़ेगा। इसका परिणाम सुखद होगा। जनता साहित्य में रुचि लेगी। साहित्यकार और पाठक परस्पर आमने-सामने होंगे।

गोर्की के प्रति चतुर्वेदी जी की यह श्रद्धा उनके प्रति भी हमारे हृदय में श्रद्धा जगाती है।

●

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED
REFERENCE BOOK

एक महत्वपूर्ण आत्मकथा

क्या भूलूं क्या याद करूं

बच्चन

८.००

बच्चन की आत्मकथा का यह प्रथम खंड सर्वत्र बहुप्रशंसित हुआ है। हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का यह इस प्रकार का प्रथम ग्रन्थ है। दूसरा खंड 'नीड़ का निर्माण फिर' प्रकाशन के पथ पर है।

सुमित्रानन्दन पन्त : प्रेम और जीवन की भावना से घनीभूत तथा आढ्य यह बच्चन की युवावस्था की हास-अश्रु ग्रथित जीवंत पारदर्शी आत्मकथा है। इसे पढ़कर बच्चन का व्यक्तित्व और भी प्रिय लगने लगता है।

दिनकर : रूसो का 'कन्फेशन्स' साहित्य में बहुत ही विख्यात ग्रन्थ है। बच्चन जी की आत्मकथा में भी सत्य को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति है। चंपा के साथ अपने सम्बन्ध का उन्होंने जो उल्लेख किया है, उससे बच्चन जी के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पढ़ते-पढ़ते मैं यह सोचने लगता था कि क्या ही अच्छा होता यदि बच्चन जी ने गद्य में कुछ और लिखा होता।

डा० नगेन्द्र : पूरी कृति कवि के रंगीन जीवन का रोचक आलेख है। पढ़ने में उपन्यास का सा आनन्द आता है। मुझे विश्वास है कि बच्चन की कविता और आत्मकथा एक-दूसरे के मर्म का उद्घाटन करने में सहायक होंगी।

डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' : सोच रहा हूं कि बिना अतिशयोक्ति के कह सकूं कि ऐसी आत्मकथा आज तक लिखी ही नहीं गई। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इस परिवेश में कम ही लिखी गई होंगी।...तुम्हारी धारणा शक्ति लाजवाब है, कहीं गांधी को छूते हो, कहीं गणिका को।

उपेन्द्रनाथ अश्क : पुस्तक तुमने खूब लिखी है और अपने आपको बिना बख्शे लिखी है...कुछ प्रसंग अत्यंत ही मार्मिक बन आए हैं...तुमसे रश्क हो आया।

डा० धर्मवीर भारती : यह कहना बहुत नाकाफी होगा कि मैं अभिभूत हूं।...हिन्दी में अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी और साहस, और सद्भावना से कह देना यह पहली बार हुआ है—हिन्दी के हजार वर्ष के इतिहास में।

कमलेश्वर : 'क्या भूलूं क्या याद करूं' से हिन्दी का गद्य साहित्य एकाएक अत्यंत प्रौढ़ हुआ है। मैं तो बच्चन जी का शिष्य रहा हूं—इसे पढ़कर यही लगा कि अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने की जगह अगर इन्होंने इस जीवनी का एक अध्याय तभी पढ़ा दिया होता तो एक पूरी पीढ़ी को कितनी शक्ति, दृष्टि और साहस मिला होता।

राजपाल एण्ड सन्ज़

कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज से सहस्राब्दियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और जातीय एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से प्रकृत रूप देनेवाले आदि नाट्याचार्य भरत के कृतित्व का विश्लेषण तथा मूल्यांकन प्रस्तुत करनेवाला एक बहुमूल्य ग्रन्थ

भरत और भारतीय नाट्यकला

भारतीय नाट्यकला के अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी और प्रामाणिक शोधकृति

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

बिहार विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विद्वान लेखक ने भारतीय नाटयकला विषयक सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अवगाहन करते हुए दिखाया है कि नाटयकला के इस व्यापक क्षेत्र में भरत की देन क्या है और उनका परवर्ती नाटककारों, नाट्यशास्त्रियों और रंगशिल्पियों पर क्या प्रभाव पड़ा है।

पुस्तक में विवेचित उल्लेखनीय विषय

- भरत का व्यक्तित्व और नाट्यशास्त्र का काल-निर्धारण
- भारतीय नाट्योत्पत्ति और तत्सम्बन्धी विभिन्न वाद
- भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप
- दशरूपक विकल्पन, इतिवृत्त-विधान और पात्र-विधान
- नाट्य के रस और भाव
- अभिनय विज्ञान
- नाट्य का प्रस्तुतीकरण
- नाट्य-प्रयोग विज्ञान
- नाट्य वृत्ति, प्रवृत्ति और लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ
- नाट्य की उपरंजक कलाएँ : गीतवाद्य और नृत्य
- आधुनिक भारतीय रंगमंच

रायल आकार में ६०० से अधिक पृष्ठ : रैक्सिन की मजबूत एवं आकर्षक जिल्द :
मूल्य ३०.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

93

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

म्पादकीय १

लेनिन के बारे में
बर्टोल्ट ब्रेष्ट ६

निन और साहित्य
भीष्म साहनी ११

रतीय साहित्य में लेनिन
ई० चेलिशेव १७

लगा शब्दों को घटनाओं से सुलगाता था
विश्वनाथ त्रिपाठी २२

लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम २३

लेनिन की एक समीक्षा २८

काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति
डेविड एन० मार्गोलीज़ ३०

यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता
रोजर गारोदी ३८

पार्टी, साहित्य और समाजवाद
अर्न्स्ट फिशर ४२

जार्ज लुकाच के साथ एक इंटरव्यू
इस्तवान साइमन एवं ईविन जित्यनि ५०

संकोविच की पांच कविताएँ ६१

ध्येव की तीन कविताएँ ६३

मार्क श्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी समालोचक
व० लक्शिन ६६

कुमार विमल की चार कविताएँ ७८

हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों के बीच
शिवदानसिंह चौहान ८०

इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता
रमेश कुन्तल मेघ ८६

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद
सुरेन्द्र चौधरी १०८

रेज़ी देब्रे और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ
जोआ कारतीम ११४

• प्रासंगिकी

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे
प्रभातकुमार त्रिपाठी १२४

• मूल्यांकन

लेनिन जन्मशती का एक आलोचनात्मक उपहार
नामवर सिंह १२७

अराजकतावाद से लेनिनवाद की ओर
विश्वनाथ त्रिपाठी १३१

नवांक १३, (पूर्णांक ५०) अप्रैल-जून १९७०, मूल्य ४.००

धारण डाक द्वारा १६.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १९.००

विदेशों में—२०.००

संख्या डी० ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८

न शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/

के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्या हरिद्वार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान ... पुस्तकालय

लेनिन की जन्मशती के उपलक्ष्य में

१८७०-१९७०

पुस्तक सं. ...
CHECKED 1973
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK
यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

आलोचना

वर्ष : १९
नवांक : १३
अप्रैल-जून १९७०

संपादक
नामवर सिंह

प्रबंध संपादिका
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

लेनिन ने हर्ज़ेन की शतवार्षिकी के अवसर पर लिखते हुए कहा था, "हर्ज़ेन की जन्म तिथि को सौ वर्ष बीत चुके हैं। समस्त उदारवादी रूस उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है किन्तु समाजवाद के गंभीर प्रश्नों से बड़ी सावधानी के साथ कतराता हुआ और बड़ी मेहनत से उस बात को छिपाता हुआ जो क्रांतिकारी हर्ज़ेन को एक उदारवादी से अलग करती है। दक्षिणपंथी अखबार भी हर्ज़ेन की वर्षगांठ मना रहे हैं, लेकिन इस मिथ्या दावे के साथ कि हर्ज़ेन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में क्रांति से विमुख हो गए थे। और विदेशों में हर्ज़ेन के बारे में जो उदारवादी तथा नरोदनिक भाषण दिये जा रहे हैं उनमें लफ्फ़ाज़ी के अलावा और कुछ नहीं है। मजदूर वर्ग की पार्टी को हर्ज़ेन की वर्षगांठ कूपमंडूकों की तरह उनका गौरव-गान करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं अपने कर्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए और यह मालूम करने के लिए मनानी चाहिए कि जिस लेखक ने रूसी क्रांति का पथ प्रशस्त करने में इतनी बड़ी भूमिका अदा की उसका स्थान इतिहास में वस्तुतः क्या था ?"

इस कथन की रोशनी में स्वयं लेनिन की जन्मशती मनाते हुए हम कह सकते हैं कि यह अवसर लेनिन के गौरव-गान के लिए नहीं—क्योंकि उनके गौरव को अतिरिक्त गान की अपेक्षा नहीं है—बल्कि आज की स्थिति में अपने कर्तव्य को स्पष्ट करने के लिए है। जाहिर है कि लेनिन हर्ज़ेन नहीं थे, इसलिए उनके क्रान्तिकारी रूप में न तो शक पैदा करने की गुंजाइश है और न उसे किसी तरह छिपाना ही संभव है। फिर भी यहां के दक्षिणपंथी अखबार लेनिन की जन्मशती के समारोहों के प्रति अपना गुस्सा न छिपा सके। जहां तक उदारवादियों का सवाल है उनकी सुविधा के लिए संयोग से गांधीजी की जन्मशती की तात्कालिक पृष्ठभूमि उपलब्ध हो गई इसलिए उन्हें लेनिन को गांधी बनाकर पेश करने की जैसे छूट मिल गई। किन्तु इससे कहीं अधिक भयंकर है लेखकों और बुद्धिजीवियों के संसार की निपट उदासीनता ! यदि यह उदासीनता प्रचलित पाखंड और लफ्फ़ाज़ी की प्रतिक्रिया भर होती तो एक बात थी लेकिन यहां तो सिरे से मैदान साफ़ है। आज हिन्दी के बहुत से लेखकों को इस बात की भी जानकारी नहीं है और न यह जानने की दिलचस्पी ही है कि हमारी स्वाधीनता के संघर्ष का एक वह भी दौर था जब लेखकों और बुद्धिजीवियों ने बड़ी मेहनत से ढूंढ़कर लेनिन की रचनाओं को पढ़ा, उनमें से कुछ एक का अनुवाद किया और फिर भरसक अपनी भाषा में लेनिन के विचारों की आम जनता तक पहुंचाने की कोशिश भी की। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वाधीनता आन्दोलन के उस आरंभिक दौर में सामान्य भारतीय को १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति में आशा की एक नई किरन दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी थी और असंदिग्ध रूप में इससे राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष को बल मिला था तथा समाजवाद की मंजिल करीब मालूम हुई थी। शुरू-शुरू में बहुतों को शायद इस बात का पता न था कि भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में शुरू से ही लेनिन की गहरी दिलचस्पी रही है और वे रूस की समाजवादी क्रान्ति की सफलता भारत जैसे उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति के प्रयास से संबद्ध मानते थे। फिर भी उस दौर के प्रबुद्ध लेखक और बुद्धिजीवी देश के राजनीतिक नेताओं के साथ ही भारत की राष्ट्रीय मुक्ति को सोवियत रूस की समाजवादी क्रांति से सम्बद्ध समझते थे और इसी दृष्टि से उन्होंने लेनिन के जीवन, कर्म और विचारों में गहरी रुचि ली थी। 'प्रताप', 'अभ्युदय' और 'वर्तमान' जैसे पत्र ही नहीं बल्कि 'प्रभा', 'माधुरी' और 'सरस्वती' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं के पन्ने भी लेनिन के साथ आम हिन्दी लेखकों और बुद्धिजीवियों के गहरे लगाव की गवाही देते हैं। आज हिन्दी के जो लेखक लेनिन की ओर से उदासीन हैं वे दरअसल अपनी ही प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी परम्परा से भी अनभिज्ञ हैं, और इस तरह उन्होंने अपने-आपको अपने ही इतिहास से विच्छिन्न कर लिया है।

यदि यह उदासीनता लेनिन तक ही सीमित होती तो एक बात थी, लेकिन रवीन्द्रनाथ, गालिब और गांधी की शतवार्षिकियों के प्रति भी रुख यही था जिससे स्पष्ट है कि यह उदासीनता ज्यादा व्यापक है और इसकी जड़ें भी ज्यादा गहरी हैं। जैसा कि एक नये कवि ने स्वीकार किया है, "वह हमारी खास दुनिया या तो नकली उदासीनता से या सतही दिलचस्पी से कमोबेश छिन्न-भिन्न हो चुकी है।" क्या यह "नकली उदासीनता" और "सतही दिलचस्पी" एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं हैं—परस्पर-विरोधी होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध? क्या उस 'लफ्फाजी' और इस 'चुप्पी' में कोई आपसी सम्बन्ध नहीं है? कहना न होगा कि लफ्फाजी और चुप्पी की यह मिली-जुली स्थिति राजनीति में तानाशाही को जन्म देती है तथा नकली उदासीनता और सतही दिलचस्पी की मनोभूमि साहित्य को अन्ततः बंजर बनाती है। यह स्थिति इतनी नगण्य नहीं कि इससे कतराकर अपने कर्तव्य को स्पष्ट करना सम्भव हो।

स्पष्टतः इस स्थिति के साथ आजादी के २३ वर्षों का इतिहास जुड़ा है जिसे समझने के लिए और समस्याओं की तरह इस विषय में भी १५ अगस्त १९४७ तक जाना होगा क्योंकि वह अनेक अर्थों में भारत के लिए एक गहरी विभाजक रेखा है। इस दिन इतिहास इस अर्थ में विभक्त हुआ कि स्वाधीनता आन्दोलन की एक क्रान्तिकारी परम्परा खण्डित हुई। उस दौर की अनेक जनवादी प्रतिज्ञाएँ तोड़कर राजनीतिक नेतृत्व ने भारत के लिए पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना। इस प्रकार समझौता और सुविधा का वह रास्ता खुला जिसने अनेक टुटपुंजिया राजनीतिक नेताओं की तरह टुटपुंजिया मध्यवर्ग के लेखकों और बुद्धिजीवियों को भी पूंजीवादी सुविधा के सोपानों का आरोही बना दिया। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान 'गरीब हिन्दी' के 'गरीब' लेखकों की जो छोटी-मोटी जनवादी परम्परा बनी थी वह भी देखते-देखते खण्डित हो गई। आजादी क्या मिली कि संचित तप के भोग का खुला अवसर उमड़ पड़ा। औरों की तो बात ही क्या पिछले दौर के अनेक जनवादी लेखक भी देर-सबेर एक-एक करके सुविधा की इसी 'क्यू' में जा खड़े हुए। इस प्रकार इन लेखकों ने अपनी ही गौरवशाली परम्परा से नाता तोड़ लिया। विडम्बना यह है कि यह सब राष्ट्र-निर्माण के नाम पर हुआ। मसलन नाम समाजवाद का लिया गया और काम पूंजीवादी रास्ते के लिए हुआ। कथनी और करनी के इस भेद ने उस राष्ट्रीय पाखण्ड को जन्म दिया जिससे लफ्फाजी पैदा होती है जिसका असर केवल राजनीति में ही नहीं बल्कि साहित्य में भी देखा जा सकता है।

नये लेखकों ने आरम्भ में इस स्थिति के खिलाफ विद्रोह का झण्डा उठाया जिसका एक उदाहरण 'धुरीहीनता' सम्बन्धी बहस के रूप में तत्कालीन पत्रिकाओं में सुरक्षित है। किन्तु कुछ दिनों बाद ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट हो गया कि विद्रोह का सारा नाटक स्वयं वैसी ही सुविधा प्राप्त करने का साधन मात्र था। समाज में टुटपुंजिया मध्यवर्ग की स्थिति को देखते हुए लेखकों का यह सोपान-आरोहण तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। फिलहाल स्थिति यह है कि एक लेखक को लेखक के नाते इस समाज-व्यवस्था में सुविधा ही नहीं बल्कि सम्पन्नता प्राप्त करने की सम्भावना का भी पूरा अहसास हो गया है। और आज इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के अधिकांश लेखक शासक वर्ग के किसी-न-किसी प्रकार के प्रतिष्ठान द्वारा हजम कर लिए गए हैं—फिर वह प्रतिष्ठान चाहे सरकारी हो या गैर-सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी! इस प्रकार अपनी वस्तुगत स्थिति में आज अधिकांश लेखक व्यवस्था के अंग हैं; निस्सन्देह मानसिक स्तर पर उनमें से बहुतों में असन्तोष है, कुछ में विद्रोह भी है, किन्तु जब तक व्यवस्था से प्राप्त होनेवाली सुविधा छोड़ने का साहस नहीं जुटता सारा असन्तोष और सारा आक्रोश क्रमशः एक अपराध-बोध में परिणत होकर सम्पूर्ण चेतना को भोथरा बना रहा है। इसकी एक अभिव्यक्ति है वह 'गुस्सा' जो "हाशिए पर चुटकुला बन रहा है", और "नीरो को मात देते हुए व्यंग्य-हास्य की कविताएँ लिखने वाले साहित्यकार" भी शायद इसी वर्ग में आते हैं। इन लेखकों से यह शिकायत नहीं हो सकती कि वे व्यवस्था का खुला समर्थन करते हैं। जब स्वयं यह व्यवस्था ही अपने कल्याणकारी रूप के बारे में आश्वस्त नहीं है, तो वह किसी लेखक से अपनी प्रशस्ति की अपेक्षा कैसे कर सकती है। ऐसी स्थिति में तो विरोध ही प्रशस्ति का काम करता है बशर्ते उसमें एक साथ ही सबका विरोध हो—समग्र विरोध, जैसा कि आज के अनेक लेखकों का अन्दाज़ है।

निस्सन्देह ईमानदार लेखक अपनी इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को अच्छी तरह समझता है जैसा कि एक लेखक ने लिखा भी है कि "जब तक मैं सिर्फ अपनी दुश्चिन्ता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती। जब मैं अपनी हताश स्थिति का वर्णन करता हूँ तब किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मेरी हताशा उनकी संस्थाओं की शक्ति की ही पुष्टि करती है। मेरे ऊलजलूल-से-ऊलजलूल विचार, मेरी तितीक्षा, मेरा व्यंग्य--सबको ग्राहक मिल जाते हैं क्योंकि इनके माध्यम से मैं सिर्फ इसी बात की गवाही देता हूँ कि जो शक्ति-सम्पन्न हैं वे कितने उदार हैं। वे अपनी जगह पर इतना सुरक्षित महसूस करते हैं कि मुझे ऐसी बहुत-सी बातों का पक्ष-समर्थन करने दिया जाता है जो मुझे प्रगतिशील लगती हैं। तात्पर्य यह कि भ्रष्टाचार पर, शोषण पर और निजी स्वामित्व के एकाधिकारों द्वारा जन-मानस के विषाक्तीकरण पर प्रहार का कोई फल नहीं हो सकता अगर वे कोई स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत न करें।"

किन्तु इससे भिन्न एक स्थिति और है जिसमें नया सुविधाप्राप्त लेखक नये सुविधाभोगी समुदाय की रुचियों का साझीदार बन गया है और इस प्रकार अपनी कृतियों में उस संस्कृति को प्रतिफलित करने लगा है। आजादी के बाद जिस तेजी से भारत में एक नये सम्पन्न मध्यवर्ग का उदय हुआ है उसके समानान्तर अरसे से 'गंवार' समझा जाने वाला हिन्दी साहित्य भी शहराती और 'आधुनिक' हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नया मध्यवर्ग अपनी सम्पन्नता के बावजूद जितना असंस्कृत और फूहड़ है उसकी रुचि को तुष्ट करनेवाला साहित्य भी कम फूहड़ नहीं है। आवश्यक नहीं कि वह अनिवार्यतः प्रचलित अर्थ में 'अश्लील' हो—तथाकथित 'अश्लीलता' से नाक सिकोड़ने का तेवर अपनाकर भी यह साहित्य ज्यादा अश्लील है क्योंकि उसमें खास तरह का बाजारूपन है।

इस प्रकार आज साहित्य में यदि एक ओर टुटपुंजिया मध्यवर्ग के पुंस्त्वहीन आक्रोश की प्रधानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

है तो दूसरी ओर नये सम्पन्न मध्यवर्ग के असंस्कृत आत्मतोष की । स्पष्ट है कि समाज का यह स्तर लेनिन में कोई दिलचस्पी नहीं ले सकता !

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन की 'दो संस्कृतियों' का सिद्धान्त इस सन्दर्भ में विशेष अर्थ रखता है । १९१३ में लेनिन ने यह सामान्य स्थापना की थी कि "प्रत्येक आधुनिक राष्ट्र में दो राष्ट्र हैं ।···प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति में दो राष्ट्रीय संस्कृतियाँ हैं ।" आगे इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लेनिन ने स्पष्ट किया कि तीव्र वर्ग-संघर्ष वाले समाज की राष्ट्रीय संस्कृति में वस्तुतः दो संस्कृतियाँ होती हैं : एक बूर्ज्वा संस्कृति जो प्रायः प्रभुत्वशाली होती है और दूसरी जनवादी तथा समाजवादी संस्कृति जो मेहनतकश और शोषित जनता के जीवन की स्थितियों से उत्पन्न होकर जनवाद और समाजवाद की विचारधाराओं के सहारे विकसित होती है। यह संस्कृति प्रायः बीज रूप में अविकसित रहती है और इसीलिए राष्ट्रीय जीवन में प्रभाव की दृष्टि से इसका स्थान गौण होता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि एक राष्ट्र के अन्दर स्थित ये दोनों संस्कृतियाँ ऐकांतिक रूप से परस्पर-व्यवच्छिन्न नहीं हैं । इनमें घात-प्रतिघात स्वाभाविक है और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप बीच में एक 'तीसरी संस्कृति' के अनेक स्तरों का भी निर्माण हो सकता है। आवश्यक नहीं कि इस बिचौलिया संस्कृति में शेष दोनों के गुण ही गुण शामिल हों क्योंकि दोनों के दोषों की तलछट के रूप में भी तीसरे का निर्माण सम्भव है । जो हो प्रत्येक स्थिति में इस संस्कृति का स्वरूप अन्य दो संस्कृतियों की शक्ति के सन्तुलन पर निर्भर है ।

हिन्दी साहित्य इस नियम से बाहर नहीं है और आजादी के बाद तो विशेष रूप से बूर्ज्वा संस्कृति ही प्रभुत्वशाली है । निस्संदेह यह कड़वा सत्य है किन्तु इसे स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं है। स्पष्टतः इस संस्कृति को 'संस्कृति' से कोई सरोकार नहीं है । जो संस्कृति राजनीति और साहित्य के संबंध के बुनियादी सवाल को बार-बार उठाकर आज तक मुल्तबी करती आ रही हो उसके राजनीतिक आधार के बारे में किसी संदेह के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती । संकट की घड़ी में बूर्ज्वा वर्ग ऐसे ही वितंडा का सहारा लेता है और राजनीतिक संघर्ष में पार पाने की संभावना न देख धर्म, संस्कृति या साहित्य में आश्रय पाने का प्रयास करता है इस आशा के साथ कि शायद वहाँ खतरनाक राजनीति के प्रभाव से बचाव संभव है । आज के भारत में इस बूर्ज्वा संस्कृति की यह विशेषता है कि वह उत्पादन से अधिक उपभोग-प्रधान है और उसकी यह उपभोग-प्रकृति साहित्य पर भी हावी है जिसके उदाहरण बड़े पैमाने पर बिकनेवाली रंगीचुंगी पत्रिकाओं में आसानी से मिल जाते हैं । निस्सन्देह इनकी भी अदा साहित्यिक ही होती है, किंतु इनमें साहित्य विज्ञापन से ज्यादा अहमियत नहीं रखता और राजनीति भी यहाँ आकर किसी कम्पनी का विज्ञापन या चुटकुला बनकर रह जाती है जिसका उपयोग ज़ायका बदलने से ज्यादा नहीं है; यह दूसरी बात है कि निहित स्वार्थ की प्रतिक्रियावादी राजनीति की छौंक साफ़ रहती है ।

ऐसे माहौल में यदि स्वयं साहित्य की सार्थकता ही संदिग्ध हो उठे तो कोई आश्चर्य नहीं। आकस्मिक नहीं जो इस बीच अनेक लेखक 'साहित्य क्यों' के प्रश्न पर एकबारगी गम्भीर हो उठे हैं । यह प्रश्न जहाँ एक ओर सच्चे साहित्य-कर्म के परम्परागत संस्कार के बचे रहने का सूचक है वहीं दूसरी ओर वह व्यवस्था के हितों के रक्षक चतुर बुद्धिजीवियों के उन सामयिक नारों में से एक भी हो सकता है जिन्हें समय-समय पर फुलझड़ी के रूप में छोड़कर आम लोगों का ध्यान असली मुद्दे से हटाने की कोशिश की जाती है । आकस्मिक नहीं है कि आज की स्थिति में 'साहित्य क्यों' का प्रश्न उठानेवाले लेखकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि वे प्रतिष्ठान को केवल थोड़ा-सा लचीला बनाना चाहते हैं—इस प्रतिष्ठान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

को तोड़कर कोई नया प्रतिष्ठान बनाने का इरादा उनमें नहीं है। इन्हीं से संबद्ध वे लेखक हैं जिन्होंने
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
साफ़-साफ़ मान लिया है कि साहित्य के किए कुछ नहीं हो सकता, वह एकदम निरर्थक और फालतू है। साहित्य की यह स्थिति स्पष्टतः उस संकट की सूचक है जिससे आज की समूची व्यवस्था गुज़र रही है।

वस्तुतः यह पूंजीवादी व्यवस्था का संकट है जिससे भारतीय लेखक का साक्षात्कार पहली बार हुआ है। जो पूँजीवाद अभी तक भारतीय लेखक के लिए सिर्फ एक किताबी शब्द अथवा अधिक से अधिक एक मानसिक अवधारणा-मात्र था वह अब उसके जीवन की वास्तविकता बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। विडम्बना यह है कि बहुत से लेखक आज भी इस नई ऐतिहासिक स्थिति को समझने और समझकर स्वीकार करने की ओर से विमुख हैं। कुछ स्मृतिजीवी लेखक आज भी मानसिक स्तर पर अपने बचपन के संसार में जी रहे हैं तो कुछ अनुभव के स्तर पर इस पूंजीवादी संक्रमण के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए भी बोध के स्तर पर इस नये ऐतिहासिक परिदृश्य से सर्वथा अनजान हैं। जिन्होंने सामाजिक सम्बन्धों में अमानुषिकता, संवेदनहीनता, अजनबीपन, अकेलेपन आदि का साहित्यिक चित्रण किया है उनकी दृष्टि में भी यह सब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की उपज नहीं बल्कि 'मानव-नियति' अथवा कोई अबूझ अभिशाप है। दूसरी ओर ऐसे 'भारतीय लेखक' हैं जिनकी दृष्टि में सामाजिक सम्बन्धों की अमानुषिकता तथा अजनबीपन आदि अधिकांशतः पाश्चात्य साहित्य का कोरा अनुकरण-मात्र है और यदि उनमें से कुछ अनुभूत है तो उसका सम्बन्ध केवल महानगरों के जीवन से है जो स्पष्टतः विशाल भारतीय जीवन का एक छोटा-सा अंग-भर है। इस सीमित, एकांगी एवं अवास्तविक संसार से मुँह फेरकर वे लेखक गलगल भाव से गाँव का वह चित्र उपस्थित कर रहे हैं जिसमें ममतामयी मां है, स्नेहमयी भाभी है, करुणामयी दादी है और बटवृक्ष के समान अडिग विशाल बाबा हैं। उनकी दृष्टि में पूंजीवाद ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसका सम्बन्ध केवल शहरों से होता है और जिससे भारत के गाँव आज भी, बल्कि अभी तक, एकदम अछूते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दृष्टि पूंजीवाद के स्वरूप से तो अनजान है ही, आज के भारत की वास्तविकता के ढाँचे में होने वाले उस नये परिवर्तन को भी देखने में असमर्थ है। प्रेमचन्द ने जिस 'महाजनी सभ्यता' के आरम्भिक रूप को आज से पैंतीस-छत्तीस साल पहले देख लिया था उससे आज का 'प्रबुद्ध' लेखक इतना अनजान क्यों हैं? यह भारत की नयी पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा फैलाए हुए मोहावरण की सफलता है या स्वयं हिन्दी लेखक की वर्ग-चेतना की विफलता? क्या यह सच नहीं है कि आज ज्यादातर हिन्दी लेखक अपनी वर्ग-स्थिति दूसरों से तो क्या स्वयं अपने-आप से ही छिपाने की विडम्बना के शिकार हैं? क्या आत्म-विस्मरण क इस स्थिति से साहित्य अछूता रह सकता है?

लेखक में वर्ग-चेतना का यह लोप भी एक प्रकार का 'एलियनेशन' अथवा आत्मनिर्वासन है जो पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की विशेष देन है। अपने आपसे विच्छिन्न लेखक अपनी शक्ति से विच्छिन्न होता है जिसका परिणाम है निरुपायता और असहायता का अहसास! अपनी असहायता का जैसा चरम अहसास हिन्दी में लेखक को आज है वैसा रोमांटिक दौर में भी न था, बल्कि उस समय तो लेखक अपने-आप में जमीन-आसमान एक कर देने की ताकत का अनुभव करते थे! इस स्थिति में यदि साहित्य भी अपनी शक्ति से अलग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि बिलगाव की इस व्यापक प्रक्रिया से साहित्य का बच सकना कठिन है। व्यवस्था से संबद्ध वर्ग-बोध-शून्य लेखक की यह विडम्बना है कि वह व्यवस्था का विरोध करते हुए भी अपने विरोध की निरर्थकता के अहसास से कुंठित रहने को अभिशप्त है। साहित्य की शक्ति में आवश्यकता से अधिक विश्वास करना 'रोमांटिसिज़्म' हो सकता है किन्तु साहित्य को सर्वथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशक्त मान लेना यथार्थवाद नहीं है। इस विश्वास को लेकर तो व्यवस्था को लचीला बना सकना भी असम्भव है। इसीलिए हिन्दी में 'प्रतिबद्धता' को लेकर पिछले दशक में जो इतनी बहस हुई वह अन्ततः एक ढोंग या पाखंड बनकर रह गई ! जहां साफ़-साफ़ अपनी वर्ग-स्थिति को स्वीकार करने का भी साहस न हो, वहाँ आम जनता के साथ प्रतिबद्ध होने की बात तो दूर किसी भी वर्ग से प्रतिबद्धता का सवाल गोल ही रहेगा। आकस्मिक नहीं कि प्रतिबद्धता के नाम पर अधिकांश लेखकों ने प्रायः 'अपने समय के साथ प्रतिबद्ध होने' या 'अपने परिवेश के साथ प्रतिबद्ध होने' की गोलमोल बातें कीं।

स्पष्टता का तकाजा है कि हम चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारें। सवाल यह है कि हमें साहित्य की निरर्थकता से संतोष है या क्षोभ ? सवाल यह है कि हमें साहित्यकार की असहायता की स्थिति स्वीकार है या अस्वीकार ? यदि सचमुच क्षोभ है और अस्वीकार है तो फिर सवाल यह है कि हम साहित्य को फिर से सार्थक और साहित्यकार को फिर से समर्थ बनाने के लिए क्या कर सकते हैं ?

हम क्या करें ? यह सवाल आज हिन्दी लेखकों के भी सामने है उसी तरह जैसे लेनिन के सामने इस सदी के आरम्भ में था बल्कि मूलतः यह सवाल तो लेनिन से पहले चेर्निशेव्स्की तथा उनके समकालीन रूसी लेखकों के सामने था ! असहायता और निरुपायता की स्थिति वहाँ भी थी। लेनिन स्वयं निर्वासन में थे। किन्तु एक पूर्ववर्ती बुद्धिजीवी के सवाल को लेनिन के क्रान्तिकारी सिद्धान्त में बदल दिया और इस सवाल का जवाब देने के प्रयास में उस क्रान्तिकारी पार्टी का जन्म हुआ जिसने पन्द्रह वर्ष के अन्दर ही समाजवादी क्रान्ति को अंजाम दिया। हिन्दी के लेखकों और बुद्धिजीवियों का स्वाभिमान कम नहीं है। ज़ाहिर है कि न तो वे किसी राजनीतिज्ञ के पीछे चलने को तैयार हैं और न किसी लेनिन का इन्तज़ार ही करना चाहेंगे। फिर भी 'क्या करें' का उत्तर तो देना ही पड़ेगा और इसके लिए वे पार्टी बनाने जैसा असाहित्यिक कार्य करने की ज़हमत भले न उठाएँ, लेकिन वर्तमान "साहित्यिकता" से कुछ तो मुक्त होना ही पड़ेगा। और इस दिशा में लेखक को पहले इस सवाल का उत्तर देना पड़ेगा कि तुम किधर हो ? किसके साथ हो ?

और यहीं लेनिन द्वारा निर्दिष्ट दूसरी संस्कृति—जनवादी संस्कृति का सवाल उठता है जो बीज रूप में आज हिन्दी में मौजूद है; किंतु जनवादी शक्तियों के विभाजन तथा जन-आन्दोलनों के बिखराव के कारण उस संस्कृति में वह शक्ति नहीं आ पा रही है जिससे प्रभुत्वशाली संस्कृति को चुनौती दी जा सके। इसके अतिरिक्त इस वर्ग का साहित्य भी लेखक समुदाय की दृष्टि से अपने निम्न-मध्यवर्गीय आधार के कारण अनेक आंतरिक संकटों से गुज़र रहा है। निस्सन्देह इस वर्ग के लेखकों में व्यवस्था के प्रति घोर विरोध का भाव है, वे इसे जड़ से बदलने के लिए भी आकुल हैं और इसके साथ ही उनके सामने एक विकल्प भी है, किन्तु इन तमाम बातों के बावजूद उनमें अधीरता इतनी है कि वे एक प्रकार के 'क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद' की ओर अग्रसर हो चले हैं। सामान्यतः इनके प्रेरणा-स्रोत हैं गोरों के विरुद्ध काले लोगों का आन्दोलन, विश्वव्यापी उभरती हुई छात्र-शक्ति जिसका चरमोत्कर्ष फ्रांस की 'मई क्रांति' है तथा अमेरिकी साम्राज्यवादी आक्रमण के विरुद्ध वियतनाम का संघर्ष ! विचारों की दृष्टि से इनमें और भी विविधता है। कुछ हैं जो हर्बर्ट मारकुस के प्रभाव में हैं तो कुछ फैनन और कारमाइकेल के। इनमें जो सबसे क्रान्तिकारी हैं वे चे गुएवारा, कास्त्रो, रेज़ी देब्रे तथा अंततः माओ त्से तुंग को अपना आदर्श मानते हैं। फिर भी राजनीति के प्रति इनके रुझान में कुछ बातें इतनी समान हैं कि इन सबको सुविधा के लिए 'स्वच्छन्दतावादी क्रान्तिकारी' कहा जा सकता है। इस क्रान्तिकारिता का मूल मंत्र है : 'नो कम्प्रोमाइज़' अर्थात् कोई समझौता नहीं—न वर्ग-शत्रु के साथ कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फौरी रजामंदी या किसी तरह की छूट और न ही प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी जान बचाने के लिए क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की शुद्धता के बारे में तालमेल का प्रयास! इन क्रान्तिकारियों की सामान्य मान्यता यह है कि अब क्रान्ति के हिरावल दस्ते की भूमिका अदा करने की स्थिति में मजदूर वर्ग नहीं है, मौजूदा दौर में यह भूमिका मुख्यत: किसान अदा करेंगे और ये किसान भी एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका जैसे 'तीसरी दुनिया' के देशों के किसान होंगे; किसानों के इस हिरावल दस्ते का साथ देंगे छात्र तथा काले लोग। इस दृष्टि से वे संसार की प्रायः सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को गैर-क्रान्तिकारी तथा जड़ मानते हैं और सोवियत संघ को विश्व-क्रान्ति का अग्रणी नेता मानने के स्थान पर बूर्ज्वा तथा "सामाजिक-साम्राज्यवादी" कहते हैं। इनके लिए क्रान्ति का एक ही अर्थ है सशस्त्र क्रान्ति जिसका सबसे विकसित रूप है छापामार युद्ध। स्पष्टत: इन क्रान्तिकारियों के लिए लेनिन में विशेष आकर्षण नहीं है। कास्त्रो, चे गुएवारा तथा रेजी देब्रे जैसे युवा क्रान्तिकारियों के करिश्मे से ये इतने अभिभूत हैं कि इन्हें लेनिन की ओर देखने का अवकाश ही नहीं। इनकी दृष्टि में चीन की 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के प्रभामंडल के सामने अक्तूबर क्रान्ति फीकी है।

इन नये क्रांतिकारियों के हृदय में हर तरह के अन्याय के विरुद्ध जो आग भड़क रही है उसकी अनाविल नैतिकता और बलिदान के लिए स्वत: स्फूर्त साहस को देखकर जहां मन में आदर का भाव पैदा होता है वहीं उनकी राजनीतिक समझ को देखकर लेनिन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'उग्रपंथी कम्युनिज्म: एक बचकाना मर्ज़' की याद आती है। यह सही है कि लेनिन की १९२० की लिखी हुई पुस्तक को १९७० के युवकों पर आंख मूंदकर लागू करना ज्यादती होगी किन्तु इस उग्रवाद के 'टुटपुंजिया मध्यवर्गीय' आधार का लेनिन का विश्लेषण आज भी सोलहो आने सही है। निस्सन्देह जैसा कि लेनिन ने कहा था यह अराजकतावाद मजदूर वर्ग के आन्दोलन के अवसरवादी पापों की सज़ा का ही एक प्रकार है; किन्तु इससे उसकी टुटपुंजिया मध्यवर्गीय कमज़ोरियां संगत साबित नहीं होतीं। टुटपुंजिया मध्यवर्ग इतनी आसानी से क्रान्तिकारी अतिरेक की ओर इसलिए जाता है कि वह पूंजीवादी व्यवस्था में जितना कष्ट झेलता है उससे ज्यादा उसका अनुभव करता है। उसमें गुस्से की मात्रा जितनी ज्यादा होती है, संगठन अनुशासन और दृढ़ता की क्षमता उतनी ही कम होती है। इसलिए वह आवेश में आकर दुस्साहसिक प्रयास तो कर बैठता है किन्तु कड़े संघर्ष में उतनी ही जल्दी पस्त होकर उदासीन भी हो जाता है। लेनिन के ये निष्कर्ष क्रान्तिकारी संघर्ष की लम्बी अवधि के प्रत्यक्ष अनुभव के परिणाम थे। जब भीतर के गृहयुद्ध और बाहर के चौतरफा साम्राज्यवादी आक्रमणों के दबसठ में आकर उन्होंने ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की संधि की तो उस ज़माने के उग्रवादियों ने भी लेनिन का विरोध किया और महान अक्तूबर क्रान्ति के नेता पर उन्होंने साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने का आरोप लगाया। आगे चलकर इतिहास ने साबित कर दिया कि लेनिन का वह निर्णय कितना समझदारीभरा और सही था। अपने जमाने के उग्रवादियों के लिए लेनिन के हृदय में भी कम स्नेह और आदर न था, लेकिन सवाल रणनीति और रण-कौशल सम्बन्धी क्रान्तिकारी समझ का था और इस मामले में लेकिन समाजवादी क्रान्ति की इतनी बड़ी उप-लब्धि को बचकानी दुस्साहसिकता के दांव पर लगाने को तैयार न थे। निश्चय ही लेनिन की रणनीति और रणकौशल की यह द्वन्द्वात्मकता उग्रवादियों के लिए काफ़ी पेचीदा है और क्रान्ति की रोमांटिक दृष्टि यदि उसकी ओर उतनी तेज़ी से आकृष्ट नहीं होती तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि आज के रोमांटिक क्रान्तिकारी जिस वियतनाम को 'मेरा नाम तेरा नाम' की तरह जपते हैं स्वयं उसके संघर्ष की गैर-रूमानियत की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानते हैं कि वियतनाम का क्रान्तिकारी संघर्ष [illegible] छापामार युद्ध नहीं है बल्कि इस युद्ध में इसके अलावा भी अनेक रणकौशल अपनाए गए हैं। इस संघर्ष का हिरावल दस्ता केवल किसान नहीं बल्कि मजदूरों के नेतृत्व में किसानों-मजदूरों का संगठित मोर्चा है जिसमें वियतनामी जनता का बहुत बड़ा देशभक्त हिस्सा शामिल है। इस संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी कर रही है—लेनिनवादी पार्टी के ढांचे पर निर्मित कम्युनिस्ट पार्टी जिसको नये उग्रवादी गैर-क्रान्तिकारी घोषित कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त वियतनाम के इस साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध में सोवियत संघ पूरी तरह वियतनाम के साथ है। इतना होते हुए भी यदि नये क्रान्तिकारी क्रान्ति का कोई रोमांटिक ख्याल अपने दिमाग में पाल रहे हैं तो इसे बचकानापन ही कहा जायगा। दूसरी ओर जो युवक मारकुस, फैनन और कार माइकेल के प्रभाव में आकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद को 'पुराना' तथा अप्रासंगिक मान बैठे हैं उन्हें ठंडे दिमाग से इस पहलू पर भी सोचना चाहिए कि आखिर पश्चिम का बूर्ज्वा प्रेस इतने "खतरनाक" क्रान्तिकारियों को क्यों इतना उछाल रहा है ? निस्सन्देह यह उन विचारकों की आलोचना नहीं है किन्तु उनके विचारों पर रोशनी डालने का एक नुक्ता जरूर है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत के शासक वर्ग ने नक्सलवादियों का हौवा खड़ा करके उनके खिलाफ जो जेहाद छेड़ रखा है वह संगत है। शासक वर्ग की इस चाल से भारत के रोमांटिक क्रान्तिकारी भी समझ गए होंगे कि क्रान्ति का रास्ता इतना संक्षिप्त और संकुचित नहीं है। छह महीने का रास्ता छोड़कर छह दिन का रास्ता अपनाना एक राजकुमार के लिए चाहे जितना रोमांचक हो किन्तु क्रान्ति के लिए कोई 'शार्टकट' नहीं है। यही नहीं बल्कि भारत की वर्तमान स्थिति में यह आग के साथ खेलवाड़ है। जिस समय वामपक्षी दलों में गहरी फूट हो, मजदूरों और किसानों के संगठन छिन्न-भिन्न और कमज़ोर हों, उदारपंथी केन्द्रीय सत्ता लड़-खड़ा रही हो, तमाम दक्षिणपंथी शक्तियां एकजुट हो रही हों, पूंजीपतियों की इज़ारेदारी बाढ़ पर हो, गांव से लेकर शहरों तक के विशाल निम्न मध्यवर्गीय स्तर में गहरा असंतोष हो तथा आर्थिक संकट के साथ राजनीतिक संकट में तीव्रता आ रही हो, ऐसे समय क्या समाजवादी क्रान्ति की दिशा में दुस्साहसपूर्ण कदम उठाने में जनवाद को भी खो देने का खतरा नहीं है ? आखिर कम्बोदिया के सवाल पर साम्राज्यवाद के खतरनाक कदम का विरोध करने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि अमरीकी साम्राज्यवादी मौका देखकर भारत को भी कम्बोदिया बनाने में न चूकेंगे। जिस समय भारत में चारों ओर से फासिस्ट खतरे की आशंका की जा रही है उस समय आतंकवाद की कोई भी कार्रवाई चाहे वह वामपक्ष की ओर से ही क्यों न की गई हो, दक्षिणपंथी आतंकवाद के लिए साक्षात् निमंत्रण है, जिसकी परिणति असंदिग्ध रूप में फासिज्म है ! दक्षिणपंथी शक्तियोंके साथ वामपक्षी दलों के तालमेल का प्रयास उस खतरे को और नजदीक लाने में सहायक हो सकता है।

बहरहाल, साहित्य के क्षेत्र में इस 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज़्म' ने अपनी गलत राजनीतिक धारणाओं के बावजूद आरंभ में भद्रवर्ग के निष्प्राण साहित्य को परास्त करने में निश्चित रूप से तात्कालिक सफलताएं प्राप्त कीं। किन्तु दो-तीन वर्ष की अवधि में स्वयं उसी के अन्दर जिस प्रकार ठहराव आ गया उससे स्पष्ट है कि एक अदूरदर्शी जीवन-दृष्टि साहित्य को भी ज्यादा दूर नहीं ले जा सकती। आज भले ही "कान नहीं सुनते हैं कविताएं / कविता पेट से सुनी जा रही है," लेकिन निकलेगी कविता "समूचे आदमी" से ही, बंदूक की नली से नहीं—राजसत्ता भले ही निकल जाय। "इस वक्त जबकि कविता मांगती है समूचा आदमी अपनी खूराक के लिए" तो कविता को कविता के ही द्वारा "समूचा आदमी" देना होगा—इकहरा रोमांटिक क्रांतिकारी नहीं। और यह समूचा आदमी और कुछ नहीं लेनिन की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि का निचोड़ "जीवंत, मूर्त भरा-पूरा सत्य" है। बर्टोल्ट ब्रेष्ट के रचनाकक्ष में लेनिन का यही अमर वाक्य था "ट्रूथ इज़ कांक्रीट !"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन के बारे में

बर्टोल्ट ब्रेष्ट

साथी लेनिन का कई बार
और भरपूर सम्मान हुआ है, आदमकद और
नीमकद मूर्तियाँ खड़ी की गई हैं
शहरों और बच्चों के नाम उन पर रखे गये हैं
लेनिन के सम्मान में शंघाई से शिकागो तक
कई ज़बानों में तकरीरें की गई हैं
जलसे हुए हैं और जुलूस निकले हैं
लेकिन दक्खिनी तुर्किस्तान के छोटे से कस्बे
कुजान-बुलाक में गलीचे बुननेवालों ने इस तरह
उनकी अक़ीदत की

वहाँ बीस गलीचे बुननेवाले रहते हैं, शाम को
जब बुनाई करने के लिए वे अपनी मचियों पर
बैठते हैं
तो बुखार उन्हें पेरता रहता है
बुखार फैलता है : स्टेशन भनभनाते हुए मच्छरों के
बादलों से भरा होता है
जो पुराने ऊँटखाने के पीछे गंदे दलदल से उठते हैं
लेकिन रेलगाड़ी, जो हर दूसरे हफ़्ते पानी और
धुआँ लाती है
एक दिन यह भी खबर लाती है
कि लेनिन की बरसी का दिन आ रहा है
और कुजान-बुलाक के लोग
ग़रीब जुलाहे
तय करते हैं कि उनकी बस्ती में भी लेनिन की
मूर्ति हो
लेकिन जब वे मूर्ति के लिए पैसे इकट्ठे करते हैं
तो बुखार उन्हें जकड़े होता है
और मेहनत से कमाए अपने सिक्कों को वे काँपते
हाथों से गिनते हैं
और लाल फ़ौज का आदमी, स्तेपा गमालव, जो
मुस्तैदी से गिन रहा है और चौकन्ना है
लेनिन को इज़्ज़त देने के जज़्बे को देखता है और
खुश है
लेकिन वह काँपते हुए हाथ भी देखता है
और यकायक तजवीज़ रखता है
कि वे मूर्ति के लिए जमा किए जा रहे पैसों से
पेट्रोल लें
और उसे ऊँटखाने के पीछे वाले दलदल पर छिड़क
दें
जिससे मच्छर आते हैं और बुखार लाते हैं
इस तरह दोनों काम हो जाएँगे—कुजान-बुलाक में
बुखार से मुकाबला
और मरहूम
लेकिन कभी न भुलाए जाने वाले
साथी लेनिन की सरफ़राज़ी भी

सब इस बात पर राज़ी हुए बरसी के दिन
वे अपनी दबी-पिचकी बाल्टियाँ काले पेट्रोल से भर
एक के बाद एक
ले गए और दलदल पर डाल आए

यूँ उन्होंने लेनिन की इज़्ज़त करते हुए खुद की
मदद की
और अपनी मदद करते हुए लेनिन को इज़्ज़त दी
और
उन्हें समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी हमने सुना किस तरह कुज़ान-बुलाक के
लोगों ने लेनिन को मान दिया
फिर जिस दिन
पेट्रोल खरीदा गया और दलदल पर छिड़का गया
उस शाम एक आदमी उनकी जमात में खड़ा हुआ
और उसने कहा
स्टेशन पर बतौर यादगार एक तख़्ती लगा दी जाय
जिसमें यह सब लिखा हो और
बदले हुए मन्सूबे और लेनिन की मूर्ति की जगह
बुखार खत्म करने वाली पेट्रोल की टंकियाँ—दोनों की
सारी बातें आ जाएँ

और यह कि इतना सब लेनिन की अक़ीदत में
हुआ
और उन सबने यह भी किया
और वह तख़्ती लगवा दी ●

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन और साहित्य

भीष्म साहनी

लेनिन क्रान्तिकारी थे, साहित्यकार नहीं थे। कहानियाँ-कविताएँ नहीं लिखते थे। उनकी भाषा तर्क की भाषा थी, बिम्बों की भाषा नहीं थी। पर एक बिन्दु पर महान् क्रान्तिकारी और महान् साहित्यकार मिल जाते हैं। दोनों का संवेदन समाज के अन्दर पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को तीव्रता से महसूस करता है, साहित्यकार उन्हें अभिव्यक्त करता है जबकि क्रान्तिकारी अमली तौर पर समाज के निज़ाम को बदलने की कोशिश करता है। दोनों मानवजाति के साथ असंख्य तन्तुओं से गहरे जुड़े होते हैं। दोनों का दृष्टि क्षेत्र संकुचित न होकर विशाल और व्यापक होता है। दोनों के लिए अन्याय, झूठ, अत्याचार असह्य होता है, दोनों जीवन की बाहरी ताम-झाम से प्रभावित न होकर उसकी गहराइयों में पैठने वाले, नये मूल्यों के खोजी, न केवल हमारे चिन्तन को, बल्कि जीवन-व्यवस्था को भी नये आयाम, नये मोड़ देते हैं।

एक क्रान्तिकारी समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है। ज़ाहिर है उसकी नजर में सबसे पहले समाज के उस वर्ग का ही हित होगा जिसके लिए वह लड़ रहा है, जिसके लिए वह समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है।

जिस समाजवादी समाज की स्थापना लेनिन के क्रान्तिकारी जीवन का ध्येय रही, उसमें रूस की विशाल गरीब जनता, निरक्षर, अपहृत, भूखी-नंगी जनता का ही सुख अपेक्षित था।

वह चाहते थे कि समाज की ऐसी व्यवस्था बने जिसमें विशाल जनसमूहों का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो, साहित्य के खज़ाने उस गरीब जनता तक पहुँचें, निरक्षर लोग साक्षर बनें, साहित्य की जो निधि समाज के एक छोटे-से धनी वर्ग को प्राप्त है, वह उसी तक सीमित न रहकर समस्त जनता तक पहुँचे। हम सभी जानते हैं कि वह साहित्यकार के नाते टाल्सटाय की कृतियों का बहुत ऊँचा मूल्य आंकते थे। पर वह उस दिन के स्वप्न देखा करते थे जब टाल्सटाय की कृतियाँ रूस के लाखोंलाख लोग पढ़ पायेंगे। जनता के उज्ज्वल भविष्य की कामना करने वाला व्यक्ति चाहता है कि जनता का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो। क्रान्ति के बाद एक बार बोल्शोई थियेटर में किसी बढ़िया खेल की चर्चा उठने पर लेनिन ने क्लारा जेटकिन से कहा :

"ठीक है, हमारे सुन्दर बेले नृत्य विदेशों में बहुत से लोगों के लिए इस बात का प्रमाण हैं कि हम बोल्शेविक लोग इतने जाहिल नहीं जितना वहाँ माना जाता था। मैं ऐसे कार्यक्रमों के महत्व से इन्कार नहीं करता···पर मैं यह स्वीकार करूँगा कि अगर दूर-पार के किन्हीं गाँव में दो-तीन प्राइमरी स्कूल खोल दिये जाएँ तो मुझे कहीं ज्यादा सन्तोष होगा।"

कला और साहित्य के खज़ाने जो अभी तक समाज के एक छोटे-से वर्ग के हाथ में रहे थे—लेनिन उन्हें विशाल जन-समूह की मिल्कीयत बनाना चाहते थे। अभी तक विशाल जन-समूह निरक्षर, अज्ञानी, तरह-तरह के भ्रमों में फँसा हुआ, उत्पीड़ित और संस्कृति की प्रत्येक देन से वंचित रहा था, जबकि विद्या और ज्ञान और संस्कृति के भण्डार केवल समाज के धनी वर्ग को प्राप्त थे।

जो भी व्यक्ति अपहृत जन-साधारण की नज़र से समाज को देखता है, उसके दिल में इस बात की तड़प रहती है कि जो चीज़ एक वर्ग को मयस्सर रही है वह सभी को मयस्सर हो। इसलिए लेनिन चाहते थे कि स्कूल खुलें, जनता को अच्छी-से-अच्छी तालीम दी जाय, विज्ञान, इतिहास, टेक्नोलाजी आदि की सभी उपलब्धियाँ उन तक पहुँचें।

१९१० में, जिस वर्ष रूस के महान लेखक टाल्सटाय की मृत्यु हुई लेनिन ने लिखा :

"कलाकार टाल्सटाय को रूस में केवल गिने-चुने लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही जानते हैं। यदि उनकी महान कृतियों को लोगों तक सचमुच पहुँचाना है तो समाज की उस पद्धति के विरुद्ध संघर्ष करना होगा—जो लाखों-लाख लोगों को जहालत, अंधकार, गरीबी में रखे रहती है—हमें समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करनी होगी।"

साहित्य और कला सम्बन्धी उनके विचारों को पढ़ते समय हम इस बात को देखकर प्रभावित हुए बिना नहीं रहते कि उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और विशाल था। कला और संस्कृति के खजानों को वह समस्त मानवजाति की विरासत मानते थे। यह ठीक है कि समाज के विकास में अलग-अलग युग रहे, सामन्तवादी युग भी रहा और पूंजीवादी युग भी, लेकिन ये अपने में अलग-थलग युग नहीं थे, एक-दूसरे से जुड़े थे, एक का स्थान दूसरे ने लिया था, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों द्वारा एक के बाद दूसरा आया था। लेनिन इतिहास के नैरन्तर्य में विश्वास रखते थे। यदि कल सामन्तवादी युग था और आज पूंजीवादी युग है और आने वाले कल को समाजवादी युग होगा तो ये एक-दूसरे में से जन्म लेकर निकले थे, और एक-दूसरे से विरासत में बहुत-कुछ लेकर आये थे। अपने में अलग-थलग कोई नहीं जन्मा था। इसी भाँति कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी यह नैरन्तर्य बना रहता है। समाजवादी पद्धति न केवल पूंजीवाद का बल्कि इससे पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं का भी तर्कसंगत परिणाम होगी। यह कहना गलत होगा कि सामन्तवादी व्यवस्था की सांस्कृतिक उपलब्धियों का पूंजीवादी संस्कृति की उपलब्धियों के साथ कोई मेल नहीं, या पूंजीवादी साहित्य का समाजवादी साहित्य से कोई मेल नहीं।

लेनिन की दृष्टि में समस्त प्राचीन संस्कृति और साहित्य का मानवजाति के लिए निश्चित मूल्य था। वह उसे समस्त मानवजाति की विरासत मानते थे।

इसी तरह सर्वहारा संस्कृति हवा में से पैदा होने वाली अलग-थलग चीज नहीं है। यह उन लोगों की ईजाद नहीं है जो अपने को सर्वहारा संस्कृति के विशेषज्ञ मानते हैं। लेनिन ने लिखा :

"सर्वहारा संस्कृति, उस ज्ञान-भण्डार का तर्कसंगत विकास है जिसे मानवजाति ने पूंजीवादी, सामन्तवादी और नौकरशाही समाज के जुए के नीचे संचित किया है। ये सभी रास्ते सर्वहारा संस्कृति की ओर चलते रहे हैं, और चलते रहेंगे।" (लेनिन ग्रंथावली, जिल्द ३१, पृ० २८१)

हमारे यहाँ भी ऐसी विचारधारा पायी जाती रही है जो सर्वहारा समाज की बात करते हुए अपने सारे अतीत को नकारा करते थे, पिछले समस्त साहित्य का मजाक उड़ाया करते थे, भले ही वह कालिदास हो, रामायण-महाभारत हो, सूफ़ी और भक्त कवियों की साखियाँ हों या टैगोर का साहित्य हो। जाहिर है कि यह नजरिया संकीर्ण ही नहीं, गलत भी था, मूलतः दोषपूर्ण था। लेनिन के जीवनकाल में, रूस में भी ऐसे लोग थे जिनका मत था कि पिछले युगों की आध्यात्मिक संस्कृति का समस्त भण्डार विजयी सर्वहारा को मंजूर नहीं है। इन लोगों का मत था कि पिछले काल की समस्त संस्कृति को मटियामेट कर देना चाहिए :

"हम आने वाले कल की खातिर रफ़ेयल के चित्रों को आग लगा देंगे, संग्रहालयों को तबाह कर देंगे, और कला के फूलों को पाँवों तले रौंद डालेंगे (Gryadushchee, The Future—1918 No. 2, p. 4)।

इस तरह के विध्वंसकारी, अथवा तथाकथित क्रान्तिकारी कला के प्रतिनिधि रूस में भी क्रान्ति के समय काफ़ी संख्या में पाये जाते थे, जो "कल्चर मुर्दाबाद" का नारा लगाया करते थे।

लेनिन ने इन लोगों का कड़ा विरोध किया था।

"हमें उस समस्त संस्कृति को लेना होगा जो पूंजीवाद अपने पीछे छोड़ गया है। हमें उसकी समस्त साइंस, टेक्नोलाजी, ज्ञान और कला को लेना होगा। इनके बिना हम कम्युनिस्ट समाज का निर्माण नहीं कर पायेंगे।"

संस्कृति के क्षेत्र में जगह-जगह हमें लेनिन के उदार व्यापक और सन्तुलित विचार पढ़ने को मिलते हैं। एक जगह नौजवानों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा :

"...हम अपने को कम्युनिस्ट निष्कर्षों तक सीमित नहीं रख सकते, और केवल कम्युनिस्ट नारे ही नहीं सीख सकते।...तुम सच्चे कम्युनिस्ट तभी बन पाओगे जब मानवजाति द्वारा रचित ज्ञान के समस्त खजाने से अपने को समृद्ध बना लोगे।"

इसी तरह एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा :

"मार्क्सवाद ने क्रान्तिकारी सर्वहारा की विचार-पद्धति के नाते बुर्जुआ युग की बहुमूल्य उपलब्धियों को रद्द नहीं किया, इसके विपरीत, मानव-चिन्तन और संस्कृति के पिछले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो हज़ार साल से अधिक समय के विकास में जो कुछ भी मूल्यवान था उसे अंगीकार किया है और उसे नया रूप दिया है। भविष्य में इसी आधार पर और इसी दिशा में किये जाने वाले काम को ही सच्ची सर्वहारा क्रान्ति का विकास माना जा सकता है।" (लेनिन ग्रंथावली, जिल्द ३१, पृ० ३१७)

महान् कला और साहित्य समस्त मानवजाति की विरासत है। उसे वह सदैव बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके मन में यह विचार कभी नहीं आया कि वही कला श्रेष्ठ है जो राजनीतिक प्रचार का साधन बने, न ही उन्होंने कभी किसी लेखक अथवा कलाकार को इस नज़र से देखा कि वह किस वर्ग में से आया है। यह संकीर्ण दृष्टि न कभी उनकी रही और न ही कभी उन्होंने इसे प्रश्रय दिया। उनकी पत्नी ने एक जगह लिखा है कि एक बार वे दोनों उस कम्यून में गये जहाँ कला विद्यालय के छात्र रहा करते थे। बातों-बातों में उन्होंने लड़कों से पूछा :

"तुम पढ़ते क्या हो ? क्या तुम पुश्किन की रचनाएँ पढ़ते हो ?"

"जी नहीं," उनमें से एक बोला, "वह तो बुर्जुआ था। हम मायाकोव्स्की की रचनाएँ पढ़ते हैं।"

लेनिन मुस्करा दिये। उन्होंने कहा—

"मैं सोचता हूँ पुश्किन बेहतर लेखक है।"

पुश्किन बुर्जुआ थे, और टाल्सटाय काउण्ट थे, इसलिए उनकी रचनाएँ अच्छी नहीं हो सकतीं, इस प्रकार की संकीर्ण दृष्टि का लेनिन ने सदा विरोध किया। उनके विचार में टाल्सटाय की कलम में जादू था और उन्हें वह विश्व के महान् लेखकों में मानते थे।

इसी दृष्टि के अनुरूप ही १९१८ में, अनेक ऐसी विज्ञप्तियाँ जारी की गईं जिनके अनुसार कला की सभी प्राचीन कृतियाँ, जिनमें रूसी और पश्चिमी यूरोप की चित्र-कला के नमूने, मास्को, लेनिनग्राद और अन्य स्थानों में रजिस्टर करके सुरक्षित किये गये। मास्को की एक बहुत बड़ी चित्र-प्रदर्शनी त्रेत्याकोव आर्ट गैलरी का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

यह तो रही उनके व्यापक, उदार और सन्तुलित दृष्टि-कोण की बात।

कला और साहित्य की महान् कृतियों के प्रति उनके दिल में गहरा आदर-भाव था। महान् लेखकों और कवियों की रचनाओं पर वह विस्मित और अभिभूत हो जाते थे।

लुनाकार्स्की ने अपने संस्मरणों में एक जगह लिखा है :

"१९०५ में, पहली क्रान्ति के दिनों में लेनिन एक रात लेश्शेंकों के घर पर रहे, लेश्शेंकों के पास विश्व के महान् लेखकों की रचनाओं का एक सेट रखा था। दूसरे दिन सुबह लेनिन ने मुझसे कहा, 'कला के इतिहास में कितना आकर्षण है। मैं रात भर नहीं सो पाया, एक के बाद एक किताब देखता रहा। और मुझे इस बात का अफसोस हुआ कि कला के लिए मैं न तो कभी समय निकाल पाया हूँ और न निकाल पाऊँगा'।"

उनका यही भाव चित्रकला के प्रति भी था और संगीत के प्रति भी। गोर्की ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक शाम येकातरीना पेश्कोवा के घर पर लेनिन बीथोवन का संगीत सुनते रहे। संगीत सुनने पर वह बोले :

"Appassionata से भी कोई अधिक सुन्दर रचना हो सकती है मैं नहीं जानता। मैं इसे हर रोज सुन सकता हूँ। कितना विस्मयकारी, मानवेतर संगीत है यह। मैं बड़े गर्व से कभी-कभी सोचता हूँ जो शायद बचकाना जान पड़े, देखो तो लोग कैसे-कैसे चमत्कार कर दिखाते हैं।"

कला के लिए उनके दिल में तीव्र उत्सुकता और विस्मय का-सा भाव पाया जाता था।

लेनिन बड़े सुशिक्षित व्यक्ति थे, अनेक भाषाएँ जानते थे, लेखकों के साथ—विशेषकर अपने देश में गोर्की के साथ—उनका गहरा सम्पर्क रहा, और साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। लेनिन की पत्नी का कहना है कि जब कभी गोर्की उनसे किसी नये लेखक की चर्चा करते, लेनिन फौरन उसकी पुस्तकें मँगवाकर पढ़ते। जब भी उन्हें मौका मिलता वह खूब पढ़ते, भले ही वह मास्को में रह रहे हों या साइबेरिया में निर्वासन का दण्ड भोग रहे हों, या पेरिस, लन्दन अथवा जेनेवा में अपने प्रवास के दिन काट रहे हों। टाल्सटाय की रचनाओं पर उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। लड़कपन से ही उन्होंने तुर्गनेव, चेर्निशोव्स्की, लेरमेन्तोव, पुश्किन आदि की रचनाएँ पढ़ डाली थीं। चेर्निशोव्स्की के उपन्यास 'क्या करें ?' का उन पर गहरा असर हुआ था, और इस उपन्यास को उन्होंने बार-बार पढ़ा।

टाल्सटाय की महान् कृतियों से भी वह बहुत प्रभावित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए। उनकी पत्नी के संस्मरणों से हमें पता चलता है कि मृत्यु के कुछ ही दिन पहले वह अपनी पत्नी से जैक लण्डन की की कहानी 'जीवन-प्रेम' पढ़कर सुनाने का आग्रह करते रहे थे, और अपनी बीमारी के दौरान गोर्की की रचना 'मेरे विश्वविद्यालय' सुनते रहे थे।

लेनिन किस प्रकार का साहित्य पसन्द करते थे? एक शब्द में कहें तो उन्हें ऐसा साहित्य पसन्द था जो यथार्थ का चित्रण करे। जो जीवन से जुड़ा हो, जिसमें अपने काल में पाये जानेवाले मूल अन्तर्विरोधों की पकड़ हो। इसी कारण उन्हें चेर्निशोव्स्की का उपन्यास पसन्द था क्योंकि उसने समाज की उन प्रवृत्तियों को देख लिया था जो १८६१ के कृषि-सुधारों के बाद रूस में पैदा होने लगी थीं। टाल्सटाय की महानता उनकी नज़र में इस बात में थी कि उन्होंने १६१ से लेकर १६०५ तक के काल में, अर्थात् भूदास प्रथा केखात्मे से लेकर पहली रूसी क्रान्ति तक के जीवन का सजीव, यथार्थ, कलात्मक और शक्तिशाली चित्रण किया है। यह वह काल था जब रूस में भूदास प्रथा की समाप्ति के कारण ग्राम-व्यवस्था की पुरानी नींवें टूट गई थीं और नई व्यवस्था का रूप प्रकट नहीं हो पाया था, और किसान का जीवन सुधरने के बजाय और अधिक निःसहाय और दुःखी हो उठा था।

टाल्सटाय के सम्बन्ध में अपने एक लेख में लेनिन ने लिखा :

"रूस के ग्रामीण जीवन के बारे में टाल्सटाय का ज्ञान अद्वितीय था···अपनी कलापूर्ण कृतियों में उन्होंने इस जीवन की ऐसी तस्वीर खींची है जो विश्व-साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियों में से है। टाल्सटाय रूस के सबसे ऊँचे, सम्भ्रान्त परिवारों में से थे। उन्होंने इस परिवेश की परम्परागत मान्यताओं से अपना नाता तोड़ लिया और अपनी बाद की कृतियों में समकालीन राज्य-सत्ता, धर्म-संस्थान, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की कड़ी आलोचना की जो जनता की गुलामी पर आधारित थे, उत्पीड़न और पाखण्ड पर खड़े थे।"

"टाल्सटाय द्वारा की गई आलोचना", लेनिन लिखते हैं, "कोई नई आलोचना नहीं थी···टाल्सटाय की आलोचना की विशिष्टता और उसका ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस काल के रूस, यानी ग्रामीण रूस, किसानों के रूस—के विशाल जन-समुदायों के विचारों में होनेवाले आमूल परिवर्तन को ऐसे शक्तिशाली ढंग से आँका है जैसा कि विरल प्रतिभा वाले कलाकार ही आँक सकते हैं।"

लेनिन ने टाल्सटाय की महानता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा—किसान-जीवन के उनके गहरे ज्ञान में, किसानों के प्रति उनके दर्द में और उनकी प्रचण्ड कलात्मक शक्ति में। लेनिन की नज़र में उनकी महानता इस बात में थी कि टाल्सटाय अपने सम्भ्रान्त परिवार और वर्ग की परम्पराओं से नाता तोड़कर, गरीब जनता, गरीब किसानों की दुनिया में जाकर विचरने लगे थे और हर प्रकार के पाखण्ड और जुल्म का विरोध करने लगे थे। उनकी महानता उनकी गहरी मानवीयता तथा सृजनशक्ति में निहित थी।

जहाँ लेनिन एक लेखक से इस बात की आशा करते थे कि वह समाज से जुड़ा हो, समाज में होने वाले परिवर्तनों को देखता हो, वहाँ उन्होंने रचनात्मक क्षेत्र में किसी संकीर्णवाद या सिद्धान्त के अनुरूप लिखने की माँग नहीं की।

"प्रत्येक कलाकार का," उन्होंने एक जगह लिखा, "प्रत्येक ऐसे व्यक्ति का जो अपने को कलाकार मानता है, यह अधिकार है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने विचारों-आदर्शों के अनुरूप, सभी बातों से स्वतन्त्र रहते हुए अपनी रचनाएँ रचे।"

याद रहे, जहाँ लेनिन टाल्सटाय की कला के प्रशंसक थे, वहाँ वह टाल्सटाय की आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं के कटु आलोचक भी थे। उन्होंने टाल्सटाय की कृतियों को मात्र उनके अध्यात्मवाद के आधार पर नहीं आँका था, ऐसा करते तो टाल्सटाय को प्रतिक्रियावादी ठहराकर उनकी रचनाओं को रद्दी की टोकरी में फेंक देते। जहाँ उन्होंने टाल्सटाय के दर्शन की कड़ी आलोचना की है, वहाँ उन्होंने टाल्सटाय के साहित्य को विश्व-साहित्य की उज्ज्वल उपलब्धि भी माना है। बल्कि एक जगह पर तो उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि समाजवादी क्रान्ति इसलिए जरूरी है कि लोग साक्षर होकर टाल्सटाय की महान् कृतियाँ पढ़ सकेंगे।

उन्हें नारेबाजी वाला साहित्य पसन्द नहीं था, उन्होंने साहित्य से नारेबाज़ी की माँग नहीं की, उत्कृष्ट कलात्मक गुणों की माँग की है।

लेनिन साहित्य में यथार्थ चित्रण को साहित्य का उत्कृष्ट गुण मानते थे। पर साथ ही वह यथार्थ चित्रण और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक दृष्टिकोण का समन्वय चाहते थे। लेनिन की पत्नी नदेज्दा क्रुप्स्काया ने एक जगह लिखा है :

"लेनिन कथा-साहित्य पढ़ते थे, इसमें उन्हें रस मिलता था। लेकिन उनके पढ़ने में एक बात थी, उनकी नज़र में लेखक की सामाजिक दृष्टि और यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति मिलकर एक हो जाती थी। वह उन्हें अलग-अलग नहीं कर पाते थे, और जिस भाँति चेर्निशेव्स्की अपने उपन्यासों में बड़े ब्यौरे के साथ अपने विचार व्यक्त करने के आदी थे, वैसे ही लेनिन को भी वे पुस्तकें पसन्द थीं जो सजीव ढंग से सामाजिक विचारों को व्यक्त करती थीं। वह अपने पढ़ने के लिए उपन्यास स्वयं चुनते थे..."

एक क्रान्तिकारी के नाते लेनिन को वह साहित्य पसन्द था जिसमें जीवन के प्रति निष्ठा पाई जाये, जो मनुष्य को ऊँचा उठाये, जो उसे सतत संघर्ष की प्रेरणा दे। व्यंग्यात्मक साहित्य की तुलना में उन्हें वीरतापूर्ण साहित्य अधिक पसन्द था।

लेनिन ने लेखक के लिए जनता के बीच रहना परमाश्यक माना है। जनता से सम्पर्क को वह ऐसी लौ मानते थे जो लेखक का पथ प्रशस्त करती है। वह लेखक से जनता के साथ रागात्मक सम्बन्ध की अपेक्षा करते थे। गोर्की जब इटली से लौटे तो लेनिन ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उनकी नजर में जनता के लेखक के लिए अपने वतन की हवा में साँस लेना, अपने दिल की प्रत्येक धड़कन से अपने देश के जीवन को महसूस करना, अपनी आँखों से उसकी गतिविधि को देखना बहुत जरूरी था। लेखक का जीवन से गहरा सम्पर्क बना रहे, लेनिन लेखक से इस बात की अपेक्षा करते थे।

गोर्की के साथ एक बार नहीं, अनेक बार उनका राजनीतिक स्तर पर मतभेद हुआ, लेकिन कहीं भी उन्होंने गोर्की से यह नहीं कहा कि तुम ऐसा नहीं लिखो, ऐसा लिखो। अगर कुछ कहा है तो यह कि जनता के बीच रहो, उन भाग्यवादी बुद्धिजीवियों के बीच न रहो जिन्हें चारों ओर निराशा-ही-निराशा, अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आता है। "मैं सच कहता हूँ," उन्होंने अपने एक पत्र में गोर्की को लिखा, "अगर इन बुद्धिजीवियों के घुटनभरे परिवेश से अपने को आजाद नहीं करोगे तो तुम तबाह हो जाओगे... मैं तुम पर कोई नसीहत लादना नहीं चाहता, लेकिन मैं इतना जरूर कहूँगा, अपना परिवेश बदलो, अपने रहन-सहन की स्थिति बदलो...वरना जीवन से तुम्हें सदा के लिए घृणा होने लगेगी।"

टालसटाय के दर्शन की चर्चा करते हुए लेनिन ने एक जगह लिखा :

"निराशावाद, बुराई की मूक स्वीकृति, अध्यात्मवाद ऐसी विचारधारा के अंग हैं जो ऐसे युग में अनिवार्य हो जाती है जब समस्त पुरानी पद्धति ऊपर से नीचे तक टूट रही हो, और जनता, जिसने माँ के दूध के साथ पुरानी पद्धति के सिद्धान्तों को अंगीकार किया होता है, यह देख नहीं पाती कि किस प्रकार की नयी पद्धति जन्म ले रही है और कौन-सी सामाजिक शक्तियाँ उसे रूप दे रही हैं।"

यह अत्यधिक दुःख और क्लेश का काल होता है। पर लेनिन लेखक से इस बात की अपेक्षा करते थे कि वह समाज में होने वाले संघर्ष को पहचाने, सामाजिक शक्तियों के संघर्ष की पृष्ठभूमि में जीवन के बदलते परिवेश को देखे और समझे।

कला और साहित्य के प्रति लेनिन का रवैया एक आलोचक का रवैया कभी नहीं रहा। अपनी पसन्द और नापसन्द के आधार पर उन्होंने सौन्दर्यबोध के सिद्धान्त नहीं गढ़े। उन्होंने कहीं नहीं कहा कि यदि अमुक रचना पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार करती है तभी उसे सच्चे साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने किसी पर अपना मत लादने की कोशिश नहीं की। बल्कि कला और साहित्य के प्रति उनके रवैये में अत्यधिक विनम्रता पायी जाती थी।

रूस में उन दिनों भी साहित्य और कला के कुछ क्षेत्रों में नवीनता की वाहवाही थी। भविष्यवाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद आदि का बोलबाला था। लेनिन अपने विनम्र स्वभाव के अनुरूप इनके बारे में अपना मत प्रकट करने में झिझकते थे। एक बार जब लेनिनग्राद और मास्को में एक प्रदर्शन के लिए महान् क्रान्तिकारियों की प्रतिमाएँ खड़ी करने का विचार किया गया और एक मूर्तिकार ने उस काल की आधुनिक शैली में एक क्रान्तिकारी का बुत बनाया तो लेनिन झेंप गये, पर उन्होंने अपना कोई मत व्यक्त नहीं किया। "मैं इस कला को नहीं समझ पाता हूँ", उन्होंने कहा। इसी प्रकार मायाकोव्स्की की कविता उन्हें पसन्द नहीं थी। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

उनमें बिखराव, असम्बद्धता आदि दोष नज़र आते थे। लेकिन उन्होंने यह भी महसूस किया कि नयी पीढ़ी को मायाकोव्स्की की कविता इसलिए पसन्द है कि भावनाओं की जिस बेचैनी, उत्तेजना को वे व्यक्त करना चाहते हैं, उसके लिए उन्हें समकालीन भाषा में उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। मायाकोव्स्की की गूढ़, उत्तेजित, असम्बद्ध भाषा में उन्हें उन भावों की झलक मिलती है, इसलिए वह उससे सन्तुष्ट हैं। इस कारण अपनी अभिरुचि के आधार पर उन्होंने मायाकोव्स्की की कविता का मूल्यांकन करना छोड़ दिया। वह इतना भर कहते थे कि यह कविता मुझे छू नहीं पाती, मुझे इसमें रस नहीं मिलता।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, एक बात के बारे में उनका ज़ेहन साफ था। वह नवीनता को महज़ नवीनता के नाते कबूल करने के लिए तैयार नहीं थे। नवीनता को आधार मानकर पुराने उत्कृष्ट साहित्य को नकारना उन्हें मंजूर न था। क्लारा ज़ेटकिन के साथ अपनी बातचीत में उन्होंने कहा :

"चित्रकला में हम जरूरत से ज्यादा बुतशिकन बन रहे हैं। जो सुन्दर है, उसे सुरक्षित रखना होगा, भले ही वह 'पुराना' हो, और यहीं पर विभाजन रेखा भी खींचनी होगी। जो सचमुच सुन्दर है उसके प्रति हम पीठ क्यों मोड़ लें, और उसे रद्द क्यों कर दें, महज़ इसलिए कि वह पुराना है, और इस तरह विकास के लिए नये और पुराने को आधार रेखा मान लें? नवीनता को देवता मानकर हम उसके सामने सिर नवाने लगें, केवल इसलिए कि वह नया है? यह बकवास है, बिल्कुल बकवास है। इसमें बहुत-कुछ कोरा पाखण्ड है और बेशक, अचेतन रूप में कला के उन फैशनों का दम भरना है जिनका पश्चिम में बोलबोला है। हम अच्छे क्रान्तिकारी हैं, पर, न जाने क्यों, हम यह साबित करने के लिए भी ललकते रहते हैं कि हम आधुनिक संस्कृति में भी आगे चलने वालों की सफ़ में हैं। मैं तो बेझिझक कहूँगा कि इस मामले में मैं 'बर्बर' हूँ। मैं भविष्यवाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद और अन्य वादों को कलात्मक प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानने में असमर्थ हूँ। मैं उन्हें नहीं समझ पाता। मुझे उनसे कोई रस नहीं मिलता।"

"लेकिन"—और उनका यह विचार महत्त्वपूर्ण है, "कला के सम्बन्ध में हमारा मत सर्वोपरि महत्त्व नहीं रखता। और इसका भी बहुत महत्त्व नहीं कि करोड़ों की जनसंख्या में कुछेक सौ या हज़ार व्यक्तियों के लिए कला का क्या महत्व है। कला जनता की मिल्कीयत है। उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के भीतर गहरे में बोनी होंगी। इन विशाल जन-समुदायों की समझ में इसे आना चाहिए। उनकी भावनाओं को, उनके विचारों, उनकी संकल्प-शक्ति को, एकबद्ध करना, उन्हें ऊँचा उठाना, इसका काम है। इसका कर्त्तव्य है कि वह उनमें पायी जाने वाली कला-प्रवृत्तियों को स्फूर्ति दे, उनका विकास करे। छोटे-से अल्पमत को तो हम बढ़िया केक खिलाते रहें जबकि मज़दूरों और किसानों की विशाल जनसंख्या को काली रोटी भी न मिले, यह कहाँ की दानिशमन्दी है?" ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय साहित्य में लेनिन

ई० चेलीशेव

पूर्व के जनगण के जागरण में व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने बड़ी भूमिका अदा की। वे उपनिवेशों के साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को पूंजीवादी जूए के खिलाफ मेहनतकश वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। वे हमेशा इस पर ज़ोर देते रहे कि पश्चिम में मेहनतकशों के क्रान्तिकारी आन्दोलन और पूर्व के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अन्योन्याश्रय रूप से एक-दूसरे के पूरक हैं और यह कि एक ही शक्तिशाली प्रवाह के रूप में वे दमन और शोषण का संसार सदैव के लिए नष्ट कर देंगे। पूर्व के जनगण के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में उन्होंने कहा था, "समूची पश्चिमी सभ्यताओं का भाग्य-विधान अधिकाधिक रूप में अब, राजनैतिक जीवन में पूर्व की मेहनतकश जनता के सहयोग पर निर्भर करता है।"

प्राच्य देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के अनेक नेताओं पर लेनिन का व्यापक प्रभाव पड़ा। वे उनके विचारों की भूमिका की उच्च प्रशंसा करते थे, जो उनके देशों के जनगण के जीवन में तथा मानवता के इतिहास में अदा कर रहे थे।

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के महान् नेता महात्मा गांधी ने लिखा था, "लेनिन जैसी महान् आत्मा के त्याग से तपीभूत आदर्श व्यर्थ नहीं जा सकते, उनके त्याग के पुनीत उदाहरण सदा-सदा के लिए आलोकित रहेंगे और समय व्यतीत होने के साथ-साथ आदर्श को उज्ज्वल और शुद्ध करेंगे।"

जवाहरलाल नेहरू ने बल देकर कहा था, "लेनिन न केवल स्वदेश रूस में ही शक्तिशाली परम्परा बन गए हैं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में उन्होंने यह स्थान ग्रहण कर लिया है। समय बीतने के साथ वह महानतर होते जाते हैं, वह विश्व के स्पृहणीय अमर व्यक्तियों में हो गए हैं···वह स्मारकों अथवा चित्रों में जीवित नहीं बल्कि अपने विशाल कार्य में और करोड़ों मेहनतकशों के हृदयों में जीवित हैं, जो उनके उदाहरण से प्रेरणा लेते हैं और बेहतर दिन की आशा करते हैं।"

सबको लेनिन के उस महान् ध्यान की बाबत जानकारी है जो उन्होंने भारतीय जनता के राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलन की ओर दिया। एक मेधावी की दिव्य दृष्टि की तरह उन्होंने उपनिवेशी दासता के जुए से भारतीय जनता की अवश्यम्भावी मुक्ति की भविष्यवाणी की। १६०८ में ही वी० आई० लेनिन ने (बालगंगाधर तिलक पर झूठा मुकदमा बनाने वाले उपनिवेशी अधिकारियों की निरंकुशता के प्रति क्रुद्ध बम्बई के सर्वहारा वर्ग की आम हड़ताल के सिलसिले में) अपने लेख 'विश्व राजनीति में ज्वलनशील सामग्री' में लिखा : "भारत में भी सर्वहारा जागृत राजनैतिक आम संघर्ष के लिए विकसित हो चुका है और ऐसी स्थिति में रूसी ढंग के इस बर्तानवी शासन का अन्त भारत में निश्चितप्राय है।"

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के नेतागण रूस की मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष से, लेनिन के नेतृत्व में होने वाले संघर्ष से प्रेरणा ग्रहण करते थे। न तो युवा सोवियत राज्य से भारत को विलग करने वाली उच्च पर्वत श्रेणियाँ और न ही उपनिवेशवादियों की जंजीरें, जेलें, और न ही पूंजीवादी कलमनवीसों की चालाकीभरी मनगढ़न्तें, जो रूस में मेहनतकश जनता की महान जीत को बदनाम करने अथवा उस पर पर्दा डालने की कोशिश कर रही थीं, अक्तूबर क्रान्ति और उसके नेता के बारे में सच्चाई को छिपा नहीं सकीं।

उपनिवेशी प्रतिबन्ध की सभी बाधाओं के बावजूद पत्र-पत्रिकाओं में विशेषकर भारत के उन हिस्सों में, जहाँ मुक्ति संघर्ष १६१७ के अन्त में खासतौर पर तेज था, रूस की क्रान्तिकारी घटनाओं के बारे में लेख व समाचार प्रकाशित होते थे। इनके लेखक आमतौर पर भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले होते थे।

क्रान्तिकारी मेहनतकश आन्दोलन के एक बड़े केन्द्र, बम्बई में सुप्रसिद्ध पत्रकार और बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी के० पी० खाडिलकर ने १९१७ के दिसम्बर में एक लेख 'चित्रमय जगत' के प्रथम अंक में लिखा था, जो अक्तूबर क्रान्ति के बाद प्रकाशित हुआ था। इस लेख में उन्होंने रूस में समाजवादी क्रान्ति और इसके नेता लेनिन के बारे में साधारण भाषा में और व्यापक रूप से वर्णन प्रस्तुत किया था। उन्होंने लेनिन की उन गतिविधियों पर जोर देने की चेष्टा की जो भारत की साधारण जनता की भावनाओं के अनुरूप थीं और जो राजनैतिक और सामाजिक मुक्ति के लिए बेताब थीं। उन्होंने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार सम्बन्धी लेनिन की डिक्री की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया। "यह मानने के लिए थोड़ी-सी ही कल्पना की आवश्यकता है कि भारतीयों के हृदय कितने रोमांचित हो उठे होंगे···जब उन्हें उस सोवियत डिक्री के बारे में ज्ञात हुआ होगा, जिसमें जारशाही शासन के अधीन जातियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी," ऐसा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रख्यात नेता श्रीनिवास गणेश सरदेसाई ने आगे चलकर लिखा था।

२९ जनवरी १९१८ को 'केसरी' में, जिसके सम्पादक तिलक थे, एक सम्पादकीय प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था: 'रूसी नेता लेनिन के बारे में' और इसमें तिलक ने पूंजीवादी समाचारपत्रों की रूसी मेहनतकश जनता के नेता के बारे में सभी तरह की गलतबयानियों तथा दुर्भावनाओं को बेनकाब किया था। उन्होंने लेनिन के निःस्वार्थ जीवन और कार्यों का वर्णन किया था।

अक्तूबर १९२१ में फणि भूषण घोष ने बंगला भाषा में वी० आई० लेनिन का संक्षिप्त जीवन-चरित्र प्रकाशित किया और उसमें उन्होंने लिखा कि वी० आई० लेनिन का मुख्य लक्ष्य, महात्मा गांधी की नाईं ही, सभी प्रकार के दमन को समाप्त करने की कामना तथा साधारण जनता को गरीबी और निरंकुशता से मुक्त करना था। उन्होंने लिखा :

"लेनिन के अनुसार समाज की उस दुर्दशा का कारण यह है कि उत्पादन के समस्त साधन तथा सारी जमीन केवल ज़मींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में है।"

सचिन सान्याल ने लेनिन के जीवन और कृतित्व के बारे में जो लेखमाला लिखी उसका भी उल्लेख करना प्रासंगिक रहेगा। ये लेख मार्च १९२१ से दो वर्ष तक प्रगतिशील पत्रिका 'संख्या' में प्रकाशित होते रहे और फल-स्वरूप इन लेखों के लेखक को बाद में गिरफ्तार किया गया और मुकदमा चलाया गया।

एक बंगाल-निवासी सज्जन अमूल्य अधिकारी ने १९२३ में लिखा :

"लेनिन मज़दूरों के मित्र थे। हर व्यक्ति उन्हें जानता था और मज़दूर लेनिन को अपने शिक्षक के रूप में मानता था। बोल्शेविक पूर्णतः साम्राज्यवाद-विरोधी है, इसीलिए अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और अन्य लोगों ने नये राज्य को कुचलने का प्रयास किया। परन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक आज विश्व के सम्मुख विजयी खड़े हैं। पूंजीवादी भयभीत हो गए हैं और खरगोशों की भाँति भाग रहे हैं। समस्त विश्व की उत्पीड़ित जनता मुक्ति के लिए लेनिन की प्रतिभा और बोल्शेविकों से प्रेरणा प्राप्त करती है।

लेनिन के नाम, उनके विचारों तथा नवजीवन के निर्माण में सोवियत जनता की उपलब्धियों को भारत में लोकप्रिय बनाने में नेहरूजी का बड़ा हाथ था। इस महान् भारतीय राजनेता ने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वाधीन रूस की जनता लेनिन से कितना प्यार करती थी और १९२७ में अपनी सोवियत संघ की यात्रा में उन्होंने उस भावना को स्वयं देखा था, "भारत में उन्हें निश्चय ही कोई संत-महात्मा मान लिया जाता, लेकिन सोवियत लोगों में संत बहुत लोकप्रिय नहीं हैं और सोवियत जनता ने उन्हें अपनों में से एक मानकर जिस तरह प्यार दिया है, वह सबसे बड़ा सम्मान है। उनमें से हरेक के लिए वह भाई व साथी के समान थे। वह उन्हें जानते थे, उनके लिए मेहनत करते थे और लोग मुसीबत के वक्त उनके पास आ सकते थे।"

भारत में लेनिन की मृत्यु का समाचार राष्ट्रीय शोक लेकर आया। 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' में छपे शोक संदेश के एक भाग में कहा गया था, "मानवता का एक सदाशयी मित्र अब हमारे बीच नहीं रहा। वह उन उच्चाशय लोगों में से थे जो उसके लिए अपना सब-कुछ—अपनी ज़िन्दगी तक दाँव पर लगा देते हैं। हम एक परतन्त्र पूर्वी देश के निवासी हैं लेकिन हमारी आँखों में भी उनकी मृत्यु से आँसू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

उमड़ आए हैं।"

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशव्यापी राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्ष छिड़ जाने पर भारत में लेनिन के विचार और दूर-दूर तक फैले तथा क्रान्तिकारी विचारधारा वाले भारतीयों के मन की गहराइयों तक पैठ गए।

१६२५ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के साथ क्रान्तिकारी विचारधारा के भारतीयों के लिए लेनिन के विचार बाकायदा पथ-प्रदर्शक बन गए।

दुनिया में लेनिन के विचारों की दिगंतव्यापी प्रगति तथा संसार के पहले समाजवादी देश में उसके सफल कार्यान्वयन ने भारतीय स्वाधीनता सेनानियों को प्रेरणा दी। जब लेनिन की भविष्यवाणी सत्य हुई और उपनिवेशी उत्पीड़न की बेड़ियाँ कट गयीं—भारत स्वाधीन विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। नव जीवन के प्रकाश की आकांक्षा रखने वाले करोड़ों लोगों के लिए लेनिन का नाम पथप्रदर्शक प्रकाश-स्तम्भ बन गया।

भारत में लेनिन के नाम पर अनेकानेक कविताएँ रची गयी हैं। अक्तूबर क्रान्ति के बारे में भारत में पहुँचने वाले पहले समाचारों का ही भारतीय कवियों ने महत् स्वागत किया। हिमालय के उस पार दूर देश में होने वाली क्रान्ति का अर्थ पूरी तरह से न समझ पाने पर भी देश के विभिन्न भागों में बसने वाले अनेक भारतीय कवियों ने जन-क्रान्ति की जीत पर अपार हर्ष व्यक्त किया। उन्होंने इस क्रान्ति को एक पवित्रता लाने वाला तूफान बताया—एक ऐसा तूफान जिसने विश्व को हिलाकर रख दिया और हिंसा तथा पाप की पुरानी दुनिया को नेस्तनाबूद कर दिया। उन्होंने लेनिन के व्यक्तित्व को क्रान्ति का साकार रूप माना, कई बार उन्होंने लेनिन में अतिमानवीय गुणों का आरोप करते हुए उनकी तुलना उन पौराणिक वीरों से की जिन्होंने कि धरती पर पाप के साम्राज्य को नष्ट करके मानवता को दुःख और कष्टों से छुटकारा दिलाया।

लेनिन के व्यक्तित्व की ओर अभिमुख होने वाले भारतीय कवियों में मुहम्मद इकबाल सर्वप्रथम थे। लेनिन पर अपनी प्रसिद्ध कविता उन्होंने १६२० के आसपास लिखी।

इस कविता में लेनिन को जनता का मसीहा बताया गया है। इससे पता चलता है कि मार्क्सवाद से दूर एक भारतीय कवि किस तरह लेनिन के व्यक्तित्व के साथ अपने सपनों और आशाओं को बाँधे हुए है।

भारत में रोमानी क्रान्तिकारी कविता के युग में लेनिन के व्यक्तित्व का चित्रण रोमानी रंग में किया गया है। उन्हें क्रान्ति के सपनों की यथार्थ में परिणति का कवित्वमय साकार रूप माना गया है। धीरे-धीरे भारत में राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता आन्दोलन छिड़ जाने पर और साम्यवाद की वैज्ञानिक विचारधारा के प्रचार तथा जनता में वर्गचेतना एवं राजनीतिक चेतना उभर आने के बाद भारतीय कवि लेनिन के व्यक्तित्व को अधिक गहराई से समझने लगे। अब वह उनके लिए एक महान् क्रान्ति के नेता ही नहीं बल्कि संसार में कामगरों के पहले राष्ट्र के प्रवर्तक एवं उस अमर शिक्षा के रचयिता भी हैं जिसने संसार भर के श्रमिक वर्ग को धरती पर परिश्रम करने वाले साधारण जनों की खुशहाली के लिए संघर्ष करने का स्पष्ट मार्ग दिखाया। लेनिन का नाम अक्सर एक उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न के साथ ही नहीं बल्कि स्वप्न को साकार करने के लिए जारी अपने अधिकारों की माँग एवं श्रमिक वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष के साथ भी जोड़ा जाता है।

लेनिन की महानता तथा उनके अमर विचारों को कला में उतारने की आकांक्षा अनेक भारतीय कवियों के काव्य में प्रस्फुटित हुई है जिन्होंने विभिन्न काव्यात्मक बिम्बों एवं उपमाओं के साथ अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के लिए बंगाल के प्रख्यात कवि विष्णु दे लेनिन को करोड़ों लोगों का अमर-नेत्र कहकर पुकारते हैं या फिर उनकी तुलना संसार में सबसे ऊँची हिमालय की चोटी से करते हैं। मराठी के एक क्रान्तिकारी कवि अन्नाभाऊ साठे लेनिन की शिक्षाओं की तुलना प्रेरणा के तीव्रगामी रथ से करते हुए उसे पीड़ित जनता का अजेय पथप्रदर्शक तारा बताते हैं। हिन्दी के कवि भगेरिया लेनिन को एक दुर्धर्ष योद्धा और नवप्रभात का सूर्य बताते हैं।

अनेक कवियों ने लेनिन के यश को परम्परागत स्तुतियों, स्तोत्रों और कसीदों के रूप में गाया है। १६५० के आसपास लिखी गयी विमलचन्द्र घोष की एक कविता इसका उदाहरण है। इसका शीर्षक है—उनका नाम युगों को प्रकाशित करता है:

"आज एक ऐसे संत और विचारक का जन्मदिन है, जिसने मूक पीड़ा को प्रबल क्रान्ति में बदल दिया, जिसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँसू और दुःख से पूर्ण मानव-समुद्र में तूफान ला दिया, जिसने मानवता को एक दुर्लभ और बहुमूल्य भेंट दी— शान्ति का एक स्वर्णिम पात्र एवं अनन्त प्रसन्नता…जिसने धरती पर गर्व से बनायी एक महान् और प्रकाशवान वेदी भ्रातृत्व, एकता और स्वाधीनता की…जिस ने एक देश बनाया जहाँ प्रकाश ने अन्धकार को हरा दिया, शान्ति और प्रसन्नता से भरा-पूरा एक देश।…आज का दिन परम श्रद्धा का दिन है। वह प्रतीक्षारत हृदयों को मृदुल आशाओं से भर देता है, पीड़ित व्यक्ति के लिए उल्लास और प्रेम। जिसने भोगा है! दुख, पीड़ा, युद्ध की विभीषिका, रक्तपात! आज एक ऐसे व्यक्ति का जन्मदिन है जिसका गरिमामय और पूजनीय नाम बीते युगों को प्रकाशित कर रहा है, क्रान्ति का एक प्रतीक, प्रेम, सुन्दरता और अतुलनीय साहस का नाम है लेनिन !"

लेनिन के विचारों को ज्यादा सुबोध और स्पष्ट बनाने के लिए भारत के प्रगतिशील कवियों ने लोकगीतों का सहारा लिया है। उदाहरण के लिए प्रगतिशील लेखक सज्जाद जहीर और तमिल कवि वी० जीवा नंदम ने इस तरह के लोकप्रिय गीत लिखे हैं।

लेनिन के विषय में इस तरह की अनेक कविताओं को लोकगीतों में ढाला गया है ताकि उन्हें जतता की रचना समझा जाए।

लेनिन विषयक ये रचनाएँ भारत के जनसाधारण को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देती रही हैं, उन्हें अपना संगठन मजबूत करने में सहायता देती रही हैं और जीत में आस्था बाँधकर उन्हें शक्ति प्रदान करती रही हैं।

१९३०-४० के बीच भारतीय कवियों द्वारा लिखे गए गीत और कविताएँ जनसाधारण के लिए 'झंडे और बम' का काम करती रहीं। उनका घोष सारे देश में सुनाई देता था। उनके प्रणेता जनहित के लिए संघर्ष करने वाले निर्भय योद्धा थे। इस संदर्भ में बम्बई के एक साम्यवादी कवि एवं भारत-रूस मैत्री परिषद् के सचिव शशि मोहन बकाईया की गाथा उल्लेखनीय है। उन्होंने डॉक्टर के आदेश की अवहेलना करते हुए प्रतिक्रियावादियों के भड़काये हिन्दू-मुस्लिम दंगों के शिकार व्यक्तियों की प्राण-रक्षा के लिए रक्तदान दिया और १९४६ में २५ साल की उम्र में मर गए। १९४२ में लिखी उनकी कविता 'लेनिन' एक लोकप्रिय गीत बन गयी जो मजदूरों की सभाओं और प्रदर्शनों के दौरान सुनने में आती थी। तीव्र वर्ग-संघर्ष में भाग लेने वाले बम्बई के सर्वहारा वर्ग ने १९४० में अपने पोस्टरों में इस गीत की पंक्तियों को उद्धृत किया। गीत के अन्तिम शब्द थे :

हम कम्युनिस्ट हैं, हमारा नारा है
हड़ताल करो, आगे बढ़ो !
आज हम कसम खाते हैं :
लेनिन के झंडे तले
जीत के लिए आगे बढ़ेंगे !

"लेनिन" यह एक शब्द संसार भर के करोड़ों शोषित लोगों के लिए उत्पीड़न और हिंसा से मुक्ति का प्रतीक बन गया है। अनेक भारतीय कवियों की रचनाओं में वह समाजवादी-क्रान्ति की धारणा से तद्रूप प्रतीत होता है। भारतीय कवियों ने लेनिन के व्यक्तित्व को पूर्व की जनता के स्वाधीनता संग्राम एवं साम्राज्यवाद तथा नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष के साथ एकाकार देखा है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय होगा कि संसार भर की सभी भाषाओं में लेनिन शब्द एक-सा प्रभावशाली प्रतीत होता है। लेनिन मानवता की निधि हैं और हर राष्ट्र उन्हें अपना एक अंग मानता है। इस विचार को हिन्दी के कवि एस० भगेरिया ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

लेनिन तुम रूसी हो केवल
हमारे नहीं हो क्या ?
सारे शोषित संघर्षों के
सितारे नहीं हो क्या ?

अपनी नज़्म 'लेनिन हमारे साथ हैं' में उर्दू के कवि नियाज़ हैदर घोषणा करते हैं कि पूर्व के सभी श्रमिक लेनिन के दोस्त हैं, लेनिन के बेटे हैं !

भारतीय कवियों ने नाज़ी जर्मनी को हराकर यूरोप के देशों को फासिस्टों से मुक्ति दिलाने वाले सोवियत नागरिकों के महान् कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वह इस महान् जीत का सम्बन्ध हमेशा लेनिन से जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए उर्दू के प्रसिद्ध कवि कैफी आजमी ने अपनी रचना 'शिकस्त का तराना' में १९४३ में लाल सेना की जीत का वर्णन करते हुए कहा है कि लेनिन की आवाज़ फासिस्टों का मुकाबला करने वाले लोगों को प्रेरणा देती थी।

उर्दू के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील शायर अली सरदार जाफरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने १९४५ में लिखी अपनी प्रतीकात्मक नज़्म 'जवाहरलाल और हिन्दुस्तान' में प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर जनतांत्रिक शक्तियों की जीत को अवश्यम्भावी बताया है। यहाँ भी लेनिन के व्यक्तित्व को क्रान्ति के साथ एकरूप देखा गया है।

उर्दू के इस क्रान्तिकारी कवि की वाणी की प्रतिध्वनि आन्ध्र के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि श्री श्री की रचनाओं में भी मिलती है। अपनी कविता, 'घनगरज, रूस' में, जो कि दूसरे महायुद्ध के दौरान लिखी गयी थी, कवि इस विचारधारा का प्रतिपादन करता है कि महान् अक्तूबर क्रान्ति की उपलब्धियों को कोई ताकत मिटा नहीं सकती और लेनिन की वाणी दिग्दिगंत में फैली हुई विजय का उद्घोष कर रही है।

सोवियत अन्तरिक्षयात्रियों की प्रशंसा में लिखी अपनी नज़्म 'ऊपर से देखा नज़ारा' में उर्दू के कवि नियाज़ हैदर विज्ञान की इस महान् उपलब्धि का सम्बन्ध लेनिन के नाम से जोड़ते हैं। विश्व के असीम विस्तार में उड़ते हुए अन्तरिक्ष-यात्रियों को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि उन पर जीवन का एक अक्षय स्रोत चमक रहा है—वह है लेनिन का पवित्र हृदय।

भारत के कवि जब भी साम्यवाद की स्थापना में सोवियत जनता की उपलब्धियों की चर्चा करते हैं और भारत तथा सोवियत संघ में बढ़ती मित्रता तथा सहयोग का स्वागत करते हैं तो वह बार-बार लेनिन और उनकी विरासत की चर्चा अवश्य करते हैं।

भारत के प्रगतिशील कवि भारत और सोवियत संघ में बढ़ते हुए सहयोग और मित्रता तथा लेनिन के अन्तर्राष्ट्रीयता-वाद में एक सीधा सम्बन्ध देखते हैं। अपने काव्य 'लोकायतन' (१९६४) में, जिसे कि १९६५ में जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार मिला, हिन्दी के मूर्धन्य आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भारत और सोवियत संघ की पवित्र मैत्री की प्रशंसा का राग छेड़ते हुए लेनिन के विचारों की महानता के लिए अपनी प्रशंसा व्यक्त की है :

मित्र भारत के सब भू देश,
रूस का उनमें अपना स्थान,
दलित भू जन को जिसने भव्य,
स्वप्न जीवन का दिया महान।
प्राप्त कर जन का निश्छल स्नेह,
सहज भारत के प्रति सम्मान
हुआ कवि का मन स्नेह कृतार्थ
हृदय का कर आदान-प्रदान।

लाल काले स्फटिकों का सौम्य
यहाँ लेनिन का स्तूप पवित्र
पारदर्शी वेष्टन में भव्य
सुरक्षित हाड़-मांस का चित्र।
लौह दृढ़ शिरा वज्र संकल्प
हृदय हो विगलित करुणा स्वर्ण
धरा पर विचरा नव युग दूत
दलित को करने मुक्त, सम्पन्न !

इस प्रकार लेनिन का नाम हमेशा के लिए भारतीय साहित्य का एक अंग बन गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य लेखक यशपाल के शब्दों में, "लेनिन की शिक्षा और उनकी याद भारत की जनता के उज्ज्वल भविष्य के लिए हमेशा पथ-प्रदर्शन करती रही है और आगे भी करती रहेगी।" ●

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता था

विश्वनाथ त्रिपाठी

मैं बड़े लोगों के ड्राइंग रूम में
अपनी नहीं, उनकी मनचाही पोशाक पहनकर
जाता हूँ,
वे मुझसे सीधे मुँह कहते हैं
'बैठो'
मेरी नसें उल्लसित हो जाती हैं
मैं बुलबुल हो जाता हूँ।

कितना असुविधापूर्ण है बड़े लोगों के ड्राइंग
रूम में
बुलबुल न होकर
आदमी का आदमी बने रह पाना !
और कितना भयावह है !
सुविधा की बेखतर ज़िन्दगी में
लेनिन की घुचघुची आँखों
और उनकी व्यंग-तरल मुस्कान का याद पड़
जाना !

मैं पाठकों और आलोचकों में करुणा जगाने के
लिए
घोषित करता हूँ कि
मैं अँधेरे में सूरज टटोल रहा हूँ
लेकिन लेनिन ! तुम जानते हो कि
शब्दों की आग से चिलम भरने वालों के हाथ
कभी नहीं जलते,
और सूरज वह उगाता है
जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता है।

तुम्हारे साथ एक आदमी और हुआ करता था,
पता नहीं कौन-कौन-सा उलियानोव।
तुमने ज़ारशाही को ध्वस्त किया
लेकिन क्या उसके मन में भी
राष्ट्रभूषण, राष्ट्ररत्न होने की इच्छा कभी नहीं
जगी !
शराब, कबाब, आक़बत के बारे में वह क्या
सोचता था ?
हमें तुम्हारे साथ उसकी भी बेअख्तियार याद
आ रही है
और यह ज़माना ही ऐसा है कि
हमें उसके और तुम्हारे सम्बन्धों को जानने
की सख़्त ज़रूरत महसूस हो रही है। •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम

: १ :

१३ फरवरी, १९०८

प्रिय ए० एम०

मेरे विचार से हमारे वैचारिक मतभेद के सम्बन्ध में तुमने जो प्रश्न उठाए हैं वे महज़ गलतफ़हमी पर आधारित हैं। यह निश्चित है कि मैंने कभी भी मूर्ख 'श्रमिक संघ-वादियों' (सिंडिकेलिस्ट्स) की भाँति बुद्धिजीवियों को पूरी तरह निकाल बाहर करने की बात नहीं सोची अथवा न ही मज़दूर आन्दोलन के लिए उनकी आवश्यकता से इनकार किया। इस सम्बन्ध में मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि इन प्रश्नों पर हमारे बीच कोई मतभेद नहीं हो सकता और क्योंकि अभी हमारा इकट्ठा होना असम्भव है, अतः हमें तुरन्त ही काम शुरू कर देना चाहिए। काम करने के दौरान सबसे अच्छी बात यह होगी कि हम हमसुखन हो सकेंगे।

सर्वहारा वर्ग के लिए छोटे-छोटे लेख लिखने की तुम्हारी योजना से मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई (इसका सन्देश तुम्हारे पास भेज दिया गया है)। यदि तुम किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर लिख रहे हों तो निस्सन्देह उसे बीच में मत छोड़ो।

मैं त्रात्स्की के बारे में पिछली बार ही जवाब देना चाहता था परन्तु भूल गया। हमने (प्रोलेतारी के सम्पादक-मंडल, ए० ए०[1], बोल्शेविक के अच्छे सहयोगी इनोक[2] तथा मैंने) तय किया था कि त्रात्स्की को सीधे प्रोलेतारी में बुलाया जाय। रूपरेखा के साथ विषय का सुझाव देते हुए हमने उसे एक पत्र लिखा था। आम राय के मुताबिक हमने यह पत्र 'प्रोलेतारी का सम्पादक मंडल' की ओर से भेजा ताकि विषय अधिक मज़बूती के साथ उसके सामने रखा जा सके (उदाहरणार्थ त्रात्स्की के साथ, जब वह मेन्शेविक था, सन् १९०३ से १९०५ के बीच व्यक्तिगत स्तर पर मेरा बाकायदा उग्र संघर्ष होता रहा)। मैं नहीं समझता कि उक्त पत्र में त्रात्स्की के लिए कोई अपमानजनक बात थी, परन्तु उसने एक ऐसा पत्र भिजवाया जो स्वयं उसका लिखा न था: "कामरेड त्रात्स्की के आदेशानुसार" प्रोलेतारी के सम्पादक मण्डल को सूचित किया जाता है कि वह बहुत व्यस्त होने के कारण पत्र का उत्तर लिखने से इनकार करता है।

मेरे विचार से यह मात्र ढोंग है। लन्दन कांग्रेस में भी उसने ऐसी ही हरकत की थी। मैं नहीं समझता कि वह वास्तविक रूप में बोल्शेविकों के साथ रह सकेगा।

मेन्शेविकों ने मासिक पत्रिका 'गोलोस सोशल देमोक्रेत'[3] के बारे में प्लेखानोव, एक्ज़लरोद, दान, मारतोव और मारतिनोव के हस्ताक्षरों के साथ एक घोषणा प्रकाशित की है। इसे प्राप्त करने के बाद तुम्हें भेज दूंगा। संघर्ष तीव्र गति से चल सकता है परन्तु त्रात्स्की 'संघर्षरत गुटों से ऊपर' रहना चाहता है।

मेरे खयाल में जिस बात पर मेरा तुमसे मौलिक मतभेद है वह है भौतिकवाद, विश्वदृष्टि के रूप में—'इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा' (जिससे हमारे 'अनुभववादी' भी इनकार नहीं करते) नहीं, बल्कि दार्शनिक भौतिकवाद। मैं इस बात का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करता हूँ कि आंग्ल और जर्मन जातियों के 'फिलिस्तिनिज़्म' और रोमांस जातियों के अराजकतावाद के लिए 'भौतिकवाद' ज़िम्मेदार है। दर्शन के रूप में भौतिकवाद को उन्होंने हर जगह पृष्ठभूमि में धकेल दिया। 'न्यू जाइट'[4] बहुत गम्भीर और सूचना-सम्पन्न पत्र है, वह दर्शन के प्रति उदासीन है; वह दार्शनिक भौतिक-वाद का उत्साही समर्थक कभी नहीं रहा और इधर तो कुछ दिनों से वह बिना किसी ननु-नच के अनुभववादी-आलोचकों को ही प्रकाशित करता रहा है। यह सोचना गलत—सरासर गलत है कि जिस भौतिकवाद की शिक्षा मार्क्स और एंगेल्स ने दी है उससे जड़ 'फिलिस्तिनिज़्म' निस्सृत होता है। सोशल-डेमोक्रेसी के अन्दर की सभी 'फिलिस्तिन' प्रवृत्तियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे ज्यादा दार्शनिक भौतिकवाद के विरुद्ध हैं, उनका झुकाव कांट, नवकांटवाद तथा आलोचनात्मक दर्शन की ओर है। 'एण्टी-ड्यूहरिंग' में एंगेल्स ने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह फिलिस्तिनिज्म से कोसों दूर है। प्लेखनोव ने इस क्षेत्र के संघर्ष को गुट सम्बन्धी संघर्ष के साथ जोड़कर उस दर्शन को हानि ही पहुँचाई है। फिर भी किसी रूसी 'सोशल डेमोक्रेट' को पुराने प्लेखनोव के साथ आज के प्लेखनोव को मिलाकर घपला नहीं करना चाहिए।

ए० ए० अभी-अभी मेरे पास से गया है। मैं उससे 'मिलने' के सम्बन्ध में दुबारा बातचीत करूँगा। यदि तुम्हारा आग्रह हो तो बातचीत का प्रबन्ध दो-एक दिन के लिए हो सकता है और वह भी बहुत जल्दी।

शुभ कामनाओं सहित

लेनिन

जेनेवा से कप्री द्वीप (इटली) भेजा गया पत्र।
लेनिन के निबन्ध-संग्रह में पहली बार १९२४ में प्रकाशित।
संकलित रचनाएँ, खण्ड ३४, पृ० ३८५-८६।

टिप्पणियाँ

१. ए० ए०—ए० ए० बोग्दानोव।
२. इनोक (इनोकेएटी) आई० एफ० दुब्रोविन्स्की।
३. गोलोस सोशियल डेमोक्रेत (द सोशियल डेमोक्रेट्स वाइस)—मेन्शेविकों का एक समाचारपत्र जो विदेश से प्रकाशित होता था। यह पहले जेनेवा से और फिर पेरिस से फरवरी १९०८ से दिसम्बर १९११ तक प्रकाशित होता रहा।
४. डाइ न्यू जाइट (न्यू टाइम्स)—दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रकाशित करने वाली एक पत्रिका जो स्टुटगार्ट में १८८३ से १९२३ तक प्रकाशित होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एंगेल्स की मृत्यु के बाद इस पत्र ने संशोधनवादी लेख प्रकाशित करने शुरू कर दिए।

२ :

२५ फरवरी, १९०८

प्रिय ए० एम०

मैंने तुम्हारे पत्र का जवाब तत्काल नहीं दिया; कारण, तुम्हारे लेख[1] पर उसके कुछ मुद्दों को लेकर सम्पादक मण्डल में अ० अ० के साथ हम लोगों का खासा गम्भीर झगड़ा हुआ। हालांकि पहली नजर में यह कुछ अजीब-सा लगेगा। उंह-उंह... मैंने बातें कीं लेकिन उस स्थान पर नहीं और न उस विषय पर जिसके बारे में तुमने सोचा था।

हुआ यह।

'मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन'[2] नामक पुस्तक ने दर्शन के सवालों में बोल्शेविकों के पुराने मतभेदों को तेज कर दिया है। मैं इन प्रश्नों पर अपने-आपको इतना समर्थ नहीं समझता कि फौरन छपा मारूँ। लेकिन मैंने हमेशा दर्शन के बारे में पार्टी की उन बहसों का नजदीक से अनुसरण किया है जिसमें प्लेखनोव ने पहले मिखाइलोव्स्की एंड कम्पनी के विरुद्ध सन् १८९५ तक और फिर १८९८ और बाद के वर्षों में कांटवादियों के और अन्त में अनुभववादी आलोचकों के विरुद्ध संघर्ष किया (यहाँ मैंने उन बहसों का अनुसरण ही नहीं किया वरन् १९०० से जार्या[3] के सम्पादक मण्डल का सदस्य होने के नाते एक हद तक उन बहसों में भाग भी लिया)।

बोग्दानोव ने जब से 'प्रकृति के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि' नामक पुस्तक लिखी है तब से उस पर भी मेरी नजर है। यह पुस्तक मैंने साइबेरिया प्रवास के दौरान पढ़ी थी। बोग्दानोव की यह स्थिति अन्यान्य दार्शनिक दृष्टियों की दिशा में एक संक्रमण मात्र थी। बोग्दानोव से मेरा सीधा व्यक्तिगत परिचय १९०४ ई० में हुआ; और हमने फौरन एक-दूसरे को उपहार दिए: मैंने उसे अपनी 'कदम'[4] नामक पुस्तक भेंट की तथा उसने मुझे अपने तत्कालीन दार्शनिक लेखों का संग्रह[5] भेंट किया। इसके तुरन्त बाद (सन् १९०४ के वसंत अथवा ग्रीष्म ऋतु के शुरू में) मैंने जेनेवा से पेरिस उसे यह पत्र लिखा कि उसके लेखों से मेरी यह दृढ़ धारणा बन गई है कि उसके विचार गलत हैं और उतनी ही दृढ़ धारणा यह है कि प्लेखानोव के विचार सही हैं।

जब प्लेखानोव और मैं साथ-साथ काम करते थे। हमने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्सर बोग्दानोव पर चर्चा की। प्लेखानोव ने मुझे बोग्दानोव के हेत्वाभास को समझाया, परन्तु वे यह नहीं मानते थे कि विचारों का यह भटकाव कोई खतरनाक रूप से गम्भीर चीज है। मुझे अच्छी तरह याद है कि सन् १९०३ की गर्मियों में प्लेखानोव और मैंने 'जार्या' सम्पादक मण्डल के प्रतिनिधि होने के नाते जेनेवा में 'यथार्थवादी विश्व-दृष्टि की रूप-रेखा'[६] नामक संगोष्ठी के सम्पादकों के एक प्रतिनिधि से बातचीत की। इस संगोष्ठी में हमने सहयोग देना स्वीकार किया था—मैंने कृषि-सम्बन्धी प्रश्न पर और प्लेखानोव ने माखवादी दर्शन के खण्डन पर। प्लेखानोव ने अपने सहयोग की यह शर्त रखी थी कि वह 'माख' के खिलाफ लिखेंगे। संगोष्ठी के प्रतिनिधि ने यह शर्त तुरन्त मान ली। प्लेखानोव उस समय बोग्दानोव को सुधारवादियों के विरुद्ध संघर्ष में अपना मित्र मानते थे—ऐसा मित्र जिसने पहले ओस्टवाल्ड का अनुसरण करने की गलती की और फिर 'माख' का।

१९०४ के ग्रीष्म और पतझड़ में बोग्दानोव और मैं बोलशेविक के रूप में पूर्ण सहमति पर पहुँचे। हमने एक ऐसे गुट का निर्माण किया जिसमें दर्शन को एक तटस्थ क्षेत्र मान-कर छोड़ दिया गया। इस गुट का अस्तित्व पूरी क्रान्ति के दौरान रहा तथा उसने हमें उस क्रान्ति में क्रान्तिकारी 'सोशल-डेमोक्रेसी' (बोलशेविज्म) की कार्यनीति को लागू करने में मदद दी, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि एकमात्र सही कार्यनीति वही है।

क्रान्ति की सरगर्मी के दौरान दर्शन में उलझने का अवसर बहुत कम मिला। बोग्दानोव ने १९०६ के आरम्भ में जेल में दर्शन पर एक और लेख लिखा जो मेरे खयाल में अनुभव-वादी अद्वैतवाद का तीसरा भाग था। उसने १९०६ के ग्रीष्म में मुझे इसे भेंट किया और मैं तुरन्त उसे पढ़ने बैठ गया। इस लेख को पढ़ने के बाद मैं भड़क उठा। मुझे अब पहले से कहीं ज़्यादा साफ था कि वह एकदम गलत रास्ते पर था, वह मार्क्सवादी रास्ते पर नहीं था। उसके बाद मैंने उसे "प्रेम की घोषणा"—दर्शन के विषय में एक पत्र लिखा जिसने तीन नोट-बुकों का आकार ग्रहण कर लिया। मैंने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा कि मैं दर्शन के क्षेत्र में केवल एक साधारण मार्क्सवादी हूँ। फिर यह लिखा कि तुम्हारी सुबोध, लोकप्रिय और भव्य ढंग से लिखित रचनाओं के कारण ही मुझे अंततः विश्वास हो गया कि तुम मूलतः गलत हो और प्लेखानोव सही है। मैंने इन नोट-बुकों को कुछ दोस्तों को दिखाया (जिनमें लूनाचार्स्की भी हैं) और "एक साधारण मार्क्सवादी की दर्शन-सम्बन्धी टिप्पणियाँ" शीर्षक से उन्हें छपाने का विचार किया, मगर यह हो नहीं पाया। अब मुझे खेद है कि मैं उन्हें उस समय प्रकाशित नहीं करवा सका। मैंने कुछ दिन पहले सेंट पीटर्सबुर्ग को लिखा था कि उन "नोट-बुकों"[७] को खोजकर मेरे पास भेज दो।

"मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" नामक पुस्तक अब निकल आई है। मैंने सुवारोव के निबन्ध को छोड़कर (जिसे इस समय पढ़ रहा हूँ) सभी निबन्ध पढ़ डाले हैं और प्रत्येक निबन्ध ने मेरे अंदर क्रोध को भड़काया। नहीं, नहीं, यह मार्क्सवाद नहीं है। हमारे अनुभववादी आलोचक, अनु-भववादी अद्वैतवादी और अनुभववादी प्रतीकवादी कीचड़ के दलदल में धँस रहे हैं। वे पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि बाह्य-जगत की वास्तविकता में "विश्वास" करना "रहस्यवाद" (बाजारोव) है। वे अत्यन्त शर्मनाक ढंग से भौतिकवाद और कांटवाद को गड्मड्ड कर देना चाहते हैं (बाजारोव और बोग्दानोव)। वे एक प्रकार से अज्ञेयवाद (अनुभववादी आलोचनावाद) और आदर्शवाद (अनुभववादी अद्वैतवाद) का उपदेश देते हैं। वे मजदूरों को "धार्मिक नास्तिकता", उच्चतर मानव संभावनाओं की "पूजा" की शिक्षा दे रहे हैं (लूनाचार्स्की)—वे घोषित करते हैं कि एंगेल्स का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त रहस्यवादी है (बेर-मान); वे फ्रांसीसी "विधेयवादियों" तथा अज्ञेयवादियों या अध्यात्मवादियों के "ज्ञान-विषयक प्रतीकवादी सिद्धान्त" के बदबूदार कुएं से पानी निकाल रहे हैं (मुश्केविच)। नहीं, यह सचमुच अति है। माना कि हम साधारण मार्क्सवादी लोग दर्शन के अधिक जानकार नहीं हैं, लेकिन, मार्क्सवादी दर्शन के नाम पर ऐसा कचरा परोसकर कोई हमारा अप-मान क्यों करे? ऐसी चीजों का उपदेश करने वाले किसी पत्र या संस्था के साथ सहयोग की स्वीकृति देने के बजाय मैं फाँसी पर लटकाया जाना, घसीटा जाना और टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाना ज्यादा पसंद करूँगा।

"एक साधारण मार्क्सवादी की दर्शन सम्बन्धी टिप्प-णियाँ" में मेरी दिलचस्पी ताजा हो गई है तथा मैंने उसे लिखना शुरू कर दिया है। परन्तु "मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" पढ़ने के दौरान मुझ पर जो प्रभाव पड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे मैंने साफ-साफ लट्ठमार ढंग से ए० ए० को बता दिया है।

लेकिन तुम पूछोगे कि तुम्हारे लेख का इससे क्या सम्बन्ध है? इसका सम्बन्ध इस रूप में है कि ठीक ऐसे समय जब बोल्शेविकों के आपसी मतभेद अधिक गहरे हो गए हैं तुमने प्रोलेतारी वाले अपने लेख में साफ-साफ एक प्रवृत्ति का प्रतिपादन शुरू कर दिया है। मुझे सचमुच यह पता नहीं है कि कुल मिलाकर तुम उसमें क्या करोगे। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि एक कलाकार सभी प्रकार के दर्शन से अपने लिए उपयोगी तत्वों का चयन करता है। अन्त में मैं इस विचार से पूरी तरह सहमत हूँ कि जहाँ तक लिखने की कला का सवाल है उन मामलों में सबसे अच्छे निर्णायक तुम्हीं हो। अपने कलात्मक अनुभव और दर्शन से, यहाँ तक कि भाववादी दर्शन से भी, दोनों से इस प्रकार के विचारों को ग्रहण कर तुम ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच सकते हो जो मजदूरों की पार्टी के लिए अत्यधिक लाभदायक हो सकते हैं। यह सब सच है फिर भी प्रोलेतारी को हमारे दार्शनिक मत-भेदों से पूरी तरह तटस्थ रहना चाहिए तथा लेशमात्र के लिए भी पाठक को यह प्रतीत नहीं होने देना चाहिए कि बोल्शेविक, एक प्रवृत्ति के रूप में तथा रूसी सोशल-डेमोक्रेटों के क्रान्तिकारी दस्ते की एक कार्यनीतिपरक 'लाइन' के रूप में अनुभववादी-आलोचना या अनुभववादी-अद्वैतवाद से किसी तरह सम्बद्ध है।

तुम्हारे लेख को दुबारा पढ़ने के बाद जब मैंने ए० ए० को बताया कि मैं उसके प्रकाशन के विरुद्ध हूँ तो उसका चेहरा ऐसा काला हो गया जैसा अंधड़! सम्पादक मण्डल के बीच टूट का खतरा हवा में था। कल इस मामले पर विचार करने के लिए हमारे सम्पादकीय त्रिक की एक विशेष बैठक हुई। "न्यू जाइट" की ओर से एक बेहूदा चाल अप्रत्याशित रूप से हमारे बचाव के लिए आ गई। 'न्यू जाइट' के बीसवें अंक में किसी अज्ञात अनुवादक ने बोग्दानोव का 'माख' पर लिखा हुआ लेख प्रकाशित करा दिया तथा इसके साथ ही उसने अपनी टिप्पणी में यह भी उगल दिया कि प्लेखानोव और बोग्दानोव के बीच जो-जो मतभेद हैं उनमें रूसी 'सोशल डेमोक्रेसी' के अन्तर्गत के बोल्शेविकों और मेन्शेविकों के दलीय मतभेद में विकसित होने की प्रवृत्ति है। वह मूर्ख, चाहे स्त्रीहो या पुरुष, इस टिप्पणी को लिखकर हमें एकजुट करने में सफल हो गया। हम इस बात पर तुरन्त एकमत हो गए कि प्रोलेतारी के अगले ही अंक में हमारी तटस्थता की घोषणा अब नितांत आवश्यक है। 'मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन' के प्रकाशित होने के बाद मेरा जो मानसिक ढाँचा बना था उसके यह सर्वथा अनुरूप ही था। एक वक्तव्य तैयार किया गया, और सर्व-सम्मति से स्वीकार हुआ तथा कल वह प्रोलेतारी के २१वें अंक में प्रकाशित होगा जिसे मैं तुम्हारे पास भिजवा दूँगा।

जहाँ तक तुम्हारे लेख का सम्बन्ध है, तय हुआ है कि मामला स्थगित कर दिया जाय तथा प्रोलेतारी के तीनों सम्पादकों की ओर से अलग-अलग पत्र द्वारा तुम्हें सारी स्थिति स्पष्ट कर दी जाय और मैं तथा बोग्दानोव तुम से जल्द मिलें।

और इस तरह तुम एक पत्र ए० ए० से और एक पत्र तीसरे सम्पादक से प्राप्त करोगे जिसके बारे में मैंने तुम्हें पहले लिखा था।

मैं यह जरूरी समझता हूँ कि तुम्हें अपना मत बिल्कुल स्पष्टता के साथ बता दूँ। मैं बोल्शेविकों के बीच दर्शन के प्रश्नों पर किसी-न-किसी प्रकार का विवाद अपरिहार्य मानता हूँ। किन्तु इस पर पार्टी की टूट मूर्खता होगी। हमने एक गुट का निर्माण किया है तो मजदूरों की पार्टी में निश्चित कार्यनीतियों के अपनाए जाने की सिद्धि के लिए। हम अभी तक इन कार्यनीतियों को बिना असहमति के निरन्तर लागू करते रहे हैं (केवल एक मतभेद "तीसरा दूमा" के बहिष्कार के सम्बन्ध में हुआ, परन्तु एक तो वह इतना मामूली था कि उससे बोल्शेविकों में टूट के लिए कोई खतरा नहीं पैदा हुआ, दूसरे वह माखवादियों और भौतिकवादियों के बीच के मतभेद के समानान्तर नहीं था क्योंकि उदाहरण के लिए बहिष्कार का विरोध करने में माखवादी बाजारोव मेरे साथ था और उसने इस प्रश्न पर प्रोलेतारी में एक लम्बा लेख लिखा)।

भौतिकवाद या माखवाद के प्रश्न पर उठे विवाद के नाम पर मजदूरों की पार्टी के अंदर क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी की कार्यनीति को लागू करने के रास्ते में बाधा देना मेरी राय में, अक्षम्य मूर्खता होगी। हमें दर्शन पर विवाद इस तरीके से करना चाहिए कि प्रोलेतारी और पार्टी के एक गुट के रूप में बोल्शेविक किसी भी तरह इससे प्रभावित न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

हों। और यह बिल्कुल सम्भव है।

और मैं समझता हूँ कि तुम्हें इस काम में मदद करनी चाहिए। तुम मदद कर सकते हो प्रोलेतारी के लिए लिखकर—साहित्यिक समीक्षा, प्रचारात्मक लेख, ललित साहित्य आदि तटस्थ प्रश्नों पर (जिनका दर्शन से सीधा सम्बन्ध नहीं हो)। यदि तुम पार्टी को टूटने से बचाना चाहते हो और नये संघर्ष को सीमित करने में मदद देना चाहते हो तो अपने लेख को दुबारा लिखो और उन सभी बातों को कहीं अन्यत्र स्थान दो जिनका बोग्दानोव के दर्शन से परोक्षतः भी सम्बन्ध हो। खुदा का शुक्र है कि तुम्हारे पास प्रोलेतारी के अतिरिक्त दूसरे माध्यम भी हैं। वे सब बातें जिनका बोग्दानोव के दर्शन से सम्बन्ध नहीं है—और तुम्हारे लेख का अधिकांश इस दर्शन से सम्बद्ध नहीं है—तुम लेखमाला के रूप में प्रोलेतारी में प्रकाशित करा सकते हो। तुम्हारी ओर से अन्य कोई भी रवैया —लेख को दुबारा लिखने से इन्कार अथवा प्रोलेतारी के साथ असहयोग—मेरी दृष्टि से अनिवार्यतः बोल्शेविकों के आपसी झगड़े को गहरा करेगा; वह नये संघर्ष के परिसीमन को मुश्किल बनाएगा और उस महान् लक्ष्य को कमजोर करेगा जो व्यावहारिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से रूस में क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी के लिए बुनियादी है।

मेरा अभिमत यही है। मैंने तुम्हें अपने सारे विचार बता दिए हैं और अब तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

आज हम तुम्हारे पास आना चाहते थे परन्तु मालूम हुआ कि कम-से-कम एक सप्ताह के लिए हमें यह यात्रा स्थगित करनी पड़ेगी—शायद दो या तीन सप्ताह।

तुम्हारा

एन० लेनिन

(जेनेवा से काप्री (इटली) द्वीप को भेजा गया, प्रथम प्रकाशन १९२४ में, लेनिन विविधा-१ में; लेनिन ग्रंथावली, जिल्द-१३, पृ० ४४८-५४)।

अनुवादक : प्रतापसिंह नेगी

टिप्पणियाँ

१. लेख का नाम "डिस्ट्रक्शन ऑफ दि पर्सनेलिटी (व्यक्तित्व का विघटन)" है जिसे गोर्की क्रमशः प्रोलेतारी में प्रकाशित करवाना चाहते थे। यह लेख पहली बार "समूहवादी दर्शन सम्बन्धी निबन्ध" में १९०८ में प्रकाशित हुआ।

२. लेनिन का संकेत वी०बाजारोव, वाई० बेरमान, ए०लुनाचार्स्की, पी० पुश्केविच, ए० बोग्दानोव, आइ० गेलफोंद और एस० सुवोरोव के निबन्धों की ओर है जो एक संग्रह रूप में "मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" नाम से १९०८ में प्रकाशित हुए।

३. जार्या (प्रभात)—एक मार्क्सवादी वैज्ञानिक और राजनीतिक पत्रिका जो कानूनी तौर से १९०१ और १९०२ में स्टुटगार्ट में 'इस्क्रा' सम्पादक मण्डल द्वारा प्रकाशित की गई। तीन पुस्तकों के आकार में इसके चार अंक निकले। 'जार्या' में अन्तर्राष्ट्रीय और रूसी संशोधनवादियों ('कानूनी मार्क्सवादी' और 'अर्थवादी') की आलोचना की और मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धांतों का समर्थन किया।

४. यहाँ लेनिन का संकेत अपनी पुस्तक "एक कदम आगे और दो कदम पीछे" की ओर है।

५. यहाँ बोग्दानोव की पुस्तक 'इम्पीरिओ-मोनिज्म' की ओर संकेत है जो १९०५ में प्रकाशित हुई।

६. एक निबन्ध संग्रह, जिसमें ए० लूनाचार्स्की, वी० बाजारोव, वी० फ्रिच आदि के लेख छपे थे। प्लेखानोव और लेनिन के लेख इसमें सम्मिलित नहीं किए गए।

७. 'नोट-बुक्स'—'एक साधारण मार्क्सवादी की दार्शनिक टिप्पणियाँ' अप्राप्य है।

८. उस समय लेनिन 'अनुभववादी आलोचना' का लेखन आरम्भ कर रहे थे।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन की एक समीक्षा

एक दक्षतापूर्वक लिखी गई छोटी पुस्तक

क्रान्ति की पीठ में एक दर्जन छुरे, पेरिस, १९२१

इस छोटे-से कहानी-संकलन का लेखक श्वेत प्रवासी अर्कादी एवर्चेंको है जिसका गुस्सा बौखलाहट की हद तक पहुँच चुका है। यह तथ्य दिलचस्प है कि इस अत्यंत दक्षता से लिखी हुई पुस्तक में लेखक की उबलती हुई नफरत उसकी अद्‌भुत शक्ति भी है और अद्‌भुत दुर्बलता भी। लेखक ने जहां अपरिचित विषयों को कहानियों के लिए चुना है, वे कलाहीन हो गई हैं। उदाहरण के लिए वह कहानी, जिसमें लेनिन और त्रात्स्की के घरेलू जीवन का चित्रण है। प्रिय नागरिक एवर्चेंको, उसमें विद्वेष ही ज्यादा है, सचाई नहीं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि लेनिन और त्रात्स्की में, अपने घरेलू जीवन के साथ-साथ और सभी मामलों में अनेक दोष हैं। लेकिन उनका कौशलपूर्वक वर्णन करने के लिए यह जानना जरूरी है कि वे हैं क्या। और यह आप नहीं जानते।

लेकिन इस पुस्तक में अनेक कहानियों के विषय ऐसे हैं जिनसे अर्कादी एवर्चेंको अच्छी तरह परिचित है, जिनका उसने अनुभव किया है, जिन पर उसने विचार किया है और जिन्हें भोगा भी है। उसने जमींदारों और पूंजीपतियों के पुराने, समृद्ध, खब्बू और चटोर रूस के प्रतिनिधियों की मानसिक स्थितियों का चित्रण अद्‌भुत कौशल के साथ किया है। शासक वर्गों के प्रतिनिधियों की दृष्टि में क्रान्ति की तस्वीर एकदम यही हो सकती थी। एवर्चेंको के उबलते हुए गुस्से के कारण कुछ—बल्कि अधिकांश—कहानियां आश्चर्यजनक रूप में सजीव बन पड़ी हैं। कुछ तो निश्चय ही शानदार कहानियाँ हैं, जैसे 'बूटों द्वारा कुचली हुई घास', जिसमें उन बच्चों का मनोविज्ञान चित्रित है जो गृहयुद्ध के दौर से गुजर रहे हैं।

लेकिन लेखक की अनुभूति की वास्तविक गहराई उस समय व्यक्त होती है जब वह यह वर्णन करता है कि पुराने रूस में धनी लोग पेत्रोग्राद में—नहीं, पेत्रोग्राद में नहीं, बल्कि सेंट पीटर्सबुर्ग में—किस प्रकार साढ़े चौदह या पचास रूबल में नाश्ता करते थे। इन सबका वर्णन वह सचमुच ही वासनोत्तेजक शब्दों में करता है। इन चीजों को वह अच्छी तरह जानता है; इन चीजों का उसने अनुभव किया है; यहां वह कोई गलती नहीं करता। विषय के बारे में उसका ज्ञान और उसकी ईमानदारी—दोनों ही अत्यंत असाधारण हैं।

अन्तिम कहानी 'एक ध्वस्त संसार के टुकड़े' में, क्रीमिया के अन्तर्गत सेवास्तोपोल में एक ऐसे भूतपूर्व सिनेटर का चित्रण है जो "धनी, उदार और अच्छे संबंधों वाला" था, लेकिन "अब वह एक बारूदखाने में दैनिक मजदूर की हैसियत से कारतूस उतारने और छांटने का काम कर रहा है"; और फिर एक भूतपूर्व डाइरेक्टर का चित्रण है जो ऐसे "इस्पात के विशाल कारखाने" से संबद्ध था "जो विवो... जिले में सबसे बड़ा समझा जाता था।" लेकिन "अब वह पुराने सामानों की एक दुकान पर सेल्समैन है और हाल ही में उसने महिलाओं के बिक्री योग्य पुराने कोटों और बच्चों के प्लश (रोएँदार खाल के बने), खिलौना भालुओं की कीमत आँकने का कुछ हुनर सीख लिया है।"

ये दोनों बूढ़े खूसट पुराने भले दिनों की याद करते हैं—सेंट पीटर्सबुर्ग के सूर्यास्त, सड़कें, नाटकघर, और हाँ, "मेदवेद", "विएना", "माली यारोस्लावेत्स" तथा ऐसे ही अन्य रेस्त्राओं के भोजन! उनके संस्मरण बीच-बीच में इ... चीत्कारों से टूट जाते हैं: "हमने ऐसा क्या किया जिस... हमारा यह हश्र हुआ! किसी के रास्ते में हम कहाँ से आ... थे? किसको हमने बाधा दी?...उन्होंने रूस की क्या ग... कर दी है?"...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

अर्कादी एवर्चेंको उन लोगों में नहीं हैं जो यह समझ सकें कि ऐसा क्यों है । हालांकि मजदूर और किसान इस बात को काफी आसानी ने समझते प्रतीत होते हैं और उन्हें किसी स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं है ।

मेरी राय में, कुछ कहानियाँ पुनर्मुद्रित करने लायक हैं । प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए । ●

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रावदा संख्या २६३
नवम्बर २२, १६२१
हस्ताक्षर : न. लेनिन
लेनिन ग्रंथावली
जिल्द ३३, पृष्ठ १२५-२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति

डेविड एन० मार्गोलीज़

: १ :

क्रिस्टोफर काडवेल को जार्ज थामसन ने 'सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत समस्याओं के मार्क्सवादी समाधान के प्रथम प्रयास'[१] का श्रेय दिया है, और अपनी मृत्यु के तीन वर्ष बाद काडवेल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग्रेज मार्क्सवादी आलोचक के रूप में स्वीकार कर लिए गये हैं। उन्होंने संस्कृति के विशाल क्षेत्रों का मार्क्सवादी विश्लेषण किया था। सम्भवतः वे पहले आलोचक थे जिन्होंने कला पर पूर्णतः सामाजिक और पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया और मनुष्य के जीवन में कला के कार्य की खोज की।

फिर भी, महत्वपूर्ण होने के बावजूद, काडवेल सामान्यतः उपेक्षित रहे हैं। कभी-कभी उनके नाम का उल्लेख कर दिया जाता है, कभी-कभी संकलनों में उनकी लिखी हुई चीजें दिखलाई पड़ जाती हैं, उनकी कुछ रचनाएँ पुनर्मुद्रित भी की जाती हैं, किन्तु, थोड़े से एकेडेमिक निबन्धों को छोड़कर उनकी कृतियों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया गया है और पाठकों तक तो वह और भी कम पहुँच सका। कभी-कभार लेख दिखलाई पड़े हैं, किन्तु इन लेखों की सार्थकता सन्दिग्ध है। 'द आर्म्ड विज़न' नामक पुस्तक में मार्क्सवादी आलोचना से सम्बन्धित अध्याय के अन्तर्गत स्टैनली एडगर हाइमन ने काडवेल के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है। हाइमन का यह अंश उपयोगी होते हुए भी आलोचनात्मक नहीं है। उसमें गुण कथन और व्यक्तिगत प्रशंसा का भाव अधिक है। १९५०-५१ ई० में 'द माडर्न क्वार्टर्ली' में काडवेल पर एक लंबी बहस छपी थी। एक मार्क्सवादी आलोचक के विषय में अंग्रेज़ी मार्क्सवादियों की यह बहस सार्थक होनी चाहिए थी, किन्तु इससे काडवेल को समझने में बहुत कम सहायता मिली (इनमें शरीक कुछ लोगों को तो आज यह बहस धर्म-संकट में डाल देगी)। काडवेल की रचनाओं की दृष्टि से यह बहस बहुत-कुछ अप्रासंगिक थी। काडवेल का योगदान मार्क्सवादी आलोचना को क्या है, इस विषय पर बहस से कोई प्रकाश नहीं पड़ा। केवल भावनाएँ उत्तेजित की गईं। काडवेल-विवाद में शामिल होते हुए एलिक वेस्ट ने लिखा था कि आलोचकों ने आक्रमण काडवेल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि पर ही किया। सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी : "उन्होंने बताया कि कविता उस सिद्धान्त और व्यवहार का अंश है जिससे मानव समझता और निर्णय करता है कि उसकी इच्छाएँ वास्तविकता में कैसे बदली जा सकती हैं? क्या ज़रूर होना चाहिए और क्या हो सकता है।" वेस्ट ने आगे यह कहा कि काडवेल की रचनाओं की माँग है कि उनका आलोचनात्मक जायजा लिया जाए, लेकिन यह जायज़ा उस जगह से नहीं शुरू होना चाहिए, जिसे काडवेल पीछे छोड़ आए हैं।"[२] इस तरह का जायज़ा देखने में नहीं आ रहा है—काडवेल के सिद्धान्तों की सम्यक् समीक्षा बहुत पहले हो जानी चाहिए थी।

काडवेल की कृतियों में, प्रातिभ अंतर्दृष्टि के बावजूद उस व्यवस्था का अभाव है जिसे हम आज के विद्वत्तापूर्ण लेखन में देखने के अभ्यस्त हैं। यद्यपि वे मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे अधिक विचारदायक हैं, लेकिन इस 'विचारदायकता' के जो खतरे होते हैं, वे भी काडवेल के यहाँ मौजूद हैं। जे० बी० एस० हाल्डेन ने उनकी रचनाओं को 'विचारों की खान' कहा है। यह खान बहुत मूल्यवान हो सकती है लेकिन इस उपमा में काडवेल की रचनाओं के पाठकों की परेशानियाँ भी स्पष्ट हैं। काडवेल को 'अशिक्षित' किसी तरह नहीं कहा जा सकता; लेकिन यह सत्य है कि काडवेल को विश्वविद्यालय का औपचारिक प्रशिक्षण नहीं मिला था शायद इसीलिए कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में बौद्धिक संयम का मोहक अभाव दिखलाई पड़ता है और वे एक रूप से दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप और निष्कर्षों तक छलांगते जाते हैं। इसे यवकोचित अतियों के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। 'परिपक्व विद्वान' जैसा विश्लेषण उन्हें नहीं फबता। थामसन का कहना ठीक है कि काडवेल ने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आधारशिला रखी लेकिन उन्होंने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया, वह अभी 'खान' के रूप में ही है। लेकिन सुव्यवस्थित न होते हुए भी काडवेल का कृतित्व अंग्रेजी भाषा में किया गया मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सर्वाधिक आधारभूत योगदान है।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के प्रति काडवेल के योगदान की चर्चा शुरू करते ही सवाल उठता है कि 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र क्या है?' मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की कोई स्वीकृत या स्थापित परिभाषा नहीं है। परिभाषा के अभाव का परिणाम यह हुआ कि ऐसे आलोचकों को भी भ्रमवश मार्क्सवादी आलोचक कहा गया है जिन्होंने (१) कुछ अंशों में ही मार्क्सवाद को अपने लेखन का आधार बनाया है या (२) जिनके लेखन का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। परिभाषा के अभाव में इस प्रकार की तथाकथित मार्क्सवादी आलोचना अर्थहीन हो जाती है। उदाहरण के लिए जार्ज वाट्सन अपनी पुस्तक 'द लिटररी क्रिटिक्स' में मजे से अपनी लापरवाह अज्ञानता का परिचय देते हुए कहते हैं कि मार्क्सवादी परम्परा का अधिकांश मार्क्सवाद-विरोधी है; वे लॉएनल ट्रिलिंग तक को मार्क्सवादी आलोचकों में गिनते हैं। निश्चय ही, मार्क्सवादी आलोचना पर सार्थक बहस तभी हो सकती है, जब इसके कतिपय संघटक सिद्धान्तों को स्पष्ट कर दिया जाए।

यह ठीक है कि मार्क्स और एंगेल्स की रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र का सुव्यवस्थित निर्माण नहीं करतीं, (जैसा कि अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' करता है)। लेकिन वे निश्चय ही एक ऐसी पद्धति प्रदान करती हैं जो सौन्दर्यशास्त्र (?) का आधार बन सकती है। यहाँ सौन्दर्य का प्रयोग केवल 'सुन्दर' नहीं बल्कि व्यापक कला सिद्धान्त के अर्थ में किया जा रहा है। मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रश्नों पर कुछ खास सम्मतियाँ और निर्णय दिए हैं, इसके साथ ही उन्होंने अपने विपुल लेखन में जगत् के प्रति अपना दृष्टिकोण और अपनी सामान्य पद्धति भी व्यक्त की है। हमें इन दोनों को एक नहीं मान लेना चाहिए। कलाओं पर दी गई उनकी टिप्पणियाँ विचक्षण उक्तियों से अधिक नहीं हैं, ये वक्तव्य विशिष्ट संदर्भों में दिये गए हैं, इनका सामान्यीकरण करके किसी सौन्दर्य सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता। जगत् सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण कलाओं के स्थान और उनके महत्व के प्रति उनके विचारों का संकेत देता है, और उनकी पद्धति उस मार्ग की ओर इंगित करती है जिस पर चलकर सौन्दर्य के प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्य के प्रश्नों पर विचार करने के लिए अपने सिद्धान्तों का व्यवस्थित व्यावहारिक पक्ष नहीं प्रस्तुत किया। लेकिन मार्क्स ने यह इच्छा अवश्य व्यक्त की थी कि वह आर्थिक समस्याओं पर लिख चुकने के बाद बाल्ज़ाक पर पुस्तक लिखेंगे। इससे ज़ाहिर है कि मार्क्स का विश्वास था कि उसके सिद्धान्तों का व्यवहार सौन्दर्य के क्षेत्र में किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ मार्क्स और एंगेल्स के साहित्यिक निष्कर्षों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है। इस सौन्दर्यशास्त्र को सार्थक होना है तो उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित होना पड़ेगा।

सौन्दर्यशास्त्र की सामान्य समस्याओं को हल करने का रास्ता बताने के साथ-साथ मार्क्स ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिए जिनको कला के क्षेत्र में सीधे लागू किया जा सकता है। इनमें से निम्नलिखित वक्तव्य सर्वाधिक प्रसिद्ध और आधारभूत है। मार्क्सवादी आलोचक को इससे तत्काल कलाओं का सामाजिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है; वह समझ लेता है कि चेतना का एक रूप होने के नाते कलाओं का जीवन से सुनिश्चित सम्बन्ध है।

"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बँधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण समाहार ही समाज का आर्थिक ढाँचा है—वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे—उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना को निर्धारित करता है।"[3]

लेकिन यह मान्यता कि "सामाजिक सत्ता चेतना को निर्धारित करती है" स्वयं कोई सौंदर्यशास्त्रीय मान्यता नहीं है। यह सिर्फ एक शुरुआत है। काडवेल चूंकि मार्क्सवादी ढंग पर सचेत रूप से एक सौंदर्यशास्त्र को निर्मित करने का प्रयास कर रहे थे, इसलिए उनके अध्ययन से "सामाजिक सत्ता द्वारा चेतना के निर्धारण" सम्बन्धी मान्यता से निस्सृत होने वाले कुछ सिद्धान्तों को स्पष्ट होना चाहिए।

'साहित्य का कार्य' नामक सिद्धान्त के जरिए काडवेल ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में विशिष्ट योगदान किया है। काडवेल ने साहित्य के अस्तित्व की साग्रह घोषणा और फिर विभिन्न प्रकारों के साहित्य की परीक्षा को ही पर्याप्त नहीं समझा। काडवेल का ध्यान इस बात पर भी गया कि साहित्य का अस्तित्व है तो उसके अस्तित्व का कारण है। साहित्य का अस्तित्व है तो उसकी कुछ सामाजिक सार्थकता भी होगी। अगरचे उसने चेतना के सामाजिक निर्धारण के विचार को पूर्णतः स्वीकार कर लिया लेकिन इस निर्धारण की प्रक्रिया को मान लेने से ही साहित्य के अस्तित्व के **कारण** समझ में नहीं आ सकते थे। इससे यह तो समझ में आ सकता है कि विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार का साहित्य क्यों लिखा जाता है लेकिन यह नहीं खुलता कि सामान्यतः साहित्य और कला के अस्तित्व का कारण क्या है? काडवेल ने इस समस्या का समाधान साहित्य के पूर्ण सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाकर खोजा। यह उनकी केवल व्यक्तिगत बौद्धिक उपलब्धि नहीं थी, मार्क्सवादी आलोचक के रूप में भी उनकी यह महान् शक्ति थी। उन्होंने साहित्य की परीक्षा केवल कुछ रचनाओं तक ही सीमित रहकर नहीं, मानव जीवन की सम्पूर्णता को ध्यान में रखकर की। उन्होंने साहित्य को, समाज की छाया के रूप में नहीं, समाज के अन्दर रखकर देखा-परखा।

कला अपना कार्य व्यक्तियों के माध्यम से करती है और व्यक्तियों के लिए उसका कार्य व्यक्तियों की हैसियत से ही सम्पन्न होता है, लेकिन काडवेल के अनुसार साहित्य का **सामाजिक** कार्य तभी स्पष्ट होता है, जब हम समग्र समाज की दृष्टि से उस पर विचार करते हैं।

इस सामाजिक कार्य के सिद्धान्त तक पहुँचने के लिए काडवेल के साहित्य को पूरी तरह द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से परखना पड़ा। उन्होंने साहित्य को 'स्थिर' कृतियों के रूप में नहीं, प्रक्रिया के रूप में देखा। साहित्य और समाज की सत्ता द्वन्द्वात्मक एकत्व पर आधारित है। अतः केवल सामाजिक सत्ता साहित्य का निर्धारण नहीं करती, साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है। उन्होंने साहित्य की परीक्षा जीवन-चर्या, समाज के, जीवन के सन्दर्भ में की और पाया कि अन्य सामाजिक उत्पादनों की भाँति साहित्य भी कुछ करता है—मनुष्य के जीवन में साहित्य का भी एक कार्य है।

यह ठीक है कि साहित्य की कार्य-परकता के आग्रहशील आलोचक अकेले काडवेल नहीं हैं। लेकिन वे ऐसे अकेले आलोचक अवश्य हैं जिसने सामाजिक कार्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। सामाजिक कार्य के सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का कार्य-क्षेत्र पूरा समाज है, उस समाज के संघटक अलग-अलग व्यक्ति मात्र नहीं। (सामाजिक कार्य व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के कुल योग से भिन्न है, यह कार्य समग्र समाज या वर्ग के हित में है।) ऐसे आलोचक हुए हैं जिन्होंने इस बात पर बल दिया है कि साहित्य सामाजिक दृष्टि से कार्यपरक (फंक्शनल) होता है, लेकिन वे इस कार्य का कोई उद्देश्य नहीं समझ पाए थे। यह कहना कि 'साहित्य कुछ करता है' नाकाफी है। साहित्य के कार्य की दिशा को भी समझने की जरूरत है। काडवेल के अनुसार साहित्य की क्रियात्मकता का उद्देश्य मनुष्य की स्वतंत्रता का विस्तार है। जिस साहित्य का कार्य उचित है, वह मनुष्य और समाज की स्वतंत्रता का विस्तार करता है; जो साहित्य स्वतंत्रता का विस्तार नहीं करता, उसका कार्य उचित नहीं है, या फिर ऐसा साहित्य अधम है।

काडवेल द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक कार्य का सिद्धान्त' मार्क्सवादी आलोचना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्भवतः इस कार्य की समझ की कमी के कारण मार्क्सवादी आलोचकों की प्रगति अवरुद्ध रही है। साहित्य की 'प्रगतिशीलता' जैसे सवाल मार्क्सवादी आलोचकों को कई बार धर्म संकट में डालने वाले साबित हुए हैं। कारण यह है कि इस बात पर तो वे बल देते हैं कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील होता है—जो ठीक भी हो सकता है। लेकिन वे यह नहीं समझा सकते कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील क्यों होता है। कभी-कभी इसके कारण सिद्धान्त और अभिरुचि के बीच बेतुका विरोध दिखलाई पड़ता है जिससे डी० एच० लारेन्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे लेखकों की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण आलोचक निन्दा करते हैं, लेकिन उनकी साहित्यिक महत्ता के कायल होते हैं। अक्सर इन अंतर्विरोधों को कृत्रिम रूप में सुलझाने के लिए यह आग्रह किया गया है कि वे लेखक अच्छे हो ही नहीं सकते। इस आग्रह का आधार यह दूषित हेत्वानुमान है: अच्छा साहित्य प्रगतिशील होता है; डी० एच० लारेन्स प्रतिक्रियावादी है; इसलिए डी० एच० लारेन्स अच्छा लेखक नहीं है। (मार्क्सवादी आलोचकों ने बाल्ज़ाक की जो प्रशंसा की है उसे उपर्युक्त अन्तर्विरोध के सफल शमन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन वह शमन से अधिक टालू ढंग है। बाल्ज़ाक के विषय में सामान्य राय यह है कि उसकी रचनाएँ प्रगतिशील थीं और वह इतना महान लेखक था कि अपनी रचनाओं में वह अपनी प्रतिक्रियावादी निजी स्थिति से ऊपर उठकर प्रगतिशील रचनाएँ कर गया; जबकि लारेंस के व्यक्ति और कृतित्व दोनों ही प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं।) अभिरुचि और मूल्यांकन के इस अंतर्विरोध से सिद्धान्त को आलोकित करने में सहायता मिलनी चाहिए थी। लेकिन प्रायः देखा गया है कि इससे हठधर्मी ही बढ़ी है तथा मार्क्सवादी आलोचक और भी अलग जा कटे हैं। कभी-कभी ऐसे अन्तर्विरोधों की उपेक्षा कर दी जाती है और आलोचक साफ़-साफ़ (और कभी-कभी सतही तौर पर) केवल प्रगतिशील लेखकों के विषय में ही लिखते हैं। ऐसे आलोचक शेक्सपियर की तारीफ में लिखते हैं कि वह जानता था कि पैसा समाज को कितना भ्रष्ट करता है, उसका दृष्टिकोण मेहनतकशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। साहित्य का कार्य समझ लिया जाए तो आलोचना कार्य की ऐसी कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं।

कार्यपरक आलोचना एकमात्र मार्क्सवादी आलोचना नहीं है। उदाहरण के लिए लूकाच कार्यपरकतावादी आलोचक नहीं हैं, लेकिन फिर भी वह महान् मार्क्सवादी आलोचक है। लेकिन कई दृष्टियों से, कार्यपरकतावादी आलोचना सर्वाधिक **विशिष्टतया** मार्क्सवादी आलोचना है, क्योंकि यह विशेष समीक्षाओं के द्वारा आलोचना की ओर अग्रसर होने की अपेक्षा समाज की पूर्ण अवधारणा प्रकट करती है, समूचे साहित्य पर, विचार करती है, सीधे समाज के साथ साहित्य के सम्बन्धों पर विचार करती है। मार्क्स-वाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—सामाजिक गति पर विचार करता है और साहित्य के विषय में कार्यपरक की दृष्टि से विचार करने वाली किसी अन्य पद्धति की अपेक्षा द्वन्द्वात्मक दृष्टि से इस गति पर विचार कर सकते हैं। मैं कार्यपरक से इतर मार्क्सवादी पद्धतियों का महत्व कम नहीं करना चाहता। लेकिन मुझे कहना पड़ेगा कि मैं इस कार्यपरक दृष्टि को अधिक पसन्द करता हूँ क्योंकि इससे पता चलता है कि कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद का उपयोग करके मार्क्सवादी आलोचना का विकास कैसे किया जा सकता है।

आलोचना, मार्क्सवादी हो या नहीं, रसग्राहिता पर निर्भर है। यदि साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना को अच्छी आलोचना होना है तो उसे साहित्य को साहित्य के रूप में देखना पड़ेगा। साहित्य को समाजशास्त्र समझने से काम नहीं चलेगा। काडवेल का मत था कि साहित्य **साहित्य** के रूप में ही मनुष्य जीवन में अपना कार्य करता हैं, इसके लिए उसे समाजशास्त्र नहीं बनना पड़ता। काडवेल मार्क्सवाद को अच्छी तरह समझने के साथ-साथ साहित्य के प्रति अत्यन्त संवेदनशील थे, इसीलिए वे साहित्य के सामाजिक कार्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर सके।

काडवेल का अध्ययन करते समय कठिनाइयों के पुंज का सामना करना पड़ता है। ऐसी कठिनाइयों को पुंज शायद ही किसी दूसरे लेखक का अध्ययन करते समय सामने आए। सबसे पहली कठिनाई है काडवेल का भीषण लेखन। अस्पष्ट होने के अलावा काडवेल के गद्य में सर्वत्र व्यवस्था का अभाव भी है, यहाँ तक कि उनके अनुच्छेदों में भी अव्यवस्था है। इसके कारण उनके लेखन में अनावश्यक दुरूहता आ गई है। कई स्थलों पर काडवेल अपने विचारों को स्पष्टतापूर्वक प्रकट नहीं करते, कभी-कभी वह ऐसे अन्तर्विरोधों को सामने लाते हैं जिनका शमन वह नहीं करते (अगरचे पाठक आमतौर पर इनका शमन पुस्तक के अन्य भागों के आधार पर कर सकता है)। काडवेल शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी हैं, इससे रोचकता तो पैदा होती है, लेकिन अक्सर निरर्थक विरोधी युग्मों और अर्थशून्य वक्तव्यों की भी सृष्टि होती है। यह शब्द-क्रीड़ा बहुत कुछ मार्क्स से मिलती-जुलती है, लेकिन काडवेल के यहाँ ज्यादातर इसके कारण तर्क धुंधले और परिणाम अर्थहीन हो जाते हैं। संक्षेप में, काडवेल के कथ्यों को प्रतिपादित कर पाना सम्भव होने पर भी अत्यन्त दुष्कर है। काडवेल की रचनाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ने पर साफ़ पता चल जाता है कि यह लद्दबाजी का कृतित्व है। तो भी हमें यह नहीं समझना चाहिए कि काडवेल अपने मन्तव्यों को प्रकट नहीं कर सके हैं या उन्होंने पहले से ही स्थापित अवधारणाओं का पिष्टपेषण किया है। काडवेल क्रान्तिकारी चिन्तक हैं। हम काडवेल को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उनके विचारों पर अपने विचारों को लादने के बजाय स्वयं उनके सन्देश को ग्रहण नहीं करते।

काडवेल की दुरूहता का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों की रचना लगभग दो वर्षों के ही स्वल्प समय में की। इसी दौरान उनका चिन्तन भी प्रौढ़ हुआ। अतः उनके विचारों के विकास को हम 'काल' के सन्दर्भ में नहीं देख सकते। हम प्रकाशन-तिथि के आधार पर उनकी रचनाओं का क्रम भी नहीं निर्धारित कर सकते, क्योंकि उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ मरणोपरान्त प्रकाशित हुई। स्वयं रचनाओं के ही भीतर से हम काडवेल की कुछ मार्क्सवादी अवधारणाओं का विकास देख सकते हैं। इस विकास-रेखा से हमें उनकी रचनाओं का क्रम निर्धारित करने में कुछ सहायता मिलती है। अन्तःसाक्ष्य तथा अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से यह संकेत मिलता है कि 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में काडवेल के सैद्धान्तिक विकास को अन्तिम रूप मिला है। कार्य सम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से इस बात को ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि 'स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर' 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' से पहले लिखी गयी।

गौण सामग्री के अभाव से काडवेल-साहित्य के अध्ययन में बाधा नहीं पड़ती। लेकिन इससे विचार चर्चा में कठिनाई यह हो जाती है कि उनके कृतित्व के बारे में व्यापक पाठक समुदाय की कोई भी सम्मति स्वतः स्वीकार नहीं की जा सकती और इस प्रकार हर चीज़ की व्याख्या नये सिरे से करनी पड़ती है। काडवेल की कृतियों को छोड़कर आलोचक और पाठक के बीच कोई सामान्य आधार नहीं रहता। लेकिन काडवेल विषयक भ्रान्तियों को देखते हुए, यह भी गनीमत है।

हाल्डेन द्वारा काडवेल की प्रशंसा में लिखे गये वाक्यांश 'विचारों की खान' से जो अव्यवस्था और दुरूहता व्यंजित होती है, वह शायद काडवेल के अध्ययन की सबसे बड़ी कठिनाई है। शायद इसी कारण अब तक किसी ने काडवेल का सम्यक् अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया है। काडवेल का ज्ञान-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था—वह पुनर्जागरणकालीन मानव थे। उन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृति की अपार ज्ञान-राशि का उपयोग किया है : ज्ञान-राशि का यह उपयोग उन्होंने एक अधकचरे की तरह नहीं, बल्कि सच्चे ज्ञान-साधक की तरह किया है। उनके आलोचक को भी वैसा ही ज्ञान-साधक होना पड़ेगा। मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश आलोचक यह शर्त पूरी नहीं करते। मुझ में तो निश्चित रूप से काडवेल का आलोचक होने की क्षमता नहीं है। काडवेल की कृतियों की आधारभूत सामग्री अन्तःसम्बन्धित है और सीमित बहस उनके सिद्धान्तों के साथ न्याय नहीं कर सकती। फिर भी मेरा खयाल है कि मैं अपने-आपको उनके साहित्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त तक ही सीमित रखकर उनके विचारों को न्यूनतम क्षति पहुँचा रहा हूं और मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्त को काडवेल की जो देन है उसकी आत्मा के यथासम्भव सबसे निकट पहुंचने का प्रयास भी कर रहा हूं।

: २ :

चौथे दशक के अन्य मार्क्सवादी आलोचकों से तुलना करें तो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में काडवेल का योगदान असाधारण रूप से महत्वपूर्ण मालूम पड़ता है। जिन आलोचनात्मक प्रश्नों को उन्होंने उठाया और अनुत्तरित ही रहने दिया, उनकी ओर ध्यान दें तो चौथे दशक के वामपन्थी आलोचकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी अवधारणाओं को लागू तो किया, किन्तु मार्क्सवादी पद्धति का ज्यादा उपयोग नहीं किया। यह ठीक है कि उन्होंने कला सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त की दिशा में कुछ प्रगति निश्चित रूप से की, किन्तु उनके अधिकांश लेखन को स्पष्ट रूप से केवल एक शुरुआत कहा जा सकता है।

चौथे दशक के मार्क्सवादी आलोचकों ने क्रम-से-कम इतना किया कि लोगों को इस बात से अवगत करा दिया कि कला के क्षेत्र में मार्क्सवादी अवधारणाएं लागू की जा सकती हैं। १९३३ में आर० डी० चार्क ने साहित्य के क्षेत्र में लागू होने वाले 'अस्तित्व द्वारा चेतना निर्धारण' के सिद्धान्त के औचित्य को प्रमाणित करने की आवश्यकता महसूस की थी, लेकिन १९३७ ई० तक उपर्युक्त सिद्धान्त (तथा यह सिद्धान्त भी कि कला भौतिक अस्तित्व के तथ्यों से सम्बद्ध है) को एडवर्ड अपवर्ड ने करीब-करीब एक स्वतःसिद्ध उक्ति के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्वीकार कर लिया था तथा राल्फ फाक्स ने उपन्यास के उद्भव की विवेचना करते समय इसका सर्जनात्मक उपयोग किया।[४] चेतना और साहित्य के सामाजिक निर्धारण का सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया, हालाँकि उस चेतना की समझ बहुत सीमित थी। कला को राजनीतिक औज़ार के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश का तकाज़ा था कि कला के कार्य पर व्यापक बहस की जाए लेकिन अधिकांश आलोचकों ने साहित्य के तात्कालिक कार्य (अर्थात् समाजवाद के संघर्ष की सहायता करना) को ही सामने रखा। इन लोगों की दृष्टि में साहित्य का कार्य सामान्यतः यही था।

वे विविध प्रकार से साहित्य-विषयक धारणा बनाते थे कि साहित्य शब्दों का हथियार है, कि वह मनुष्य की चेतना परिवर्तित कर देने वाला उत्तोलक यन्त्र है, कि वह संघर्ष के लिए तैयार करता है। एरिक गिल ने कहा कि सभी प्रकार की कलाएँ प्रचार हैं; अपवर्ड ने कहा कि समाजवादी क्रान्ति लाने का कार्य कितना महान् है, इसे महसूस करने में हमें साहित्य की सहायता की ज़रूरत है। एफ० डी० क्लिनजेंडर के अनुसार मनुष्य की चेतना को परिवर्तित कर सकने के कारण कला सभी प्रगतिशील शक्तियों का अनिवार्य सहायक है।[५] साहित्य के कार्य सम्बन्धी ये अल्प-व्याख्यान विचार जिस साहित्यिक अवधारणा को प्रकट करते थे वह बहुत दूर तक राजनीतिक थी। इन विचारों के साथ जिन साहित्यिक मानदण्डों को अपनाया गया था वे शायद साहित्य का राजनीतिक मूल्यांकन तो कर सकते थे लेकिन एक कला-रूप की दृष्टि से साहित्य पर विचार करने के लिए अपर्याप्त थे। सम्भवतः सबसे कुख्यात मानदण्ड अपवर्ड ने प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि समाजवादी स्थिति अपनाकर ही कोई आधुनिक पुस्तक अच्छी बन सकती है। लेखक समाजवादी नहीं है तो उसका लेखन झूठा है।[६]

एलिक वेस्ट इस प्रकार की आलोचना से साफ़ तौर पर अलग नज़र आते हैं। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें सर्जन और कार्य को सर्वदा दो भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं माना गया है, बल्कि साहित्य को इस रूप में देखा गया है कि वह वयक समाज से उपजने और फिर समाज को प्रभावित करने का काम साथ-साथ करता है। वेस्ट में सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना की एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करने की क्षमता थी जो मार्क्सवादी राजनीति और कला को सफलतापूर्वक एक-दूसरे से जोड़ती थी।[७]

चौथे दशक की मार्क्सवादी आलोचना ने मार्क्सवाद को साहित्य में लागू किया, उसने इस मार्क्सवादी अवधारणा की सन्दर्भवत्ता स्थापित की कि 'सामाजिक सत्ता चेतना का निर्धारण करती है।' यह अवधारणा साहित्य को सामाजिक समस्याओं से जोड़ती थी। उस समय साहित्य को औजार या हथियार के रूप में ग्रहण किया गया। फाक्स और विशेष रूप से वेस्ट ने चौथे दशक में महत्वपूर्ण योगदान किया, लेकिन इसके बावजूद इस काल की आलोचना ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण नहीं किया। सामान्यतः इस काल के आलोचकों में साहित्य के कार्य सम्बन्धी समझ की कमी थी और साहित्य की ज़िम्मेदारियों और समस्याओं पर इनके विचार सतही होते थे। आज इस कालावधि की आलोचना का महत्व बहुत कम है; लेकिन इससे कई बातें साफ होकर सामने आईं। इससे साफ़ ज़ाहिर हुआ कि ऐसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है जो आधारभूत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर बता सके कि (१) साहित्य क्या है, (२) इसका सामाजिक कार्य क्या है और (३) समूचे मानव परिवेश में साहित्य कहाँ स्थित है? काडवेल ने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की।

काडवेल ने साहित्य के कार्य की सन्तोषजनक व्याख्या की, कम-से-कम समूचे मानव-जीवन में साहित्य की स्थिति को परिभाषित किया। लेकिन इस काम में वह बहुत दूर तक आगे न बढ़ सके। चौथे दशक के अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तरह वह भी सौन्दर्य-रुचि पर यथेष्ट प्रकाश न डाल सके। साहित्य के सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त को शुद्ध सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य पर विचार करना ही पड़ेगा। अन्य आलोचकों की राजनैतिकता उनकी असफलताओं को साफ प्रकट कर देती है, किन्तु काडवेल राजनीति की शरण में नहीं जाते। 'फर्दर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर' में सौन्दर्य पर उन्होंने जो निबन्ध लिखा है, उससे पता चलता है कि शायद वह इस समस्या के प्रति सचेत थे, लेकिन वह इस समस्या के समाधान के निकट नहीं पहुँचते। काडवेल की दृष्टि में, कला के क्षेत्र में सौन्दर्य का वही स्थान है जो विज्ञान के क्षेत्र में सत्य का है। लेकिन इससे यह पता नहीं चलता कि साहित्य के क्षेत्र में सौन्दर्य की भूमिका क्या है या वह साहित्य के कार्य से किस प्रकार सम्बन्धित है। काडवेल के अनुसार कलाकृतियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

मूल्यांकन और समाकलन का काम सौन्दर्यशास्त्र का है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"इसका यह मतलब नहीं कि उपन्यास और कविता में समाकलन की आवश्यकता नहीं है। यह समाकलन सौन्दर्य-शास्त्र का कार्य है। सौन्दर्यशास्त्र का यह मूल कार्य है कि वह हरेक को मिल्टन से अवर तथा शेक्सपियर को इन दोनों से श्रेष्ठ प्रमाणित करे। उसे जटिल विस्तार में जाकर उनका फर्क भी प्रमाणित करना है। लेकिन इसके लिए एक प्रतिमान, जगत के समाकलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है, यह (प्रतिभा और दृष्टिकोण) वैज्ञानिक अर्थात् बुद्धिसंगत नहीं सौन्दर्य-शास्त्रीय होगा। यह कला का न्याय है"[८]।

काडवेल ने विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय कसौटी और साहित्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया। लेकिन कार्य सिद्धान्त अपने आप साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन की वस्तुगत कसौटी प्रस्तुत करता है। काडवेल ने इस सूत्र की खोज की लेकिन इसका विकास नहीं किया। "सामाजिक सत्ता चेतना का निर्धारण करती है" यह वाक्य कसौटी नहीं बन सकता। यह कहना कि साहित्यिक कृति अपने काल की प्रतिच्छवि है, कृति का मूल्यांकन करना नहीं है। हाँ, कार्य-सिद्धान्त अवश्य प्रतिमान बन सकता है। साहित्य यदि अपना कार्य करता है, सामाजिक पुनर्गठन की बढ़ोतरी के जरिए लोगों की स्वतन्त्रता के विकास में सहायक होता है, व्यक्ति की अपनी सम्भावनाओं की उपलब्धि में सहायक होता है, तो अच्छा है; यदि वह लोगों की स्वतन्त्रता का ह्रास करता है या केवल भावप्रवणता को बढ़ाता है तो बुरा है। जाहिर है कि सौन्दर्यशास्त्रीय कसौटी का व्यवहार इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए करना है—कार्य की कसौटी का व्यवहार बिल्कुल सीधे नहीं किया जा सकता। इस कसौटी का इस्तेमाल करना आसान नहीं है। लेकिन साहित्य का सामाजिक कार्य समझ लेने के बाद इसकी विधि स्पष्ट हो जाती है।

काडवेल ने सिद्धान्त और व्यवहार की द्वन्द्वात्मकता को पूरी तरह समझ लिया था, इसलिए उन्होंने जान लिया कि मार्क्सवाद व्यावहारिकता की उपेक्षा नहीं करता, इसीलिए वह मार्क्सवाद की व्याख्या जगत् के सन्दर्भ में करने से नहीं हिचके। काडवेल के लिए मार्क्सवाद साध्य नहीं, पथदर्शक था। उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं को गहराई से पढ़ा था, इसका सर्जनात्मक उपयोग उन्होंने मार्क्सवाद को नए क्षेत्रों पर लागू करने के लिए किया। उन्होंने मार्क्सवाद की अपनी मजबूत पकड़ का उपयोग सौन्दर्यशास्त्र को मार्क्सवाद के प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए किया।

अपनी पीढ़ी के अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा काडवेल बेहतर भौतिकवादी और बेहतर द्वन्द्ववादी थे। उन्होंने साहित्य के सामाजिक अन्तःसूत्रों को पकड़ा और मनुष्य के उत्तराधिकार और भौतिक प्रकृति के प्रति साहित्य की जिम्मेदारी को आँका। उन्होंने न तो साहित्य का अतिमूल्यन किया न मानव-जाति में इसके महत्व को कम करके आँका। वह साहित्य को ऐतिहासिक तथ्य मानकर सन्तुष्ट नहीं रहे बल्कि उन्होंने इसकी मौजूदगी के कारणों की व्याख्या का प्रयास किया। उसकी व्याख्या का सामाजिक व्याख्या होना अवश्यम्भावी था। यह सच्चे अर्थों में साहित्य के सामाजिक कार्य के विषय पर किया गया चिन्तन है। काडवेल ने बताया कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों की आधारभूत समस्या साहित्य का सामाजिक कार्य है। अंग्रेज मार्क्सवादी आलोचकों में से केवल वही समाधान के निकट तक पहुँच सके। उन्होंने बताया कि सिर्फ इसका विस्तार करने से काम नहीं चलेगा कि "सत्ता चेतना का निर्धारण करती है।" मार्क्सवादी व्याख्या को द्वन्द्वात्मक होना पड़ेगा, उसे साहित्य के व्यवहार-पथ और समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का भी ध्यान रखना पड़ेगा।

काडवेल के अनुसार कला, मायिक अवास्तविकता के जरिए मनुष्य को बदलती है, बदले हुए मनुष्य अवास्तविकता को वास्तविकता बनाने के लिए दुनिया को बदलते हैं। उन्होंने मनुष्य के सामाजिक और जैवी द्वन्द्वात्मकता के एकत्व को समझा और साहित्य का अध्ययन करके सार रूप में ऐसे सामाजिक सम्बन्ध को खोज निकाला जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य का कार्य है। साहित्य उस अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति करता है जो व्यक्ति, सहज वृत्तियों से चालित मनुष्य और संगठित, सुसंस्कृत मनुष्य के बीच है, समाज पर अपनी ऊर्जा का धावा बोल देने वाले और अपनी ऊर्जा को सामाजिकता से निर्देशन करने वाले मनुष्य के बीच है। इस अन्तर्विरोध को देखें तो साहित्य की आवश्यकता समझ में आती है, इसी से साहित्य की विशेषताएं भी उत्पन्न होती और समझ में आती हैं। इस जानकारी के लिए मार्क्सवादी आलोचना काडवेल के प्रति कृतज्ञ रहेगी।●

अनुवादक : विश्वनाथ त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. थामसन, 'इन डिफेंस ऑफ पोएट्री', दि माडर्न क्वार्टर्ली, वसंत, १९५१, पृ० १२३।
२. वेस्ट, 'दि काडवेल डिस्कशन', वही, ग्रीष्म १९५१, पृ० २६८।
३. मार्क्स, 'प्रिफेस टु ए कंट्रीब्यूशन टु दि क्रिटीक आफ पोलिटिकल एकॉनॉमी', पृ० १८२।
४. Charques कन्टेम्पोरेरी लिटरेचर एण्ड सोशल रिवोल्यूशन, ७,१०; अपवर्ड, "स्केच फार ए मार्किसस्ट इंटरप्रिटेशन आफ लिटरेचर", पर और फाक्स, द नावेल एण्ड द पीपुल, ४४. फाक्स की रचना का प्रथम संस्करण १९३७ में छपा था।
५. गिल "सभी कलाएँ प्रचार हैं" ४८ अपवर्ड ५५, और क्लिनजेंडर, २८।
६. अपवर्ड, ५२-५३ और देखिए ४६-४७ और ४९। शायद इसी प्रकार के वक्तव्यों को देखकर हाइमन ने लिखा "एडवर्ड अपवर्ड ने अपने अल्पकालीन उग्रवादी दौर में जो कुछ लिखा वह लेखन के इतिहास का सबसे वाहियात अंश है।" हाइमन १९३।

अपवर्ड ने जैसे ही निष्कर्ष निकालना और समाजवादी दौर में साहित्य के भविष्य पर विचार करना शुरू किया, आलोचक और मार्क्सवादी के रूप में उसका हल्कापन प्रकट होने लगा। उदाहरण के लिए उन्होंने लिखा, "हम सोच सकते हैं कि भावी लेखक त्रासदी को जो कि मनुष्य की पराजय पर मनन करने का परिणाम (?) है, सर्वाधिक प्रभावशाली और सर्वाधिक गम्भीर साहित्य-विधा नहीं मानेगा।" (५४) अपवर्ड के इस कथन से प्रकट है कि उनका साहित्यिक अनुभव निहायत उथला था और उन्होंने मार्क्सवाद को बिल्कुल नहीं समझा था।

७. वेस्ट : क्राइसिस इन क्रिटिसिज्म; उदाहरण के लिए देखिए पृ० ९२, १३४, १३८-१४०, १८१।
८. इल्यूजन एंड रियलिटी, पृ० १३३

[लेखक की पुस्तक 'दि फंक्शन ऑफ लिटरेचर : ए स्टडी ऑफ क्रिस्टोफर काडवेल्स इस्थेटिक्स, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, १९६८ से भूमिका और निष्कर्ष के अंश साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता

रोजर गारोदी

: १ :

मार्क्सवाद मानव की सृजनात्मक क्रियाशीलता से शुरू होता है। वहीं पर इसका पर्यवसान है : प्रत्येक मानव को मानव बनाने में अर्थात् स्रष्टा 'कवि' बनाने में। फिर मानवीय श्रम-क्रिया में, मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि में, कलात्मक सृजन का क्या स्थान है? विश्व को रूपान्तरित करने की क्रिया के अन्तर्गत मिथक का क्या स्थान हो सकता है?

हम इस पर पहले भी बल दे चुके हैं कि कल्पलोक से विज्ञान तक के संचरण में, समाजवाद के हाथों स्वप्न का नाश नहीं हुआ है। समाजवाद ने यही किया है कि इस स्वप्न को साकार करने के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक आधार प्रस्तुत किया है।

हमें स्वप्न देखने चाहिए; यह लेनिन ने कहा था जो यह जानता था कि मिथक स्वयं क्रियारत जीवन है।

मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार मिथक का स्थान सृजनात्मक कला के स्तर पर है, न तो ऊपर है और न ही नीचे।

हम जिस तरह बर्कले के इस मत में शरीक नहीं हैं कि प्रकृति किसी अनन्त मस्तिष्क के द्वारा ससीम मस्तिष्कों को कही गई प्रतीकात्मक भाषा है, इसी तरह कैसिरर के इस मत में हमारा विश्वास नहीं है कि मिथक ईश्वर-विषयक चेतना द्वारा रचित ओडेसी है, और न गुसडोर्फ के इस मत में कि मिथक वास्तविकता में निमज्जन तथा आधिभौतिक पुनरैक्य है, या द्यूमेरी के इस मत में कि मिथक पूर्वतः विद्यमान मूल्यों का स्पन्दानुभव है, और न ही युंग के इस विचार में हमारी सहमति है कि आर्किटाइप अथवा आदिम बिम्ब विचार-प्रक्रिया के लिए गर्भ-स्थानीय हैं। मिथक की भूमिका न तो धार्मिकता है और न ही आदिम-प्रकृति।

यदि मिथक अतिरोहण की अभिव्यंजना है तो यह अतिरोहण बाह्यता अथवा उपस्थिति की शब्दावली में नहीं समझा जा सकता। यह अतिरोहण न तो ऊपर से है—ईश्वर का, न ही नीचे से है—बने बनाए रूप में हमें दी गई प्रकृति का।

मिथक सहभागिता नहीं अपितु सृजन है।

मार्क्स के अनुसार मिथक का स्वरूप वह नहीं है जो फ्रायड के अनुसार है, आकांक्षा की उदात्तीकृत अभिव्यक्ति भी नहीं। मार्क्स के मत में मिथक श्रम का एक रूप है।

यह अन्तर मौलिक अन्तर है क्योंकि आकांक्षा प्रकृति का ही प्रवाह है जबकि श्रम प्रकृति का अतिरोहण करता है।

श्रम को मिथक का—यहाँ तक कि प्रकृति के विपरीत संस्कृति का ही—आधार बनाने से, हमें अवसर मिलता है कि हम स्वप्न-प्रतीकों तथा मिथक-प्रतीकों में विभाजक रेखा खींच सकें। स्वप्न-प्रतीक आकांक्षा की अभिव्यक्ति हैं जबकि मिथक-प्रतीक मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि का एक रूप है—ऐसा रूप जो काव्यात्मक हो, पैगम्बराना हो तथा लड़ाकू हो, किन्तु हर हालत में पुरो-द्रष्टा हो।

इससे, सही अर्थ में, अपने नाम से पुकारे गए मिथक में तथा गलत नाम से पुकारे गए मिथक के बीच उत्पन्न घालमेल का निवारण हो जाता है। यदि मिथक श्रम की वह अवस्था है, जिसमें मानव का उदय अपने उस अस्तित्व के नए आयाम की स्थापना करता है जो भविष्य को उपलब्ध करता है, तो मिथक को हम न तो अतीत का अवशेष कह सकते हैं, न अन्योक्ति रूप में बालिश तथा स्थानारोपित तर्क और न ही कारणान्वेषी कथाएँ कह सकते हैं। और न ही यह किसी महान् अवधारणा के द्वारा वर्तमान का पुनरुत्पादन तथा संरक्षण है—एक ऐसा चित्र जो व्यवहार के लिए आदर्श बन जाय। प्रोपेगैण्डा तथा प्रचार द्वारा निर्मित यह सामाजिक रूढ़ि और निर्जीवता की स्थिति भ्रम तथा अलगाव है। इसकी प्रवृत्ति है : इतिहास की प्रगति करना नहीं बल्कि इच्छाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्वीकार्य रूप प्रदान कर इतिहास की गति को रोकने तथा इंसान को उसकी सहजवृत्तियों के बन्द घेरे में चक्कर लगाने को छोड़ देने की है। यह रूढ़ि कई तरीकों से अनेक शक्लें अख्तियार करती है : हिटलर के नस्ल के प्रोपेगैण्डा अथवा कामोत्तेजना को इश्तिहार का साधन बनाने से लेकर 'मूर्ति' में प्राप्त होने वाले मिथक-नायक की जगह किसी अधःपतित को स्थानापन्न करने तक। यहाँ मिथक के विस्तार के द्वारा, युवकों को आत्मनिर्वासित जीवन के लिए स्थानापन्न जीवन का एक पूरक भ्रम प्रदान किया जाता है : जैसे बेरेनिस की जगह सोराया को तथा अफ्रोदाइत की जगह ब्रिगीबादो को।

ऐसे भी मिथक हैं जो हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं या फिर हानिप्रद हैं। वे हमें कहीं भी नहीं ले जाते। दूसरे हैं जो हमें अपने सृजन केन्द्रों तक पहुँचाते हैं, जो लगातार नए क्षितिजों का उद्घाटन करते हैं और अपनी ही सीमाओं को पार करने में हमारी सहायता करते हैं। कुछ बन्द मिथक होते हैं और कुछ खुले मिथक। इनमें से दूसरे ही सही मायने में असली मिथक होते हैं।

हम मिथक नाम, हर ऐसे प्रतीकात्मक कथानक तक सीमित रखेंगे जो मानव को उसके सर्जक-रूप और भाव-रूप की प्रकृति तक वापस ले आता है। यह मानव का वह रूप है जो भविष्य का निर्माण करता है, वह रूप नहीं जो अन्य प्राणियों के समान उसे सहजात वृत्तियों और इच्छाओं के वशीभूत होकर अतीत से बाँधे रखता है।

यह अनिवार्य नहीं है कि ऐसे मिथक केवल आदिम मस्तिष्क की उपज हों। समकालीन मिथक भी होते हैं जो बुद्धि-प्रसूत हैं।

अपने प्रारम्भ से ही मिथक अतिरोहण की अभिव्यंजना है और उसका विनम्रतम रूप है—मानव द्वारा प्रकृति का अतिरोहण। इसमें प्रदत्त स्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद के दो रूप अन्तर्निहित हैं : बाह्य प्रकृति से तथा हमारी अपनी प्रकृति से।

मार्क्स का कहना है कि हम ग्रीस के उन महान मिथकों को, जिनका आकर्षण शताब्दियों से बना हुआ है, इस तरह व्याख्या करें जैसे कि वे मानव के स्वस्थ शैशव की अभिव्यक्ति हैं; वह चाहे प्रोमेथेडस हो या इकेरस, अन्तिगोने और पिग-मेलियन! प्रत्येक महान् मिथक में, चाहे वह धार्मिक हो अथवा काव्यात्मक, मानव प्रदत्त व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने अतिरोहण को फिर से शामिल करता है।

इसके अतिरिक्त यह श्रम के विशिष्ट मानवीय आयाम पर आधारित है; यह आयाम वह भविष्य है जो वर्तमान में खमीर की तरह मौजूद रहता है।

: २ :

यथार्थवाद की हमारी मार्क्सवादी अवधारणा को बुर्जुआ आलोचना में रूढ़ तथा सीमित यथार्थवाद का अनुगमन नहीं करना चाहिए अपितु मानव-जाति के सभी महान् सृजनात्मक कालों की विरासत को आयत्त करके उसे साहसपूर्वक सृजनात्मक रूप में आगे बढ़ाना चाहिए।

यह इसलिए और महत्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मतारूढ़ अवधारणा ने, निकृष्टतम बुर्जुआ आलोचना की उस आधि-भौतिक अवधारणा के परिणामों को और भी बिगाड़ दिया है जिसने पुनर्जागरण की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं को शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय मान लिया है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की यांत्रिक विकृति के फलस्वरूप सौन्दर्यशास्त्रीय गलतियों के केवल तीन उदाहरण लें :

१. मार्क्सवादी आलोचना में ह्रास की विश्वव्यापी अवधारणा को लागू करना। स्वयं मार्क्स ने अट्ठारहवीं शती के फ्रांसीसी भौतिकवादियों की इस आडम्बरपूर्ण अज्ञता का मजाक उड़ाया है जिन्होंने अपने यांत्रिक भौतिकवाद के बल पर यह तर्क प्रस्तुत किया : हम अपनी तकनीकी और आर्थिक स्थिति में प्राचीन ग्रीसवासियों से उन्नत हैं; अतः हमारी कला भी उनकी कला की अपेक्षा उन्नत है। वोल्तेयर का हेनरियाद, होमर के इलियद से बेहतर है।

इस तर्क से अधिरचनाओं की सापेक्ष स्वायत्तता का मूल्य दुखद रूप में कम होता है। और इस विश्वास को प्रश्रय मिलता है कि एक ह्रासग्रस्त सामाजिक और आर्थिक शासन-व्यवस्था केवल ह्रासग्रस्त कृतियों को ही उत्पन्न कर सकती है।

यह तो दर्शन के क्षेत्र में भी सच नहीं है : जिस युग ने साम्राज्यवाद को ध्वस्त किया वह ऐसी अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के जन्म का साक्षी है जिनसे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमने हुसेर्ल, हाइडेगर, फ्रायड, बाशेलार और लेवी-स्त्रोस आदि की ऐसी उपेक्षा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

जैसे ये कभी हुए ही नहीं तो स्वयं मार्क्सवाद ही दरिद्र होगा।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला में इसका औचित्य और भी ज्यादा है: वह काल जिसमें पूंजीवाद का ह्रास तथा साम्राज्यवाद का ध्वंस हुआ वह कला में प्रभाववाद, सेज़ां, वान गॉग, घनवादियों तथा वनवादियों के विकास और साहित्य में काफ्का से लेकर क्लादेल तक की अत्यधिक मूल्यवान् कृतियों के सृजन का साक्षी है।

२. ह्रास की इस अवधारणा को लागू करना, दर-असल, एक अधिक सामान्य गलती का एक विशेष नमूना है: यह गलती है—कला में विचारधारात्मक अधिरचना के अतिरिक्त और कुछ न देखना और यह मानना कि कला अपने से बाहर पूर्वनिर्मित वास्तविकता का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रतिबिम्बन की यह यान्त्रिक अवधारणा कलाओं के लिए उतनी ही घातक है जितनी विज्ञान के लिए।

कोई भी मार्क्सवादी यह सन्देह नहीं करेगा कि कला अधिरचना का अंश है और इस तरह वर्गहितों से बंधी हुई है; किन्तु कला को विचारधारा के घटकों तक सीमित कर देना, न केवल इसके विशिष्ट चरित्र को आँख से ओझल करना है, किन्तु इसकी सापेक्ष स्वायत्तता से भी मुंह मोड़ना है और यह भूल जाना है कि कला अपना विकास समाज के साथ कदम में कदम मिलाकर नहीं करती।

मार्क्स ने जोर देते हुए कहा था कि सोफोक्लेस की त्रासदियों और जिस सामाजिक व्यवस्था में वे उत्पन्न हुईं उन दोनों के बीच की ऐतिहासिक कड़ियों की व्याख्या करना कठिन नहीं है, किन्तु इस तथ्य की व्याख्या फिर भी अपेक्षित है कि आज भी, एक पूर्णतया भिन्न व्यवस्था में वे सौन्दर्यानुभूति कराने में समर्थ क्योंकर हैं, और क्यों वे ऐसे आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिनका अतिक्रमण असंभव प्रतीत होता है।

३. तीसरी गलती है कला को ज्ञान का एक रूप मानकर वर्गव्यवस्थाओं से निरपेक्ष कलाकृति के स्थायी मूल्य की व्याख्या करने का प्रयास। बेशक, जैसा कि मार्क्स ने बालजाक के विषय में और लेनिन ने ताल्स्ताय के विषय में दिखाया है, महान कृतियों का ज्ञानात्मक मूल्य है। किन्तु कला को इसी पक्ष तक सीमित कर देने का मतलब है कला के विशिष्ट चरित्र को न समझ पाने की भूल को दुहराना। हीगेल का अनुसरण करते हुए कला को ज्ञान का एक विशिष्ट रूप समझ लेना काफी नहीं है; क्योंकि यह सत्य नहीं है कि कला बिम्ब के माध्यम से वही सिखलाती है जो दर्शन तथा इतिहास अवधारणाओं के माध्यम से सिखलाते हैं। मैं डान कुइहोट या हैमलेट, या किसी कविता या चित्र, अथवा संगीत रचना को अवधारणाओं में 'अनूदित' नहीं कर सकता। वह इसलिए कि कलाकृति का विशिष्ट गुण इसी में है कि वह अपनी वस्तु और अपनी भाषा दोनों में ही अक्षय होती है।

अपनी वस्तु में इसलिए कि वह सक्रिय सत्ता—स्रष्टा के रूप में मनुष्य स्वयं है। जब सेज़ां की एक 'स्टिल लाइफ' हमें ऐसे सन्तुलन की अनुभूति कराती है, जो कि, ढह जाने के कगार पर है, और एक मेज, एक प्लेट और तीन सेवों में परिसीमित कर दिया गया यह संसार ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव की एक महान क्रिया—कलात्मक रचना—के द्वारा विनाश के अन्तिम बिन्दु पर थमा हुआ है तो उस समय हमें इस सत्य की मूर्त अभिव्यंजना का बोध होता है कि वास्तविक वह नहीं जो एक प्रदत्त स्थिति है अपितु वास्तविक वह भी है जो उपलभ्य कर्म है। कृति उत्तरदायित्व के प्रति एक जागृति है, यह संस्मृति है कि मानव एक सर्जक है, एक दायित्वपूर्ण प्राणी है। यह एंटिगोने के बारे में भी उतना ही सत्य है जितना फाउस्ट के बारे में।

कला की भाषा उसकी वस्तु से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। वस्तु की तरह ही भाषा भी अनिवार्यतः अक्षय होती है। यह मिथकों की सर्जक है। ये मिथक मानव के वे आदर्श रूप हैं जब वह अपना अतिरोहण करता है और जब वह उन अवधारणाओं के दायरे को पार करता है जो केवल पूर्वनिर्मित की अभिव्यक्ति करती हैं। इसलिए यह काव्य अथवा प्रतीक है। दूसरे शब्दों में—यह शब्दों की ऐसी अप्रत्याशित मुठभेड़ है जो हमें पूर्वनिर्मित वास्तविकता नहीं प्रदान करती किन्तु हमें उस 'लक्ष्य' का संकेत देती है, उस 'लक्ष्य' को प्रस्तुत करती है जो एक वास्तविकता है किन्तु ऐसी वास्तविकता जो निर्माण की प्रक्रिया में है।

अतः कला ज्ञान है, किन्तु ऐसा ज्ञान जो अपनी वस्तु और भाषा के धर्म से विशिष्ट है। यह मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्ति का ज्ञान है जो मिथक की अक्षय भाषा में अभिव्यक्त होता है।

कलाकृति का लक्ष्य यथार्थ की वह अवधारणा है जिसमें निहित यथार्थवाद यथार्थ के ही समान अन्तहीन विकास और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्नवीकरण की अवस्थाओं से गुजर सकता है।

यह ऐसा यथार्थवाद है जो यथार्थ का कोरा प्रतिबिम्ब मात्र नहीं बल्कि एक नए यथार्थ की सृष्टि में सक्रिय साझेदारी है।

एक मार्क्सवादी के लिए, कला का इतिहास आत्मा की चेतनता नहीं है, जैसा कि हीगेल ने सोचा था, अपितु आत्मा के सृजन का इतिहास है।

यदि हम कलात्मक सृजन के इस विशिष्ट चरित्र को पहचान लें तो हम उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेंगे जो विज्ञानों के बारे में निर्मित निष्कर्षों के तुल्य होंगे।

यदि यथार्थ को रूढ़ तथा इदमित्थं ढंग से परिभाषित किया गया तो हम यथार्थवाद से हर ऐसी चीज़ को निष्कासित कर देंगे जो नया यथार्थ है। और, इस प्रकार हम जो करेंगे वह ऐसा दावा होगा कि हमने यथार्थ अथवा नैतिकता के लिए **एकबारगी और हमेशा** के लिए मानदण्ड परिभाषित और निश्चित कर दिया है।

दूसरी ओर, कला की सृजनात्मक भूमिका को मान्यता दे देने का मतलब होगा कि हम विज्ञान की तरह, कला में शैली और वादों के **बहुत्ववाद** को न केवल मानते हैं, अपितु उसकी प्रत्याशा भी करते हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण का आरम्भ इसी महान् सौन्दर्यशास्त्रीय आन्दोलन से हो सकता है। इसका मतलब होगा कि कलाकार से तात्कालिक नारों को उदाहृत करने की माँग न की जाय, किन्तु उसे आह्वान किया जाय कि वह मानव-भविष्यत् के निर्माण में सहभागी हो—और यह वह तभी कर सकता है जब वह हमारे काल के ऐतिहासिक विकास के नियमों की स्पष्ट चेतना से प्रारम्भ करे और जब उस विकास के प्रति अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की तीव्र चेतना हो और साथ ही उसे यह भी चेतना हो कि समाजवाद मूलतः क्या है। समाजवाद को अतीत की तुलना में वर्गयुद्ध के निषेधात्मक रूप में परिभाषित किया जाता है। किन्तु इसका अतिक्रमण करने पर समाजवाद हमारे सामने ऐसी समाज-व्यवस्था के रूप में आता है जो हर मनुष्य को मनुष्य बनाती है, एक सर्जक बनाती है और वह सर्जक भी हर स्तर पर : आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक। कलाकार को यह चेतना प्रदान करने का अर्थ है उसे वह भूमिका अदा करने में मदद देना, जिसके द्वारा वह मनुष्यों में अपनी मानवीय चेतना और इस प्रकार सर्जनात्मक गुण के प्रति जागृति पैदा करता है।

अनुवादक : विनोद खुराना

[लेखक की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद' (१९७०) के 'मार्क्सवाद और कला' शीर्षक पाँचवें अध्याय से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टी, साहित्य और समाजवाद

अर्न्स्ट फिशर

समाजवादी व्यवस्था उस कला के लिए उन वस्तुगत अवस्थाओं का सृजन करती है जो मनुष्य के हृदय को अपनी पकड़ में ले सके, उसके मर्म को आन्दोलित कर सके और उसे बदल सके। रद्दी और सस्ती कृतियों का उत्पादन वस्तुतः व्यापारिक लाभ भी नहीं पहुँचाता। अवकाश के समय के साथ नियंत्रण-हीन मनोरंजन उद्योग का बलात्कार नहीं होता। समाजवाद का रुख 'है' की तरफ न होकर 'होने' की तरफ है। समालोचना एक विचार के आधार पर परिपुष्ट होती है, और वह विचार समाजवाद है; कल्पना-शक्ति इस योग्य होती है कि वह निर्माण की प्रक्रिया से गुज़रते हुए समाज की गतिशीलता को ग्रहण कर सके।

'संस्कृति की रक्षा के लिए कांग्रेस' में अर्न्स्ट ब्लाख ने १९३५ में पेरिस के अपने व्याख्यान (मार्क्सवाद और साहित्य) में इन संभावनाओं पर बोलते हुए कहा था—

'सही यथार्थवादी साहित्य उस प्रक्रिया से संबद्ध होता है जिसके अन्दर से तथ्य बड़ी ही कुशलता से निर्वासित और जड़ कर दिये गये हैं; यह प्रक्रिया सारग्राही सूक्ष्म कल्पना की माँग करती है जिससे उसका पुनः प्रस्तुतीकरण हो सके और वह स्वतः इस कल्पना से ठोस रूप में बँध जाय। जब किसी को एक बार मार्क्सवादी समीक्षा का चस्का लग जाता है तो वह स्वभावतः खोखली सिद्धान्तवादिता के विरोध में स्वयं आ खड़ा होता है और उसे अस्वीकार कर देता है। किन्तु एकमात्र सही काव्यात्मक लय जो आज संभव है—वह कल्पना जो झूठ से मुक्त है—पूरी स्पष्टता से उभरकर सामने आती है और अपने हर पूर्ववर्त्ती युग के कथ्य से बेहतर होकर स्पर्द्धा का विषय बनती है।"[1]

हर महान् साहित्यिक कृति के पीछे "उस प्रक्रिया का समुद्र लहराता है जिसकी यथार्थता की गहराई शायद ही मापी जा सकें। मार्क्सवाद इससे पर्याप्त परिचित है और वह विचारधारा-प्रसूत झूठ से मुक्त तथा मूर्त स्वप्नलोक से युक्त प्रक्रिया से संबद्ध ठेठ वस्तु तक पहुँचने में सहायक होता है।"[2]

अतः समाजवाद अपने अन्दर अग्रगामी, सक्रिय और सशक्त कल्पना की शक्ति लिए हुए है जो मानव-भविष्य का सह-निर्णायक हो सकती है। यह तो और भी दुःखद बात है कि इसके जो नतीजे हैं वे सम्भावनाओं की तुलना में अत्यन्त नगण्य हैं; कि जो यन्त्र समाजवाद के नाम पर शासन करता है वह उस रचनात्मक कल्पना से घबराता है जिसका स्वभाव ही स्वाधीनता है; कि यह कला को नपुंसक बनने के लिए अभिशप्त कर देता है क्योंकि यह अपनी शक्ति को या तो पहचानता है या फिर बढ़ा-चढ़ाकर आँकता है। कोई भी 'दिशा निर्देश', आदेश या विधेयक कल्पना पर दबाव डाल कर उसे राज्य, पार्टी या शासन-यन्त्र की सेवा करने को विवश नहीं कर सकता—खासकर इस उद्देश्य से कि जो कुछ भी है उससे यथावत सहमत हो जाय या जो अभी तक उपलब्ध न हो सका है उसे रोज़मर्रा के जीवन का अंश मान लेने का दिखावा करे।

रूसी क्रान्ति-काल में कल्पना यथार्थ से मिलकर एकाकार हो गयी थी। क्रान्तिकारी क्रियाकलाप, जिससे आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति मिटती है, इस संदर्भ में कला से मिलती-जुलती हुई चीज़ है। इससे निर्वासित व्यक्ति अपने-आप में लौट आता है। उस समय कला क्रांतिकारी जनसमूह के बीच थी, यद्यपि उसके रूप उन लोगों के लिए अपरिचित थे। समूह का बोध उन शब्दों तक में विद्यमान था जो समझ में नहीं आ सके थे। किन्तु जब अपनी अनेक कठिनाइयों के बावजूद क्रान्ति ने निर्माण के दौर में प्रवेश किया तो साहित्यिक और कलात्मक 'अवाँगार्द' के साथ जनसमूह का संबंध एक पेचीदा समस्या के रूप में उभर आया। क्रांति की आरम्भिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में कला ने अपना एकीकृत उद्देश्य खो दिया और विविध लक्ष्यों की उपलब्धि के आह्वान की प्रतिक्रिया में वह अलगायी जाने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ मानो बँधी हुई मुट्ठी खुल पड़ी हो और हाथ तरह-तरह की चीज़ों, पास और दूर की चीज़ों की तरफ बढ़ा। क्रान्ति की प्राणशक्ति १९२० के दशक के अन्त तक प्रभावशाली रही—फ़िल्म, कविता और उपन्यास की विपुल रचना हुई जिसमें नये विषयों को लेकर और समाजवादी कला की अक्षय सम्भावनाओं की पूर्वाभिरुचि जगाने के उद्देश्य से अभिव्यक्ति से नये माध्यमों का प्रयोग किया गया। किन्तु उस समय भी कला को नियन्त्रित करने का रवैया ज़ोर पकड़ रहा था, उसे शासित और मनोनुकूल ढंग से तोड़मरोड़ कर पेश करने की प्रवृत्ति मौजूद थी, उससे आलोचना और मुक्त कल्पना के उपयोग की प्रवृत्ति निकाल फेंकने और कलाकारों को पदाधिकारी बना देने, प्रस्तावों के उदाहर्त्ता के रूप में बदल लेने की प्रवृत्ति मौजूद थी।

मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ

१९२८ ई० में लुनाचार्स्की ने 'मार्क्सवादी समीक्षा की समस्याओं पर प्रबन्ध' में लिखा था—

"सार्वभौमिकता की कसौटी को गम्भीरता से लागू करना चाहिए। हमारे प्रकाशन एवं प्रचारात्मक साहित्य का विस्तार नितांत आरम्भिक लोकप्रिय स्तर से लेकर अत्यन्त जटिल पत्र-पत्रिकाओं तक है जो पाठक से काफी समझ की अपेक्षा रखती हैं। इसी तरह हम अपने तमाम साहित्य को उन किसानों या मजदूरों के स्तर तक नहीं गिरा सकते जो अब तक असंस्कृत हैं। यह बहुत गम्भीर भूल होगी।" अपनी इसी कृति में लुनाचार्स्की लेखक की उस आवश्यकता की पुष्टि करते हैं जिसके अनुसार वह 'हमारे कार्यक्रम में पहले ही पूरी तरह विकसित किये गये विचारों' से परे भी जा सकता है। 'कलाकार तभी महत्त्वपूर्ण होता है जब वह परती ज़मीन तोड़ता है, जब वह अपनी अंतःप्रज्ञा के बल पर ऐसे क्षेत्र में प्रथम प्रवेश करता है जिसमें तर्कशास्त्र या सांख्यिकी शायद ही पहुँच पायें। कलाकार सही है या नहीं, उसने यथार्थ और साम्यवाद की बुनियादी आकांक्षाओं का सम्मिश्रण किया है या नहीं—यह निर्णय करना आसान नहीं है; यहाँ भी सही निर्णय पर तभी पहुँचा जा सकता है जब हम आलोचकों और पाठकों के विचारों के संघर्ष पर ध्यान देंगे।"[3]

जब तक यह प्रवृत्ति सत्तारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टी के रुख की निर्णायक है—यद्यपि शासन-यन्त्र के द्वारा हस्तक्षेप का सदैव खतरा मौजूद है—तब तक कलात्मक कल्पना के लिए वे अनुकूल परिस्थितियाँ किसी न किसी तरह मौजूद हैं जिनकी वजह से वह उन क्षेत्रों में प्रवेश कर सके जिनमें तर्कशास्त्र, सांख्यिकी और राजनीतिज्ञों तथा शासकों की व्यावहारिक अनुभूतियाँ प्रवेश नहीं कर सकतीं। अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा, समाजवाद को कहीं अधिक उस आलोचना की आवश्यकता है जिससे वह अपनी गलतियों को सुधारे और भ्रामक क्रियाकलापों को बदले। इसी तरह उस कल्पना की भी कहीं अधिक आवश्यकता है जिससे भविष्य का पूर्वानुमान किया जा सके—न केवल उसे 'प्रतिबिम्बित' करने के लिए बल्कि मनुष्य के विकास में सक्रिय होकर भाग लेने के लिए; यह सब इसलिए क्योंकि समाजवाद का लक्ष्य **पूर्ण मनुष्य** है; उसके सभी सम्बन्धों का मानवीयकरण उसका उद्देश्य है। अगर कलाकार को 'पहले ही पूरी तरह विकसित किये गये विचारों' से आगे बढ़कर नयी वास्तविकताओं की खोज के अधिकार से वंचित कर दिया गया, अगर सत्तारूढ़ शक्तियों के विरोध पर बंदिश लगा दी जाय, अगर किसी कलाकृति के संबंध में मूल्य-निर्णय आलोचकों और पाठकों के विचारों के संघर्ष में न ढूँढ़ा जाय बल्कि किसी अच्युत संस्था के आदेश से उसका निर्णय हो—तो उस हालत में समाजवादी समाज **व्यवहारतः** उन संभावनाओं को नष्ट कर रहा है जो **सिद्धान्ततः** पूँजीवादी समाज की तुलना में उसकी अपनी विशिष्टता है। जैसा कि अधिकारीगण आम जनता की शिकायतों का हवाला देकर अक्सर कहते हैं, कुछ 'अहंकारी' कलाकार होते हैं और इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। पर इनकी तुलना में समाजवादी कला के विकास को वास्तविक खतरा उन अहंकारी नवसिखुओं (अमेचर्स) से है जिनका विश्वास है कि वे अपने पद के नाते यह सिखा सकते हैं कि चित्रकार कैसे चित्र बनाये और लेखक कैसे लिखे। खतरा उन अधिकारियों से है जिनके लिए सत्य हमेशा "पहले से ही पूरी तरह विकसित" है।

पार्टी-समझ (Party mindedness)

'समाजवादी कलाकार की दृष्टि में कला हमेशा वर्ग-संघर्ष का हथियार होती है। वह कला के अनेकानेक माध्यमों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपयोग जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने, जर्मन जनवादी गणतन्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ाने, सभी क्षेत्रों में समाजवाद के निर्माण की सफल उपलब्धि और साम्राज्य-वाद तथा सैन्यवाद की आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में करेगा। कला में पार्टी-समझ से हमारा यही अभिप्राय है।'४

अवसर आने पर कड़ाही भी वर्गयुद्ध में हथियार का काम कर सकती है। फिर कलाओं के बारे में तो कहना ही क्या, जिनके साधन और सम्भावनाएँ कड़ाही से कहीं अधिक बहुविध हैं। पर कलाएं यह काम तभी कर सकती हैं जब उन्हें ऐसा करने का आदेश न दिया जाय। इसके बावजूद यह सवाल पूछा जा सकता है :

माना कि कला हथियार है—पर कैसा हथियार? क्या ढोल हथियार है? अथवा युद्ध गीत? अथवा फौजी मार्च? कला को हमेशा 'वर्गसंघर्ष का हथियार' बना देने का केवल लाक्षणिक अर्थ हो सकता है। यह न तो शत्रु पर चोट करती है और न उसे भयाक्रांत करती है, बल्कि लड़ाकू लोगों को अपनी तरफ करने में मदद देती है। फिर भी अगर यह केवल इतना ही काम करती है, और कुछ भी नहीं, तो अन्ततः यह अनिर्णीत जनों को भयाक्रांत ही करके रह जाएगी और लड़ाकू दस्तों को उत्साह के स्थान पर ऊब ही प्रदान करेगी। और सम्भवतः केन्द्रीय समिति के सदस्यों के मन में सस्ती अमरीकी मनोरंजन की किताबें पढ़ने का लालच उत्पन्न करेगी या सौन्दर्यपरक शस्त्राभ्यास की बजाय पश्चिमी जर्मन सिगार से ही परितोष प्राप्त करने की प्रेरणा देगी।

फिर कला 'जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने या उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करने में कैसे सहायक होगी'? बर्तोल्त ब्रेख्त जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने में सहायक न हो सके, यद्यपि उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में निश्चित रूप से उनका योग है, क्योंकि कलाकार के नाते पार्टी-लाइन मानने से इनकार कर उन्होंने अपनी कला के लिए अलग रास्ता चुना। अपनी अनेक रचनाओं में, वर्गसंघर्ष के कवि के रूप में उन्होंने विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त की न कि सैद्धान्तिक हथियारों के वाहक के रूप में। सदैव वर्ग-युद्ध की रट लगाने वाले अन्य जन जर्मन जनवादी गणतन्त्र की महत्ता स्थापित करने में जरा भी सहायक न हो पाये। समाजवादी राज्य तभी आदर पाता है जब वह पार्टी के गलत होने पर भी कलाकारों द्वारा पार्टी के सही होने के एलान करवाने की कसरत कर-वाने के बजाय कला के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। अतः कलाकार उसी हद तक अपने समाज की प्रतिष्ठा के लिए काम करते हैं जिस हद तक पार्टी का संगठन-यंत्र उन्हें मुक्त ढंग से काम करने के मार्ग में दिशानिर्देश या प्रत्यक्ष दण्डविधान के रूप में अवरोध न उत्पन्न करता।

जहाँ तक 'सभी क्षेत्रों में समाजवादी निर्माण-कार्य' का प्रश्न है, इसका मतलब निश्चित रूप से केवल औद्योगिक समूह, स्कूल, अस्पताल और शोध संस्थान (हालांकि ये सभी आवश्यक और प्रशंसनीय काम हैं) न होकर अधिका-धिक स्वतन्त्रता होना चाहिए, उस 'सूक्ष्म' अर्थ में नहीं जिस अर्थ में शासक लोग व्यंग्यपूर्वक स्वतन्त्रता की बात किया करते हैं, बल्कि सूचना, परस्पर विरुद्ध विचारों के अभिज्ञान से उत्पन्न विचार, विकल्पों के बीच स्वैच्छिक चुनाव, अधि-कारियों की बोल और लिखकर विरोध करने की सर्वोच्च मुक्त स्वतन्त्रता।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि कला शायद कभी ही या सम्भवतः आंशिक रूप में ही 'साम्राज्यवादी और सैन्यवादी आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में' समर्थ है। इस लक्ष्य के साथ प्रतिबद्ध कला प्रायः उन्हीं लोगों को प्रभावित कर पाती है जो पहले से ही साम्राज्यवाद और सैन्यवाद के विरुद्ध हैं। यह अभी तक अनिश्चय में पड़े लोगों को ही प्रभा-वित कर पाती है और वह भी तब जब कलाकृति मानवता का पक्ष लेकर बोलती है न कि 'सैद्धान्तिक मोर्चे' का पक्ष लेकर; जब यह मानवीय और बुद्धिसंगत का साथ देती है तथा वर्ग और राज्य के हितों से ऊपर उठ जाती है; दूसरे शब्दों में जब वह निर्धारित अर्थ में 'पार्टी-समझ' से युक्त नहीं होती। अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में 'पार्टी-समझ' का सिद्धान्त कला को 'वर्गसंघर्ष के हथियार' रूप में भी काम-याब नहीं होने देता।

ऐसी कोई कला नहीं है जो पक्ष न लेती हो—पक्षधरता की नीति के विरुद्ध होने के बावजूद। इस प्रकार 'पक्ष लेने की नीति के विरुद्ध पक्ष लेना' प्रायः उपयोगितावाद, कठमुल्लापन तथा अतिसरलीकरण के विरुद्ध बताया जाता है। यह एक रूप में आत्मसमर्पण की सचेष्ट नीति भी हो सकती है अथवा मौजूदा व्यवस्था का साथ देने के भाव से सांसारिक चीजों में दिलचस्पी लेने के प्रति 'संवेदनापूर्ण' अस्वीकृति का भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकती है। किन्तु इस सबके बावजूद सचाई यह है कि कम्युनिस्टों द्वारा शासित देशों में 'पार्टी-समझ' का अर्थ किसी घटना, किसी उद्देश्य अथवा किसी विचार के पक्ष या विपक्ष में कलाकारों का स्वतन्त्र निर्णय नहीं होता बल्कि पार्टी जब जैसा चाहे तब वैसा करने के निश्चय के हमेशा अधीन रहना है।

उद्धरणों का दुरुपयोग

उस अवधि में जब हर विचार स्तालिन के विरुद्ध षड्यंत्र समझा जाता था, मास्को में एक चुटकुला चल पड़ा था: 'विचार क्या है ?'—'दो उद्धरणों के बीच की न्यूनतम दूरी ही विचार है।' यह 'न्यूनतम दूरी' भी, सामान्य रूप में छद्म और सलज्ज उद्धरण था। 'कला को पार्टी समझ' (पार्टी माइन्डेडनेस) पर लेनिन का उद्धरण आधिकारिक कथन माना जाता रहा है।

अत: हम सबसे पहले निम्नलिखित नुक्तों को साफ तौर पर समझ लें—

१. महान् लोगों का उद्धरण भी सत्य का प्रमाण नहीं होता; हाँ, यह एक सुचिन्तित विचार को पुन: पुष्ट कर सकता है।

२. उद्धृत वाक्य का सन्दर्भ जानना आवश्यक है—उस प्रसंग की जानकारी जिसमें यह बात कही गयी है।

३. यह जानना भी आवश्यक है कि उद्धृत वाक्य आधारभूत पुस्तक से लिया गया है, या किसी निबन्ध, पैम्फ-लेट अथवा पत्र से।

४. अन्त में, यह पता करना भी आवश्यक है कि उद्धृत वाक्य अपने सही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या नहीं।

लेनिन के अनेक वाक्यों को 'मार्क्सवादी-लेनिनवादी' सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्त के रूप में स्फीत कर दिया गया है। उन वाक्यों को बहुत ही गलत ढंग से लागू किया जाता है और लेनिन के निहितार्थ के एकदम विपरीत। लेनिन ने 'पार्टी-समझ' की माँग सामान्य साहित्य के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक रचनाओं के लिए की थी। लेनिन की पत्नी क्रुप्सकाया ने (३ मई १९३७ के पहले ही) 'साहित्य पर लेनिन के लेखों और वक्तव्यों के संग्रह' निकालने की इ. बुज्कोवा की योजना पर टिप्पणी लिखते हुए 'शैक्षणिक व्यवहार पर लेनिन के साहित्य सम्बन्धी निबन्धों और वक्तव्यों के प्रभाव' नामक निबन्ध के सम्बन्ध में इस आधार पर मतभेद प्रकट किया था कि इसमें सन्दर्भ से च्युत उद्धरणों को नत्थी भर कर दिया गया है और उदाहरणों के द्वारा पुष्ट नहीं किया गया है। उन्होंने लिखा :

"यह बताना आवश्यक है कि किस उद्देश्य से और किन घटनाओं के सन्दर्भ में यह निबन्ध लिखा गया है। लेनिन के निबन्ध 'सर्वहारा संस्कृति', 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' और 'युवा संगठन के कर्तव्य' में साहित्य से मतलब ललित कला नहीं है।"

क्रुप्सकाया व्यक्तिगत रूप से लेनिन के सन्निकट थीं जबकि स्तालिन और ज़दानोव ने उनकी कृतियों से उद्धरणों का संग्रह मात्र किया है। सोवियत पत्र 'द्रुज्बा नरोदोव' ने १९६० के चौथे अंक में क्रुप्सकाया की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी प्रकाशित की है। किन्तु इस टिप्पणी में भी 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' के लिखे जाने की पृष्ठभूमि के विश्लेषण का स्थान नहीं ले सकती।

क्रान्ति और पार्टी

१९५० के पतझड़ में रूस का विशाल जन-समूह आन्दोलित हो उठा था। क्रान्ति प्राकृतिक और स्वत:स्फूर्त थी। सवाल यह था कि इस क्रान्ति का नेतृत्व कौन करे जिससे ज़ारशाही का पतन हो और जनतान्त्रिक गणतन्त्र की जीत हो ?

अवैधता तोड़कर बोल्शेविक उभर आये थे। उनके छोटे लड़ाकू समूहों के सामने गैर-पार्टी जन-समूहों से एकताबद्ध होने की समस्या थी। इसके साथ ही प्रगतिशील बुद्धिजीवियों से एकताबद्ध होने का सवाल था जो अधिकांशत: समाजवादी थे और ईसप की कहानियों की भाषा में तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखा करते थे और प्राय: उग्र तथा सुधारवादी दृष्टिकोणों की बेमेल खिचड़ी पकाते रहते थे। उस समय सम्पूर्ण देश में ऐसे संगठन एकाएक बनते चले गये जिनका अनुभव सीमित था और नेतृत्व आकस्मिक। अपने एक निबन्ध 'समाजवादी पार्टी और गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता' में लेनिन ने उस परिस्थिति का वर्णन निम्न तरह से किया था—

"रूस का क्रान्तिकारी आन्दोलन बड़ी तेज़ी से आबादी के नये हिस्सों में फैल रहा है, जिससे अनेकानेक गैर-पार्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

संगठन पनप उठे हैं···। सभी प्रकार के संगठन, प्रायः अपने स्वरूप में ढीले-ढाले और स्वभाव से [illegible] Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri रूप से पनपते चले जा रहे हैं। उनकी कोई बँधी-बँधायी सीमाएँ नहीं हैं—ठीक उसी तरह जैसे यूरोप में अनेक पार्टियाँ हैं।···पार्टी सिद्धान्त का कठोरतापूर्वक पालन आज की जरूरत है और यही उच्चतम अवस्था में विकसित वर्गसंघर्ष का सही नतीजा है। इसी प्रकार खुले और व्यापक रूप में फैलते हुए वर्गसंघर्ष की यह माँग है कि कठोर पार्टी-सिद्धान्त का विकास किया जाय।"[५]

बर्बरता, जंगलीपन, भ्रष्टाचार तथा भू-दास प्रथा के अन्य 'रूसी' अवशेषों को खत्म करने की माँग करने वाली जनतान्त्रिक क्रान्ति के समय गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता के विचार का व्यापक प्रसार दुर्निवार था। 'मानवीय,' सभ्य जीवन जीने की आकांक्षा, मानवीय गरिमा की प्रतिरक्षा के लिए संगठित होने की उद्दाम वृत्ति, मनुष्य और नागरिक होने के नाते अपने अधिकारों की माँग—सबको अपनी गिरफ्त में ले लेती है, सभी वर्गों को एकता के सूत्र में बाँध देती है, व्यापक पैमाने पर पार्टी-बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देती है।' यह गैर-पार्टी सिद्धान्त "हमारी क्रान्ति के बुर्जुआ चरित्र की उत्पत्ति—या अभिव्यक्ति था। बुर्जुआ वर्ग अपने को गैर-पार्टी सिद्धान्त के प्रति झुकाव से रोक नहीं पाता—बुर्जुआ समाज की मुक्ति के लिए लड़ने वालों में पार्टियों का अभाव इसलिए होता है कि स्वयं बुर्जुआ समाज के विरुद्ध संघर्ष छिड़ने की कोई सम्भावना न हो···"यह गैर-पार्टी विचार बुर्जुआ विचार है। पार्टी का सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त सामान्यतः और समग्रतः सारे बुर्जुआ समाज पर भी लागू होता है। इस सामान्य सत्य को विशेष प्रश्नों और विशेष स्थितियों में लागू करने की ज़रूरत है। किन्तु इस सत्य को इस समय, जबकि पूरा बुर्जुआ समाज सामन्तवाद और एकतन्त्र के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ है, भूलने का अर्थ है बुर्जुआ समाज की समाजवादी आलोचना से आँखें मूँद लेना।"[६]

पार्टी-संगठन और पार्टी साहित्य

अवैधता को तोड़कर बाहर उभर पड़ी बोल्शेविक पार्टी के सामने क्रान्तिकारी विप्लव में हिस्सा लेते हुए जन-समूह के नेतृत्व का प्रश्न मुख्यतया दो लक्ष्यों को लेकर था: जनतान्त्रिक क्रान्ति और उसके साथ ही सर्वहारा क्रान्ति के लिए समाजवादी सर्वहारा को तैयार करना।

[illegible] करने के लिए यह आवश्यक था कि पार्टी-प्रकाशन और साहित्य पर भरपूर ज़ोर दिया जाय। 'पार्टी-संगठन और साहित्य' नामक अपने निबन्ध में लेनिन ने लिखा—

"जब तक वैध और अवैध प्रकाशन का अन्तर था, उस अवधि पार्टी में और गैर-पार्टी प्रकाशन की समस्या अत्यन्त सरल ढंग से सुलझा ली गयी और वह भी छद्म तथा असाधारण रीति से। सम्पूर्ण अवैध प्रकाशन पार्टी-प्रकाशन था जो उन संगठनों और समूहों से संबद्ध था जिनका संचालन पार्टी-कार्यकर्ताओं के हाथ में था। दूसरी तरफ सम्पूर्ण वैध प्रकाशन गैर-पार्टी था (क्योंकि पार्टियों पर पाबन्दी लगी हुई थी), किन्तु इसके बावजूद वे सभी इस या उस पार्टी के प्रति रुझान रखते थे। अस्वाभाविक गठजोड़, अजीब जोड़ेदारी और छद्म आवरण-सज्जा आदि अपनाना अनिवार्य था। वह अवधि ईसोपीय भाषा, साहित्यिक बन्धनों, गुलाम ढंग की बोली और सैद्धान्तिक दासता के लिए अभिशप्त थी।"[७]

वह अपूर्ण, अर्ध-पूर्ण और अर्ध-क्रान्ति थी जिसमें खुली, प्रत्यक्ष और निरन्तर पार्टी-चेतना के साथ का फरार, गुप्त और राजनैतिक वैधता का अस्वाभाविक सम्मिश्रण था। इस स्थिति में पार्टी को इस माँग के लिए मजबूर कर दिया कि जो लेखक और पत्रकार पार्टी-सदस्य हैं, वे खुले तौर पर अपनी निष्ठा व्यक्त करें। "साहित्य को अनिवार्यतः सर्वहारा के सामान्य लक्ष्य का अंग होना चाहिए, मजदूर-वर्ग के तमाम राजनीतिक रूप से सचेत अग्रिम दस्ते के द्वारा जो महान् 'सोशल-डिमोक्रेटिक' मशीन गतिमान कर दी है, उसका अभिन्न पहिया होना चाहिए।"[८]

लेनिन की कार्य-प्रणाली ही यह थी कि वे आत्यन्तिक स्थितियों में आत्यन्तिक स्थापनाएँ किया करते थे। लेकिन इस स्थिति में उस आत्यन्तिक स्थापना पर उन्होंने सुचिंतित टिप्पणी प्रस्तुत की—

"'सभी तुलनाएँ दूषित होती हैं'—यह एक जर्मन कहावत है। साहित्य की पहिया से तुलना भी ऐसी ही है क्योंकि यह जीवंत गति और यंत्र की तुलना है।···साहित्य को थोड़ा भी यांत्रिक ढंग से अभियोजित करने या उसे समतल करने लायक चीज के रूप में देखने का सवाल ही नहीं उठता; यहाँ अल्पमत पर बहुमत के शासन का भी प्रश्न नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता। इस क्षेत्र में यह निर्विवाद है कि विचार और फंतासी, रचनातंत्र और विषय-वस्तु में व्यक्तिगत रुझान के लिए पहल करने की असंदिग्ध रूप से छूट होनी चाहिए। इस सबसे इनकार नहीं किया जा सकता; किंतु इससे यह भी साफ है कि सर्वहारा पार्टी-लक्ष्यों का साहित्यिक पक्ष अपर पक्ष के साथ यांत्रिक रूप से तदाकार नहीं माना जा सकता।"

अतः यहाँ सामान्य साहित्य का सवाल नहीं था बल्कि 'पार्टी-कार्य के साहित्यिक पक्ष' का, पार्टी-साहित्य का, राजनीतिक लेखन का सवाल था। लेनिन ने जो माँग की थी, वह यह थी—

"समाचार-पत्रों को विविध पार्टी-संगठनों का मुखपत्र होना चाहिए और उनके लेखकों को हर तरह से इन संगठनों का सदस्य होना चाहिए। प्रकाशन और वितरण केन्द्र, किताब की दूकानें और वाचनालय, पुस्तकालय और इसी तरह के अन्य प्रतिष्ठान—सबको अनिवार्य रूप से पार्टी के नियंत्रण में होना चाहिए।"

लेनिन की दृष्टि में निर्णायक चीज थी प्रकाशन और पार्टी से संबद्ध प्रचारकों का कार्यकलाप। उनकी बुनियादी माँग थी—"हम स्वतंत्र प्रकाशन स्थापित करना चाहते हैं और स्थापित करेंगे; यह स्वतंत्रता केवल पुलिस से स्वतंत्र नहीं होगी बल्कि पूँजी, अवसरवाद और उससे भी बढ़कर बुर्जुआ-अराजकतावादी व्यक्तिवाद से भी स्वतंत्र होगी।" "आप विज्ञान, दर्शन, सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध प्रश्नों का हल क्या बहुमत के द्वारा करेंगे ?" इस संभावित सवाल का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा—

"महाशयो, तसल्ली रखिये ! अभी सबसे पहले हम पार्टी-साहित्य और उस पर पार्टी-नियंत्रण के बारे में विचार कर रहे हैं। हर कोई जो चाहे लिखने के लिए स्वतंत्र है—बिना किसी पाबंदी के। किन्तु हर स्वैच्छिक संगठन (यहाँ तक कि पार्टी भी) उन सदस्यों को संगठन से बहिष्कृत करने के लिए भी स्वतंत्र है जो पार्टी के नाम पर पार्टी-विरोधी काम करते रहते हैं। भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता सम्पूर्ण होनी चाहिए। किन्तु इसके साथ संगठन बनाने और चलाने की स्वतंत्रता भी सम्पूर्ण होनी चाहिए। मैं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर आपको शोर करने, झूठ बोलने और दिल खोलकर लिखने की पूरी आजादी देने को तैयार हूँ। लेकिन इसके साथ आप भी मुझे संगठन की स्वतंत्रता के नाम पर किसी भी संगठन में प्रवेश करने या उससे निकलने, इस या उस दृष्टिकोण का प्रचार करने वाले संगठन की स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य हैं। पार्टी एक स्वैच्छिक संगठन है। वह अगर पार्टी-विरोधी दृष्टिकोण का प्रचार करने वाले लोगों के कचरे से अपने को साफ नहीं करती तो एक दिन पहले सैद्धान्तिक स्तर पर और बाद में सांगठनिक स्तर पर अनिवार्यतः बिखर जायेगी···पार्टी के अन्दर रहकर विचार और आलोचना की स्वतंत्रता का हक मिल जाने पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमें उन स्वैच्छिक संगठनों को बनाने की स्वतंत्रता का भी अधिकार है जिसे पार्टी कहते हैं।"[८]

स्वतंत्रता और स्वैच्छिक चुनाव

इतने विस्तार से लेनिन को उद्धृत करने का अर्थ यह नहीं है कि मैं इन उद्धरणों को रूढ़ि का दर्जा दे रहा हूँ अथवा परिस्थिति-प्रेरित किसी कथन को शाश्वत बना रहा हूँ, बल्कि मेरा उद्देश्य तो उद्धरणों के दुरुपयोग का विरोध मात्र करना है। संदर्भ से स्पष्ट है कि यहाँ लेनिन की चिन्ता 'पार्टी-समझ' के कलात्मक सिद्धान्त को लेकर नहीं है बल्कि यह प्रसंग प्रकाशन तथा पार्टी के राजनीतिक साहित्य का है। अभिव्यक्ति और प्रकाशन की स्वतंत्रता परिपूर्ण होनी ही चाहिए। पार्टी-सदस्य को **केवल एक स्वतंत्रता नहीं मिलती,** और वह यह कि पार्टी-सदस्य पार्टी के प्रकाशनों का दुरुपयोग कर पार्टी पर आक्रमण करे। पार्टी स्वेच्छा वरण पर स्थापित है। कोई भी व्यक्ति, जो अपनी इच्छा से पार्टी का सदस्य बनता है, उसे पार्टी के विरुद्ध बोलने या लिखने का अधिकार नहीं है। हालांकि पार्टी के अन्दर विचार और आलोचना की पूरी छूट है। क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य होना अपने-आप में कोई लाभ की चीज नहीं है। अगर कोई पार्टी अपने सदस्य को निकाल देती है तो सदस्य को पेशे, एकेडेमिक कैरियर, लिखने या बोलने में छूट का कोई नुकसान नहीं उठाना पड़ता है। स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र चुनाव का सिद्धान्त दुतरफा कार्य करता है। ऐसे समय अगर केन्द्रीयकरण क्रान्तिकारी आवश्यकता है तो पार्टी-साहित्य का पार्टी-संगठन के अधीन रहना अपरिहार्य है। फिर भी पार्टी-प्रकाशन और पार्टी-साहित्य में खुले विचार को कितनी छूट थी, पर उस समय भी लेनिन ने 'यान्त्रिक अभियोजन या समतलीकरण···अल्पमत पर बहुमत के शासन' के विरुद्ध साहित्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्ष लिया था। फिर ऐसे नियम के आगे समग्र साहित्य को झुका देने की बात तो लेनिन ने और भी कम सोची होगी।

पूंजीवादी संसार में लेखक और कलाकार की 'निरपेक्ष स्वतन्त्रता' के ढोंग का तीव्र खंडन करने के लिए लेनिन ने पूंजीवाद के 'अखंडपूर्ण स्वतन्त्र' साहित्य की तुलना में 'सर्वहारा के साथ खुले रूप में संबद्ध था : स्वतन्त्र साहित्य' को रखा है। उनके निम्नलिखित कथन में किसी माँग की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक स्वप्न है :

"यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि समाजवाद और श्रमिक जनता के प्रति हमदर्दी का ख़याल, न कि लालच और अवसरवाद, श्रमिक जनता की कतारों में नयी ताकतों को लायेगा। यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि यह किसी परितृप्त नायिका की सेवा न करेगा, और न पतनोन्मुखता के दलदल में फँसे और ऊबे हुए 'उच्चवर्गीय दस हज़ार' लोगों की सेवा करेगा, बल्कि लाखों-करोड़ों श्रमिक जनता की सेवा करेगा जो देश के प्रसून हैं, शक्ति हैं और भविष्य हैं। यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि यह मानव जाति के क्रान्तिकारी विचारों को उत्कर्ष प्रदान करने के क्रम में समाजवादी सर्वहारा के अनुभवों और जीवंत कार्यकलापों का सम्मिश्रण करेगा जिसमें अतीत के अनुभव (वैज्ञानिक समाजवाद, समाजवाद के आदिम, काल्पनिक रूपों से विकास की पूर्णता) और वर्तमान के अनुभवों (मजदूर साथियों का वर्तमान संघर्ष) के बीच स्थायी क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध स्थापित हो सके।"

पूर्वोद्धृत अन्य अनुच्छेदों के विपरीत यह अनुच्छेद सामान्य साहित्य पर प्रकाश डालता है। एक ओर इस अनुच्छेद में की गई स्थापना है और दूसरी ओर वे कृतियाँ हैं जिनमें लेनिन ने विस्तृत सामग्री और गहन चिन्तन के आधार पर अपने सिद्धान्तों का विकास किया; यदि इन दोनों की तुलना करें तो इस सुचिंतित निबंध के अंत में प्राप्त होने वाला उत्तेजक स्वर और प्रचारक-सुलभ करुणा से यही व्यक्त होता है कि इसमें कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि एक दिवास्वप्न है। इसके अतिरिक्त इस विवादास्पद वाक्य—'सम्पूर्ण सोशल-डिमोक्रेटिक साहित्य को पार्टी-साहित्य होना चाहिए' से यह निष्कर्ष निकालना दूर की कौड़ी लाना ही है कि संपूर्ण साहित्य समाजवादी-जनतांत्रिक (सोशल डिमोक्रेटिक) होना चाहिए; इससे भी बुरी बात यह कि कला पार्टी-अधिकारियों के अधीनस्थ हो। लेनिन ने कभी भी कला और साहित्य के लिए विषय या माध्यम निर्धारित करने का दावा नहीं किया। वे भविष्यवाद की पृष्ठभूमि के कारण मायकॉव्स्की के प्रशंसक नहीं थे; लेकिन उनका कहना था कि इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय क्रान्तिकारी युवावर्ग पर छोड़ देना चाहिए। चूंकि उनमें से बहुत-से लोग इस कवि के प्रशंसक थे, अतः उसमें अवश्य ही कुछ रहा होगा।

रेडीमेड फार्मूले के विरुद्ध

चूंकि कला में 'पार्टी-समझ' के लिए गरजने वाले कभी-कभी २० अक्तूबर १९२० को कम्युनिस्ट युवा लीग के तीसरे अधिवेशन में दिये गये लेनिन के व्याख्यान का हवाला देते हैं, अतः मैं भी उस व्याख्यान से उद्धृत करना पसन्द करूंगा—

"यदि कोई कम्युनिस्ट उन तथ्यों को समझे बिना, जिनका आलोचनात्मक परीक्षण अपेक्षित है और गंभीर तथा कठिन श्रम किये बिना ही अनायास लभ्य बने-बनाये निष्कर्षों के कारण अपने कम्युनिज़्म की डींग हाँकने का वहम पाल लेता है तो निश्चय ही वह एक दयनीय कम्युनिस्ट है।...

आपके सामने निर्माण का प्रश्न है और आप अपने इस काम को तभी पूरा कर सकते हैं जब सारे आधुनिक ज्ञान को अपने अन्दर पचाएँ—तभी और केवल तभी आप कम्युनिज़्म को बने-बनाए और रटे-रटाये फार्मूलों, परामर्शों, नुस्खों और कार्यक्रमों से निकालकर जीवंत वास्तविकता बना सकते हैं...।"

यदि कुछ समाजवादी राज्यों में सौन्दर्यशास्त्र नियंत्रित है, 'पार्टी-समझ' की भ्रामक व्याख्या की गई है और सर्जनात्मक कल्पना पर नौसिखुएपन की नौकरशाह तानाशाही है तो उनकी 'कला-सम्बन्धी नीति' की आलोचना करते समय सावधानी और रियायत का परित्याग आवश्यक है; क्योंकि कलाओं के क्षेत्र में एक नये युग के समारंभ की दिशा में समाजवाद पूंजीवाद की अपेक्षा बेहतर स्थिति में है। इस संक्षिप्त 'अंतर्हिमानी' अवधि में, सोवियत संघ, पोलैंड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में साहित्य और कला आश्चर्यजनक गति से हिमजड़ता-मुक्त हुआ है, अभिव्यंजना के साधनों के मामले में पश्चिम के लगभग बराबर पहुँच गया है और अपनी विषय-वस्तु में कभी-कभी आगे भी निकल गया है। इसीलिए हरे गेहुँओं को रह-रहकर जो बूट और खुर कुचल देते हैं, उनके बारे में एक समाजवादी केवल वेदना और क्रोध के साथ ही बात कर सकता है।

अनुवादक : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ संकेत

१. अर्न्स्ट ब्लाख, लित्रेरीस्च्यू ऑफ्सत्जे, संकलित रचनाएँ, खंड-९ (फ्रैंकफर्ट, सहकम्प, १९६५)।

२. ए० वी० लुन्चार्स्की, 'साहित्य और कला पर' (मास्को : प्रगति प्रकाशन, १९६५)।

३. वही।

४. सोशल-डिमोक्रेटिक पार्टी के एक अधिकारी का ग्यारहवें प्लेनम के समय भाषण।

५. व्लादिमिर लेनिन, समाजवादी पार्टी और गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता, संकलित रचनाएँ, खंड-१० (लन्दन, लारेंस और विशार्ट, १९६२)।

६. वही।

७. लेनिन, पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य, संकलित रचनाएँ, खंड-१० (लंदन : लारेंस और विशार्ट, १९६२)

८. वही।

[अर्न्स्ट फिशर की पुस्तक 'आर्ट अगेन्स्ट आइडियालोजी' (१९६९) एलेन लेन लंदन, के पाँचवें अध्याय से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जार्ज लूकाच के साथ एक इंटरव्यू

इस्तवान साइमन और इर्विन जित्यनि

—लेनिन पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने सर्वप्रथम यह मान्यता प्रस्तुत की कि सह-अस्तित्व एक ऐतिहासिक आवश्यकता है; —और उन्होंने इसके निहितार्थों को कार्यान्वित भी किया। सोवियत संघ की बीसवीं पार्टी कांग्रेस ने इसे तथा अन्य कई लेनिनवादी विचारों को पुनर्जीवन दिया। आज इस मत का क्या अर्थ है? क्या आज से पूर्व के विचारों की तुलना में इसका अर्थ बदल गया है? क्या आज से पूर्व की स्थिति के साथ इसकी राजनीतिक-ऐतिहासिक मान्यताएं मेल खाती हैं या वे इस दरम्यान परिवर्तित हो गयी हैं?

—मैं उस भाषण का संकेत देते हुए आरम्भ करूँ जो मैंने १९५६ में एक राजनीतिक अकादमी में दिया था। उसमें मैंने कहा था कि सह-अस्तित्व वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप है और जैसा कि सभी वर्ग-संघर्षों के साथ 'कौन-किसे' का लेनिनवादी सिद्धान्त लागू होता है, इस संदर्भ में भी वह प्रामाणिक है। लेकिन आज हम उस बुनियादी तथ्य की ओर उपेक्षा नहीं कर सकते जो किसी भी प्रकार के सह-अस्तित्व की पृष्ठभूमि में मौजूद है। इसे हम दो संस्कृतियों के बीच आपस का निर्बाध सम्पर्क कह सकते हैं जिसे न तो युद्ध के द्वारा रोका जा सकता है और न निषेध के द्वारा। उदाहरण के लिए यह देखें कि फ्रांसीसी-जर्मन शत्रुता के बावजूद बारबूस ने अपने उपन्यास में लाइबनेरुट के दृष्टिकोण का किस प्रकार इस्तेमाल किया, या उस अवधि को जब पश्चिमी शक्तियों ने सोवियत संघ पर हमला करने की तैयारी की, जब उन्होंने उसे मान्यता नहीं दी थी, लेकिन फिर भी 'पोतेम्पकीन'-फ़िल्म ने यूरोप में तहलका मचा दिया था और बुद्धिजीवियों में अत्यधिक उत्तेजना पैदा कर दी थी। कहने का अर्थ यह कि दो संस्कृतियों के बीच सम्पर्क था।

बीसवीं कांग्रेस के बाद कमोबेश यह एक नयी घटना थी कि अमरीकी नीति को बाध्य होकर यह मानना पड़ा कि पीछे की ओर मुड़ने की नीति—यानी सैनिक गुरुता के प्रदर्शन द्वारा विश्व-युद्ध के परिणामों को विपरीत दिशा में ले जाने की नीति असफल रही और आणविक गतिरोध के कारण उन्हें दीर्घ अथवा संक्षिप्त अवधि के लिए सोवियत संघ के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति में आना पड़ा। इससे एक विचित्र स्थिति खड़ी हो गयी: एक तरफ तो आणविक गतिरोध ने विश्वयुद्ध को बिल्कुल असम्भव कर दिया और दूसरी ओर युद्ध के सभी कारण—यानी साम्राज्यवादी हस्तक्षप, औपनिवेशिक जनता की मुक्ति आदि—विद्यमान रहे। यही कारण है कि सतत् तनाव मौजूद हैं जिसे वे इ[illegible] रहे हैं जिससे [illegible] प्रकार नियन्त्रित रखने की कोशिश कर रहे हैं जिससे [illegible] विश्वयुद्ध का रूप न ले ले। ऐसे ही वातावरण में सह-अस्तित्व जन्म लेता है; जिसका अर्थ यह भी होता है कि सांस्कृतिक सम्पर्क लगातार बढ़ रहा है यद्यपि समाजवादी और गैर-समाजवादी दुनिया के बीच किस्म-किस्म के राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध भी विद्यमान हैं। यही कारण है कि मेरी राय में, और मेरी यह राय वाकायदा १९५६ में ही थी, सह-अस्तित्व की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप समझकर ही विचार किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी को अपने विरोधी के प्रति पशुवत् अथवा अश्लील होना चाहिए या यह कि [illegible] उसके कथन को मिथ्या साबित करे; इसके विपरीत जिस प्रकार युद्ध में सफलता उत्तम उद्देश्य और सही हथियार पर निर्भर करती है, उसी प्रकार सांस्कृतिक सह-अस्तित्व के [illegible] में सर्वोत्तम सांस्कृतिक उपलब्धियों के आधार पर ही वास्तविक सफलता प्राप्त की जा सकती है।

कोई कारण नहीं है कि हमारे अखबार यह खबर [illegible] कि अमरीका में डा० क्ष-त्र ने ३२ पुरस्कार प्राप्त किये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य है कि हंगेरी के लिए बर्तोक [illegible] किन्तु इसमें मुझे सन्देह है कि आधुनिक कही जाने वाली कुछ अन्य कृतियाँ उपलब्ध हैं। वास्तव में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियाँ ही सह-अस्तित्व में चिर-स्थायी विजय हासिल कर सकती हैं—मैं सिर्फ सांस्कृतिक उपलब्धियों की बात कह रहा हूँ, आर्थिक उपलब्धियों की नहीं जिनसे सम्बन्धित अन्य समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। अन्य शब्दों में, हमारे दृष्टि-कोण से, और वर्ग-संघर्ष में विजय के लिए जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि गैर-समाजवादी देशों में यथासम्भव व्यापकतम पैमाने पर उन शक्तियों को अपने पक्ष में सहमत कर लेना चाहिए और वे यह महसूस करने लगें कि एक इन्सान के योग्य अस्तित्व को पूँजीवाद की अपेक्षा समाजवाद के अन्तर्गत अधिक अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है। यही वह जीत है जिसके लिए हमें वस्तुतः संघर्ष करना चाहिए और इसी की उपलब्धि के लिए हमें सह-अस्तित्व के अन्तर्गत लड़ाई लड़नी चाहिए।

—बौद्धिक जीत और विचारों की श्रेष्ठता, वास्तव में जिसकी उम्मीद कोई कर सकता है, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में अवसर और परिणाम को भी किस प्रकार प्रभावित करती है ?

—यहाँ भी अवधि-विशेष के अनुसार समस्या में फर्क आ गया है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि सन् '२० से '३० की अवधि में सोवियत अर्थव्यवस्था की बुरी हालत का सोवियत संस्कृति के आकर्षण पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा था। लोग सिर्फ उस समाजवाद के लिए सोच में पड़ गये जो पूँजीवाद की अपेक्षा उनके जीवन की समस्याओं का बेहतर हल उपस्थित करने की क्षमता रखता था। कई वर्ष पूर्व मैंने जर्मनी-निवासी साहित्य के एक बुर्जुआ इतिहासकार को पढ़ा जिन्होंने सन् '२० से '३० की अवधि के साहित्य का विवेचन करते हुए यह मत दिया था कि सोवियत संघ साहित्य में उस प्रवाह का आधार है जिसे वास्तव में विरोध का अभिन्न अंग माना जा सकता है, और इससे उनका मतलब कम्युनिस्ट साहित्य नहीं था, बल्कि उनका मतलब उस अवधि के ब्रेख्त अथवा ब्रेचर जैसे लेखक से था। इसके अलावा उस 'मूड' ने जर्मनी के बुर्जुआ साहित्य को गम्भीरता से प्रभावित किया था। इसके बाद उनका कहना था कि चूँकि समाजवाद से सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों [illegible] था, अतः जर्मनी का साहित्यिक विरोध आश्रयहीन और अनाथ हो चुका था। किसी ऐसे व्यक्ति का यह कथन, जो हमारे शिविर का अंग नहीं है, एक अत्यन्त दिलचस्प रियायत है। सन् '२० से '३० की अवधि में क्रान्ति-कारी बुद्धिजीवियों का एक विशिष्ट वर्ग—कुछ क्षण पहले मैं ब्रेचर और ब्रेख्त की बात कर चुका हूँ जिनके साथ अर्नाल्ड ज्वाइग, अन्ना सेगर्स, एलुआर अथवा पिकासो का भी नाम ले सकता हूँ—कम्युनिस्ट हो चुका था। आज हम विशिष्ट युवा लेखकों की ओर देखते हैं तो हमें उनमें कम्युनिस्टों की बहुलता नहीं मिलती। क्यों ? यह सच है कि सोवियत संघ की सतत निन्दा की जाती है। लेकिन सन् '२०-'३० के बीच तो शायद उसकी और अधिक निन्दा की गयी थी। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि आज यह अधिक हो रहा है। इस सन्दर्भ में हमें आत्मालोचन करना चाहिए और हमें अपने इतिहास की जाँच करनी चाहिए। हमें अपने से यह सवाल करना चाहिए कि आज हम जो लिखते हैं उसका वह प्रभाव नहीं है जो सन् '२०-'३० के बीच था। यहाँ से हमें व्यक्ति-पूजा की समाप्ति की अवधि की ओर जाना होगा, क्योंकि वह स्टालिनवादी काल था जब यूरोप के बुद्धिजीवियों ने कम्यु-निस्टों की ईमानदारी में अपनी आस्था खो दी थी। और जब वे यह विश्वास नहीं कर पा रहे थे कि कम्युनिस्ट उनसे जो कुछ कह रहे थे वह सच था। यहाँ मैं केवल एक मामूली उदाहरण दूँगा : पश्चिम में कोई व्यक्ति उस पार्टी के इतिहास के बारे में क्या सोचेगा या सोच सकता है, जिसमें १९१७ का विवेचन किया गया हो, लेकिन त्रात्स्की के नाम या उसकी भूमिका का जिक्र न हो। यह एक विसंगति है : यद्यपि मैं किसी भी प्रकार त्रात्स्की का समर्थन नहीं कर सकता। लेकिन १९१७ की घटनाओं में त्रात्स्की ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, इस तथ्य को नकारने का यह भी अर्थ होगा कि आज से इतिहास से सम्बन्धित हमारी किसी भी बात पर विश्वास नहीं किया जायगा।

—क्या आप सह-अस्तित्व में हमारी जीत के लिए हमारे बौद्धिक जीवन से व्यक्तित्व-पूजा की समाप्ति को आधार-भूत कसौटी मानते हैं ? क्या आप जनतन्त्र के व्यापक विकास को इस मान्यता से जोड़ सकते हैं कि सह-अस्तित्व आवश्यक है ?

—निश्चय ही वे एक-दूसरे से जुड़ हैं और हम सह-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व की आवश्यकता को पहचानने के बिन्दु पर पहुँच चुके हैं और इसके साथ ही यह भी कि सह-अस्तित्व का नियन्त्रण नौकरशाही के द्वारा उतना ही कम हो सकता है जितना कि, उदाहरण के लिए, अपने देश में जनमत का। क्योंकि वस्तुतः कोई भी जनमत को नियन्त्रित नहीं कर सकता। एक महिला जब दूसरी महिला से किसी फिल्म के बारे में यह कह रही हो कि यह फिल्म, यद्यपि लोगों ने इसकी तारीफ की है, पर यह भद्दी फिल्म है और उसे मत देखो। उस समय उन्हें ऐसा करने से रोकने का कोई तरीका हमारे पास नहीं है। जो कोई हंगेरी की स्थिति की खबर रखता है यह जानता है। एक उदाहरण दूँ: फिल्मों की सफलता बिल्कुल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि अखबार उनके बारे में क्या छापते हैं। इस गप-शप के स्तर पर जनमत फैलता है। पश्चिम में इस आलोचनात्मक जनमत के विकास में बाधा डाले जाने की संभावना और भी कम है—पर हमें इसके प्रति सतर्क होना चाहिए—और इस बात के प्रति भी, कि केवल हमारी निन्दा करने में दिलचस्पी रखने वाला बोलशेविक-विरोधी जनमत भी है। लेकिन इसके साथ ही ऐसे ईमानदार लोग भी हैं, जो समाजवाद से सहानुभूति रखते हैं, जिनका विश्वास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, लेकिन वे अपने को हमारी छलयोजना का शिकार नहीं होने दे सकते।

—युद्धोपरान्त शीत-युद्ध के सभी सिद्धान्तों का निरपवाद रूप से दिवाला निकल गया। वे सभी राजनीतिक विचार जो वास्तविक स्थिति को प्रतिबिम्बित करने और उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वे आज न कोई आश्वासन देते हैं और न कोई हल बल्कि सन्दिग्ध लगते हैं: मुझे ऐसा लगता है कि हमारे दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण है कि हमारी नीति सचेत एवं सैद्धान्तिक रूप से न्याय-सम्मत मतों से शासित होनी चाहिए, क्योंकि मजदूर-वर्ग के आन्दोलन की यह हमेशा विशिष्टता रही है। आप क्या सोचते हैं?

—आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। स्थिति बहुत बदल गई है। ऐसा कहा जा सकता है कि अमरीकी जीवन-पद्धति का सिद्धान्त ढह गिरने की हालत में है चाहे उसका सम्बन्ध वियतनाम युद्ध से हो या घरेलू नस्ली समस्या से। इंगलैंड तथा अन्य देशों में भी स्थिति समान है। प्रश्न यह है कि हम किस हद तक इसे दबा सकेंगे और नया सिद्धान्त पेश करेंगे अगर, उदाहरणस्वरूप, हमारे राजनीतिक अर्थशास्त्र में लेनिन के प्रबन्ध 'साम्राज्यवाद' पर सिर्फ नयी टिप्पणियाँ ही शामिल हों और हम अमरीका में आनेवाले घोर संकट का इन्तज़ार ही करते रहें। इस प्रकार के राजनीतिक अर्थशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता क्योंकि यह सिर्फ तथ्यों के विपरीत पड़ता है। हमारी प्रस्थापना का आदर तभी हो सकता है, जब हम मार्क्सवादी प्रणाली से आज के आर्थिक तथ्यों की व्याख्या करने योग्य होंगे। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि यह सम्भव है।

विदेश में होने वाले संकट से सम्बद्ध प्रश्नों का किसी प्रकार का जवाब देने का ढंग यह नहीं है। हमें दम्भी अथवा अभद्र नहीं होना चाहिए बल्कि हमें इसकी पहचान होनी चाहिए कि विदेश में वे कितनी भी बुरी तरह समाजवाद की निन्दा करें फिर भी हरेक व्यक्ति, जो किसी आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पूंजीवाद से असंतुष्ट है, सहज रूप से हमारी तरफ मुड़ेगा एक समझदारी से भरा जवाब पाने की उम्मीद में। अब अगर उत्तर पाने के लिए उन प्रतीक्षित लोगों को एक नौकरशाही का जवाब मिलता है और जवाब भी ऐसा जो तत्कालीन कार्यनीति से पैदा होता है या किसी छद्म लेखक की रचनाएँ हमारे द्वारा उनके सामने कर दी जाती हैं तो यह स्पष्ट है कि समाजवाद के प्रभाव में कमी आएगी और एक ऐसे 'मूड' का विकास होगा या कहिए, दुर्भाग्य से पश्चिम में ऐसे 'मूड' का विकास वस्तुतः हो चुका है उन लोगों के बीच भी जो पूंजीवाद की तरफदारी नहीं करते हैं, क्योंकि अब वे वैसा और कर भी नहीं सकते। वे सम्भवतः ऐसा कहते हैं कि मानवीय स्थिति अपने-आप में बिल्कुल निराशापूर्ण है, न तो पूंजीवाद और न समाजवाद इसका जवाब देने के योग्य रह गया है। इसके लिए अधिकांशतः जबावदेह हम हैं। इस जवाबदेही की माँग ही हमें वह रास्ता बतलाती है जिसकी ओर हमें प्रगति करनी चाहिए। इसके लिए दुहरे कदम आवश्यक हैं: प्रणाली में मार्क्स का अनुसरण करें और व्यवहार में वर्तमान घटनाओं की मार्क्सवादी व्याख्या की ओर बढ़ें। अगर हम ऐसा कर सकें तो हम सह-अस्तित्व से सम्बन्धित लड़ाई में विजयी होंगे और अगर नहीं कर सके तो यह आवश्यक है कि हमें हार मिलेगी। हमारा आत्मालोचन इसी उद्देश्य की दिशा में होना चाहिए। दो भिन्न प्रकार के तर्क दिए जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो अक्सर एक-दूसरे से मिले होते हैं। नौकरशाह यह सोचते हैं कि थोड़ी बेहतर और आधुनिक रूढ़ियाँ इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकती हैं। २०वीं कांग्रेस के बाद जब परिस्थितियाँ थोड़ी शिथिल हुई तो सहज रूप से जो दूसरी प्रवृत्ति सामने आई वह लोगों को बिना किसी संयम के अत्यन्त मूर्खतापूर्ण पश्चिमी फैशनों को अपनाने की दिशा में ले गयी। आज भी ऐसे कुछ व्यक्ति हैं जो यह विश्वास करते हैं कि वे अत्यन्त ही बेहूदा नौकरशाही विचारों को अपनाकर और उन्हें टाइप कराने की बजाय कम्प्यूटर के द्वारा परोस कर मार्क्सवादी पुनर्जागरण को जन्म दे सकते हैं और प्रभावशाली नतीजे पैदा कर सकते हैं। हमें इन मिथ्या अतियों से छुटकारा पाना है। हंगेरी के लिए भी यह एक महत्वपूर्ण सवाल है, क्योंकि, खासकर २२वीं कांग्रेस के बाद से मैंने सजग होकर देखा है कि एक तरफ रूढ़िवादियों और दूसरी तरफ अनालोचनात्मक आधुनिकतावादियों के बीच एक गुप्त अभिसंधि हो गयी है। इसका परिणाम यह है कि उनमें से कई यह घोषणा करते हैं कि बेकेट और आयनेस्को ही वस्तुतः महान् लेखक हैं और साथ ही वे उन नौकरशाहों के सामने सर झुकाते हैं जो अभी कल तक अनालोचनात्मक ढंग से इतने उत्साही थे—और यह दिलचस्प है कि वे, उदाहरणस्वरूप, साहित्य के इतिहास में, Jánosh Horvàth से होकर पीछे Elemèr Csāszèr तक जाते हैं।[1] इस प्रकार बेकेट के शिष्य का मेल Elèmer Csaszar के शिष्य से बैठता है। और तब कुछ को यह आश्चर्य लगता है कि उनसे कोई भी प्रभावित नहीं है।

—फिर भी यह महसूस किया जाता है कि पूरी दुनिया के पैमाने पर मार्क्सवाद में दिलचस्पी बढ़ रही है। २०वीं कांग्रेस के बाद से एक नया विचारशील वर्ग सह-अस्तित्व के स्तर पर एक राह खोज रहा है जिसमें मार्क्सवादी प्रणाली की सहायता से वे भविष्य के लिए एक स्पष्ट उत्तर पा सकें।

—निस्संदेह ऐसा है। मेरा स्वानुभव इसका गवाह है। १९५६ में जब मैं प्रथम बार एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में भाग लेने के हेतु अपने देश से चला तो मेरी मुलाकात वापस आये दोस्तों से हुई। आमतौर पर उनका 'मूड' पाठकों के व्यक्तिगत पत्र के कालम में मौनतेस्क्यू के लिखने की शैली या ढंग की याद दिलाता था। वह व्यक्ति तो ईरानी है? कोई भी ईरानी कैसे हो सकता है? अर्थ यह कि एक व्यक्ति जो अन्यथा तौर पर शिक्षित है मार्क्सवादी कैसे हो सकता है, क्योंकि मार्क्सवाद तो उन्नीसवीं सदी के उन सिद्धान्तों में से है जो अरसा पहले पुराना पड़ गया है। यह 'मूड' अब मृत हो गया है। पश्चिम में मार्क्सवाद में दिलचस्पी बढ़ रही है, लेकिन इसके साथ यह जोड़ दिया जाना चाहिए कि रूढ़िवादिता को नकारने की प्रवृत्ति भी मजबूत हो रही है। मुझे अनेक पत्र ऐसे मिले हैं जिनमें पश्चिम के लोग लिखते हैं कि "मार्क्सवाद में मेरी बहुत दिलचस्पी है लेकिन आपके 'सरकारी' मार्क्सवाद में नहीं।"

—लेकिन प्रो० लुकाच, निश्चय ही आप इन नयी प्रवृत्तियों के विरुद्ध हैं। मार्क्सवाद शीर्षक के अन्तर्गत अनेक विचार सामने आये हैं जिन्हें प्रायः स्पष्टतया मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्वेषण के इस युग ने मार्क्सवाद की परिभाषा को और भी विस्तृत कर दिया है, प्रामाणिक और मिथ्या सिद्धान्तों के बीच इसने कई सीमान्त स्थित उदाहरण सामने कर दिये हैं।

—मुझे इसका कुछ अनुभव है। लेकिन इस तरह कोई आंदोलन खड़ा करना असम्भव है जिसमें हरेक प्रश्न पहले तय कर लिया जाय। अपने रास्ते पर आगे चल पड़ने के पहले हम सिवा इसके कुछ नहीं कह सकते कि हमें मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की ओर लौटना चाहिए और यह कि अब समय आ गया है जब लोग प्रयोग करेंगे और सभी समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे। अगर मेरे विचार सरकारी सिद्धान्त के रूप में बदल दिये गये तो इसका विरोध करनेवाला मैं पहला व्यक्ति होऊँगा, हालाँकि मैं विश्वस्त हूँ कि मैं सही हूँ। फिर भी उचित विकास के संदर्भ में मैं इसे खतरनाक समझता हूँ।

—हंगेरी के बौद्धिक जीवन में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि मैं ऐसा नहीं सोचता कि जो व्यक्ति आपके निकट हैं वे भी इसमें शामिल हैं।

—जब कभी भी अधिकारी व्यक्तियों से अपनी बात कहने का मौका मिला है मैं हमेशा उस प्रस्थापना पर टिका रहा हूँ कि इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को भाषण की स्वतन्त्रता

१. दो युद्धों के बीच की अवधि के दो प्रभावशाली साहित्यिक इतिहासकार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलनी चाहिए, भले ही मार्क्सवाद के अन्तर्गत मेरी प्रस्थापना को वे एक विशिष्ट मत के रूप में मान्यता दें। इसकी सम्भावना पर हम इस प्रकार देखें कि मार्क्सवाद की कीर्ति को पुनःस्थापित करने के लिए सैद्धान्तिक संघर्ष का महत्त्वपूर्ण दौर शुरू हो गया है जिसमें सद्‌विचार रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भाषण की स्वतन्त्रता अवश्य दी जानी चाहिए। और इसके लिए हम इतिहास में विश्वास रखें कि उनमें कौन विचार अन्ततः वास्तविक मार्क्सवादी विचार के रूप में अपने को स्थापित करेगा। अगर हम ऐसा करें तो अपने-आप में यह तथ्य पश्चिम में हमारा यश बढ़ाएगा। हम यह तथ्य न भूलें कि अगर हम एक तरफ किसी प्रवृत्ति को दबाते हैं तो यह विदेश में हमारी प्रतिष्ठा घटाता है और दूसरी ओर वर्जित को झूठा महत्त्व मिलता है। सच्चाई यह है कि अगर उन्हें वर्जित न किया गया होता तो कोई भी उनकी कतई परवाह नहीं करता। आपत्तिजनक वस्तुओं को भी एक प्रकार का दुर्लभ मूल्य प्राप्त हो जाता है क्योंकि वे वर्जित होती हैं और लोग बड़े उत्साह से उनका स्वागत इसलिए करते हैं कि वे पश्चिम से आये हैं। लेकिन आज 'नाजीविलाग' (Nagyvilag) के द्वारा किसी चीज़ के भी अनुवाद की सम्भावना बन गई है, अतः यह स्पष्ट हो गया है कि हंगेरी की जनता अच्छी और बुरी कहानियों के बीच फर्क करने लग गयी है। वे अब उनका विभाजन इस प्रकार नहीं करते कि वे पश्चिम से आई हैं और ये यहाँ लिखी गयी हैं।

सह-अस्तित्व के साथ-साथ प्रतिबन्धों की समाप्ति अधिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि को जन्म देगी और यह व्यापक राय खत्म हो जायगी कि पश्चिम की हर चीज़ अपने देश से अच्छी है, क्योंकि यह सहज रूप में सही नहीं है। पश्चिम में लोग इस बात के प्रति अच्छी तरह जागरूक हैं कि हम जिन चीज़ों की प्रशंसा करते हैं और जिसे साष्टांग प्रणाम करते हैं, उनमें क्या खतरे निहित हैं—सह-अस्तित्व के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष की सभी शक्तियों को मुक्त करने के लिए संस्कृति के क्षेत्र में सर्वहारा जनतन्त्र की पुनःस्थापना अवश्य की जानी चाहिए। अगर हम गम्भीरता से सह-अस्तित्व की ओर आगे जाना चाहते हैं और परिणाम हासिल करना चाहते हैं, तो यह प्राथमिक शर्त है।

—मैं दो प्रश्न पूछना चाहता था। उनमें से पश्चिमी संस्कृति की विवादास्पद कृतियों के प्रति हमें किस प्रकार का रुख अपनाना चाहिए, इस एक प्रश्न का उत्तर मिल गया। दूसरे प्रश्न पर और प्रकाश डाले जाने की आवश्यकता है क्योंकि यह हमारे युग के और मजदूर वर्ग के आन्दोलन की अत्यन्त आवश्यक समस्याओं से सम्बन्धित है। किस प्रकार हमारा युग रूढ़िवादिता की समाप्ति के सवाल पर आज भी पिछड़ा है और किस प्रकार समाजवादी आत्मालोचन की ऐतिहासिक प्रक्रिया आज भी पूर्ण नहीं हुई है? आप इन समस्याओं को किस प्रकार देखते हैं?

—स्तालिन ने उस समय मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया, जब बुनियादी समस्या यह थी कि समाजवाद के नियमों का विकास मार्क्सवाद के अन्तर्गत हो चुका था और महज़ सामान्य अर्थ में समाजवाद की ओर जानेवाले रास्ते को शासित करने वाले नियमों का विकास भी इसी के अन्तर्गत हो चुका था। प्रत्येक अवधि में अग्रणी राजनीतिकों ने अपनी रणनीति तैयार की है और उस रणनीति के अन्तर्गत कुछ कार्यनीतियाँ भी तैयार की हैं जो परिस्थितियों के अनुसार स्वभावतः सतत् बदलती गयीं। स्तालिन ने इसे सर के बल खड़ा कर दिया। इस दृष्टिकोण से उस काल की कार्यनीतियों का ही महत्त्व था। स्तालिन ने कार्यनीति के अनुसार रणनीति को बदल दिया और फिर उस रणनीति के अनुसार समाजवाद के भावी रूप को भी बदल दिया। उन्होंने घोषणा की कि समाजवाद के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष सतत् तेज हो रहा है, लेकिन यह कोई सामान्य पर्यवेक्षण नहीं था, यह महज़ एक छल था जिसे अभियोगों के बड़े तमाशे को ढँकने के लिए उन्होंने गढ़ा था। पहले अभियोग लगाया गया फिर उसके लिए सिद्धान्त गढ़ा गया···। आज भी ऐसा होता है कि कार्यनीतियाँ पहले आती हैं, फिर उन्हें समाहित करने के लिए रणनीति और आम सिद्धान्त को जन्म दिया जाता है। ऐसे आम सिद्धान्तों का मूल्य नहीं के बराबर होता है।

आज यह कहना आसान है कि स्तालिन की यह स्थापना सही नहीं है कि वर्ग-संघर्ष सतत् तीव्र हो रहा है। लेकिन अगर हम उसकी पूरी प्रक्रिया को न समझें तो हम अत्यन्त गम्भीर समस्याओं में फँस जायेंगे। इसके लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लें। जब चीन के प्रश्न पर स्तालिन और त्रात्स्की में मत-वैभिन्य था तब स्तालिन ने घोषणा की थी कि चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सामन्ती राज्य है अतः सामन्तवाद के मुकाबले में उन्हीं कार्यनीतियों को लागू किया जिन्हें रूस में लागू किया था। यानी संक्षेप में, अपनी कार्यनीति की श्रेष्ठता कायम रखने के उद्देश्य से उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त से उत्पादन की पूर्वीय प्रणाली से सम्बन्धित सारे सवालों को परे कर दिया और मार्क्सवादियों के लिए एशिया में होने वाले विकास को समझना असंभव बना दिया। इतने महत्त्वपूर्ण विषय के साथ मार्क्सवाद का अर्थ यानी उत्पादन की पूर्वीय प्रणाली का अर्थ दुनिया के मार्क्सवादियों के लिए खो गया जब औपनिवेशिक जनता के विद्रोह को समझने की समस्या सामने आई। मैं उस अवधि के विकास की विशिष्ट मंजिल को ध्यान में रखते हुए यहाँ कोष्ठकों में यह जोड़ना पसंद करूँगा कि मार्क्स ने अफ्रीकी जनता के विकास का विवेचन नहीं किया। अगर हम मार्क्सवादी विचारधारा का कट्टर अनुसरण करें तो हम यह सवाल कर सकते हैं कि ऐसा कहाँ लिखा है कि अफ्रीकी जनता को आवश्यक रूप से यूरोपीय अथवा एशियाई 'आदर्श' के अनुसार विकास करना चाहिए। यूरोपीय और एशियाई उत्पादन प्रणालियों के अतिरिक्त उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत अफ्रीकी सम्बन्धों का एक विशेष रूप क्यों नहीं हो सकता? अगर हम तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रों को सहायता करना चाहते हैं तो उसका मार्क्सवादी रूप यह होगा कि हम उनके सामने उनकी वास्तविक स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत करें। और उनके विकास का भावी स्वरूप स्पष्ट करें। लेकिन इस सम्बन्ध में हम पश्चिमवासियों से अधिक जानकारी नहीं रखते। और अगर हम उस दुनिया में अग्रणी भूमिका अदा करना चाहते हैं, जो कि हमारे लिए बिल्कुल स्वाभाविक है तो इस विषय में मार्क्सवादी अनुसंधान अत्यन्त अनिवार्य है। पश्चिमी पूँजीवाद में भी कई प्रश्न निहित हैं जिनका पश्चिमी पूँजीवादी अर्थशास्त्री उत्तर नहीं दे सकते और कुछ अपवादों को छोड़कर हमने भी उनका उत्तर देने की चेष्टा नहीं की है और हमने चेष्टा की भी है तो हमारा विश्लेषण पूर्ण नहीं है।

—अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आपने जो कुछ कहा बिल्कुल स्पष्ट है, लेकिन बौद्धिक समस्याओं के सम्बन्ध में आपने जो कहा है उसे आप पूरा कर दें।

—हाँ, मैं अर्थशास्त्र पर जोर देता हूँ क्योंकि अन्य विषयों की अपेक्षा शायद उसमें अधिक स्पष्ट और कम विवादास्पद प्रमाण मौजूद है। पर निश्चय ही यह सभी बौद्धिक क्षेत्रों की ओर संकेत देता है। मैं एक उदाहरण दूं जिसकी प्रतिध्वनि आज भी सुनाई पड़ती है। स्तालिन-ज़दानोव के काल में विचार के इतिहास का क्रम इस प्रकार तैयार किया गया था मानो एक प्राक् मार्क्सवादी विचार था, उसके बाद एक लम्बा अन्तराल रहा, फिर अचानक मार्क्सवाद का उदय हुआ। लेकिन मार्क्सवाद का यह धन पक्ष है कि इसने यूरोप के पिछले २,००० वर्ष के विकास में जो कुछ मूल्यवान था उसे ग्रहण कर लिया—यह मैं नहीं कह रहा हूँ बल्कि लेनिन ने १९२० के आसपास के वाद-विवाद के दरम्यान इसे कहा था—संक्षेप में यह कि मार्क्सवाद के इस अनिवार्य पक्ष को बिल्कुल भुला दिया गया। अस्तित्ववाद अथवा नव-विधेयवाद के सम्बन्ध में महज़ यह कहकर कि यह बिल्कुल बेकार या निरर्थक है अथवा प्रतिक्रान्तिकारी है कोई भी तर्क को आगे नहीं बढ़ा सकता। सन् '५०-'६० के बीच मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा रहा था यह मुझे उसकी याद दिलाता है कि मैं प्रतिक्रान्तिकारी अस्तित्ववाद के लिए बहाना ढूंढ़ने की कोशिश कर रहा था क्योंकि मैंने फ्रांसीसी अस्तित्ववाद के जन्म का सम्बन्ध प्रतिरोध आन्दोलन से जोड़ रखा था। पर वह सम्बन्ध निस्संदेह रूप से एक तथ्य है। फिर भी चूंकि मैंने इस तथ्य की स्थापना की थी, इसलिए अवसरवादी के रूप में मेरी निन्दा की गयी। प्रसंगवश प्रतिक्रान्तिकारी अस्तित्ववादी अल्जीरिया के सवाल पर कतई प्रतिक्रान्तिकारी नहीं हैं, क्योंकि इस प्रश्न पर वे वामपंथी रूप में सामने आये थे। आप अच्छी तरह जानते हैं कि १९४७ में ही मैं अस्तित्ववाद का विरोध कर रहा था। लेकिन समस्याओं का उचित प्रभाव तभी हो सकता है जब हम उस आलोचित वस्तु के सापेक्ष प्रगतिशील चरित्र को पहचानें, यानी अगर हम यह मानें कि उनका उत्थान प्रतिरोध आन्दोलन के साथ हुआ था। इस प्रकार एक वस्तुनिष्ठ विचार-विमर्श का विकास हो सकता है और शायद हम यह विश्वास भी दिला सकते हैं कि हम सही हैं। लेकिन अगर हम उग्र हो जायें और उन्हें शुद्ध प्रतिक्रान्तिकारी के रूप में ही देखें तो हम कहीं नहीं पहुँच सकेंगे और अगर हम दूसरे छोर पर चले जायें और अनालोचनात्मक दृष्टि से अस्तित्ववाद को स्वीकार कर लें तो वैसी हालत में भी हम कहीं नहीं पहुँच पायेंगे। इस प्रकार हम अपने को हंगेरी के उन युवा व्यक्तियों के बीच पायेंगे जो मार्क्सवाद से भागकर हाइडेगर अथवा सार्त्र की ओर जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जबकि सार्त्र ने आज यह खोज की है कि अस्तित्ववाद की कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे आगे की राह मार्क्सवाद की दिशा में जाकर ही मिल सकती है। और निश्चय ही आज बुडापेस्ट के युवा यह नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार आज भद्दी और हास्यास्पद स्थितियाँ उठ खड़ी हुई हैं जिन्हें तभी बदला जा सकता है जब हम मार्क्सवादी प्रणाली की ओर मुड़ें और आज पश्चिम में जो कुछ हो रहा है उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखें जैसा कि मार्क्सवाद निर्देश देता है। और हम यह विश्वास न करें कि सिर्फ कम्प्यूटर का इस्तेमाल कर हम कोई आगे का कदम उठा रहे हैं। यदि हम दिमागी तौर पर स्तालिनवादी अति सरलीकृत योजनाओं के अन्तर्गत ही हों, लेकिन ख्वाब देखें कम्प्यूटर का इस्तेमाल करके आगे बढ़ जाने का, तो यह नामुमकिन है।

ऐसे व्यक्ति के उदाहरण के रूप में मैं बारतोक का जिक्र कर चुका हूँ जिसने दुनिया जीत ली थी। लेकिन मैं पूर्ण विश्वस्त हूँ कि समाजवादी संस्कृति कई ऐसे मूल्यों को जन्म देती है जिनका समान महत्त्व है। इसका जिक्र अलग है कि सह-अस्तित्व के पक्ष में चल रहे संघर्ष में बेहतर नतीजा हासिल करने के लिए प्राचीन संस्कृति के महान् मूल्यों की सहायता किस प्रकार ली जा सकती है। शर्त यह है कि उनका उचित रूप में प्रयोग किया जाय। उदाहरण के अिए, अगर हम इस प्रकार देखें कि साहित्य रचना बुनियादी तौर पर स्वतन्त्रता के लिए जनतांत्रिक लड़ाई है तो हम यह समझ सकेंगे कि पुश्किन से लेकर चेखव तक को १९वीं शताब्दी के रूसी साहित्य के भव्य विकास ने किस प्रकार हथियार का काम किया। आज यूरोप एवम् अमरीका में लोग छल-साधित जनतंत्र के अ-जनतान्त्रिक चरित्र के बारे में काफी कुछ जान चुके हैं। मैं समझता हूँ कि आने वाले वर्षों में यह समस्या अपनी ज़बर्दस्त भूमिका अदा करेगी। ऐसा नहीं कि पश्चिमी देश अचानक समाजवादी क्रान्ति के पथ पर बढ़ चलेंगे। ऐसा समझना हास्यास्पद होगा। पर छल-साधित जनतन्त्र के अ-जनतान्त्रिक चरित्र के कारण उसके प्रति असंतोष विस्तृत पैमाने पर प्रकट हो रहा है और वे सच्चे जनतन्त्र की दिशा में कोई राह निकालने की कोशिश करेंगे। इस प्रकार के आन्दोलन में हम अग्रणी सिद्धान्तकार हो सकते हैं, लेकिन तब तक ऐसा नहीं संभव है जब तक पश्चिम में सूक्ष्म आर्थिक जोड़-तोड़ चल रहा हो और दूसरी ओर ऐसे लोग हों जो नौकरशाही प्रपंच के साथ चल रहे हों अथवा वस्तु को ऊपर-ऊपर शोभनीय बनाना चाह रहे हों। आशा है दृढ़ होकर मेरे ऐसा कहने से आप नाराज नहीं हो रहे होंगे। लेकिन इसे ऐसा कहा जाना चाहिए और कार्य रूप दिया जाना चाहिए, अन्यथा सह-अस्तित्व के अन्तर्गत वर्ग-युद्ध में हम विजयी नहीं हो सकते।

—प्रो० लुकाच, फिर मैं यह समझूँ कि आपका रुख यह है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों के लिए स्वतन्त्रता और उनके बीच संघर्ष की गुंजायश होनी चाहिए।

—यह मेरा विश्वास है और तत्त्व-मीमांसा में मैंने कहा भी है कि मनुष्य एक प्रत्युत्तरदायी प्राणी है। मानव-संस्कृति द्वारा आज तक जो भी निर्माण हुआ है उसके पीछे आन्तरिक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा नहीं रही है, अन्य कारण जो भी रहा हो, किन्तु आरम्भ से ही हुआ यह कि लोगों ने समाज के अन्तर्गत उठने वाले प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की है। और हम जिसे मानव-संस्कृति कहते हैं, वह इन्हीं उत्तरों की शृंखला है। पर इस संस्कृति का अधिकांश लुप्त हो चुका है, क्योंकि लोगों ने समाज में उठे प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वह सामयिक अथवा अनुपयुक्त था। पर उनमें से कुछ की सार्थकता आज भी है। 'इलियट' का वह अंश, जहाँ प्रियम हेक्टर के मृत शरीर को वापस माँगने एचिलीज के निकट जाता है, और फिर उनके बीच का वार्तालाप, जो मृत शरीर को वापस लौटाने के समय होता है, आज भी नैतिक दृष्टिकोण से उदाहरणीय है।

और यह सिर्फ कविता के साथ ही लागू नहीं होता। अगर आप विज्ञान के इतिहास को देखें तो पायेंगे कि अधिकांश बड़े-बड़े अन्वेषण कई व्यक्तियों द्वारा एक ही अवधि में हुए हैं। और आज भी विवाद बना हुआ है कि 'डिफरेंशियल' और 'इण्टिगरल' कलनगणित की खोज न्यूटन ने की थी अथवा लाइबनीज ने और वे सभी लोग, जो उस अवधि के इतिहास की जानकारी रखते हैं, यह जानते हैं कि पासकाल, और अन्य लोग भी, इस खोज से काफी जुड़े थे। क्यों? इसलिए कि उस अवधि के उत्पादन-सम्बन्ध नव-भौतिकी की आवश्यकता की ओर संकेत कर रहे थे। दूसरी ओर नव-भौतिकी ने, यानी वह जो गैलीलियो से जुड़ी थी, जो गति को भौतिकी का केन्द्र मानता था, गति की माप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए नये गणित की माँग की। यह आवश्यकता न्यूटन अथवा लाइब्नीज़ जैसे अनेक व्यक्तियों को इस नये गणित की खोज के रास्ते की ओर ले गयी। उन्होंने उसकी खोज कर ली, लेकिन बहुत सम्भव है कि उसी अवधि में तीस या चालीस और लोग उसकी खोज कर रहे हों। वर्तमान काल में मार्क्सवाद की उचित समझदारी की माँग सामाजिक आवश्यकता के रूप में उठ खड़ी हुई है। और अमेरिका से साइबेरिया तक के लोग इस आवश्यकता की पूर्ति चाहते हैं। इन सिद्धान्तों में से कौन सन्तोषप्रद साबित होगा और कौन नहीं, इसे स्थापित करने के सम्बन्ध में आपस की आलोचना के अलावा और किसी कसौटी को हममें से कोई नहीं जानता। ऐसी कोई न्याय सभा नहीं है जो अन्तिम रूप से यह घोषणा कर सके कि 'क्ष' सही है। सम्भवतः ऐसा हो ही नहीं सकता।

अतः मेरी यह राय है कि इसी तरह हमें प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए और विशेषकर उस क्षेत्र में जहाँ पूर्व निकष स्थापित करना बहुत कठिन हो। आज एक नये किस्म का साहित्य विकास की प्रक्रिया में है और इस नये साहित्य की रचना, जैसा कि हमने सोल्जेनित्सिन पर विचार करते हुए अपने लेख में तर्क दिया था, रूढ़िवादी अवधि की आलोचना के बिना सम्भव नहीं है। आखिर, आज हंगेरी में ३० से अधिक की उम्र का कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका पूर्ण जीवन और चरित्र उस अवधि में उसकी गतिविधि से सम्बन्धित निर्णायक प्रश्न से जुड़ा न हो। इसके बिना साहित्यिक कृति के दायरे में कोई भी अपने वर्तमान चरित्र अथवा कार्यों की उचित व्याख्या नहीं कर सकता है। हम यह स्मरण रखें कि बालज़ाक ने सर्वप्रथम पुनरुद्धार काल की व्याख्या की। जो भी बालज़ाक की कृतियों की जानकारी रखता है, उसे इसका ज्ञान है कि बालज़ाक हर बार साम्राज्य-काल तक पहुँचते हैं और अगर उन बूढ़े लोगों को देखें जो यह पता करने की कोशिश कर रहे हैं कि उन्होंने उस अवधि के पहले क्या किया था तो हम बालज़ाक को क्रान्ति तक पहुँचते देखते हैं, क्योंकि उस चरित्र ने जो रुख अपनाया, वह अधिकांशतः इस पर निर्भर था कि क्रान्ति की अवधि में उसकी क्या गतिविधि रही। यह बिल्कुल स्वाभाविक लगता है, लेकिन आपको स्मरण होगा कि मेरे इस विचार के कारण उन्होंने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया। हमारा साहित्य इसी प्रकार की समस्याओं से भरा है, यानी साहित्य मात्र की यह समस्या है, लेकिन ऐसी समस्याएँ हल की जा सकती हैं, और अवश्य की जानी चाहिएँ।

बात यह है कि मैं ऐसा विश्वास नहीं करता कि नाटक नाम की ऐसी कोई वस्तु है जिसकी सफलता और असफलता किसी जनवादी गणतंत्र को उखाड़ फेंक सकती है अथवा झकझोर सकती है। यह तर्क हास्यास्पद है कि संकट उनकी गलतियों से पैदा न होकर उनके प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से पैदा होता है और वह भी साहित्यिक अथवा कलात्मक प्रतिक्रिया से। यह प्रश्न सह-अस्तित्व से बिल्कुल निकट रूप से सम्बद्ध है, क्योंकि समाजवादी देशों में ऐसा बहुत-कुछ है, जो यहाँ मौजूद अच्छे गुणों के उचित प्रभाव में बाधक है। कोई भी साहित्यिक कृति गलत रोशनी में सामने लायी जा सकती है, अगर उस पर नौकरशाही पद्धति से विचार किया जाय। और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत में एक गलत किस्म का समीकरण पैदा हो सकता है, जो आम राजनीतिक गणना के आधार पर एक हद तक सोल्जेनित्सिन को पास्तरनाक के साथ गिनती कर दे, यद्यपि वह पास्तरनाक के बिल्कुल उलटा पड़ता है। इसके ठीक विपरीत उसका प्रभाव पड़ना चाहिए था और शायद वैसा होता अगर वह अपूर्ण रीति अस्तित्व में न होती, जो दो विरोधी तत्त्वों को एक बना देती है। कोई ऐसा कारण नहीं दीखता कि विभिन्न तत्त्वों के सह-अस्तित्व को, जिनके बीच गम्भीर विचार-विमर्श चल रहे हों, हम बाधित करें। कोई भी एक व्यक्ति का मेल प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से नहीं बिठा सकता। हालाँकि आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हमारे शिविर के अन्तर्गत मत-वैभिन्य नहीं रह गया है। यह कोई हल नहीं हुआ। इसे हम दूसरी तरह की तिकड़म ही कह सकते हैं। हमें तीव्र विचार-विमर्श की आवश्यकता है, वैसे विचार-विमर्श की जिसका कोई प्रशासकीय उद्देश्य न हो। अगर हम सह-अस्तित्व के अन्तर्गत अपने संघर्ष में परिणाम हासिल करना चाहते हैं तो सांस्कृतिक जीवन में हमें उस स्तर पर पहुँचना होगा।

—यह सबकी जानकारी में है कि सह-अस्तित्व के विरोधी भी हैं और वे केवल उग्रवादियों में, अत्याचारियों में और पूंजीवादी देशों के नव-फासिस्टों में ही नहीं हैं। हाल का चीनी उदाहरण हमारे सामने है। और दुर्भाग्य से आज, जबकि हम सह-अस्तित्व की बात कर रहे हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वियतनाम में एक क्रूर युद्ध लड़ा जा रहा है, यद्यपि पूरे विश्व में इसके विरुद्ध एक संघर्ष चल रहा है। प्रो० लुकाच, उन सिद्धान्तों के बारे में आप क्या सोचते हैं जो सह-अस्तित्व का विरोध करते हैं; उनसे हमें किस प्रकार लड़ना चाहिए और ऐसे संघर्ष की संभावना क्या है ? वियतनाम के संदर्भ में भी।

—यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है। आरम्भ में मैंने जो कहा था शायद वह आपको स्मरण होगा कि अणु-युद्ध की कुछ विशेषताएँ हैं जो तीसरे महायुद्ध के विस्फोट को रोकती हैं। लेकिन वे युद्ध के कारणों को खत्म नहीं करती हैं। अमरीका साम्राज्यवादी शक्ति बनने से अपने को महज़ इसलिए नहीं रोक सका है कि उसे अणु-युद्ध का खतरा है। आपने शायद देखा होगा कि अमरीकी नीति वियतनाम युद्ध के संदर्भ में सोवियत संघ की भूमिका और चीन की भूमिका पर कितनी सावधानी से विचार करती है। अगर अणु-अस्त्र न होते तो वियतनाम में आज से बहुत पहले विश्वयुद्ध छिड़ गया होता। आज संतुलन अस्थिर है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अमरीका की वियतनाम नीति के विरुद्ध हमें दृढ़ता से और सैद्धान्तिक उद्देश्य से लड़ना चाहिए। आखिर, यह क्यों हो रहा है ? अठारहवीं शताब्दी में जब से ब्रिटेन का प्रभाव भारत में बढ़ा तभी से प्रत्येक औपनिवेशिक सत्ता की मूल नीति रही है सम्बन्धित देश के अत्यंत प्रतिक्रियावादी वर्गों के साथ संधि कायम कर उनकी मदद से स्थानीय मुक्ति आंदोलनों का दमन करना। अमरीका की वियतनाम नीति को अगर आप देखें तो आप अठारहवीं सदी के वारेन हेस्टिंग्स तथा अन्य औपनिवेशिक नीतिज्ञों की नीति की अक्षरशः आवृत्ति पायेंगे क्योंकि उपनिवेश बसाने वाले के लिए, अगर वे उपनिवेश बसाना चाहते हैं, तो क्रूर होना उनकी बाध्यता है। इसके अतिरिक्त वे और कुछ कर ही नहीं सकते। मेरी राय में वियतनाम प्रश्न का सम्बन्ध सर्वप्रथम इस बात से नहीं है कि वियतनाम की जनता किस प्रकार (अपनी विभाजन रेखा समाप्त कर) एक होगी बल्कि इस तथ्य से है कि वियतनाम में वे यह देखने के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं कि वह जनता, जो आज अपने को मुक्त कर रही है, कब अपना कार्य-भार सँभालने का अधिकार प्राप्त कर सकेगी। बहुत-कुछ जो आज हम नहीं देख रहे हैं उसे देखा जाना चाहिए। सिर्फ वह सोचने का जोड़-तोड़ वाला ढंग, जिसके सहारे हम अपने साथ सहानुभूति रखने वाले को प्रगतिशील कह देते हैं, और सहानुभूति न रखने वालों को इसके विपरीत प्रतिक्रियावादी के नाम से पुकारते हैं—हमें कहीं नहीं ले जाएगा। क्षमा करें, अनेक ऐसे विषय हैं जिसके संदर्भ में कोई भी उतना ही कम समाजवादी है जितना कि दूसरा। सच्चाई यह है कि इन देशों में कई नये प्रश्न उठे हैं जिनके हल में कई वर्ष लग जाएँगे शायद शताब्दियाँ भी। हमें यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आज के अफ्रीकी देशों की सीमाएँ भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के हितों द्वारा निर्धारित की गयी थीं। इस जनता में राष्ट्र-सम्बन्धी विचार और राष्ट्र के अस्तित्व-सम्बन्धी विचार ने कोई रूप नहीं लिया है। उपनिवेशीकरण ने उन पड़ोसी जातियों का विभाजन कर दिया जिनकी जीवन पद्धति समान थी। केनिया में रहने वाले सोमाली जन अन्य सोमाली जनों के साथ मिलकर एक होंगे या नहीं, इसे सोमाली जनता पर छोड़ दिया जाना चाहिए। अन्य कोई इसे हल नहीं कर सकता। अमरीकी औपनिवेशिक नीति का मुकाबला पूरी दुनिया के पैमाने पर जनतांत्रिक आत्मनिर्णय की नीति के सहारे किया जाना चाहिए। स्तालिन के काल में जो नहीं किया गया अगर हम उसकी पूर्ति कर सकें और गंभीर वैज्ञानिक कार्यों को आगे बढ़ा सकें तभी हम इस जनता को आर्थिक एवं राजनीतिक सलाह देने के योग्य होंगे। वैसी सलाह जो सार्थक हो, पर वैसी नहीं जो किसी यूरोपीय देश की राजधानी में बैठकर सोची गयी हो बल्कि वह जो किसी विशिष्ट जनता के आर्थिक विकास को अभिव्यक्ति देती हो। आज एक ऐसा मौका है जब, हम आज तक के विश्व के इतिहास में जो कुछ भी हुआ है उससे कहीं महत् भूमिका अदा कर सकते हैं। और यह केवल औपनिवेशिक जनता के संदर्भ में ही सच नहीं है बल्कि यूरोप और अमरीका के भी संदर्भ में, क्योंकि इसी अवधि में यूरोप और अमरीका दोनों एक विरोधी रूप लेने की प्रक्रिया में हैं। इन विरोधों के प्रायः वैशिष्ट्य की परिभाषा है इनका चीनी चरित्र। जहाँ तक इनके स्वरूप का सवाल है वे अमरीकी घटनाओं में से एक होने का स्मरण दिलाते हैं, और जहाँ तक उनके विषय का सम्बन्ध है उन पर बहुत हद तक चीनी सिद्धान्त का प्रभाव है। क्यों ? "क्या किया जाना चाहिए" शीर्षक के अन्तर्गत लेनिन ने १९०३ में लिखा कि अराजकता, जिसका प्रभाव उनके जमाने में काफी था, हमारी अपनी अवसरवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गलतियों की सजा है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस कथन में लेनिन ने एक आम, गम्भीर और सुदूरव्यापी सत्य की अभिव्यक्ति दी थी। चीनी प्रभाव, जो आज पूरे यूरोप में फैल गया है, हमारे सिद्धान्त की कार्यनीतिगत कमी और हमारी रूढ़िवादिता की सजा है। अठारह-वर्षीय एक उत्साही अमरीकी अथवा अन्य पश्चिमी युवा आज की पेचीदा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में अपने प्रश्नों का उत्तर नहीं पा सकता है जो उसके विरोध की भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है। अतः वह सोचता है कि माओ में उसे उत्तर मिल जायगा। उदाहरण के लिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपनी पुरानी गलतियों को खत्म कर और मूल मार्क्सवादी प्रणाली की ओर वापस जाकर हम न केवल विदेश में अपने प्रभाव की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से बल देंगे बल्कि अपने देश के अन्तर्गत भी यह हमें उस स्थिति में पहुँचा देगी जहाँ से हम अपने कतिपय साधनों का संचालन कर सकें जिसका अगर उचित सम्प्रेषण हो तो उसका प्रभाव विदेश में भी होगा। निश्चय ही आप मेरा अर्थ समझ रहे हैं। अगर हम अपनी पुरानी गलतियों को खत्म कर और कार्यनीतियों के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण बंद कर मार्क्सवादी सिद्धान्तों से कार्यनीतियाँ निकालें तो इसका प्रभाव संस्कृति पर होगा और इससे भी अधिक संस्कृति के आगे कई राजनीतिक क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा।

—कुछ ही दिनों पहले ऐसा कहा गया है कि हमें छह या आठ वियतनाम की आवश्यकता है। हम इस चीनी मत से अरसे से अवगत रहे हैं कि महायुद्ध के पश्चात् अपेक्षया अल्पकाल में ही नयी सभ्यता उठ खड़ी होगी। क्या यह मत अथवा आमतौर पर—अभी मैं और अच्छा शब्द नहीं सोच पा रहा हूँ—दुस्साहसिकता और अतिक्रान्तिकारिता, जिसे तीसरी दुनिया की दीनावस्था में पर्याप्त पोषण मिल रहा है, सह-अस्तित्व को खतरे में डालता है ?

—मैं नहीं समझता कि इसे कोई गम्भीर खतरा है यद्यपि यह सच है कि लोग यह नहीं पहचानना चाहते हैं कि अणु अस्त्रों के परिणामस्वरूप एक बिलकुल नयी स्थिति विकसित हो गयी है। इस नयी स्थिति को मैं इस प्रकार समझता हूँ : अगर हम अतीत के किसी युद्ध में १० किलोमीटर तक मार करने वाली बन्दूक इस्तेमाल करते और अगर कोई २५ किलोमीटर की मार करने वाली बन्दूक की खोज कर लेता तो ऐसी हालत में वह अपनी बन्दूक की सहायता से १० किलोमीटर की बन्दूक को बर्बाद कर बिना किसी कुरबानी के जीत हासिल कर लेता। अणु युद्ध में यह स्थिति नहीं होती। अणु युद्ध में कमोवेश दोनों तरफ की बर्बादी होती है। यही कारण है कि तर्कसंगत अनुमान हमें बतलाता है कि बड़ी शक्तियों के बीच अणु युद्ध की वास्तविक सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि अमरीकी प्रेस यह खबर नहीं कर रहे हैं कि वियतनाम में अमरीकी हवाई जहाज सोवियत प्रक्षेपकों द्वारा बर्बाद किये जा रहे हैं। अमरीकी यह दिखला रहे हैं कि मानो उनकी दृष्टि इस पर नहीं गयी। ये तथ्य काफी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे यह प्रकट करते हैं कि आज युद्ध एक सीमा के अन्तर्गत लड़ा जा रहा है। मसलन, दक्षिण अमेरिका में आज पक्षधर युद्ध चल रहा है इसका यह अर्थ नहीं कि वह विश्वव्यापी युद्ध की दिशा में फैल जायगा। यहाँ मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि मैं इस छह या आठ वियतनाम के सिद्धान्त के प्रति किंचित् संदिग्ध हूँ क्योंकि वास्तविक पक्षधर युद्ध शुद्ध संकल्प का परिणाम नहीं है। अगर एक विस्तृत हिस्सा, जिसमें किसानों की बहुलता अथवा प्रधानता हो, यह महसूस करता है कि वे अब उस प्रकार नहीं रह सकते जिस प्रकार रहते आ रहे थे और यह कि अपना इस नियति के साथ समझौता कर आगे नहीं रह सकने की अपेक्षा वे अपना जीवन जोखिम में डालना पसन्द करेंगे तो ऐसी हालत में पक्षधर युद्ध की शुरुआत होती है। अगर स्थिति ऐसी नहीं है तो भले ही इने-गिने वीर, ईमानदार व्यक्ति अपने को जोखिम में डाल देंगे और खत्म हो जायंगे परन्तु एक पक्षधर युद्ध के रूप में आप संघर्ष शुरू नहीं कर सकेंगे। ऐसी हालत में वह पक्षधर युद्ध बुर्जुआ क्रान्ति के सिवा और कुछ नहीं होगा या शायद उस बुर्जुआ क्रान्ति के लिए आवरण मात्र होगा जिसे समाजवादी क्रान्ति के रूप में रूपान्तरित किया जा रहा है। मैं समझता हूँ कि दक्षिण अमेरिका में इसी प्रकार की क्रान्ति का कार्यक्रम है, और यह हो भी सकता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि किसी वीर के गिर्द कोई छोटा दल पक्षधर युद्ध आरम्भ कर सकता है। इसके विपरीत कृषक वर्ग की अवस्था में सुधार के लिए चलाये गये आन्दोलन को, जिसमें अन्य निम्न वर्गों के लोग भी शामिल हों, क्रान्ति में रूपान्तरित किया जा सकता है और उस क्रान्ति में पक्षधर युद्ध महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

भूमिका अदा कर सकता है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ हमारा सम्बन्ध जनता के विद्रोह और औपनिवेशिक उत्पीड़न से नहीं है, लेकिन यह एक आम प्रश्न है जिसका सम्बन्ध आज हमारी सांस्कृतिक समस्या से है। आज के स्वार्थ-साधित पूंजीवाद के अन्तर्गत मजदूरी में वृद्धि हुई है। काम के घंटे कम किये गये हैं और इसके बावजूद आज मजदूर वर्ग का जीवन बदतर पूंजीवादी उत्पीड़न के ज़माने की अपेक्षा अधिक अर्थहीन हो गया है।

—सह-अस्तित्व के अन्तर्गत लड़ाई में, जिसे हम संशोधित वर्ग संघर्ष समझते हैं, हमारी भूमिका निर्णायक है क्योंकि निश्चित रूप से सार्थक जीवन की दिशा में मानवता समाजवाद के अलावा कोई और रास्ता न तो देख पाती है और न उस जीवन की उम्मीद कर पाती है। यद्यपि हम समाजवादी संशयपूर्ण ढंग से ही ऐसा कहते हैं।

—हम इससे आगे जाने की शुरुआत कर रहे हैं। सम्पूर्ण पश्चिमी साहित्य इस बात का संकेत देता है कि आज की जो स्थिति है उसमें मनुष्य सार्थक जीवन जीने की संभावना में अपनी आस्था खो चुका है। लेकिन मैं यह विश्वास नहीं करता कि मनुष्य सार्थक जीवन जीने की मांग का हक सदा के लिए त्याग देगा। मैं ऐसा निराशावादी नहीं हूँ। लेकिन जब तक हम इस निरर्थक पूंजीवादी जीवन के सम्मुख एक सार्थक जीवन का रूप स्पष्ट रूप में न खड़ा करें तब तक इस बौद्धिक आन्दोलन का आगे बढ़ना कठिन होगा। आरम्भ में मैंने सन् '२० से '३० की अवधि की बात कही थी। मसलन, जर्मन बुद्धिजीवियों ने क्यों भूख-पीड़ित रूस के साथ सहानुभूति प्रकट की थी? क्योंकि उन्हें गहरे रूप में यह विश्वास था कि यद्यपि वे स्वयं एक अर्थहीन जीवन व्यतीत कर रहे थे जबकि दूसरी ओर लोग रूस में भले ही भूख से पीड़ित हों लेकिन जिसके लिए वे जी और लड़ रहे थे वह सार्थक था। इसका प्रचार निश्चय ही स्थूल ढंग से नहीं किया जा सकता। यह कहते हुए लेख लिखना कि जीवन का यह ढंग सार्थक है और वह निरर्थक हमें कहीं नहीं पहुँचायेगा। जब किसान और मजदूर इस तथ्य के प्रति जागरूक हो जायँगे कि वे जो अपने लिए काम कर रहे हैं वह पूरे विश्व के लिए है या उसका सम्बन्ध पूरे विश्व से है, जब व्यक्तिगत सफलता एक सार्थक जीवन के निर्माण में सहायक के रूप में समझी जायगी तभी हम पश्चिम की अंधेरी गली, पूंजीवादी अंधेरी गली के बाहर उन्हें राह दिखला सकते हैं जो आज बाकायदा हमसे ऐसी उम्मीद कर रहे हैं। मैं समझता हूँ इसका सम्बन्ध कला और दर्शन के सारे प्रश्नों से है और भविष्य में यह समस्या हमारे सामने आयेगी। यानी ऐसा नहीं कि कल या परसों ही ऐसा हो जायगा बल्कि पाँच या दस वर्ष बाद। हमें उस क्षण के लिए तैयार होना है जब एक पूरी बदली हुई दुनिया में, बिलकुल बदली हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत हम प्रभावशाली ढंग से मार्क्सवाद को प्रस्तुत कर सकें—जो एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है जो इन सामाजिक अन्तर्विरोधों के बाहर एक निश्चित राह का ज्ञान देता है।

अनुवादक : प्रेमेन्द्र

['न्यू हंगेरियन क्वार्टर्ली'—२ (१९६८) से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलेक्सांदेर सेंकोविच की पाँच कविताएँ

: १ :

कंदील जल रही है, लट्ठे तड़क रहे हैं
एक रूसी काठ-झोंपड़ी में।
ज़ार लिख रहा है एक किताब शासन-कला पर
ज़ार लिख रहा है एक किताब ख़ुद पर।
इतनी मेहनत से थका लिया है ख़ुद को उसने
कि वह प्रभु यीशु-सा दीखने लगा है
मगर कागज़ के नग्न चौकोर पर पड़ा
स्याही का धब्बा
लगता है मानो हो जल्लाद का ठीहा।
और उसके हाथों की नसें सूजी हुई हैं
वह जानता है बहुत-से चेहरे, याद हैं उसे
बहुत-सी तारीख़ें।
वह गिनता है अपने अक्षर
जैसे कोई गिनता हो सैनिक, लड़ाई से पहले।
वे क़तई मज़बूत काठी के नहीं हैं
मगर उनका कार्य-भार—वह बहुत बड़ा है—
उन्हें कोई लड़ाई नहीं जीतनी है,
उन्हें जीतनी हैं शताब्दियाँ ज़ार के लिए।
पूर्ण विराम डूब गये हैं गोलों की तरह।
उनका समय अभी आने वाला है···[1]
लिख रहा है ज़ार, पंक्तियाँ फिसलती आ रही हैं
उसके राजसी कलम के नीचे से।
ज़ार लिख रहा है आने वाली पीढ़ियों के लिए
सौंपता हुआ अपना अनुभव भावी आततायियों को।
ख़ुश्क हैं मगर जलते हुए लट्ठों की तड़क
जैसे ज़ार पर चलती हुई गोलियाँ। ●

१. पूर्णविराम किसी भी निर्णय की पूर्णता का प्रतीक है, जबकि तीन बिन्दुओं का अर्थ है सेंसर द्वारा प्रतिबन्ध।

: २ :

कितने समस्वर हैं सारे रंग
हरे, नीले, लाल···
गूँगेपन ने—उस महान परिकल्पना ने—
कर दिया है उन्हें सगोत्र।
कल्पना कीजिये मैं रहस्य जान जाऊँ
और मैं उन्हें वाणियाँ दे दूँ।
लाल रंग चीखना शुरू कर देगा
ख़ून के भय से।
और हमें विपदा की आशंका होगी
और चीज़ें साधारण नहीं रह जाएँगी।
और मैं यह सब बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगा
और मुझे अपना जादू-टोना रोक देना होगा।
रंग फिर से हो जाएँगे गूँगे,
भूलकर अपनी हताशा
पुनः एक बार आकर चुप्पी अचल हो जाएगी
गहरे तालाब में पानी की तरह।
सूर्य खोल देगा अपनी पंखुरियाँ
वह मेरा सच्चा मित्र बन जाएगा
और रेत की तरह चुप-चुप
सारे रंग विलीन हो जाएँगे सफ़ेदी में। ●

: ३ :

सर्दी के मौसम और रात में
रटते हुए बारम्बार पाठ
मैंने सीखी एक भाषा पूरब की
ताकि समझ सकूँ तुम्हें आद्यन्त।
और तुम सोयी थी···किस शताब्दी में
किन प्रज्ञाओं से घिरी हुई?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारी पलकों ने हरकत की
ज्यों समुद्री घोंघे के किनारों ने।
तुम्हें जल्दी उठना होगा
और तुम मंद-मंद साँसें लेती सोती रही।
किस सागर-शैया पर
तुम्हारी आत्मा बन गयी मोती ?
किन्तु तुम्हारी वह वाणी···वह मुझसे दूर
खिसकती रही,
मेरी समझ से दूर।
तुम्हारे होंठों पर मधुर थी वह
मगर मेरे मुँह में तिक्त
मैं बैठे-बैठे घोखता रहा
गूँगी किताबों के पन्ने।
लेकिन बर्फ़ के टीले की तरह
उसने लगा दिया ढेर
अपनी वर्णमाला का।
मैं पुचकारता रहा उसे जैसे जानवर को,
और जब तक मुझ पर विश्वास से पूर्ण
उसने चाट नहीं लिये मेरे होंठ,
मैं सोया नहीं। ●

: ४ :

एक अंधा सतर्कता के साथ
ठकठकाता हुआ ज़मीन बढ़ा जा रहा था
पटरी के किनारे-किनारे
चाँद ने—अति-आकार और ताम्रवर्ण चाँद ने—
लगा दी है आग
बादलों में।
बग़ल से
रगड़ती हुई एक लड़की गुज़र गयी है—
जो देगी या तो सुख
या विपदा···
उसने हर एक तारे को महसूस करना चाहा
अपनी अंगुलि से
जैसे पढ़ते समय अंधे महसूसते हैं
अक्षर।
हम नहीं जानते कैसी होती है यह इच्छा।
अक्सर ही हम अंधे हो जाते हैं चकाचौंध से।
लेकिन वह तारे को ले सकता है अपनी
हथेलियों में
परखने
उसका रूप,
गंध,
भार।
और वह जान सकता है तमाम चीज़ों के माप
रात और दिन का अंतर।
होमर इसी तरह पैदा होते हैं
और लोग ताकते रह जाते हैं। ●

: ५ :

हवाएँ मरती हैं—और भी अधिक शांति छा
जाती है
बादल मरते हैं—बरसात होती है
रातें मरती हैं—आकाश और भी हल्का हो
जाता है
आदमी मरते हैं—धरती अधिक भारी हो
जाती है। ●

अनुवादक : गिरधर राठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकोलाइ जिनोव्येव की तीन कविताएँ

: १ :

माँ, संतरे और मैं

कितना कम देखा है मैंने जीवन में !
कितना कम···
मैं इस फले हुए संसार में उस तरह रहना चाहता हूँ
जैसे माँ रहती है ।
मई में उसने मुझे मेरी आँखें दीं
और आज वह मेरी चाय के लिए संतरे लाई है ।
इस वक्त मैं कितना उदास हूँ,
कितना भरा हुआ
मेरी आवाज़ चुप्पी में डूबती है,
कितने बोझिलपन से
कितना कम होता हूँ मैं अकेला माँ के साथ !
कितना कम···
मैं कवि नहीं हूँ, और न नागरिक,
मैं उसका बेटा हूँ ।
इस वक्त मैं क्या कुछ नहीं चाहूँगा
और कितना-सा···
मैं इस फैले हुए संसार में उस तरह रहना चाहता हूँ
जैसे माँ रहती है
गिरजाघर की तरह पूरी सफ़ेद
वह मेरे सामने खड़ी है
ओह, उसे हमेशा इसी तरह गिरजाघर की तरह
सफ़ेद
मेरे सामने खड़ी रहने दो !

अपनी माँ से मैं प्रार्थना करता हूँ, प्रकट और छिपकर
मैं प्रार्थना करता हूँ,
एकाग्रता से,
उद्विग्न होकर,
छटपटाहट से !
मुझे न तो झिड़की मिलेगी
और न मदद
बस, वह एक उसाँस भरेगी,
समझ जाएगी
और मुझे अँकवार में ले लेगी···
माँ मेरे लिए संतरे छील रही है
उनसे मुझमें कैसी तीखी मिठास-सी भर जाती है,
वे मुझे ग़मगीन कर देते हैं
उसका चेहरा व्यथा से भरा हुआ उतरा है मुझमें
कितने उलाहने के साथ···
उसका चेहरा मेरे जीवन-भर मेरा एक्स-रे ले रहा है
कमरे में अकेला मैं
माँ को अर्पित एक प्रार्थनागीत गाता हूँ
मैं कवि नहीं हूँ और न नागरिक
मैं माँ का बेटा हूँ
मेज़पोश पर आख़िरी संतरा रह गया था
कितना कम होता हूँ मैं अकेला माँ के साथ···
एक प्रार्थनागीत
माँ के लिए ! ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

सफ़ेद ईश्वर का गीत

कभी-कभी रात में नेर्गिलका स्ट्रीट पर
हम तमाम वास्तविक चीज़ों के प्रति बहरे बने खड़े
रहे
ईश्वर तुम्हें गिरती बर्फ़ के रेशे समर्पित करता है
मैं तुम्हें अपनी कविताएँ समर्पित करता हूँ ।

हमारे लिए एक बिचौलिए की तरह
तर्क से टक्कर लेती हुई
खूबसूरत आखिरी ट्राम खड़खड़ाती हुई गुजर गई
अपनी पाँतों को तुम्हें समर्पित करती हुई ।

हम जैसे कि पुरातन काल से
एक विचित्र कर्त्तव्य-भाव ओढ़े हुए हैं
जहाँ आकाश पृथ्वी पर गिरता है
उसे चुप्पी समर्पित करता हुआ ।

ओ मेरे सफ़ेद ईश्वर, सर्वशक्तिमान बर्फ़ !
अँधेरे में हमने उसकी प्रार्थना की
यह माँगते हुए वह उस सब पर सफ़ेदी छिड़क दे
ढँक दे हौले से जो दुनिया में काला है ।

सफेद होना भयानकतम दुर्भाग्य है—
कहा जाता है कि चीज़ों को सफ़ेद बनाओ ।
यदि कोई काला ईश्वर होता
तो बहुत डरावना होता ।
सफ़ेद होना बड़ा ख़तरनाक है
कितनी आसानी से दाग़ लग जाता है
वसंत का इन्तज़ार फाँसी की तरह हो रहा है
जिसमें सूरज लाल जल्लाद की तरह है ।

सफ़ेद होना—जैसे फैलकर गिर जाना
वहाँ, ऊपर
अपना जीवन प्रारम्भ करता हुआ

बर्फ़ का हर ज़र्रा
उम्मीद करता है कि वह समूचा चौराहा ढँक सकेगा
और अब—अब तुम बर्फ़ हो, क्षितिज तक सफ़ेद,
तुम बेजान पड़े हो पीठ के बल गिरे हुए
आकाश में अब तुम्हारा अस्तित्व नहीं है
तुम्हें पृथ्वी को दे दिया गया है ।

वाष्प बनते हुए-से तुम चले जाओगे
लेकिन फिर भी पिछले वर्ष की तरह
अगले जाड़े में बर्फ़ के ज़र्रे
खटखटाएँगे कहीं पर किसी का
हृदय ।

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

एक अजीब प्रार्थना

ईश्वर, मुझ शक्ति दो कि प्रेम से उबर सकूँ
और फिर कभी प्रेम न करूँ
आलिंगन को तोड़ सकूँ
और पत्थर बनकर अलग हो सकूँ।

ईश्वर, मैं समय पर वापस न आऊँ
ईश्वर, मुझे एक बार फिर क्षमा न मिले
कि असह्य को सह सकूँ
जिस चीज़ को चाहता हूँ उससे घृणा करने तक
उतर आऊँ।

इस शाश्वत सलीब—उसकी छाया को
मेरा पीछा करने दो सड़ने तक
ईश्वर, रात को मेरे लिए बाज भेज दो
मेरे सारे संदेहों को वे चींथ-चींथ कर तार-तार
कर दें।
किन्तु मौन है ईश्वर प्राचीन पापों के लिए
उसके अस्तित्व में संदेह करने के लिए
ईश्वर हर एक को प्रेम की सज़ा देता है
ताकि परिश्रम झेलते हुए हम विश्वास करना सीख
जाएँ।

किन्तु यह ऐसा होने से,
यदि ईश्वर इतना क्रूर है
तो मैं फिर उससे प्रार्थना करता हूँ
ईश्वर, इतनी शक्ति दो कि प्रेम न कर सकूँ। •

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क श्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी समालोचक

व. लक्शिन

प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका कृतित्व सामान्य लगता है और रचनाएं अल्प और अपूर्ण प्रतीत होती हैं किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव की परिधि असाधारण रूप से विशाल होती है। उनकी साहित्यिक उपलब्धियों से स्वतंत्र इस धरातल पर उनकी उपस्थिति मात्र जीवन को सरस और विवेकपूर्ण बनाती है और साथ ही मन के ऊपर एक स्फूर्तिमय प्रभाव छोड़ती है। स्वयं मृत्यु भी उनके इस प्रभाव को सीमित नहीं कर पाती अपितु लगता है कि वह उसको और भी गहरा बना देती है एवं अविज्ञात रूप से इन व्यक्तियों के कर्म और वाणी की एक परम्परित प्रतिक्रिया-शृंखला जुड़ती चली जाती है।

मार्कश्चेग्लोव को दिवंगत हुए आज दस वर्ष से अधिक हो गये हैं और उनकी चाल, शब्द एवं मुद्राओं को मानस में प्रत्यक्ष करने के लिए थोड़ा-बहुत प्रयास करना पड़ता है किन्तु उनकी पुस्तक खोलते ही उनका चिर-परिचित स्वर मेरे कानों में गूंजने लगता है। यह स्वर किसी उपन्यास के पात्र-विम्ब का स्वर नहीं है किन्तु उनका अनाविल रूप से नैसर्गिक एवं बीच-बीच में खाँसता हुआ स्वर है। यह स्वर कहीं स्वप्नाविष्ट भावावेश से पुलकित, तो कहीं विक्षुब्ध व्यंग्य से प्रखर, तो कहीं चिंतन भारान्वित और ऊर्जस्वित हो जाता है। लेखक की मौलिकता एवं सत्यता की पहचान भी इसी बात से होती है कि उसकी वाणी मुद्रित पंक्तियों के पीछे से स्पष्ट सुनी जा सकती अथवा वह किन्हीं श्रम-साध्य वागाडम्बरों से घुट जाती है।

मार्क का प्रथम महत्त्वपूर्ण लेख सन् १९५३ के सितम्बर में प्रकाशित हुआ था और सन् १९५६ के सितम्बर को वे इस संसार से चल बसे। तीन वर्ष का समय साहित्य के इतिहास में एक बहुत छोटी अवधि होती है किन्तु इन तीन वर्षों के पीछे मार्क के जीवन की समस्त साधना है। इसीलिए उनका प्रभाव आज भी स्पष्ट रूप से लक्षणीय है।

सन् १९५३ वसन्त में उन्होंने अपनी एक सामान्य नीली कापी में लिखा—"मेरा अपने साहित्यिक कर्म के प्रति कुछ इस प्रकार का दृष्टिकोण है कि जब तक 'वह बात' नहीं हो पाती—अर्थात् जब तक मेरा इस विशाल साम्राज्य में कोई स्थान नहीं बन पाता तब तक अप्रतिहत रूप से मुझे ज्ञानार्जन करके विवेक प्राप्त कर लेना चाहिए। यह उसी प्रकार है जैसे कि कोई व्यक्ति जिसे सड़क पार करके उस ओर आगे चलना हो, यातायात की बाधा के कारण इस ओर आगे चलने में समय का उपयोग कर रहा हो।"

यह बात उन्होंने जीवन के उस मोड़ पर कही थी जो कि उनको साहित्य की ओर लाया।

वैसे तो हम पहले भी अपने संकाय की गलियों में, क्लोक-रूम में, मध्यावकाश में, विद्यार्थियों के घूर्णावर्तों में मिलते रहते थे किन्तु उनसे परिचय नहीं हुआ था। प्रोफेसर गुद्जी के अध्ययनकक्ष के झुटपुट प्रकाश में, जिनमें चित्रों की सुनहरी चौखटें (फ्रेमें) और चित्रों के रंग दिपते रहते थे, विशाल पर्वताकार पुस्तक-राशियों के मध्य, एक सेमिनार में हमारा प्रथम परिचय हुआ। यह सेमिनार वयोवृद्ध प्रोफेसर की साहित्य-सेवाओं के सन्मान में उनके घर पर ही हुआ करता था। पुस्तकें दीवारों को ढँककर मेजों पर, सोफों पर, स्टूलों पर, फर्श पर उमड़ी पड़ती थीं और उस प्रकोष्ठ का स्वामी एक कोमल ऊनी कोट पहने एक सेनापति की दृष्टि से अपनी दुर्दम पुस्तक-वाहिनी का निरीक्षण करता—किसी पुस्तक को खोजता हुआ—और विद्यार्थी तब तक अपना

श्री व. लक्शिन 'नोवी मीर' में साहित्य-समीक्षा के संपादक थे। कुछ महीने पहले वे उक्त पत्रिका के प्रधान संपादक त्वार्दोवस्की के साथ ही संपादक मंडल से अलग कर दिये गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान ग्रहण करते।

सेमिनार के दिन घर-भर की कुर्सियाँ उनके कमरे में घसीट ली जातीं और मेजें भी और इस पर भी जब जगह की कमी पड़ती तो देर से आने वालों को रेकों पर, सोफ़ों पर, या जहाँ जगह मिले वहाँ पर स्थान बनाना पड़ता। इस स्थान की एक और सुविधा यह थी कि किसी नीरस व्याख्यान के समय दीवार पर टँगे चित्रों को देखने का, किसी पत्रिका के पन्ने पलटने का या किसी मित्र से अपनी बातें करने का अवसर मिल जाता था क्योंकि पुस्तकों के विशाल ढेरों की ओट में प्रोफ़ेसर सभी को नहीं देख पाते थे। मार्क मुझसे आठ साल बड़े थे। विद्यार्थियों की अवस्था में आठ वर्ष का अन्तराल महत्त्वपूर्ण होता है किन्तु मार्क ने इस बात को मुझे कभी अनुभव नहीं होने दिया। तालसताय के 'जीवित शव' (झिवोइत्रूप) के ऊपर उनसे एक बार इन्हीं सेमिनारों में वाद-विवाद छिड़ गया—फ़ेद्या प्रोतासोव के सम्बन्ध में। बाद में उनके एक प्रकाशित पत्र से ज्ञात हुआ कि फ़ेद्या प्रोतासोव उनका प्रिय ही नहीं अपितु प्राणप्रिय पात्र है। मेरे लिए भी फ़ेद्या प्रोतासोव विशेष महत्त्व रखता है।

मार्क मुझे अच्छे लगे और उनके व्यक्तित्व ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। वे अपनी बैसाखी को एक ओर करके अपनी काया को उस पर टिका देते। दूर से वे रोग द्वारा विकृत, दुःखी व्यक्ति लगते थे किन्तु पास आकर उनसे दो शब्द बोलते ही उनका समस्त दुर्भाग्य अदृश्य हो जाता था—उनकी बैसाखी और उस पर झुका हुआ शरीर—और रह जाता था केवल सुन्दर मुख, सजीव और बुद्धिमान् आँखें, एक सरल सहज भाव, किसी हास्यपूर्ण परिस्थिति की तत्क्षण प्रतिक्रिया की क्षमता और फिर अपनी गम्भीर भावना में लीन हो जाना। वे एक पौरुषमय उदात्त सौन्दर्य से दीप्त थे और मैंने अनायास ही अपने को उनका अनुकरण करते पाया।

वे गम्भीर रोग से पीड़ित थे—दुखी थे किन्तु उनमें शीघ्र ही उल्लसित आनन्द में विभोर होने की क्षमता थी। उन्हें लोगों का संग प्रिय था, नये परिचयों और योजनाओं में उनकी असाधारण रुचि थी। घर से चुपचाप खिसककर उनको किसी मित्र के यहाँ अतिथि बनने में तनिक भी संकोच नहीं होता था चाहे इसके लिए उन्हें नगर के एक छोर से दूसरे छोर ही क्यों न जाना पड़े। किसी भी निमंत्रण को वह कभी अस्वीकार नहीं करते थे। हाँ, रोग के कारण किसी असाधारण परिस्थिति में वह कहते—'आज मैं जरा संचरण-शील नहीं हूँ' और इसका अर्थ होता था कि उनके पैरों ने बिलकुल जवाब दे दिया है।

खाने-पीने का मजा जो उनके साथ आता था वह शायद ही किसी व्यक्ति के साथ आता हो। वे जीवन के लघुतम सुखों पर अनन्त आनन्द में लीन हो जाते थे। उनकी बाल-सुलभ उत्कण्ठा, जीवन के लघु सुखों की प्रतीक्षा बड़ी ही संक्रामक होती थी। किन्तु यह सब किसी गम्भीर साहित्य-चर्चा की भूमिका होती थी। एक बार दोस्तोव्स्की ने 'कर्मा-ज़ोव बन्धु' में बालक अल्योशा और इवान को घर की बाड़ के बाहर पहुँचाते हुए कहा था कि रूसी बालक जीवन-जगत् के मूलभूत प्रश्नों की ओर तुरन्त आकर्षित होते हैं—कैसे जीना चाहिए? किस पर विश्वास करना चाहिए? किसकी आराधना करनी चाहिए?

सन् ५४ का साल आया। जाने कौन-से द्वार उस वर्ष खुल गए थे, सभी लोग किसी महान् वस्तु की मानों उत्कट प्रतीक्षा में थे, एक-दूसरे से बड़ी तत्परता से विवादरत थे··· जाने कौन-सा नवीन सुरभिहरण समीरण बह रहा था···मन में आता था कि उन सब बातों को लिख लूं, याद कर लूं। पर क्यों? किसलिए? क्या उस समय मेरे मन में यह बात कभी आ सकती थी कि एक दिन मैं इन दिनों के संस्मरण कागज़ पर लिखूंगा?

जिन दिनों मैं मार्क के समीप आया उन्हीं दिनों मार्क के लेख 'नयी दुनिया' (नोवी मीर) में छपते थे। उन्होंने सन् ५३ के साहित्य के विद्यार्थी पर कैसा प्रभाव डाला उनके विषय में बाद में बताऊँगा। उनके बारे में अभी थोड़ी देर पहले तक गम्भीर एवं वैदुष्यपूर्ण चर्चाएँ चल रही थीं—साहित्य का आधार (बेस) और आधेय (सुपरस्ट्रक्चर) से क्या सम्बन्ध है? साहित्य में सत् और असत् के संघर्ष का दिग्दर्शन अनिवार्य है अथवा नहीं, वर्गगत पात्र की सशक्त सृष्टि असिद्ध हुई या नहीं—फिर आवेगमय शब्दों की बौछार···युवा रुचि और युवा वितृष्णा और अन्त में वे संवेदनशील क्षण···!

एक बार मैं एक पत्रिका को चलते-चलते देख रहा था कि उसमें मुझे मार्क का एक लेख 'संगीत संगत के बिना' दिखाई पड़ा। मुडगेर पर कोहनी टिकाकर मैं इस लेख को—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास अथवा कहानी को नहीं अपितु पुस्तक-समीक्षा स्तम्भ के अन्तर्गत एक साधारण लेख को—पढ़ता ही रह गया। पढ़ते-पढ़ते कभी आनन्द से विभोर हो उठता, कभी सहमत होता, कभी विस्मित तो कभी ज़ोर से हँस पड़ता। फिर मैंने अपने सहपाठियों के साथ उस लेख के तीक्ष्ण एवं हास्यतरल अंशों को कई बार पढ़ा। वाह! क्या बात है! इसको कहते हैं समीक्षा! और सबसे अधिक चमत्कारी बात यह थी कि यह लेख हमारे ही एक सहपाठी ने लिखा था जो कि कक्षा में हमारे ही साथ बैठता था, उन्हीं पाठ्यपुस्तकों को पढ़ता था और उन्हीं परीक्षाओं को देता था जिन्हें कि हम दिया करते थे। वह प्रो० पोस्पेलोव के आगे परीक्षाओं में वैसे ही घबराता था जैसे कि हम सब। कितने आश्चर्य की बात है कि यह समीक्षा उसकी लेखनी से निकली है।

जब मैं मार्क के निकट सम्पर्क में आया तब इस पहेली का पता न लगा सका कि वह कब लिखते हैं। मैंने उन्हें कभी भी काम करते नहीं पाया। वह बहुत लिखते थे और बहुत प्रकाशित करवाते थे, किन्तु उनके लेख उनके मित्रों के लिए नितान्त अप्रत्याशित होते थे। यह उनकी विनम्रता थी अथवा अन्धविश्वास, मार्क ने कभी नहीं बताया कि वे क्या लिख रहे हैं अथवा क्या लिखने जा रहे हैं। उनको उसके विषय में जिज्ञासा करना अच्छा नहीं लगता था।

जैसे ही कोई उनकी माँ के साथ उनके संकरे अध्ययन-कक्ष में—जोकि पहले कभी स्नानागार था—प्रवेश करता वे बड़ी प्रसन्नता के साथ और इस बात से बिना चिढ़े कि उनके लेखन में बाधा पड़ी अपने लिखे हुए कागज एक ओर रख देते और कहते—

"बहुत अच्छा हुआ कि आप आ गये···थोड़ी गपशप करेंगे···विश्वविद्यालय के क्या नये समाचार हैं?···हमारे बुढ़ऊ कैसे हैं?" वह प्रो० गुज्दी के विषय में पूछते।

इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने साहित्यिक क्रिया-कलाप को किसी रहस्यमय वातावरण से आवेष्टित रखते थे। इसके विपरीत वह कई बार सहलेखन का निमन्त्रण देते—

"क्या तुम नहीं पाते कि एमिलीव पर आलोचना लिखने का समय आ गया है। लेख ही नहीं अपितु एक पुस्तक। आओ साथ लिखें।" या "मुझसे दोस्तोव्स्की के विषय में लेख माँगा गया है···पता नहीं चल रहा कि कहाँ से शुरू करूँ···किस छोर को पकड़ूँ? यदि दोनों साथ काम करें तो कैसा रहेगा?" किन्तु इस सहलेखनत्व से मैंने मना कर दिया क्योंकि मैं किसी के साथ मिलकर नहीं लिख पाता हूँ। मार्क के मन में फिर भी किसी के साथ मिलकर लिखने का आकर्षण बना रहा और उनके लेख युवक साहित्यकारों—जैसे सुरेत्सेव, तुर्बिनी—के साथ लिखे मिलते हैं।

मार्क के विषय में अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ आज भी मेरी स्मृति में तैर रही हैं जिनके पीछे से उनका निश्छल मानव-रूप झाँकता है। उनको अपने विषय में ऐसे इतिहास बखान करने का शौक था जिसमें वह 'हीरो' से बिलकुल नहीं लगते थे। एक बार उन्होंने मुझे एक घटना सुनाई—

"रास्ते में फिसलन थी इसलिए मुझे प्रो० गुज्दी के सेमिनार पहुँचने में लगभग बीस मिनट की देर हो गई। यह मेरा पहला ही सेमिनार था···अस्तु घण्टी बजाई···दरवाज़ा खुला—'आप किसे चाहते हैं?'

'निकोलाई कालीनिकोविच को' मैंने नम्रता से अपना चिर-परिचित हैट उठाते हुए कहा।

'आइए, तशरीफ़ रखिये। निकोलाई कालीनिकोविच इस समय व्यस्त हैं—थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।" मुझे बताया गया।

'कोई बात नहीं, प्रतीक्षा कर रहा हूँ,' मैंने विनयपूर्वक कहा। मुझे एक सजे कमरे में पत्र-पत्रिकाओं की मेज के पास एक गद्देदार गोल कुर्सी पर बिठा दिया गया।

'ताजा पत्रिकाएँ हैं! कॉफी पियेंगे?'

मुझे आश्चर्य हुआ किन्तु मना करने की सामर्थ्य मेरे पास नहीं थी। कॉफी पीता हुआ और चित्रों को देखता हुआ सोच रहा था कि वास्तव में यहाँ पर विद्यार्थियों का इतने स्नेह और सम्मान से स्वागत होता है! थोड़ी-थोड़ी देर में मुझसे पूछा जा रहा था कि किसी चीज़ की आवश्यकता तो नहीं है? और साथ ही आश्वासन दिया जा रहा था कि निकोलाई कालीनिकोविच शीघ्र ही निवृत्त हो जाएँगे। मुझे भी कोई विशेष जल्दी नहीं थी। अन्ततः कॉरीडर में पगध्वनि सुनाई पड़ी और कई नमस्कारों के स्वर गूंजे। द्वार खुला और प्रोफेसर सीधे आकर कहने लगे—'क्षमा कीजिए—मैंने आपको प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य किया। अभी हाल ही में विद्यार्थियों से निवृत्त हुआ हूँ···मुझे किससे बात करने का गौरव मिला है? किस प्रकाशन गृह से?' मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हकलाते हुए कहा—'मैं किसी प्रकाशन गृह से नहीं आया हूँ। वास्तव में मैं आपका विद्यार्थी हूँ और कल ही मैंने आपके सेमिनार में नाम लिखवाया है।'

कुछ समय तक एक भारी मौन छा गया। प्रोफेसर का चेहरा सफेद पड़ गया और दरवाजे की ओर लौटे। थोड़ी देर तक अपनी हथेली से अपनी टाँट सहलाते हुए बोले—क्रोध से भरकर—'तो दो घण्टे से यहाँ पर बैठे क्या कर रहे थे··· बैठे हुए लोगों को बेवकूफ बनाते रहे···।'

और इस प्रकार इस शुभ घटना से प्रोफेसर के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ। मार्क ने एक दीर्घ निःश्वास के साथ कहा।

निकोलाई कालीनिकोविच यद्यपि शीघ्र ही गरम हो जाते थे किन्तु स्वभाव से आशुतोष थे और मन में कोई बात नहीं रखते थे। बाद में वे मार्क से अत्यन्त स्नेह करने लगे थे और मार्क अनेक बातों के लिए उनके आभारी थे। मार्क की प्रथम समीक्षा उन्हीं के द्वारा अनुशंसित होकर प्रकाशित हुई थी। वैसे तो हमारे प्रोफेसर निकोलाई कालीनिकोविच गुज्दी का स्वभाव हम सबके प्रति उदार और वात्सल्यपूर्ण था किंतु उनमें एक बात यह थी कि वह विद्यार्थियों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में बारंबार प्रश्न तो करते थे किन्तु उनके द्वारा दिये गये उत्तरों को भूल जाते थे। प्रत्येक मंगलवार को मार्क द्वारा लिखकर लाये गए और पढ़कर सुनाये गए लेखों को सुनकर वह गद्गद हो जाते और अन्त में पूछते—"अच्छा तो मार्क अलेक्सान्द्रोविच, मैं बारंबार भूल जाता हूँ···आप कितने साल के हैं? आपको यह रीढ़ का यक्ष्मा कब हुआ था? अब इलाज कैसा चल रहा है?"

'निकोलई कालिनिकोविच, मैंने आपको पिछली बार बताया तो था!"

"अरे हाँ!" प्रोफेसर कहते और समझ जाते कि बारंबार मार्क को अपने विषय में बताना अच्छा नहीं लगता।

कदाचित् अब मार्क अलेक्सान्द्रोविच श्चेग्लोव के विषय में बताना उपयुक्त होगा—

मार्क अलेक्सान्द्रोविच श्चेग्लोव का जन्म २७ अक्तूबर १९२५ को हुआ था। आजीवन वह अपने शैशव की स्मृतियाँ अपने हृदय में संजोये रहे। प्रशान्त और हरीतिमा से आच्छन्न वह नन्हा-सा नगर···चतुर्दिक शाद्वल उद्यान···। मार्क के पिता एक प्रतिष्ठित नाट्य मण्डली में कलाकार थे और अपने कार्य की प्रकृति के अनुसार उनको अपने परिवार—पत्नी और पुत्र—के साथ स्थान-स्थान पर घूमना पड़ता था। जन्म के दो वर्ष बाद ही मार्क को मेरुदण्ड का यक्ष्मा हो गया था और तब से उनका सारा जीवन—इस अस्पताल से उस अस्पताल, इस सेनेटोरियम से उस सेनेटोरियम भटकना··· जिप्सम के पलस्तर···रोग-शैय्या···घर के सहज जीवन के कुछ क्षण···पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ की छलनामयी आशा···और बीमारी का पुनः प्रखर होकर बिस्तर पर पटक देना रह गया था। साथ ही मार्क के घर में भी सब प्रकार कुशल नहीं थी। मार्क के पिता अलेक्सान्द्र सरगेयेविच श्चेग्लोव बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे किन्तु अपने-आपको पूर्ण रूप से पा नहीं सके। उन्होंने अपने जीवन के तीसरे दशक में मास्को की "यथार्थवादी रंगशाला" में काम आरम्भ किया। थोड़ा बहुत सृजनात्मक काम भी किया, ए० एन० कवि नाम से कविताएँ भी लिखीं जो कि कदाचित् बच्चों की पत्रिकाओं "बिज्जू" या "छोटी चिड़िया" (चिझ) में प्रकाशित भी हुई, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपनी गृहस्थी छोड़ दी और माँ को ही मार्क का लालन-पालन करना पड़ा।

रुग्णता की विवशता के कारण मार्क को बचपन से ही पढ़ने की बड़ी आदत थी और उन्होंने बहुत पढ़ा—अदम्य पिपासा से पढ़ा और आनन्द लेकर पढ़ा। एक मधुर स्वप्न के समान उनकी भी आशाएँ थीं कि अन्य बालकों की तरह वह भी स्कूल जाएँ। उनकी डायरी के स्वल्प साक्ष्य के अनुसार उनका अध्ययन कुछ इस प्रकार चला—

सन् २७ से सन् ३५ तक—आठ साल—विभिन्न अस्पतालों में रहकर जैसे-तैसे दूसरी कक्षा पास की। सन् ३५ के अन्त में अस्पताल से घर लौटा और सन् ३६ में तीसरी और चौथी कक्षा घर पर पढ़कर ही पास की। पाँचवीं कक्षा में सोवियत प्रान्तीय स्कूल में प्रविष्ट हुआ किन्तु रीढ़ में यक्ष्मा की प्रक्रिया तीव्र हो जाने के कारण स्कूल छोड़ना पड़ा और इसके फलस्वरूप छठी और सातवीं कक्षा घर पर पढ़कर ही पास करनी पड़ीं। सन् चालीस में मास्को से बाहर एक टी० बी० अस्पताल में भर्ती किया गया जो कि मुइतीश नामक पर्वत पर स्थित है और वहीं से मैंने आठवीं कक्षा पास की। युद्ध के कारण वह अस्पताल, जिसमें मैं भर्ती था, खाली करवाया गया और यूराल ले जाया गया, इसलिए नवीं कक्षा मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहीं पर चेल्याबिन पत्राचार हाई स्कूल से पास की। युद्ध संकट टल जाने पर फिर हमारे अस्पताल को अपने पूर्व स्थान पर लाया गया और सन् तेंतालीस की शरद् ऋतु में ज्वेनी गोरद टी०बी० अस्पताल में रखा गया जहाँ से मुझे सन् ४५ में ही छुट्टी मिल सकी। उसी वर्ष मास्को के रेल के डिब्बे बनाने वाली फैक्टरी के कामगर युवकों के हाई स्कूल "१९०५ क्रान्ति स्मारक" में प्रवेश लिया और वहीं से दसवीं कक्षा पास की।

यह तो डायरी के पन्नों का बाह्य घटना विवरण मात्र है किन्तु पहले इस बालक, फिर किशोर और फिर इस युवक के अन्तर में कौन-कौन सी घटनाएँ घटीं—उसके मन पर क्या बीती—उसका साक्षी यह उसकी माँ के नाम एक पत्र है—

"मेरी प्यारी, अभागी अम्माँ!

मैं तेरे समक्ष अपरिहार्य रूप से अपराधी हूँ। मुझे अपनी भूलों के विषय में फिर से बात उठाने में लज्जा आती है किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि माँ के रूप में––नहीं—बल्कि एक साधारण मानवी के रूप में तू मेरी इन भूलों की क्षम्यता मान लेगी। तू देखती नहीं है कि अस्पताल की चार-दीवारी और चतुर्दिक बीमारियों का वीभत्स वातावरण किस प्रकार समस्त प्राण-शिराओं को झकझोर देता है···और फिर जबकि स्वस्थ व्यक्ति भी कभी-कभी उद्भ्रान्त हो जाता है··· जब कि प्रत्येक विवेक की आवाज गूंगी हो जाती है तो मैं इन बातों से किस प्रकार बच सकता हूँ। और फिर, तू तो जानती ही है कि मुझे कभी-कभी घोर उदासी जकड़ लिया करती है। मुझे, एक ऐसे व्यक्ति को जो कि संगीत स्वरारोह सुनकर स्तब्ध रह जाता है, जो कि भावपूर्ण वाल्ट्ज नृत्य का प्रेमी है, जो कि गीतिकाव्य पर अपने प्राण न्योछावर करता है और जिसका कि रोम-रोम कवि है, ऐसी निदारुण यन्त्रणा और दुर्गन्धित जीवन का अभिशाप मिला है। तू सोच तो, अम्माँ, यह अन्याय कितनी मार्मिक यन्त्रणा और कितना विक्षोभ उत्पन्न कर सकता है। तू मुझसे दृढ़ता और आत्मबल की अपेक्षा करती है किन्तु बता तो सही कि प्रकृति ने मुझे किस दृढ़ता और किस बल का वरदान दिया है? तू जब इन सब बातों पर विचार करेगी तो निश्चय ही मुझे पूरी तरह क्षमा कर देगी।

सस्नेह, तेरा मार्क"

दुनिया में ऐसे लोग होते हैं जो कि आत्मबल और वीरता की मिसाल देते हैं किन्तु स्वयं किसी पहली ही विपत्ति के सामने भाग खड़े होते हैं। मार्क ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन किया जो उनके विषय में बहुत कुछ बताती है (प्रवेश परीक्षाओं के दिनों में मार्क की बीमारी पूरे जोर पर थी):

"मेरी अध्ययन की इतनी प्रखर लालसा थी कि मैं लगभग घिसटता हुआ विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षाएं देने गया और जब बिलकुल ही खाट से लग गया तो शरद् तक परीक्षाएँ स्थगित करने की प्रार्थना की और भीषण शारीरिक यन्त्रणा और अविस्मरणीय मानसिक व्यथा के बावजूद मैंने वह परीक्षाएँ दीं।" जिस दिन निबन्ध लेखन का परीक्षा पत्र था उस दिन मार्क की तबियत बहुत ज्यादा खराब थी और वे बैठ भी नहीं सकते थे अतएव उन्होंने आडीटोरियम के एक कोने में जाकर कुर्सी पर लेट कर लिखा। महिला परीक्षक मार्क को देख न पायी और जब एक कापी कम पड़ने के कारण खोजा गया तो मार्क को लेटे-लेटे लिखते पाया गया। वह लिखने में इतने तन्मय थे कि उनको पता भी न चला कि समाप्ति की घण्टी कब बज गयी। इस परीक्षा के पश्चात् मार्क बिलकुल ही खाट से लग गये।

अस्तु, मार्क को अपने कार्य में सफलता मिल गयी—चाहे पत्राचार पाठ्यक्रम में ही सही, उनका भाषा-विज्ञान संकाय में प्रवेश हो गया (रूस में साहित्य भी भाषा विज्ञान संकाय में पढ़ाया जाता है)। मार्क ने विश्वविद्यालय में अदम्य लगन और अद्वितीय मानसिक ऊर्जा के साथ साहित्यिक ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि अर्जन करना आरम्भ कर दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे अपने जीवन के दुख और रुग्णता के दुर्भाग्य से प्रतिशोध लेने के लिए पढ़ रहे हैं। हमारे साथ उन्होंने लेटिन भाषा के प्रसिद्ध लेखक त्सेजार की पुस्तक "दि बेलो गेलिको" के प्रसिद्ध अध्याय "तीरेत्स की घटनाओं के सम्बन्ध में" के अनुवाद में पसीना बहाया, हमारे ही साथ उन्होंने गोर्की की कहानी "बुढ़िया इज़रगिल" का ध्वन्यात्मक ट्रान्सक्रिप्शन सीखा और निकोलाई इवानोविच लिबान के योग्य निर्देशन में अपना प्रथम मौलिक लेख "लमोनोसोव और जेरझाविन के शोक गीत" लिखा।

विश्वविद्यालय मार्क के जीवन में एक नया परिवर्तन लाया—नये मित्र, नये साथी, व्याख्यान, विवाद, विमर्श, परिचय। साधारण विद्यार्थी जीवन उनको असाधारण रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास्वर और पूर्ण लगता था।

मार्क बचपन से ही कविता लिखते थे और अब तक उनकी कविता की कई कापियाँ भर गयीं थीं किन्तु विश्व-विद्यालय का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन उनके इस कवि कर्म में बाधा पहुँचाता था। कहीं-कहीं उनके क्लास नोटों के मध्य थोड़ी-सी छन्दमय पंक्तियाँ मिल जाया करती थीं जिनमें कुछ ऐसी भी होती थीं—

मैं स्नेह विकल—
यह रूप सकल,
लिखूं कागज पर
या ध्वनिमय क्रीड़ागारों पर,
या हिमाच्छन्न विस्तारों पर !

इन बाल-सुलभ भोली पंक्तियों में एक विशेषता है जो कि मार्क की समस्त कृतियों में परिलक्षित होती है और वह है उनके भावों की सत्यता और अकृत्रिमता। विद्यार्थी जीवन का यह केवल समारम्भ था—अभी उनके सामने जीवन के नवीन हर्ष और नवीन शोक···गम्भीर रुग्णता और पोलिवानोव का अस्पताल···बीमारी के बिस्तरों पर दी गयीं परीक्षाएं···पुनः आरोग्य लाभ के मधुर स्वप्न—मास्को पुनरागत होने के हर्षाकुल उल्लास और प्रोफेसर गुज्दी के वे चिरन्तन प्रश्न "कितनी उमर है आपकी ?", "पिताजी क्या काम करते हैं" इत्यादि थे। मार्क की माँ ने मुझे बताया कि मास्को लौटकर आना उनके लिए कितने गम्भीर और महान् आनन्द का विषय था। आमरण विमोहित करने वाले इस नगर को पुनः अच्छी तरह से देखने के लिए वे केवल पायजामा और चमड़े की जाकिट पहिने, सिर पर अपने पिता की पुरानी टोपी ओढ़े और गले में लाल शाल डाले बाहर निकल पड़े। मैं उनके उस रूप की स्पष्ट कल्पना कर पा रहा हूँ कि किस तरह वह प्रकाशमय दिनों में अपनी बैसाखी के सहारे अपने सिर को एक ओर से दूसरी ओर घुमाते हुए, सड़क पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, जो कि उनके विकलांग शरीर को करुणापूर्ण दृष्टि से देखता होगा, देखकर स्नेह से मुस्कराते हुए चले जा रहे होंगे। उनको मास्को से एक विशेष प्रकार का करुण कोमल प्रेम था। मास्को के साथ न जाने उनकी कितनी मर्म-व्यथाएँ, आशाएँ जुड़ी हुई थीं। इनमें मातृभूमि के प्रति अखण्ड प्रेम की भावना थी जो कि इस नगर के शौर्य के कारण लोगों की स्मृति में ताजा थी, जिस नगर ने हाल ही में महानतम संकट को पार करके अपने गौरव को अक्षुण्ण रखा था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—'मास्को इस संसार का सबसे गीतिमय और साथ ही सबसे महाकाव्यात्मक उल्लास से परिपूर्ण नगर है।"

जब मेरे हाथों में मार्क की डायरी पड़ी जो कि आजकल "एक विद्यार्थी की कापियाँ" नाम से प्रसिद्ध है तो मैं एक बार पुनः आश्वस्त हो गया कि इस व्यक्ति को कितनी समृद्ध प्रतिभा का वरदान मिला था। उनकी इस डायरी में हम इस शती के चौथे दशक के एक ओजस्वी 'कमसोमोल' युवक को देखते हैं, सामाजिक न्याय में ज्वलन्त आस्था रखने वाले एक आदर्शवादी और एक रोमाण्टिक व्यक्ति को देखते हैं, अपने देश के प्रति एक गम्भीर समर्पण भावना से अन्वित और साथ ही बीमारी की चिन्ताओं से आकुल-व्याकुल एक मानव को देखते हैं।

हो सकता है कि बीमारी के कारण उद्बुद्ध एकाकीपन की भावना ने उनकी अनुभूतियों में इतनी तीव्रता और यथार्थता ला दी हो। कभी-कभी तो वे अपनी उच्छ्वसित चरमानुभूतियों को उनकी पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। यद्यपि उनकी किशोर विचारणा एवं भावना अकलंक होती है, किन्तु उनमें एक व्यक्ति की संवेदनशीलता है जो कि आसपास के लोगों से सौगुनी प्रखर है, जिसे कि शब्द, ध्वनि, रूप और रंग द्वारा भाव-सम्प्रेषण का चमत्कारी वरदान मिला है और जो कि पीछे से गम्भीर मेधा की माँग करते हुए अपने को अभिभूत करने वाली अनुभूतियों से पाठक को अपना लेता है।

महायुद्ध के उपरान्त मार्क परिवार के लिए जीवन दूभर हो गया। माँ अक्सर बीमार रहती थी और काम पर नहीं जा सकती थीं। मार्क अपने लेखन एवं अपनी कविताओं द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। कई जगह काम भी किया, किन्तु सफलता नहीं मिली और शरीर ने भी साथ नहीं दिया। अस्तु, येनकेन प्रकारेण जीवनयापन होता रहा।

जब मार्क प्रख्यात आलोचक हो गये तब समय-समय पर यह आक्षेप सुने गये कि उनका जीवन-विषयक अनुभव व्यापक नहीं है। इस प्रकार की बातें वे लोग करते थे जिन्हें कि मार्क के जीवनानुभवों का सहस्रांश भी प्राप्त नहीं हुआ था। ये लोग कृत्रिम भावना से कन्धे उचकाकर कहते—"क्या करें, बीमारी भी तो ऐसी है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या मार्क जीवन नहीं समझते थे ? वे जोकि जीवन-भर इस अस्पताल से उस अस्पताल भटकते रहे और सैकड़ों जीवनों के दुखों को सुनते-समझते रहे ? उनकी उम्र में इन अनुभवों को प्राप्त करने का अवसर कम ही लोगों को मिला होगा। उन्होंने तीव्र अभाव को सहा, शीत को सहा, रोग को सहा, एकाकीपन को सहा और मानवीय अवलम्ब और संवेदना को जीवन-भर नहीं जाना कि वह कैसी होती है ?

मार्क के जीवनानुभव कम नहीं थे—खासकर एक ऐसे व्यक्ति के, जो कि इतनी गम्भीर मेधा रखता था जिसमें इतनी गहरी संवेदनशीलता थी कि प्रत्येक देखी-सुनी बात को और व्यक्ति को पूरी तरह से आत्मसात कर लेता हो। गम्भीरता व्यापकता की क्षतिपूर्ति कर देती है।

और कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। क्या दोब्रोल्यूबोव—जिसका लालन-पालन एक पादरी के घर हुआ और शिक्षा-दीक्षा एक गिरजे की सेमिनरी में हुई और फिर जो सीधा पीटरबर्ग के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया और तत्पश्चात् आमरण 'समसामयिक' (सोब्रेमेनिक) पत्रिका के सम्पादन-कक्ष से बिना बाहर निकले लिखता रहा—के जीवन-अनुभव व्यापक थे ! क्या पिसारोव जीवन के व्यापक अनुभवों से गुज़रा था जिसका समस्त जीवन सामन्तवादी वातावरण में व्यतीत हुआ, जो कि फिर पांच वर्ष पीटरबर्ग की जेल में रहा और अन्त में अट्ठाईस साल की उम्र में समुद्र में नहाता हुआ एक दुखद मृत्यु को प्राप्त हुआ ! ऐसे व्यक्ति के लिये जिसने कि लेखक के जीवनानुभव के विषय में एक छिछली धारणा बना रखी है, इस प्रकार की भ्रान्ति हो जाना अनिवार्य है, किन्तु समीक्षा साहित्य के क्लासिक इस प्रकार के आक्षेपों से अपने लेखकों की रक्षा करते हैं क्योंकि वे अभी तक अमर हैं। मार्क ने अपने लघु जीवन में विराट् और गम्भीर अनुभव प्राप्त किये और कौन इस बात से अस्वीकार कर सकता है कि उनके समसामयिकता के तीव्र बोध ने उन्हें ग्रन्थिल ज्ञान की जड़ता से सर्वदा दूर रखा एवं उनको जन-जीवन की समस्याओं और हितों के प्रति चैतन्य रखा। मार्क ने अपने संक्षिप्त जीवन में बहुत-कुछ भोगा और सहा—जीवन से लालसामय प्रेम किया, उसका निरीक्षण करना सीखा, मानव के अन्तर को और उसके समाज की गतिविधि को अपनी अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि से देखा। इसीलिए उनकी समीक्षाओं में अपनी सत्यता के कारण सीधी चोट करने वाले शब्द आये। उनकी प्रखर जिजीविषा निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है—

"मेरे लिए, वास्तव में, प्रत्येक जीवन और समस्त जीवन एक नित्य नवीन वस्तु है। जो कुछ भी मेरे चारों ओर है और जो कुछ भी हो रहा है उसे मैं अनन्त काल तक अपलक और अथक दृष्टि से देखता रह सकता हूँ। जीवन की अणोरणीयान और महतोमहीयान सभी वस्तुओं में मुझे गजब की रुचि है। इतनी सारी जीवनगाथाएँ, इतनी घटनाएँ... इतने परिवर्तन, इतना रूप, इतना रंग और अन्त में इतने सारे प्राणी ! मैं जीवन से इतना गहन प्रेम करता हूँ कि संसार का कोई भी दर्शन—कोई भी जटिल-सूक्ष्म उपाय मेरे जीवन में इस अखण्ड आस्था को नष्ट नहीं कर सकता। प्रत्येक चैतन्य कोशिका और प्रोटोप्लाज्म की तरह केवल एक ही वस्तु से डरता हूँ—वह है मृत्यु ! मेरे लिए साधारणतया जीवन में मात्र एक ही दोष है—वह यह कि जीवन अपने काल में सीमित है। मैं एटम बम की रत्ती-भर परवाह नहीं करता...उस पर थूकता हूँ...उसमें केवल यही चीज़ भयानक है कि वह मनुष्य को मार देता है। यदि मैं किसी प्रकार से मृत्यु की लपेट में आ भी जाऊँ तब भी उस पर विश्वास नहीं करूँगा, क्योंकि मैं अपने अन्तिम क्षण तक जीवन और जिजीविषा से परिप्लुत रहूँगा। यह मेरा अविचल विश्वास उस नरक के बावजूद बना हुआ है जो कि इस नक्षत्र पर समय-समय पर शासन करने लगता है। मैं जानता हूँ कि मेरी यह भावना और मेरे यह शब्द आदिकालीन हैं, बालिश हैं, किन्तु यह मेरी अन्तरात्मा की पुकार है। मैं इनको इस खुले दरवाजे से झंझा की तरह टूटकर सामने से आने वाले या आड़े गुज़रने वाले प्रत्येक व्यक्ति के आगे सिद्ध कर सकता हूँ कि मेरी भवता और भवितव्यता अद्वितीय और विशिष्ट है।"

जीवन से प्रेम करने के लिए और उसके प्रत्येक क्षण को बहुमूल्य समझने के लिए कई बार मृत्यु के कगार पर जाना जरूरी है।

जीवन के दुर्दिनों में मार्क ने 'कमसोमोल' से सहायता के लिए प्रार्थना की कि कोई सवैतनिक साहित्यिक काम उनको दिया जाए, नहीं तो उनको अध्ययन छोड़ना पड़ेगा। कमसोमोल और विश्वविद्यालय ने उनको छात्रवृत्ति देकर नियमित विद्यार्थी के रूप में स्थान दिया और साथ ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमति भी दे दी कि वे घर पर लेटे-लेटे भी पढ़ सकते हैं। पोलिवान अस्पताल में प्रोफेसर लोग उनकी परीक्षा लेने के लिये आये। उनके सहपाठी मित्रगण भी प्रायः उनसे मिलने जाया करते थे। मार्क सर्वदा ही इस बात का बड़ी कृतज्ञता से स्मरण करते थे। एक बार तो वे जीवन से बिलकुल हताश हो गये, क्योंकि यूनिवर्सिटी की पढ़ाई के बीच में ही उनका पक्षाघात लगभग गर्दन तक आ गया था…"फिर भी मेरे चारों ओर वसन्त है" उन्होंने लिखा।

सन् '५३ में उनकी बीमारी कुछ हल्की पड़ी और वे पुनः विद्यार्थी जीवन की लय में लीन हो गये। उन्होंने ताल्सतॉय के उपन्यास 'इवाम इलिच की मृत्यु' पर शोध-प्रबन्ध लिखकर उच्चतम गौरव के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की। प्रबन्ध के लिए इस विषय को उन्होंने क्यों चुना? इसीलिए कि इसमें उनकी आशाहीन रुग्णता को चुनौती है और आश्वस्त कामना है कि वे बीमारी पर विजयी होंगे।

मार्क को मस्ती, मज़ाक, मौज की दावतें, मैत्रीपूर्ण वार्तालाप-गोष्ठियाँ एवं मध्य रात्रि के बाद के गीत बहुत पसन्द थे। उन अन्तिम तीन वर्षों में जबकि मैं उन्हें अत्यन्त घनिष्ठता से जानने लगा था वे कैद से उन्मुक्त विस्तार पर छूटे हुए व्यक्ति-से प्रतीत हुए जोकि जीवन के समस्त आनन्द दोनों हाथों से समेट लेना चाहता हो—एक विलास-प्रिय तुच्छ जीव के अर्थ में नहीं अपितु एक उदात्त मानवीय अर्थ में जैसे कि अपने प्रिय कर्म करने का आनन्द, मैत्री का आनन्द… स्नेह का आनन्द, मान का आनन्द। वे एक किशोर की तरह जीवन की परिपूर्णता की ओर दौड़ रहे थे, जीवन को उसकी पूरी गहरायी से जी रहे थे। उनका बस चलता तो वे संसार का इस छोर से उस छोर तक भ्रमण कर डालते, सब-कुछ देख लेते, सबका स्वाद चख लेते, किन्तु इसके विपरीत उनके पीछे भीषण रुग्णता का भय-प्रेत दबे-पाँवों चलता रहता था। उन्होंने अपनी अदम्य जिजीविषा को कविताओं में अभिव्यक्त किया है—

मैं अब इन जीवित—
श्वासों का
प्रश्वासों का,
अभ्यस्त हुआ।
पागल-सा
लालायित मैं
इस जीवन का।
मैंने कविता से—
आकाशी तारकदल से
प्राणों के
उत्तुंग सूक्ष्म व्यापारों से
प्रणय किया।
जब पाश बँधे
मेरे इन रुग्ण दुःखों का
तब विद्वेषी मेरे जीवन हे!
देना वर,
करुणा की चितवन का।

उनकी यह जिजीविषा कृत्रिम नहीं थी—जबरदस्ती तपाई हुई आशावादिता नहीं थी। मार्क ने विह्वल अवसाद, हिमानी नैराश्य और करुण लालसा के क्षण भोगे थे, किन्तु कभी अपने भाग्य को नहीं कोसा। उनकी मानसिक सुकुमारता उनकी आत्मीयता एवं निश्छलता पर आश्रित थी।

बीमारी के कारण मार्क प्रकृति के प्रति अत्यन्त ही संवेदनशील थे। उन्हें वर्ष के ऋतु-परिवर्तन की प्रखर अनुभूति होती थी। शीतकालीन झंझावात, ऊजड़ हिमाच्छन्न विस्तार, वासन्ती सूर्य और ग्रीष्मकालीन मेघ—सभी उनको प्रिय थे। कभी-कभी वर्षा के दिनों में सड़क पर चलते हुए और फिसलकर गिरने के डर से नीचे देखते हुए वे रुक जाते और आकाश को देखकर पुलकित होते और फिर निम्नलिखित पंक्तियाँ मुखर हो जातीं—

पानी बरस चुका—
वह सब पड़ा सुनाई
जो था दूर रहा!
जो कि मकानों के
इन छतों के औ'
घरबारों के
पार रहा!
मैं घर से निकलकर
बाहर गया ठहर।
साँसें लेने का साहस
नहीं पाता कर—क्योंकि
आकाश और धरा के अन्तरस्वर
सुनाई पड़ते हैं मिलकर!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय के वे प्रबल पक्षधर थे। मिथ्याचार, धूर्तता और क्रूरता के प्रति तत्काल विद्रोह करते थे। व्यावहारिक बुद्धिमत्ता और वणिग्वृत्ति उनके लिए सर्वथा अज्ञात वस्तुएँ थीं।

एक बार हम रात के दो बजे एक दावत खाकर लौट रहे थे। किरोव्स्की फाटक के पास तीन व्यक्ति खड़े थे—दो युवक और एक युवती। युवती ने उन दोनों में से एक से कुछ कहा, जिसको सुनकर उस युवक ने उसके (उस युवती के) गाल पर कसके एक थप्पड़ मारा। मार्क ने आव देखा न ताव और बैसाखी के लम्बे-चौड़े हाथ बढ़ाते उस युवक पर क्रोध से चिल्लाते हुए टूट पड़े, किन्तु छाती में धक्का लगने से धड़ाम से पटरी पर गिर पड़े। उनकी बैसाखी टूट गई। मैंने जब उस युवक पर आक्रमण किया तो उसने भाग जाने में ही कुशल समझी, क्योंकि इतने में हमारे पीछे चलने वाले अन्य साथी भी दौड़कर हमारे पास आ गए थे। मार्क को टैक्सी में डालकर हम लोग घर लाए।

दूसरे दिन मार्क घर पर उदास बैठे हुए थे। उनकी टूटी हुई बैसाखी कोने में रखी हुई थी और वे स्वयं एक एटलस के पन्ने पलट रहे थे। माँ की ओर कनखियों से देखते हुए मुझसे बोले—"अब तो बिलकुल ही हिम्मत हार गया हूँ, बिना बैसाखी के मेरा जीवन दूभर हो गया है। जाने कैसे कम्बख्त इस जंगले में फँसकर टूट गई।"

मैं दौड़कर दवाइयों की दुकान से उनके लिए नई बैसाखी ले आया। वे पुलकित हो गए और बैसाखी के सहारे एक-दो लम्बे डग भरते हुए बोले—

"कुछ भी हो, हमने उन लोगों की थोड़ी-बहुत पिटाई तो कर ही दी।"

मार्क यथार्थवाद के अविचल समर्थक थे किन्तु उनको जीवन की सपाटबयानी पसन्द नहीं थी।

गर्मी की छुट्टियों में एक बार वे मुझसे मिले और बोले—"जानते हो कि चेखव के 'चेरी की वाटिका' में क्या महत्त्वपूर्ण है? सूक्ष्म मनोविज्ञान या जीवन्त यथार्थ नहीं—"

"तो फिर क्या है?" मैंने पूछा।

"स्वयं चेरी की वाटिका", उन्होंने उत्तर दिया।

"चेखव के इस गीतिमय नाटक के पात्र उस जाते हुए—समाप्त होते हुए 'भद्रलोक के नीड़' की रमणीयता की अभिव्यंजना करते हैं। चेखव ने अपने इस करुणाकलित नाटक के प्रत्येक दृश्य की पृष्ठभूमि में रानेव्स्की भवन के वातायनों के पार यह वाटिका लगाई है जो इतनी सुन्दर है कि जिससे सुन्दर संसार की कोई भी वस्तु नहीं है। इस वाटिका के वे अरुण कम्पित किसलयदल, पक्षियों का कल कलरव और फिर कुल्हाड़ियों द्वारा कटकर गिरने का वह हृदयविदारक शब्द और सबसे अधिक इस वाटिका की प्राण 'आन्या'—हँसती, गाती, रोती वह मांसल 'आन्या', यह सब एक अनुपम करुणानुरागमयी सृष्टि है।

यह वाटिका नहीं है अपितु जीवन का समस्त हर्ष-विषाद है, प्रणय का प्रकाश एवं संगीत है, भविष्य का अरुणोदय है। इस प्रकार चेखव ने यथार्थ जीवन से नाटक की विषयवस्तु को ग्रहण किया है।

मार्क जीवन के प्रात्यहिक यथार्थ को लेखक की कल्पना का विषय मानते थे न कि उसकी रचना का गुण। काव्यरूप की सुन्दरता, शालीनता एवं मौलिकता उनको मुग्ध कर देती थी। उन्होंने ओ' हेनरी का एक उद्धरण अपनी नोट-बुक में लिख रखा था—

"कल्पना साहित्य को सत्य बोलने के लिए दिया गया एकमात्र आधार है।"

प्रत्येक गम्भीर समीक्षक के पास, चाहे वह किसी भी विषय पर क्यों न लिखे, एक अपना स्वयं का आधारभूत दर्शन होता है जिसको वह कभी प्रकट रूप से तो कभी प्रच्छन्न रूप से किन्तु असाधारण दृढता के साथ अपनी समीक्षाओं में अभिव्यक्त करता है क्योंकि यह उसके व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग होता है। इसी को वेलिन्स्की समीक्षक की सृजनशीलता की मूल प्रेरणा कहा करते थे। मार्क श्चेग्लोव की यह मूल प्रेरणा थी—

"कला मानवता की अभिव्यक्ति है।"

कला प्रवीणता के लिए संघर्ष नहीं (Struggle for mastery)—उन दिनों यह शब्द बहुत प्रचलित था—अपितु कला एक ऐसा संघर्ष है जो कि मानवोन्मुखी है। मार्क श्चेग्लोव ने समीक्षक को साहित्य से गद्गद विह्वल हो जाने की क्षमता प्रदान की।

साहित्य द्वारा मानव-जीवन—सामाजिक एवं व्यक्तिगत—का प्रतिबिम्बन एवं मानव की समस्याएँ—ये थे उनकी आलोचना के तत्त्व।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे केवल एक ही विचार से बचते थे और वह है साहित्य को जीवन से छुट्टी समझना। कहा जा सकता है कि इस प्रकार की समीक्षा में एकांगिता आ जाती है। हो सकता है—किन्तु उसमें औदात्यपूर्ण महान् गुण नहीं है क्या?

अपनी मूल प्रणति के अनुसार मार्क श्चेग्लोव साहित्य के इतिहासकार थे। वे रूसी साहित्य की उन्नीसवीं शती के विशेषज्ञ थे और इस तथ्य का प्रभाव उनके समस्त कृतित्व पर पड़ा है। उन्होंने अपनी समीक्षाओं में आलोचना को ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की।

वे आलोचना और साहित्य के इतिहास को एक-दूसरे के समीप लाये एवं उन्होंने परम्परागत (Classical) एवं समसामयिक साहित्य के समीक्षण में व्यवधान को तोड़कर उसको एक अविच्छिन्न प्रक्रिया के रूप में देखा। समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन में उन्होंने उन्हीं मानदण्डों का प्रयोग किया जिनसे कि वास्तविक साहित्य का मूल्य आँका जाता है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में दो विभिन्न मानदण्डों का व्यामोह त्याग दिया—पहला उच्च मानदण्ड जो कि परम्परागत प्रतिष्ठित साहित्य (Classical literature) के लिए है और दूसरा कृपामय सरल मानदण्ड जो कि समसामयिक साहित्य के लिए है।

उनके गम्भीर साहित्यिक संस्कारों ने, तालसतॉय, च्यूचेव, उस्पेन्स्की और चेखव की कृतियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन ने उनकी आलोचना को व्यापकत्व एवं गुरुत्व प्रदान किया था। उनकी क्लासिकल साहित्य की समीक्षाएँ ग्रन्थ-भार-भारान्वित एवं शास्त्रीय शुष्कता से मुक्त सद्यता एवं उत्फुल्लता से अनुश्वसित हैं—'पाठकों की जनता' द्वारा ग्राह्य हैं।

मार्क श्चेग्लोव किसी भी विषय पर पूर्णाधिकार प्राप्त करने के कारण विशेषज्ञों का बड़ा आदर करते थे, किन्तु साहित्य में संकीर्ण विशेषज्ञों को वह व्यंग्यपूर्ण उपहास की दृष्टि से देखते थे। वह कहते थे कि ऐसे लोग अपनी असामर्थ्य को अपनी विशेषज्ञता के पाखण्ड से छिपाना चाहते हैं।

अपने भावोच्छ्वासों को पूर्ण स्वतंत्रता देकर एवं पाठकों को अपनी गम्भीर भावप्रवणता एवं मौलिक चिन्तना द्वारा संक्रमित करते हुए मार्क बड़ी ही तल्लीनता से लिखते थे। यदि कोई किताब उनको वास्तव में अच्छी लगती तो वे कृतिकार के संसार में अपने-आपको भूलकर खो जाते और उनके अपने शब्दों में लेखक का स्वर गूंजने लगता—चाहे वह तालसतॉय हों, इसेनिन हों या लियोनोव। वे अपने शारीरिक संवेदन द्वारा ही लेखक के भाषा-वैशिष्ट्य एवं जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त कर देते थे (उनकी भावयित्री प्रतिभा असाधारण थी)। फिर भी यह कहना सत्य नहीं होगा कि उनकी आलोचना अन्ततः केवल सौन्दर्यमूलक ही रह जाती थी। उनकी आलोचनाओं के माध्यम से नयी पुस्तकों द्वारा जनमानस में नवीन प्रेरणा का संचार होता था। उनके बहुत-से विवेचन प्रचार-मीमांसा (Publicist tritings) के आदर्श बन गये हैं।

लियोनिड लियोनोव के 'रूसी वन' के ऊपर लिखे गये लेख में ग्रात्सिआन्स्की के चरित्र का विश्लेषण स्मरणीय है जो कि किसी भी प्रकार के सामाजिक नादानुकरण (Social mimicry) के प्रति विस्फोटक घृणा अभिव्यक्त करता है।

विश्वविद्यालय से सीधे समीक्षक बनने के कारण मार्क में एक छात्रावासी विद्यार्थी की ऊष्म उत्कटता एवं स्पष्टता थी। वह साहित्य में बड़े-छोटे का विचार नहीं रखते थे। पूर्वाग्रहों और पक्षधरता से मुक्त होने के कारण उनके शब्दों को स्वाधीनता की शक्ति मिल गयी थी।

"साहित्य के बड़े-से-बड़े नाम भी अपनी पूर्वकृत साहित्य-सेवाओं के बल पर अपनी दीन विषयवस्तु वाली नयी पुस्तक की आलोचनात्मक न्याय से रक्षा नहीं कर सकते।" ये शब्द चेर्निशेव ने अपने 'साहित्य में सत्यवादिता' नामक लेख में कहे थे। उनकी इस कामना के प्रति मार्क सर्वदा निष्ठावान रहे और न्यायसंगत कठोर-से-कठोर शब्द कहने में भी नहीं चूके। पता नहीं यह लेखकों को प्रिय लगता था अथवा नहीं किन्तु समीक्षक की प्रतिष्ठा एवं उसके ईमानदार होने का गौरव जनता की दृष्टि में अवश्य ही बढ़ जाता था। मार्क का कभी-कभी साधारण पुस्तकों की समीक्षा से पाला पड़ता—ऐसी पुस्तकों से जो कि उनके विवेचन के लिए सर्वथा अयोग्य थीं किन्तु वे बड़े धैर्य से उन पर लिखते। वे इसको अपनी 'साहित्यिक मजदूरी' कहते थे। पर जब उनके समक्ष कोई ऐसी रचना आती जो कि वास्तव में गम्भीर साहित्य विवेचन की आवश्यकता रखती है, तब उनकी लेखनी में एक नवीन ऊर्जा का संचार हो जाता। मार्क को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना के लिए कोई समसामयिक पुस्तक नहीं मिल पाती तो वे थोड़ा पीछे मुड़कर ऐसी पुस्तक छाँट लेते जिसका मूल्यांकन ठीक प्रकार नहीं हो पाया हो अथवा जो विस्मृत हो गयी हो। मार्क के 'हमारे समय में इसेनिन', 'अलेक्सान्द्र ग्रिन के जहाज' और 'ब्लॉक विषयक विवाद' इसी प्रकार के लेख हैं। इन लेखों ने पाठकों की चेतना में उपर्युक्त लेखकों की पुनःप्रतिष्ठा कर दी।

"हमारी समाजवादी संस्कृति अपने पैरों पर दृढ़ता से खड़ी है और वह इस महान् क्रान्ति के एक भी मानवीय साक्षी की उपेक्षा नहीं कर सकती—विशेषकर ऐसे चैतन्य और निस्पृह लेखक की कविताओं की जैसे कि इसेनिन।"

मार्क श्चेग्लोव ने बहुत थोड़ी उम्र पायी और यह कहना कठिन है कि उनकी प्रतिभा का विकास आगे किस दिशा में होता, किन्तु मैं सोचता हूँ कि वे सर्वदा ही अपनी उस गम्भीर साहित्यिक संवेदना एवं समर्थ सम्प्रेषणा, ईमानदारी एवं निस्पृहता को सुरक्षित रखते जो कि उनकी सभी महत्त्वपूर्णता कृतियों के लक्षण हैं।

उनकी अन्तिम पुस्तक जो कि उन्होंने ने रेल में पढ़ी थी, एक उपन्यास था—'केवल रोटी से ही नहीं जो कि उसी समय एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था; किन्तु वे पुस्तक को समाप्त करके उस पर कुछ लिख नहीं पाये।

मार्क के बिना ही इस संसार में—काव्य और कथा के क्षेत्र में—नूतन प्रतिभाओं ने पदार्पण किया और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनके बिना ही पाठकों ने एतमातोव और बुइकोव को जाना,—जालुइगिन और बेलोव, सेमिन और दोम्ब्रोव्स्की, अस्ताफ़ेव और बाक्लानोव को पढ़ा। और बड़े लेखकों की बात ही दूसरी है। यदि वे जीवित होते तो इन सब लेखकों पर लिखते और हम सबसे अच्छा लिखते।

मार्क की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक उनके लेख प्रकाश में आये। उनमें समीक्षाएँ, निबन्ध, शोध-प्रबन्ध, रेखाचित्र सभी कुछ थे और देर तक उनके मरणोपरान्त प्रकाशनों का प्रवाह चलता रहा। उनमें ग्रिन और इवानोव पर लेख, क्रोसेव्स्की के पोलिश क्लासिक की भूमिका, तालस्ताय और चेर्तकोवी के पत्रव्यवहार की भूमिका 'नयी दुनिया (नोवो मीर), 'जन मैत्री' (द्रुझबा नारोदोव), 'युवक प्रहरी' (मलादाया ग्वार्दिया) के लिए लिखे गये लेख, उनके अन्य शोध-निबन्ध—'साधारण काव्य', 'विवरण की विश्वसनीयता' (Authenticity of the details), 'आधुनिक नाटकों में यथार्थ' थे। इन सबको मार्क अपनी आँखों से मुद्रित रूप में नहीं देख पाये। वे जीवित नहीं थे किन्तु प्रतीत होता था कि वे साहित्यिक गतिविधियों के प्रति चैतन्य हैं, जागरूक हैं एवं साहित्यिक घटनाओं पर प्रतिक्रिया करते जा रहे हैं।

मार्क के दिवंगत होने पर उनकी माँ ने उनके अन्तिम क्षणों की व्यथा-गाथा सुनाई। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनके अन्तिम दिनों में मैं उनके पास नहीं था। वे उस समय 'अनापा' नगर में थे। आरम्भ में उनको यह स्थान अच्छा नहीं लगा—उदास, धूलभरा, ऊबभरा और गर्म···। किन्तु ऊँचे चट्टानी किनारों पर चढ़कर समुद्र के विराट् परिदृश्य, एवं उसके अनावृत रूप को देखकर वह प्रसन्न हो गये। समुद्र की अनन्त नीलिमा एवं उसके तट पर हलके पीले और गुलाबी रंगों की क्रीड़ा ने उनको अपनी किसी प्रिय वस्तु का स्मरण करा दिया।

एक बार वह मोटरबोट पर समुद्र में सैर कर रहे थे। वे नौका के नासिका भाग पर खड़े समुद्र के फेनिल जल का उसके द्वारा विदीर्ण होना देख रहे थे। नमकीन पानी के छपाके और फ़ुहारें उन पर पड़ रही थीं। घर पर वह प्रसन्न मनःस्थिति में लौटे, किन्तु रात्रि को किसी भी प्रकार सो नहीं सके। सिर में थोड़ा दर्द था। रात-भर नगर से गाने की आवाज़ आती रही—"Oh Johnny, it is a boy for me."

दूसरे दिन वह सवेरे ही नहाकर लावरोव की कहानियों पर समीक्षा लिखने बैठे—समुद्र-तट की सिकता पर···सूर्य के प्रकाश में···। वे लिखे हुए शब्दों को ठीक तरह से देख नहीं पा रहे थे—समझे कि कदाचित ऐसा सूर्य के प्रकाश के कारण हो। जिस समय माँ लौटकर आई तो मार्क के आसपास पड़ोसी घिरे हुए थे। उनकी तबीयत अचानक खराब हो गयी और वह सोफ़े पर लेटे पानी-पानी चिल्ला रहे थे। सन्ध्या तक उनको तीव्र ज्वर हो आया और फिर उनके अन्तिम तीन दिनों की निदारुण यन्त्रणा आरम्भ हो गयी।

अस्पताल में रोग का निदान तत्काल नहीं हो सका। पहले समझ गया कि उनके उदर में विषाक्त तत्त्व उत्पन्न (Food poisoning) हो गये हैं और उनको पेट की औषधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी जाने लगी। माँ बेचारी जलती धूप में खनिज जल (Mineral water) की खोज में इधर-उधर दौड़ती रही। डॉक्टर ने उसकी माँग की थी। बाद में पता चला कि उनको 'मेनिंजाइटिस' है। स्ट्रेप्टोमाइसिन का इन्जेक्शन दिया गया। दूसरे दिन शाम तक तबीयत कुछ ठीक हुई और वे यहाँ तक सोचने लगे कि शीघ्र ही उनको अस्पताल से छुट्टी मिल जायेगी। उन्होंने माँ से घर के कपड़े लाने के लिए कहा। दूसरे दिन सवेरे जब माँ अस्पताल आईं तो उनको बरामदे में एक भीषण रूप से घबराई हुई चीख सुनाई दी—'स्यान्या' (sister)! यह मार्क की आवाज़ थी—हृदयविदारक आवाज़ और उनके लिए असाधारण रूप से ऊँची। उनकी हालत एकदम गिर गयी। दर्द से खोपड़ी फटी जा रही थी। पता नहीं उस समय अनापा शहर में स्ट्रेप्टोमाइसिन नहीं थी कि डॉक्टर लोग रीढ़ की हड्डी में उसका इन्जेक्शन देने का निर्णय नहीं कर सके, जैसा करने की उस समय तत्काल आवश्यकता थी। केवल एकमात्र उपाय था—नोवोरसोइस्क के अस्पताल में तत्काल ले जाया जाय।

बड़ी ही कठिनाई से ड्राइवर को वहाँ मोटर ले जाने के लिये प्रस्तुत किया गया। नर्स ने सरकारी कम्बल—जिसमें [illegible] आया था—देने से इन्कार कर दिया। बड़ी मुश्किल से उसको मनाया गया। अब डॉक्टर महोदय किसी मीटिंग में थे। छुट्टी कौन दे? साढ़े नौ बज गये···रात घिर आयी···किन्तु डॉक्टर साहब का पता नहीं था। अन्ततः जब डॉक्टर साहब आये और माँ ने उनकी इस बात की निन्दा की तो डॉक्टर महोदय बोले—"क्या आप समझती हैं कि हम लोग फालतू समय व्यतीत करते हैं?"

"आप तेन्द्रयाकोव की पुस्तक 'दचके' पढ़िये"—माँ ने उनसे डाँटते हुए कहा। आखिर वह मार्क जैसे साहित्यकार की माँ थी।

और जब रास्ते में दचके खाती मोटर में अपने एकमात्र प्रिय पुत्र का सिर दोनों हाथ से गोद में रखे हुए माँ ने यह घटना मार्क को सुनाई तो मरणासन्न पुत्र के मुख से जैसे-तैसे ये शब्द निकल पाये—"हाँ, अम्माँ, तू इन लोगों को साहित्य से पीट!"

वास्तव में मेरे लिए उनके ये शब्द समस्त मार्क थे। ○

मूल रूसी से अनुवाद
सुरेन्द्र शर्मा

['नोवो मीर' अंक ५, १९६९ से साभार]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार विमल की चार कविताएँ

: १ :

जन्म-शताब्दियों वाला वर्ष

आज जब मेरे देश के सम्भ्रांत लोग—
गुरुओं महात्माओं की जन्मशताब्दियाँ मनाने के धंधे में लग रहे हैं
मैं एक अदना आदमी की भूख का पर्व मनाने के लिए
अपने वक्त की सबसे भद्दी गाली ईजाद करने में व्यस्त हूं।

वे लोग कितने खुश हैं
जो अब भी
खूबसूरत लिपियों में
अपनी प्रेमिकाओं को पत्र लिखते हैं
या प्रिय-जनों को
नए वर्ष की शुभकामनाएँ भेजते हैं।

मेरे लिए भाषा का इस्तेमाल केवल
गालियाँ ईजाद करने के लिए रह गया है।

गालियाँ—
उन सम्भ्रान्त लोगों के लिए
जो ठीक दिशा में दौड़ते हुए
अदना आदमी का रास्ता रोकने के लिए
गुरुओं-महात्माओं की अश्लील मूर्तियाँ गढ़ रहे हैं
किन्तु भूख के पाँव इतने सशक्त होते हैं
मूर्तियाँ तोड़कर निकल जाते हैं
सम्भ्रान्त लोगों के लिए गालियाँ छोड़ जाते हैं।

ज़ाहिर है गालियाँ गोलियाँ नहीं होतीं
फिर भी सम्भ्रान्त लोग—
इन गालियों से इतने पीड़ित हैं
कि अपनी सुरक्षा के लिए गोलियाँ जुटा रहे हैं।

: २ :

एक छोटी-सी लड़ाई

मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
एक झूठी लड़ाई में मैं इतना थक गया हूँ
कि किसी बड़ी लड़ाई के काबिल नहीं रहा।

मुझे लड़ना नहीं अब—
किसी छोटे कद वाले आदमी के इशारे पर—
जो अपना क़द लम्बा करने के लिए
पूरे देश को युद्ध में झोंक देता है।

मुझे लड़ना नहीं—
किसी प्रतीक के लिए
किसी नाम के लिए
किसी बड़े प्रोग्राम के लिए
मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
छोटे लोगों के लिए
छोटी बातों के लिए।

मुझे लड़ना है एक मामूली क्लर्क के लिए
जो बिना 'चार्ज शीट' के मुअत्तिल हो जाता है
जो पेट में 'अल्सर' का दर्द लिए
जेबों में न्याय की अर्जी की प्रतिलिपियाँ भरकर
नौकरशाही के फौलादी दरवाज़े
अपनी कमज़ोर मुट्ठियों से खटखटाता है।

मुझे लड़ना है—
जनतन्त्र में उग रहे बनतन्त्र के ख़िलाफ़
जिसमें एक गेंडानुमा आदमी दनदनाता है।

मुझे लड़ना है—
अपनी ही कविताओं के बिम्बों के ख़िलाफ़
जिनके अंधेरे में मुझसे—
ज़िन्दगी का उजाला छूट जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

मुक्ति के दस्तावेज़

मैं एक ऐसी व्यवस्था में जीता हूँ
जहाँ मुक्त ज़िन्दगी की तमाम संभावनाएँ
सफ़ेद आतंक से भरी इमारतों के कोनों में
नन्हें खरगोशों की तरह दुबकी पड़ी हैं।
और मुक्ति के लिए छटपटाता मेरा मन—
वामपंथी राजनीति के तीन शिविरों में भटकता है
और हर शिविर से—
मुक्ति का एक दस्तावेज़ लेकर लौटता है।

और अब—
शिविर-दर-शिविर भटकने के बाद
कुछ ऐसा हो गया है
कि मुझसे मेरा बहुत-कुछ खो गया है
मसलन कई प्रिय शब्दों के अर्थ
चीज़ों के नाम
सम्बन्धों का बोध
और कुछ-कुछ अपनी पहचान।

अब तो हर आस्था गहरे संशय को जन्म देती है
और नया विश्वास अनेकों डर जगाता है

संशय और छोटे-छोटे डरों के बीच जूझता मैं—
जब कभी हताश हो जाता हूँ
तो न किसी शिविर की ओर दौड़ सकता हूँ
न ही किसी दस्तावेज़ में अर्थ भर पाता हूँ।

अब तो अपने स्नायुतंत्र में छटपटाहट ले
इस व्यवस्था पर—
केवल एक क्रूर अट्टहास कर सकता हूँ।

: ४ :

दीवार के इस पार, उस पार

सुरक्षा की एक छोटी-सी चाहत में
नींद और जागरण के बीच भटकते हुए
हर रात मन की है अनेक यात्राएँ
हर यात्रा के अंत पर मिलती है मुझे
धरती से आसमान तक उठी हुई
एक अभेद्य काली दीवार,
जिससे टकराकर हताश
मैं लौटा हूँ बार-बार।
किन्तु अचानक मिल गया है मुझे एक जादूई मंत्र
जिससे खुल गया है मेरे लिए
दीवार के उस पार का तंत्र।
जब से पहुँचा हूँ दीवार के इस पार
मेरे शरीर में रच गया है समझौतों का ज़हर
मेरी शिराओं में बहने लगा है चापलूसी का रक्त
मैं महसूस करता हूँ—
निकट आ गया है मेरी कुत्ताफ़जीहत का वक्त
मुझे अच्छी लगने लगी हैं
देश-भक्त कवियों की कविताएँ
गुदाज़-जिस्म सम्भ्रांत महिलाएँ
अफ़सरनुमा लोगों के फूहड़ लतीफे
और ज़िन्दगी में तरक्की करने के तरीके।
मेरे परिचितों की सूची में हो रही है
तरक्कीपसंद लोगों की भरमार,
जिनकी एक जेब में अमरीका का वीज़ा
दूसरी में माओ की लाल किताब।
इस रहस्यमय तंत्र में
जब मैं मरूँगा एक कुत्ते की मौत
तो दीवार के इस पार
कोई नहीं करेगा मेरी लाश को स्वीकार।
हाँ, दीवार के उस पार
तराई के जंगलों में
ठिठुरती रातों में भटकते हुए
गुरिल्ला नौजवानों का एक दस्ता
मेरी मौत पर रखेगा एक छोटा-सा प्रस्ताव—
कि आदमी ने जाने हैं अब तक जितने ज़हर
उनमें सबसे अधिक घातक है
सुरक्षा की एक छोटी-सी चाहत का ज़हर। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों (१९१६-३९) के बीच

शिवदानसिंह चौहान

मुझे जब १९१९ से लेकर १९३९ तक २० वर्ष के हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का आकलन करते हुए एक लेख लिखने को कहा गया तो मेरे सम्मुख एक सच्ची समस्या उठ खड़ी हुई।

मैं अभी तक नहीं समझ सका हूँ कि इस अन्वेषण का प्रारम्भ बिन्दु १९१९ का वर्ष ही क्यों चुना गया। इसका १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के रूप में घटित उस विश्वव्यापी महत्त्व की घटना से भी कोई सम-क्रमिक सम्बन्ध नहीं बैठता, जिसने अपने क्रान्तिकारी प्रभाव द्वारा मानव-इतिहास के संपूर्ण दिशाकोण को ही बदल दिया। न ही इसका सम्बन्ध किसी ऐसी देशीय घटना से है जिसने भारत के शहरी बुद्धिजीवियों या विशाल भारतीय जनसमूह को अपनी सामाजिक-राजनीतिक माँगों या आर्थिक उद्देश्यों के हेतु समाजवाद की ओर प्रेरित किया हो।

हम जानते हैं कि उस समय तक ये अभिलाषाएँ और उद्देश्य अत्यन्त अपरिभाषित, अनिश्चित और कुहरिल थे। यहाँ तक कि रौलट ऐक्ट का प्रकाशन और जन असन्तोष को भड़काने वाला १९१९ में जलियाँवाला बाग का भयंकर कत्लेआम भी इतना दंश पैदा नहीं कर पाए कि राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में 'पूर्ण स्वाधीनता' को अंगीकार किया जाता। इसके स्थान पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने असहयोग के उस प्रसिद्ध प्रस्ताव को ही पारित किया, जो गांधीजी के अनुसार 'शुद्धिकरण का आन्दोलन' था। गांधीजी के अनुसार असहयोग आन्दोलन वस्तुतः सामाजिक बहिष्कार की एक अत्यन्त प्राचीन विधि थी, जिसे जाति-नियमों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध प्रयोग में लाया जाता था। उन्हीं के शब्दों में—

"यह (असहयोग) जाति से ही सम्बद्ध था। यह एक ऐसा भयंकर दण्ड विधान है जिसे अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त किया जाता था। यह इस विचार पर आधारित है कि समूह बहिष्कृत व्यक्ति की कोई सहायता या सेवा नहीं करेगा।"

इस सन्दर्भ में 'बहिष्कृत' अंग्रेज थे, जिन्होंने स्वयं को उपरिजातीय बना लिया था और भारतीय जाति-तंत्र के सूचीस्तम्भ के शिखर पर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया था।

मैं इस बात को रेखांकित करना चाहता हूँ कि १९१९ के बौद्धिक वातावरण में, जबकि 'साध्य' पूर्णतया अपरिभाषित था और 'साधन' जाति-व्यवस्था के भयंकर परिगठन की चालू विधियों से ग्रहण किये जा रहे थे, हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव की खोज बेतुका प्रयास होगा। तत्कालीन हिन्दी साहित्य अपनी विशिष्ट स्थिति और विकास-गति के कारण समय की सामाजिक जागरूकता और राजनीतिक अभिलाषाओं के विकास-स्तरों को प्रतिबिम्बित न करके ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद की अधोगामी प्रवृत्तियों को प्रतिफलित कर रहा था, जिसे मंगलभाषित शब्दों में हिन्दू राष्ट्रवाद की संज्ञा दी जाती है।

आत्मौचित्यवादी दृष्टि से अनुकूलित हमारे मस्तिष्क को यह तथ्यात्मक कथन सहज स्वीकार्य नहीं हो सकता, अतः इसे और अधिक समीप से देखना होगा। भारत और विश्व के साहित्य-सन्दर्भ में रखकर यदि हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-लेखकों के विश्व-दृष्टिकोण का वस्तुगत अध्ययन किया जाय तो यह तथ्योद्घाटन होगा कि विश्व के अन्य भागों में उदित उन नये विचारों और साहित्यिक आन्दोलनों के प्रति अभिमुखता में हिन्दी लेखक हमेशा पिछड़ा रहा है जो, या तो आत्म-सजगता के कारण उत्पन्न आध्यात्मिक संकट से या मानव-स्थिति की वास्तविकता की गहरी सम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, उदित होती शक्तियों और ऐतिहासिक अनिवार्यता के प्रभाव स्वरूप समाज में मानव-सम्बन्धों, विचारों और सोच के तरीकों में हुए नये परिवर्तनों से, उत्पन्न होते हैं। इसीलिए अफलातूनी अर्थ में न सही, हिन्दी लेखक सत्य से दुगुना दूर है क्योंकि समसामयिक ब्राह्मण पुनरुत्थान का अनजाने ही प्रवक्ता होने के कारण उसने पूर्वजानुरूप मनोवेगों तथा अपवित्रीकरण-ग्रन्थि पर आधारित परम्परागत सामाजिक-धार्मिक मूल्य-व्यवस्था की लक्षण-समष्टि को आत्मसात कर लिया जिसके कारण अपनी सहजवृत्ति से वह उन सभी नवीन विचारों, जीवन-प्रणालियों और व्यवहार के तरीकों से नाक-भौं सिकोड़ता है जो उसकी परंपरागत धारणाओं से मेल नहीं खाते। भ्रम की इस मानसिक अवस्था में ये सब उसे परकीय, विरोधात्मक और उस 'महान् भारतीय समाज और उसकी प्राचीन संस्कृति' के लिए गम्भीर खतरा प्रतीत होते हैं, जिसे अन्य पुनरुत्थानवादियों की भाँति वह भी 'जाति-व्यवस्था वाला हिन्दू समाज' समझता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति या समाज स्वयं को बाह्य प्रभावों से अलग नहीं रख सकता। अतएव बदलती सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के दबाव में जब उसे उन बाहरी नवीन विचारों या मानव-व्यवहार और नैतिकता की नवीन धारणाओं को स्वीकार करना पड़ता है तो वह भी अन्य पुनरुत्थानवादियों की तरह या शहरी बुद्धिजीवियों की तरह उनका इस हद तक समंजन करता है कि समस्त सत्व व्यावहारिक रूप से समाप्त हो जाता है, केवल बाहरी रूप-रंग ही बच रहता है। अतः हिन्दी लेखक स्वभावतः सत्य से दूर जा पड़ता है।

मुझे आश्चर्य होता है कि मुझ समेत सभी हिन्दी लेखक अचेतनतः एक अपराध-ग्रन्थि से ग्रसित हैं क्योंकि उन्होंने सामूहिक रूप से स्वयं अपने जीवन, अपने लोगों को परित्यक्त करने जैसा अपराध किया है; अपनी मातृभाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी, बघेली, अवधी, बुन्देलखण्डी, ब्रज, हरियाणी, राजस्थानी, पहाड़ी, पंजाबी और अनेकों को हिंदी के उस समसामयिक रूप के लिए त्याग दिया है जिसे अंग्रेजों के संरक्षण में उनकी 'बाँटो और शासन करो' की नीति में सहयोग देने के लिए विकसित किया गया था और जिसके निर्माण में जहाँ तक सम्भव हुआ, सचेत रूप से उन सभी फारसी, अरबी और उर्दू व्युत्पत्ति के शब्दों को, जोकि उस समय तक उत्तरी भारत के शिक्षित हिन्दू और मुसलमान दोनों की परिनिष्ठित और नगरीय बोलचाल एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम बन चुके थे, बाहर निकालकर उनके स्थान पर संस्कृत जैसी मृत भाषा के अप्रचलित पुरातन शब्दों को रखा गया। यह ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के अग्रणी नेताओं के अनुकूल था क्योंकि वे समझ गये थे कि अब गुप्त काल या शंकराचार्य के उत्थान-काल की तरह संस्कृत भाषा को पुनरुत्थानवाद का अस्त्र नहीं बनाया जा सकता। अब ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के लिए वे क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग नहीं कर सकते थे (जैसा कि १६वीं और १७वीं शताब्दी में जबरदस्ती किया गया था), क्योंकि समतावादी मुगल शासन के दौरान निम्न जातियाँ जाति-व्यवस्था की अमानवीयता के प्रति जागरूक हो चुकी थीं और कबीर, रैदास, दादू, नानक जैसे अपने कवि-सन्तों द्वारा सिखाई 'ईश्वर के सम्मुख मानव की समानता' की अवधारणा को लेकर फिर उठने वाली उच्च जाति के विरोध में उठ खड़ी हुई थीं। लेकिन १९वीं शताब्दी की बदली हुई परिस्थितियों में, जबकि एक अंग्रेजी शिक्षित वर्ग उभरकर सामने आ गया था और उर्दू कम-से-कम उत्तरी भारत की सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित हो गई थी, ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद उत्तरी भारत की किसी भी क्षेत्रीय भाषा को अपना हथियार नहीं बना सकता था। उसे एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी (भले ही कृत्रिम रूप से बनाई जाय) जिसमें राष्ट्रीय स्तर पर कम-से-कम उच्च शहरी जातियों व उत्तर भारत के हिन्दुओं की भाषा बनने की सामर्थ्य हो, जिससे कि उन्हें उर्दू का विरोध करने के लिए फुसलाया जा सके तथा साथ ही इस नई भाषा के द्वारा उन्हें उस पौराणिक और रमणीय अतीत की अनोखी दुनिया में ले जाया जा सके जहाँ काल और इतिहास का कोई अस्तित्व नहीं है। भारतीय पुनरुत्थानवादियों की कामना थी कि आंतरिक सुख की इस निर्जीव जड़ मनःस्थिति में जाति-व्यवस्था फिर से अबाध शासन कर सकेगी जिसमें सह-मानवों से एकदम असम्पृक्त होकर आत्म-महानता और मोक्ष-प्राप्ति ही परम मूल्यवान होंगे, साथ ही हिन्दू समाज अंग्रेजी शिक्षा या मुस्लिम समतावाद के उदारवादी प्रभाव द्वारा अपवित्र होने से बच जायगा। प्रत्यक्षतः यह ब्राह्मण पुनरुत्थान तथाकथित 'सुधारवादी आंदोलन' के अतिरिक्त अन्य रूप धारण इसलिए नहीं कर सकता था क्योंकि हिन्दू समाज के पतनशील ढांचे की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य उपज सैकड़ों ऐसी अमानवीय विसंगतियाँ थीं जिन्हें किसी दकियानूसी कुतर्क या प्राचीन धर्मग्रन्थों के आधार पर भी संगत नहीं ठहराया जा सकता था; अत: उनका विरोध करना या कम-से-कम उन्हें औपचारिक रूप से परित्यक्त करना इसलिए भी आवश्यक हो गया था जिससे कि इस सुधार से हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज कम पुराणपंथी, कम बर्बर दिखाई पड़े। अंग्रेजी और उर्दू बौद्धिक प्रत्यावर्तन की इस प्रक्रिया के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थीं क्योंकि दोनों ही भाषाएँ समान रूप से ईसाइयों, मुसलमानों व अन्य म्लेच्छों द्वारा प्रयुक्त की जाती थीं, जो इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी कदम को समर्थन देने के लिए वैचारिक स्तर पर तैयार नहीं हो सकते थे। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी और हिन्दी आंदोलन ने अपने प्रारम्भ काल से ही एक 'पवित्रतावादी', मुस्लिम-विरोधी, उर्दू-विरोधी, अंग्रेज़ी-विरोधी रुख अपनाया।

निश्चय ही, प्रारम्भ में हिन्दी लेखक उत्तर भारत के जनसामान्य की विभिन्न मातृभाषाओं को साहित्यिक विकास के मौलिक अधिकार से वंचित कर देने के अपराध में शरीक नहीं था, क्योंकि अभी तक हिन्दी में कोई साहित्य नहीं था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी माध्यम से साहित्य-रचना करने वाले तथाकथित हिन्दी क्षेत्र के प्रतिभाशाली युवा हिंदू लेखकों के उदय से पूर्व ही पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ इन भाषाओं को बहिष्कृत कर चुकी थीं। लेकिन अपने अभिभावकों के चुनाव को मौन स्वीकृति देकर व उसे ही स्वयं अपनाकर वे भी उस अपराध में सम्मिलित हो गये। हुआ यह कि घरों में विभिन्न मातृभाषाओं का प्रयोग करने पर भी उन्होंने हिन्दी को ही लेखन का माध्यम बनाया। व्यवहार के इस द्विभाजन ने उनमें 'खण्डित व्यक्तित्व' को पनपाया जो आज तक निरन्तर उनकी चेतना के विभिन्न स्तरों में अपने को प्रस्फुटित करता रहा है। प्रारम्भिक काल में तो हिन्दी लेखक गद्य और पद्य लेखन के माध्यम स्वरूप हिंदी और ब्रजभाषा के गुण-दोषों के अपरिणामी विवाद में उलझे रहे, लेकिन सरकारी संरक्षण, मुद्रण और प्रकाशन की सुविधाएँ तथा रोज़गार के अवसर उसी में उपलब्ध होने के कारण अंतत: हिंदी को ही चुना गया। लेकिन इस चुनाव ने प्रारम्भ के उनके सृजनात्मक प्रयासों को असफल बना दिया क्योंकि लगभग ४० वर्ष तक हिंदी लेखकों की कम-से-कम दो पीढ़ियों को वाक्य-विन्यास, शब्दों और मुहावरों के व्याकरण-सम्मत प्रयोग की समस्या से संघर्ष करना पड़ा—ऐसी समस्याएँ जिनका सामना अपढ़ बच्चों तक को जटिल विचारों को अभिव्यक्त करने में नहीं करना पड़ता, यदि वे अपनी मातृभाषा में करें तो।

अत: एक ओर आधुनिक विचारों और वैज्ञानिक चिंतन की दुनिया के सत्य से दुगुनी दूर; दूसरी ओर अपने लोगों की जीवंत और स्पंदित भाषाओं के विश्व से कटे, तथा साथ ही निर्माण की अल्पायु में ही ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के भँवर में फँस जाने से, हिंदी लेखकों की विश्वदृष्टि बाधित, विकृत, अंतर्विरोधों से ग्रसित और पूर्णतया पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति से प्रतिबंधित हो गई। इसका प्रभाव माध्यम पर भी पड़ा—उसका शब्द-ज्ञान, उसकी संरचना, उसका बिम्बविधान, अलंकार और स्वप्न-चित्र पुनरुत्थानवाद की भावना व रूढ़िवादी भाव-पद्धतियों से आच्छादित हो गये।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि का यह विस्तृत परीक्षण यह समझने के लिए आवश्यक था कि क्यों नवीन विचारों और घटनाओं के प्रति हिंदी लेखकों की प्रतिक्रिया इतनी विलंबित और परिधीय है।

इस समझ के बिना, मुझे संदेह है कि कोई इस बात की व्याख्या कर सकता है कि क्यों सर टॉमस मूर, विलियम मॉरिस व अन्य अनेकों के 'काल्पनिक समाजवाद' के दर्शन के विरुद्ध 'वैज्ञानिक समाजवाद' के व्यापक प्रतिपादक कार्ल मार्क्स और फ्रैडरिक एंगेल्स के विचारों ने १९वीं शताब्दी के भारतीय बुद्धिजीवियों की कल्पना को नहीं झकझोरा। इन विचारों ने यूरोप के सभी देशों के श्रमिक-वर्गों को आलोड़ित किया; ऐसे नये साहित्यिक रुझानों और आंदोलनों को जन्म दिया जिन्होंने यथार्थ के कलात्मक प्रतिफलन की यथार्थवादी प्रणाली पर अत्यधिक बल दिया तथा मानव-शोषण पर आधारित संग्रहणशील पूंजीवादी व्यवस्था की असमानताओं व अत्याचारों को उजागर करते हुए मानवतावाद की नवीन अवधारणा को सामने रखा और श्रमजीवियों को उनकी वास्तविक परिस्थितियों एवं भवितव्य का बोध कराया। यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि उस समय भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग संख्या में अत्यल्प था और समाजवाद के दर्शन तक उसकी स्वतंत्र पहुँच नहीं थी।

लेकिन इस पृष्ठभूमि और हिन्दी लेखक के इस सामान्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविज्ञान और बौद्धिक लक्षण-समष्टि को इस समझ के बिना न तो यह बात समझी जा सकती है न व्याख्यायित की जा सकती है कि क्यों संपूर्ण विश्व के मानव-मस्तिष्क को झकझोर देने वाली १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति की महान् घटना ने प्रेमचंद और शायद निराला को छोड़ शेष हिंदी लेखकों को प्रभावित नहीं किया और क्यों हिंदी का लेखक इस घटना के क्रांतिकारी संदेश के प्रति अगले डेढ़ दशक तक उदासीन और प्रतिक्रियारहित बना रहा। डेढ़ दशक पश्चात् जब स्वाधीनता का क्रांतिकारी आंदोलन, सिविल नाफरमानी आंदोलन, किसान और मजदूर संघर्ष, मेरठ षड्यंत्र और जवाहरलाल नेहरू द्वारा समाजवाद की वकालत ने जन-सामान्य की मनःस्थिति को पूर्णतया बदल दिया व पुनरुत्थानवाद के प्रसार को कम-से-कम कुछ काल तक के लिए रोक दिया; जब छायावादी कविता अरण्य-रोदन के समान लगने लगी, समाजवादी विचारधारा पर आधारित प्रगतिशील लेखक आंदोलन का उदय हुआ। छायावादी कविता ने व्यक्ति पर बल देने वाले १९वीं शताब्दी के पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद और व्यक्ति की भूमिका का विरोध करने वाले ब्राह्मण पुराणवाद-पुनरुत्थानवाद (जिसे रहस्यवाद भी कहा जा सकता है) के तत्त्वों का व्यर्थ सामंजस्य करने का प्रयास किया। जैसा कि स्वाभाविक भी था, इन विरोधों के समंजन में वह असफल रहा और फलतः असंगत हो गया। साधारण शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी जैसी प्रथम श्रेणी की प्रतिभाओं के होते हुए भी छायावादी धारा सार्वभौमिक महत्त्व की महान् कविता उत्पन्न करने में असफल रही। उनकी इस असफलता ने भी किसी हद तक चौथे दशक के मध्य में उन्हें अपने सृजनात्मक संकट का समाजवादी विचारधारा में समाधान ढूंढ़ने की ओर प्रेरित किया। लेकिन उनका यह प्रयास मात्रा और गुण में असमान था।

कुछ आलोचक निराला की तीसरे दशक के प्रारम्भ की कविताओं में भी समाजवादी प्रभाव के तत्त्वों की खोज का सुझाव दे सकते हैं। इस तरह की १९२० में लिखित 'बादल राग' कविता है जिसमें कवि ने बादल को क्रान्ति का अग्रदूत चित्रित किया है और झुलसी पृथ्वी पर, सूखे बाल-वृक्षों पर, शोषण की चक्की में जिनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है उन किसानों पर वर्षा करने के लिए उससे मनुहार की है। १९२१ में लिखित दूसरी प्रसिद्ध कविता 'भिक्षुक' है जिसमें निराला ने एक भिखारी की हृदय-विदारक दरिद्रता और दुर्दशा चित्रित की है, जो अपने दो बच्चों के साथ फेंकी हुई 'पत्तल' से रोटी के टुकड़ों के लिए कुत्तों से होड़ लगाने को बाध्य हो गए हैं। हालाँकि ये कविताएँ सामान्य छायावादी गति और मनःस्थिति से अलगाव की सूचना देती हैं, इनसे इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि समाजवादी विचारधारा के प्रभाव ने कवि को जनसाधारण की दुर्दशा को सहानुभूति से देखने की ओर प्रेरित किया है। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि यह एक संक्रमणशील प्रभाव था (यदि ऐसा था तो), क्योंकि इसी काल में निराला ने अनेक ऐसी लम्बी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें राजनीतिक समस्याओं के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, यथा कवि मुस्लिम शासकों की सेवा में संलग्न हिन्दुओं के विश्वासघात पर, उनकी उस अकर्मण्यता और पुंसत्वहीनता पर जिसने उन्हें पराधीन बना दिया, विलाप करता है। 'जागो फिर एक बार', 'यमुना के प्रति', 'छत्रपति शिवाजी का एक पत्र' और अन्य अनेक ऐसी कविताएँ हैं जो हिन्दुओं की महिमा व पराक्रम काल की विरहाकुल स्मृतियों से भरी पड़ी हैं, साथ ही जो हिन्दू मिथकीय बिम्बों और प्रतीकों से मंडित हैं। और जिस बात की हम मार्क्सवादियों ने उपेक्षा की है, शायद ये कविताएँ उस विशिष्ट घटना काल को समझने का सूत्र प्रदान कर सकती हैं और इन प्रश्नों का सही उत्तर दे सकने में सहायक हो सकती हैं कि कैसे हिन्दी साहित्य में समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का समंजन और विकृतीकरण किया गया और क्यों अभी तक हिन्दी में सुसंगत धर्म-निरपेक्ष और जनवादी भावना से अनुप्राणित साहित्य नहीं लिखा गया। छायावादी कवियों ने समाजवादी विचारधारा को अंगीकार करने के पश्चात् अगले दशक में भी जन-समूह की सामाजिक और आर्थिक मुक्ति के समाजवादी तरीकों तथा व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति के तथाकथित वेदान्ती तरीकों में काल्पनिक संवाद कराकर अपनी 'विरुद्धों के सामंजस्य' की परम्परागत मनःस्थिति का परिचय दिया और इसीलिए पुनः वे किसी सार्वभौमिक संगति व महत्त्व के महान् काव्य का सृजन करने में असफल रहे। दुर्भाग्य से मुझ समेत समस्त मार्क्सवादी समीक्षक इन प्रयासों की अर्थहीनता और साहित्यिक मानदण्डों तथा सौन्दर्य-विषयक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधारणाओं की बेहूदगी को देखने में असमर्थ रहे तथा बिना यह समझे कि जीवन और समाज सम्बन्धी पुनरुत्थानवादी और समाजवादी दृष्टिकोणों में मूलभूत विरोध है, हमने इनका अभिनन्दन किया।

चौथे दशक के अन्तिम चरण में जबकि हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभुत्व था, निराला ने 'भिक्षुक' कविता की परम्परा में कुछ और कविताएँ लिखीं, जिनमें 'वह तोड़ती पत्थर' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें जून के असह्य गर्मी के दिनों में सड़क-निर्माण कार्य हेतु पत्थर तोड़ती हुई युवा स्त्री का सशक्त रेखाचित्र है। वर्ग-विभक्त समाज के प्रति उसके रोष को अत्यन्त सूक्ष्मता से कलात्मक व्यंजना द्वारा कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—कवि की ओर देखकर सड़क पार स्थित धनवान व्यक्ति के प्रासाद की ओर वह अत्यन्त उद्धत दृष्टि से देखती है और उसकी पेशानी से पसीने की बूंदें टपकती हैं और फिर वह अपना काम शुरू कर देती है—मानो अनुच्चारित ही उसने उद्घोषित किया हो—"मैं तोड़ती पत्थर।" इस कविता में निश्चित रूप से शोषितों की वर्ग-सचेतन उद्धत मनःस्थिति प्रतिबिम्बित हुई है, जिसे कवि ने अत्यन्त सफलता से पहचाना है। यह कविता सहज मानवीय सहानुभूति से आगे जाती है जिसे शायद कवि ने गरीबों के प्रति दया और हितैषिता की परम्परागत और अपमानजनक दृष्टियों से अपने मोहभंग के बाद अर्जित किया है। दो वर्ष पूर्व १९३५ में लिखित 'दान' कविता कवि के इस मोहभंग का विवरण प्रस्तुत करती है।

जयशंकर प्रसाद के ऊपर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बहुत स्पष्ट नहीं है। अपने महाकाव्य 'कामायनी' के 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्गों में प्रसाद ने प्रलय की दन्तकथा को लाक्षणिक रूप में विश्वास या श्रद्धा और तर्क या बुद्धि के संघर्ष रूप में प्रस्तुत किया है और विस्तार से दिखाया है कि कैसे 'बुद्धि' का प्रतिनिधित्व करने वाली इड़ा विज्ञान की सहायता से आधुनिक सुविधाओं से लैस, उद्योगों और शिल्पकलाओं से स्पन्दित एक ऐसे मनोवांछित महानगर का निर्माण करती है, जो सभी को जीवन-निर्वाह के साधन प्रदान करने वाले सामाजिक नियमों से चालित है और मनु जिसके प्रजापति हैं। किन्तु यह भौतिकतावादी सभ्यता लालच, स्वार्थों के संघर्ष तथा दूसरी बुराइयों को जन्म देती है, लोग विद्रोह कर देते हैं, शहर ध्वस्त हो जाता है, मनु अन्ततः [illegible] स्वयं को श्रद्धा की उपशामक बाँहों में समर्पित कर देता है और दोनों नगर को त्यागकर आन्तरिक आनन्द की आध्यात्मिक दुनिया में प्रवेश करते हैं। पौराणिक बिम्ब-योजना और पौराणिक समाधानों के प्रति इस पूर्वग्रह पर किसी को भी आश्चर्य होगा कि कैसे २०वीं शताब्दी का कोई कवि कल्पना की मनमानी क्रिया में संलग्न हो सकता है और मनमाने ढंग से मस्तिष्क की ज्ञानात्मक क्रिया का द्विभागीकरण करके यह प्रदर्शित कर सकता है कि एक विरोध और संघर्ष की ओर ले जाती है और दूसरी शान्ति तथा सुख की गारन्टी देती है। कुछ आलोचकों द्वारा अपने भोले मन में इन दो सर्गों में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव ढूंढने की बात का अधिक-से-अधिक यही अर्थ हो सकता है कि जीवन के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण रखने वाले किसी भी व्यक्ति की तरह वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा के प्रति प्रसाद की प्रतिक्रिया भी सर्वथा नकारात्मक है। लेकिन अपने उपन्यास 'कंकाल' में प्रसाद ने, समाजवादी विचारधारा के प्रभावस्वरूप न सही, अधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। हिन्दू समाज की ऊँची जातियों द्वारा प्रेम को सम्मान्य भाव नहीं समझा गया और इसीलिए उसे कभी भी 'कर्त्तव्य' या विवाह के विधि-विधान के सम्मुख अधिक महत्त्व नहीं मिल सका। लेकिन कंकाल की तारा इस अमानवीय परम्परा को तोड़ती है और उस व्यक्ति के साथ रहती है जिसे वह प्यार करती है। लेकिन उसके इस साहसिक कदम का 'प्रगतिशील और मानवतावादी' प्रभाव इसलिए क्षीण हो जाता है कि वह उस निम्न जाति से सम्बन्धित है जिसने कभी भी ऊँची जातियों द्वारा कठोरता से चालित अमानवीकृत नैतिकता की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया। शायद प्रसाद किसी ऐसी उच्च जाति की लड़की की कल्पना नहीं कर सकते थे जो किसी भी अन्य विचार से प्रेम की उच्चता को प्रतिपादित करे।

अमूर्त रूप में ही सही, समाजवादी विचारधारा के प्रति सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिक्रिया अधिक सकारात्मक थी। वे ऐसे कवि हैं जो उस दुनिया में रहे हैं जहाँ यथार्थ के अनगढ़, भद्दे, वीभत्स पक्षों का अस्तित्व न होकर केवल अच्छाई, सुन्दरता और प्रकाश का ही साम्राज्य है। इस प्रकार की काल्पनिक दुनिया में जीता हुआ ही कवि चौथे दशक में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स से प्रभावित हुआ। मार्क्सवादी विश्वदृष्टि को अपनाने से पूर्व उसका गहन अध्ययन करने वालों में शायद वे सबसे पहले कवि हैं। अन्वेषण के अन्तर्गत काल के पिछले चार या पाँच वर्षों के मध्य पन्त ने ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं जिन पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। ये कविताएँ 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' नामक तीन काव्य-संग्रहों में संग्रहीत हैं। इनमें से अनेक कविताओं में उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को सत्यापित किया है, समाजवादी समाज के निर्माण में श्रमिक-वर्ग के योग को स्पष्ट किया है और परम्परागत सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगाये हैं। विशेष रूप से 'ग्राम्या' में, वे अपनी विचार और कल्पना की दुनिया से निकलकर कालाकांकर के वास्तविक पुरुषों और स्त्रियों के सम्पर्क में आए और उनके समूह या व्यक्ति व्यवहार के कुछ सुन्दर शब्द-चित्र खींचे हैं। समस्त व्यापार में अपने सहगामियों के व्यापक दुःखों के प्रति कवि में सहज सहानुभूति विद्यमान है। लेकिन कल्पनाजीवी कवि के लिए यथार्थ की दुनिया में यह प्रवास काफी अधिक था और इसीलिए वह अपनी उस कल्पना की दुनिया में लौट गया जहाँ संघर्षों और अन्तर्विरोधों का कोई अस्तित्व नहीं है; जहाँ पुनरुत्थानवाद और समाजवाद मिलकर एक हो जाते हैं; जहाँ पुराणपंथ और विज्ञान अपनी चारित्रिक बुराइयों को छोड़कर, पूर्ण मानवीकृत रूप धारण कर हाथ-में-हाथ डालकर प्रकाश और आनन्द के स्वर्ग पर आरोहण करते हैं। यह बात बेतुकी अवश्य लग सकती है, लेकिन इससे स्पष्ट होता है कि कैसे परम्परा में निमज्जित मस्तिष्क अपनी अभिरुचियों को नहीं त्याग सकता और वास्तविक को यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।

चौथे दशक के अन्त में छायावादी प्रवाह में दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और बच्चन जैसे बड़े कवि उभरकर सामने आए। 'दिनकर' ने 'क्रान्ति' के गीत गाए, हालांकि उसकी राय में यह ध्वंस और विनाश की एक ऐसी आदिम शक्ति है जो एक ही वेग में जीवन और समाज की समस्त बुराइयों, पीड़ाओं और लूटमार को समाप्त कर देगी। लेकिन यह दृष्टिकोण समाजवादी विचारधारा के प्रभावस्वरूप उतना नहीं था, जितना आक्रामक राष्ट्रवाद के कारण था, जो कभी भी समाजवाद समेत उस सभी के विरुद्ध अन्धघृणा में परिवर्तित हो सकता था जो हिन्दू समाज के बाहर का हो; क्योंकि पुनरुत्थानवादी कल्पना के तत्त्व उनकी कविताओं की भाषा की मूल संरचना में विद्यमान हैं। यही बात बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो कवि ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता और श्रमिक-वर्ग के संघर्षों में सक्रिय भागीदार थे। उनकी 'जूठे पत्ते', 'नरक-विधान' और 'विप्लवज्ञान' कविताएँ समाजवादी चेतना को उतना प्रदर्शित नहीं करतीं जितना आक्रामक राष्ट्रवादी क्रोध के विस्फोट को।

बच्चन एक भिन्न श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके पूर्ववर्तियों का हिन्दी भाषा के संस्कृतीकरण पर इतना अधिक आग्रह था कि वह कभी भी सामान्य जन के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो सकती थी। प्रेमचन्द के समान बच्चन भी उस उदार कायस्थ जाति से थे जिसे उसकी प्रबुद्धता और व्यापक दृष्टि के कारण पुनरुदित उच्च जातियाँ अछूतों के समकक्ष समझती थीं। अतः बच्चन अपने काव्य में न तो अपवित्रीकरण-ग्रन्थि से पीड़ित हो सकते थे और न ही ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद से प्रभावित। अतः व्यवहार में उन्होंने यथार्थ के प्रति हिन्दी कविता और भाषा के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन किया। उनकी भाषा जन-सामान्य की बोलचाल के तरीकों और अनुभवों से युक्त भाषा है। उसमें न तो 'पवित्रतावाद' के लिए कोई प्रयास है और न ही अरबी और फारसी व्युत्पत्ति के शब्दों का ही बहिष्कार है। 'मधुशाला' और 'मधुकलश' की कविताएँ खुले रूप में हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथ, ब्राह्मण नैतिकता, जातिव्यवस्था की अमानवीयता और सामाजिक विधि-निषेधों का मज़ाक उड़ाती हैं। 'निशा निमंत्रण' जैसी कविताओं में प्रगतिचेता दृष्टि मिलती है। उनकी दृष्टि में किसी भी प्रकार का रहस्यवाद या रूढ़िवाद नहीं था। कवि धर्म, वर्ग, जाति, वर्ण पर आधारित हर प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध लड़ा और जन सामान्य की अभिलाषाओं को वाणी देते हुए उचित मानवीय आधार पर मानव-सम्बन्धों को गठित करने की उसने माँग की। यदि मानव के प्रति, मानव-सम्बन्धों के प्रति किसी दृष्टिकोण को ही कवि द्वारा समाजवादी विचारधारा के अंगीकार की कसौटी माना जाय तो पुरानी पीढ़ी के लोगों में बच्चन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जो इस पर खरे उतरते हैं, भले ही उन्होंने मार्क्सवाद का उतना परिश्रमपूर्ण अध्ययन न किया हो, जितना पंत ने। इस कवि के सम्बन्ध में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य उल्लेखनीय बात यह भी है कि आयु के साथ उसने भावनात्मक या वैचारिक स्तर पर पुराणपंथी रूढ़िवादिता की ओर प्रत्यावर्तन नहीं किया, जो कि पुनरुत्थानवादी बन्धन से अपने को पूर्णतया मुक्त न कर सकने वाले कवियों की स्वाभाविक परिणति थी। आयु के साथ के मानसिक अनुभव और ज्ञान की सीमाओं का विस्तार हुआ है, उसकी सहानुभूति का दायरा बढ़ा है और, चाहे उसकी काव्यात्मक संवेदना में ह्रास हुआ हो, लेकिन दृष्टिकोण निश्चित रूप से आधुनिकीकृत और मानवीय होता गया है।

चौथे दशक के अन्त में हिन्दी साहित्य को समाजवादी विन्यास प्रदान करने वाला प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन भी, अपने उन अगणित उत्साही युवा कवियों में से, जिन्होंने इस आन्दोलन में सम्मिलित होकर अपनी क्रान्तिकारी कविताओं के माध्यम से जन-सामान्य की, बेहतर व्यवहार और बेहतर जीवन की आशाओं और अभिलाषाओं को अत्यन्त भावप्रवणता से प्रतिबिम्बित किया, कोई भी बड़े महत्त्व का कवि पैदा नहीं कर पाया। इनमें से कुछ में वैसे लक्षण अवश्य विद्यमान थे किन्तु उनकी प्रतिभा अन्वेषण के अन्तर्गत इस काल के पश्चात् ही फलीभूत हुई।

अब हम कथा-साहित्य पर आते हैं। जैसा कि सर्वविदित है, हिन्दी कथा-साहित्य में उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। उनकी विभिन्न कृतियों के या उनके मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है या फिर उन्हें विश्व-साहित्य के असाधारण प्रतिभासम्पन्न साहित्यकारों की श्रेणी में रखने में मतान्तर हो सकता है, परन्तु यदि लेखन-काल और कृतियों में चित्रित सामाजिक जीवन के व्यापक आयामों के संपूर्ण संदर्भों में विचार करें तो उनकी महानता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उनकी यथार्थ के प्रति सहज प्रवृत्ति थी। लेकिन, चूँकि प्रेमचन्द प्रचलित अर्थ में प्रतिभावान नहीं थे, इसलिए उनकी यह यथार्थवादी प्रवृत्ति क्षीण या समाप्त हो सकती थी यदि उन्होंने जनसामान्य से अपना सम्पर्क न बनाये रखा होता, या जीवन पर्यन्त आने वाली भ्रान्तियों को दूर न किया होता, या अपने-आपको पुनरुत्थान के प्रचलित बहाव में बहने से बचाये न रखा होता। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय जीवन की वास्तविकता, सामाजिक असमानता, स्तम्भित कर देने वाली जड़ता, नैतिक भ्रष्टाचार, अमानवीय [illegible] जाति-व्यवस्था तथा इस सबके साथ-ही-साथ दलित और शोषित लोगों के हृदय में सुलगते असंतोष व कभी-कभार उसकी बाह्य परिणति को अत्यन्त यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया। प्रेमचन्द के प्रथम दो उपन्यास, 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त निम्न-कोटि के नमूने हैं तथा अस्पष्ट व अपरिपक्व विचारों के कारण अत्यन्त महत्त्वहीन हैं। लेकिन अपने तीसरे उपन्यास 'सेवासदन' में एक वास्तविक समस्या को अत्यन्त स्पष्टता से प्रस्तुत किया है कि कैसे एक हिन्दू स्त्री पर-गमन के संदेह में निज पति द्वारा परित्यक्त होकर वेश्यालय की शरण लेती है। इस तरह की बर्बर स्थितियाँ दुहरे मानदण्ड वाले हिन्दू समाज की अपनी विशिष्टताएँ हैं, जिसके नियम पर-गमन के अपराध या उसके सन्देह मात्र पर स्त्री के प्रति अत्यन्त कठोर हैं, लेकिन वे इसका कोई भी मानवीय निदान प्रस्तुत नहीं करते। हालाँकि प्रेमचन्द अपनी अपवित्रीकरण-ग्रन्थि से न उबर सकने के कारण न तो इस समस्या का निदान ही प्रस्तुत कर पाये और न ही उसके पति गजधर को अपनी पत्नी को लौटा लेने के लिए झुका पाए। उन्होंने केवल अन्याय को तीखे शब्दों में उजागर ही किया, वे गजधर द्वारा यह स्वीकार न करा पाये कि उसका सन्देह वस्तुतः गलत था और इससे कितना बड़ा अन्याय हुआ था। उपन्यास में कुंवर साहब नाम का पात्र, जो कि कार्यपालिका का सदस्य भी है, इस बात को स्वीकार करता है कि अवैध-क्षेत्रों का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि जनसाधारण का शोषण करने वाले जमींदारों, नौकरशाहों, पूँजीपतियों और धनवान लोगों का अस्तित्व है। यदि शोषण को समाप्त कर दिया जाय तो ये अवैध क्षेत्र भी समाप्त हो जायेंगे। यह उपन्यास महान् अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद १९१८ में प्रकाशित हुआ। हालाँकि उपन्यास में क्रान्ति का कोई जिक्र नहीं है लेकिन हिन्दू स्त्री के उत्पीड़न के प्रति गहरी संवेदना व आत्मीयता इस बात का प्रमाण है कि समाजवादी क्रान्ति का मुक्तिदायी प्रभाव प्रेमचन्द की हृत्तन्त्री को छू गया था।

किसान समस्या को लेकर चलने वाले उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में यह और अधिक स्पष्ट हो गया। यह उपन्यास १९१८-१९ ई० में लिखा गया था और १९२२ में प्रकाशित हुआ। उपन्यास के केन्द्र-स्थल गाँव में जमींदार ज्ञानशंकर और उसका प्रबन्धक गौस खाँ अपने काश्तकार किसानों की अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्दयता से लूटमार और दमन करते हैं। इससे किसानों में क्रोध और प्रतिकार की भावना पनपती है जिसकी परिणति हिंसा में होती है। गाँव की चरागाह में गौस खां मनोहर की पत्नी को पीट देता है जिस पर अत्यन्त शान्तिप्रिय मनोहर भी उसकी हत्या कर डालता है और परिणामस्वरूप गाँव में पुलिस राज का भयंकर आतंक व दमन प्रारम्भ हो जाता है। बर्तानिया में शिक्षित व मानव मात्र के प्रति सम्मान के विचारों से प्रभावित प्रेमशंकर (ज्ञानशंकर का भाई) इस घटना से दुःखी होकर किसानों की उन्नति के लिए प्रेमाश्रम की स्थापना करता है। मनोहर का पुत्र बलराज वर्ग-सचेत किसान है। वह किसान और मजदूर राज्य के विचार से अत्यन्त प्रभावित है तथा अत्यन्त उत्साह से रूसी क्रान्ति की बात करता है, उसके अनुसार केवल वही इस सम्पूर्ण अन्याय को समाप्त कर सकती है। हालाँकि प्रेमचन्द ने मनोहर और उसके वृद्ध मित्र कादिर की तुलना में बलराज के चरित्र को आदर्श रूप में नहीं उभारा है, लेकिन तत्कालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के वर्ग सचेत पात्र को लाना ही अपने-आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है—प्रेमशंकर का चरित्र। उसके द्वारा किसान समस्याओं के लिए प्रस्तुत गांधीवादी समाधान अवश्य हवाई है, किन्तु उसका भारत से बाहर शिक्षित होना व अधिक विकसित और मानवीय दृष्टिकोण अपनाना उल्लेख्य है। यह बात रेखांकित करने की है कि 'प्रेमाश्रम' हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें न केवल जाति-विभाजन और उसकी बुराइयों का ही चित्रण किया गया है अपितु उससे आगे अन्याय और शोषण के मूल वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष का भी चित्रण है। अतः यह सामाजिक यथार्थ के उस नवीन आयाम के ग्रहण को प्रदर्शित करता है जिसे अक्तूबर क्रान्ति और समाजवादी विचारधारा ने संभव बनाया था।

'निर्मला' और 'कायाकल्प' के पश्चात् १९२७-२८ में लिखे अपने उपन्यास 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने फिर से वर्ग-संघर्ष की समस्या को उठाया है। 'रंगभूमि' में पूँजीवादी औद्योगीकरण के प्रसार व ग्राम्यजीवन पर उसके घातक और विषैले प्रभावों को दिखाने का प्रयास है। मेरे विचार से इस समस्या को अत्यन्त कृत्रिम ढंग से उठाना और अंधे किसान सूरदास (जिसकी जमीन पूँजीपति जॉन सेवक उद्योग के लिए लेना चाहता है) द्वारा संघर्ष का नेतृत्व कराना एक प्रकार के कृत्रिम वातावरण का निर्माण करता है। ऐसा लगता है कि काल के प्रवाह में, तथा मशीन, मशीन-निर्मित सामान व सामान्यतः संपूर्ण औद्योगीकरण को शंका की दृष्टि से देखने वाली गांधीवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार के कारण प्रेमचन्द पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव क्षीण या धुँधला हो गया, जिसने उनपर ग्राम्यजीवन की अनिवार्य अच्छाई की परम्परागत भारतीय दृष्टि को गहरा दिया। सामंतवाद में अनेक बुराइयों के होते हुए भी सामंती सामाजिक सम्बन्धों के प्रति प्रेमचन्द का मानसिक लगाव इस उपन्यास में स्पष्ट हो जाता है। लेकिन ये भ्रम चौथे दशक में ही समाप्त हो गये और प्रेमचन्द ने अपने अंतिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' में किसान समस्या को फिर से उठाया। उसी समय विदेशों में अध्ययन के दौरान मार्क्स-वाद के प्रभाव में आये युवक राष्ट्रभक्तों ने स्वाधीनता के राष्ट्रीय आंदोलन को गांधीवादी सीमाओं में बद्ध कर देने का विरोध किया था। इस उपन्यास में प्रेमचन्द सम्पूर्ण भारतीय परिस्थिति पर एक यथार्थवादी की तरह दृष्टि डालते हैं और होरी, धनिया, गोबर, झुनिया (सभी खेतिहर) जैसे जीवंत; तथा जमींदार अमरपालसिंह उद्योगपति खन्ना व अन्य अनेक सशक्त पात्रों का निर्माण करते हैं। ये पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं और विभिन्न वर्ग-सम्बन्धों, दृष्टिकोणों व नैतिकता को संपूर्णता में प्रतिबिंबित करते हैं। यहाँ प्रेमचन्द कोई कृत्रिम या आरोपित समाधान नहीं खोजते अपितु उपन्यास की दुखान्त परिणति यह प्रभाव छोड़ती है कि शोषक और शोषित वर्गों के विरोधी हितों के बीच कोई भी समझौता नहीं हो सकता, न ही इसका कोई अल्पकालिक समाधान संभव है।

यहीं से हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील आंदोलन का प्रारम्भ होता है। यह आंदोलन चौथे दशक के सशक्त किसान आंदोलनों और श्रमिक-संघर्षों का परिणाम था। आंदोलन के उत्थान में सहायक दूसरे कारण थे—जवाहरलाल नेहरू द्वारा स्वाधीनता संघर्ष के सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को समाजवादी शब्दावली में परिभाषित किया जाना; समाजवादी व साम्यवादी गुटों को मिलाकर एक समाजवादी दल की स्थापना; दल का नेतृत्व ब्रितानिया और अमेरिका में शिक्षित उन युवक बुद्धिजीवियों के हाथ में होना जो इस बात के प्रति पूर्ण जागरूक थे कि जर्मनी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इटली, स्पेन और जापान में उभरता हुआ फासिज्म मानवीय स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

समाजवादी विचारधारा के इस प्रभाव के कारण स्वभावतः विचारों में टकराव प्रारम्भ हुआ। यह टकराव और संघर्ष जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया। साहित्य में इस संघर्ष ने प्रगतिशील विचारों के विरोध का रूप धारण किया। प्रगतिशील लेखकों का प्रथम घोषणा-पत्र कुछ युवक लेखकों द्वारा १९३५ में लन्दन में तैयार किया गया। उसी वर्ष दिसम्बर के अंत में इलाहाबाद में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का गठन किया गया और उस ऐतिहासिक दस्तावेज पर प्रेमचन्द, फिराक, निराला, पंत जैसे प्रसिद्ध हिन्दी और उर्दू के लेखकों ने हस्ताक्षर किये। घोषणा-पत्र ने भारतीय समाज में हो रहे महान् परिवर्तनों पर प्रकाश डाला और लेखकों से आग्रह किया कि वे रहस्यवाद और झूठी आध्यात्मिकता या पतनशील अंधविश्वासों और विचारों में शरण न खोजकर इन क्रांतिकारी परिवर्तनों को अभिव्यक्ति प्रदान करें। उस सबको, जो निष्क्रियता, उदासीनता, पलायनवाद या अंधविश्वासों को जन्म देता था, प्रतिक्रियावादी करार दिया गया और उस सबको जो बौद्धिकता की भावना, साहस व प्राचीन मान्यताओं को तर्क के आधार पर परीक्षित और विश्लेषित करने की भावना पैदा करे—प्रगतिशील स्वीकार किया गया। टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव और भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण लेखकों ने इस आन्दोलन का हृदय से स्वागत किया। विशेषकर उदीयमान युवक लेखकों ने इस आंदोलन में अत्यन्त उत्साह दिखाया। लेकिन सरकार इस आंदोलन पर बरस पड़ी, ब्रिटिश नियंत्रित व स्थानीय बूर्जुआ प्रेस ने इसे मॉस्को-प्रेरित चित्रित किया तथा हिन्दू कट्टरपंथ के अगुआ व पुनरुत्थान की भावना से अनुप्राणित रूढ़िवादी लेखकों ने इसे 'भारतीय-संस्कृति-विरोधी' आंदोलन कहा। अप्रैल १९३६ में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन जब प्रेमचन्द की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ तो प्रेमचन्द को 'घृणा के प्रचारक' कहकर उनकी निन्दा करते हुए अनेक लेख हिन्दी पत्रिकाओं में छपे जिनमें उनकी कहानियों और उपन्यासों से दृष्टांत देकर यह लिख दिया गया था कि कैसे प्रेमचन्द ब्राह्मणों के पावन आधिपत्य को चुनौती देने वाले नीची जातियों के पात्रों को जान-बूझकर चुनते हैं और ब्राह्मण पात्रों को भ्रष्टाचारी, निर्दयी व अन्धविश्वासी रूप में चित्रित करते हैं। उसी प्रकार १९३६ में इलाहाबाद में हुए हिन्दी-उर्दू प्रगतिशील लेखकों के अधिवेशन में पठित मेरा लम्बा लेख—जिसमें मैंने हिन्दी में पहले-पहल साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या की थी—जब १९३७ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ तो हिन्दी की अग्रणी पत्रिकाओं में हिन्दी के जाने-माने लेखकों द्वारा लिखित लगभग एक दर्जन लेख सामने आए जिनमें एक उग्र पुकार थी कि हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य के सृजन का मेरा कार्यक्रम वस्तुतः भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करने का ही एक प्रयास था। इससे एक विवाद और टकराव का प्रारम्भ हुआ। लखनऊ से पंत ने 'रूपाभ', नरोत्तम नागर ने 'उच्छृंखल' तथा इलाहाबाद से मैंने 'प्रभा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। नई और पुरानी पीढ़ी के बहुत-से गण्यमान लेखकों ने इन पत्रिकाओं में सहयोग व योगदान दिया। राहुल सांकृत्यायन, नरेन्द्र शर्मा, यशपाल, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी और अन्य अनेक लेखक भी इस संघर्ष में सम्मिलित हो गए जिन्होंने प्रतिक्रिया के घातक आक्रमणों का डटकर मुकाबला किया। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की शाखाएँ अन्य शैक्षिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी फैल गईं। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक प्रगतिशील आंदोलन हिन्दी में अत्यन्त प्रभावशाली प्रवृत्ति बन चुका था। यह गतिशील प्रभाव १९४७ की राजनीतिक स्वाधीनता तक बना रहा।

हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों पर समाजवादी विचारधारा के इस प्रभाव ने उन्हें पुनरुत्थानवाद की प्रतिक्रियावादी विचारधारा से मुक्त किया और किसी हद तक जनसाधारण के यथार्थ जीवन व उनकी समस्याओं को प्रतिबिम्बित किया। इस प्रभाव की शक्ति का अंत तो अभी नहीं हुआ, किन्तु आंदोलन का प्रभाव मन्द और असंगठित हो गया है। इस मंदता और असंगठन के कारण का विवेचन इस समीक्षा की सीमा के बाहर है और एक स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

अनुवादक : कर्णसिंह चौहान

[यह निबंध मूलतः 'नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय', नई दिल्ली के लिए लिखा गया था।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता

मार्क्सवादी-लेनिनवादी संस्कृति-विज्ञान तथा सौन्दर्यदर्शन की चिरन्तन आधुनिकता

रमेश कुन्तलमेघ

अपने सम्पूर्ण दीप्तिमान सूर्य को 'देखने' के लिए छोटे तथा स्वच्छ दर्पण अनिवार्य होते हैं !

इसलिए वस्तुओं और सम्बन्धों और घटनाओं वाले अपने संसार तथा समाज की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में ही हम अपनी सामाजिक चेतना, अपने वैयक्तिक अनुभव तथा अपनी पूरी मौलिक प्रकृति को हासिल करते हैं । इसलिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी द्वन्द्वन्याय की केन्द्रीय धुरी **'सम्पूर्णीकरण'** (टोटलाइज़ेशन) की धारणा है । यह धारणा एक सीमित अनुभव या कुछ घटनाओं को लेकर **सामान्यीकरण** नहीं करती, बल्कि **अनेक** सत्यों की सम्पूर्णता के साथ एक सत्य का समन्वय करती है । एक ताजी मिसाल लें । आज हम वियतनामी युद्ध के कारणों पर जब विचार करते हैं तो अस्तित्ववादी इसे मनुष्य की हिंसावृत्ति का प्रमुख कारण बताते हैं, अध्यात्मवादी वेटिकन पोप ईश्वर-कोप का प्रतिफल बताते हैं, निक्सन कम्युनिस्टों की घुसपैठ बताते हैं और माओ त्से-तुंग अमरीकी साम्राज्यवाद से जनता का लोकयुद्ध बताते हैं । अतः इनमें सत्य और भ्रान्ति मिल गई हैं, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी तत्त्वों का अलगाव हो गया है, और विश्व की सम्पूर्णता से कटाव और जोड़ाव भी हो गया है । इसलिए पहले तो एक विश्व दृष्टिकोण अनिवार्य है, दूसरे अनेक सत्यों एवं गल्पों के संघर्ष को समझना ज़रूरी है, और तीसरे प्रमुख कारण और मूल निर्णय की खोज कर पाना अपेक्षित है । **कारणता** हमेशा **व्याख्या** से जुड़ी है और तथ्यों की व्याख्या में कई कारणों को लिया जा सकता है । लेकिन अंततोगत्वा एक बड़ा निर्णायक कारण ही व्याख्या के परस्पर विरुद्ध और पृथक् तत्त्वों को भी जोड़ सकता है और **निष्कर्ष** निकाल सकता है । ऐसी विश्लेषण-पद्धति द्वन्द्वन्याय कहलाती है । यह पद्धति 'कारण' के बजाय 'अन्तर्विरोध' का इस्तेमाल करती है । **अन्तर्विरोध** : अर्थात् प्रकृति या समाज, या मनुष्य को गतिशील बनाने वाला अन्तर-सम्बन्ध तथा अन्तर-दशा ! अतः द्वन्द्वन्याय के अनुसार विकास अन्तर्विरोधों के द्वारा ही होता है । इनमें से प्रमुख तथा केन्द्रीय अन्तर्विरोध सम्पूर्णता से बँधा होता है । इस तरह व्याख्या को वैज्ञानिक तथा सही तथा मूल्यपूर्ण बनाने के लिए सम्पूर्णीकरण ज़रूरी है ।

द्वन्द्वन्याय वाली सम्पूर्णीकरण की धारणा अमूर्त और वैश्वक, अटल और अचल, शाश्वत और अद्वैत न होकर विचार और पदार्थ, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी, चेतना और सत्ता, चिंतन और कर्म आदि की अर्थात् **परस्पर विरुद्धों की 'एकता'** पर केन्द्रित है । आदर्शवादी धारणा **परस्पर समानों की एकता पर** आश्रित होने के कारण केवल ब्रह्म और आत्मा की, चैतन्य और भावना की, शक्ति और माया की द्वन्द्वहीनता तथा समरसता की बात करती है । इस तरह यह महामाया निर्लिप्त 'विशुद्ध' पर टिकी है । विशुद्ध विचार की यह धारणा एक ओर शरीर को अधम अपावन मानती है तो दूसरी ओर चिदंश रस को ब्रह्मानंदसहोदर । अतः इस धारणा में जीवशास्त्रीय अनुकृति अथवा रहस्यपरक आवृत्ति ही मिलेगी । इसलिए यह धारणा मूर्त ऐतिहासिक **वस्तु** और उसके कलावस्तु में सौंदर्यतात्त्विक **प्रतिबिंब** को रीति तथा रस, शरीर तथा आत्मा, जड़ तथा चेतना, भोग तथा आनन्द की विभक्ति से खंडित कर देती है । यह प्रतिवादी प्रकार की वस्तुओं को जड़ तथा भौतिक मानने का नतीजा है । अतः विशुद्धि मूलतः आवृत्ति है और मानवीय चेतना तथा सामाजिक यथार्थता का चिरंतन द्वैत बनाये रखती है । किन्तु मार्क्सवाद अमूर्त धारणाओं के माध्यम से, चिंतन की विशुद्ध गति के अनुमान की जो प्रारम्भिक उपेक्षा करता आ रहा था उसे सबसे पहले तो लेनिन ने दूर किया, फिर माओ-त्से तुंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने; और हाल में सार्त्र ने। लेनिन ने अनुभववाद आलोचना के प्रसंग में बताया कि धारणाएँ बिंबों के सामान्यीकरण की उच्चतर दशाएँ हैं जो चेतना से मिलकर चिंतन बनती हैं। अतः बिम्ब (इमेज), चिंतन (थाट), विचार (आइडिया) और धारणा (कान्सेप्ट) मनुष्य के द्वारा यथार्थता के प्रतिबिंब अथवा पुनरुत्पादन अथवा पुनर्नव्यता के रूप-प्रतिरूप हैं। अतएव धारणा और विचार मनुष्य के संज्ञान तथा अभिज्ञान की समस्या से जुड़े हैं। लेनिन ने स्पष्ट किया कि धारणाएँ अचल-अटल न होकर निरन्तर गतिशील और सतत परिवर्तनशील हैं; अन्यथा वे जीवन को प्रतिबिंबित ही नहीं कर सकतीं। इस सूत्र को माओ ने आगे बढ़ाते हुए बताया कि किसी समाज-व्यवस्था के नींवाधार (बेस) तथा सुपरिगठन (सुपरस्ट्रक्चर) के बीच पृथक् और विशुद्ध ढंग के बिंब-प्रतिबिंबवादी कारण-संबंध न होकर अंतर्विरोध हैं। पहले बहुधा विचारों को एकतरफा भौतिक आधार का प्रतिबिंब माना जाता था अर्थात् नींवाधार द्वारा सुपरिगठन को प्रभावित करने की एकपक्षीय बात ही उठती थी। किन्तु अब यह पाया गया कि सुपरिगठन तथा नींवाधार के बीच भी अन्तर्विरोध हैं; और सुपरिगठन अर्थात् **विचार** भी नींवाधार पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। अतः बिंब-प्रतिबिंबवाद का अगला कदम यह हुआ कि विचार भी कर्म तथा अभ्यास में कायान्तरित होकर **भौतिक शक्ति** बन सकते हैं। इसका नतीजा यह भी निकला कि भौतिक आधार के बदलने पर विचार स्वतः ही तदनुकूल रूपांतरित नहीं हो जाते बल्कि वे रूढ़ियों और आदतों, परंपराओं और संस्कारों के रूप में मानवीय चेतना में गहराई तक धँसे होते हैं। मार्क्स ने स्वावलम्बी विचारों अर्थात् नींवाधार से विच्छिन्न विचारों को कतई मंजूर नहीं किया था। किन्तु जब समाजवादी नींवाधार में भी विचारों की समस्या तथा मनुष्य की विमुक्ति की समस्या उठी तो यह प्रस्थापना भी हुई कि एक समाजवादी नींवाधार पर पूंजीवादी सुपरिगठन के संवर्धित होने के भी वास्तविक अंदेशे मौजूद हैं। इस बीज का सूत्रपात लेनिन ने ही किया था— जब उन्होंने बाहरी **प्रतीति** (एपीयरेंस) से **सारत्व** (एशेंस) को, और **आकस्मिक** से **नियम** को पहचानने की बात कही थी। सुपरिगठन का क्षेत्र चेतना एवं संस्कृति का क्षेत्र है। यह प्रतीति का क्षेत्र है। अतः प्रतीतियों के जो धारणा रूप बनते हैं—उनको सामाजिक संबंधों की सम्पूर्णता से संबद्ध करके ही—उनसे नियम (जनरलाइज़ेशन) हासिल हो सकते हैं। नींवाधार के सामाजिक संबंधों को बदलने के साथ ही सुपरिगठन के मानवीय संबंध अपने-आप नहीं बदल जाते। इसलिए **सामाजिक क्रान्ति** के बाद **सांस्कृतिक क्रान्ति** इतिहास का नियम और विकास का धर्म है; अन्यथा मानवीय विमुक्ति पुनः एक भ्रम बन जाएगी। अतः क्रांति को नींवाधार पर जाकर ही नहीं रुक जाना चाहिए अर्थात् केवल सम्पत्ति के उन्मूलन में ही इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए; बल्कि संस्कृति के क्षेत्रों तक क्रांति का सूर्य चमकना चाहिए। अतः हम द्वंद्वन्याय (डाइलेक्टिक्स) के विश्व-दृष्टिकोण को अंगीकार करते हैं, उसके अन्तर्विरोधात्मक सम्पूर्णीकरण के आलोक में विकास और मनुष्य की समस्याएँ जाँचते हैं, तथा उसके केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी रूप के द्वारा ही अन्तर्विरोधों को दूर कर सकते हैं। अतः द्वंद्वन्याय ही सही विमुक्ति है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवादी धारणा में कार्यकारणन्याय वाली यांत्रिक बाण जैसी गति का स्थान 'एकता-संघर्ष-सामंजस्य' वाली शंख जैसी गति ले लेती है जो स्वतः ऊर्जित है। आदर्शवादी विचारधारा में संस्कृति में केवल एकता और समन्वय, पार्थक्य और समरसता की बात होती है अर्थात् उसके अंतर्गत **संस्कृति** में या तो एकपक्षीय **रिनेसाँ** की धारणा होगी अथवा **अराजकता** की! लेकिन द्वंद्वात्मक **भौतिकवादी** धारणा के वृत्त में संस्कृति में रूप और विषय का, व्यक्ति और वर्ग का एक चिरंतन द्वन्द्व स्वीकृत है जिसकी वजह से संस्कृति के आकृतिबंध में कभी **क्रांति** होती है तो कभी **अराजकता**; कभी संस्कृति अर्थात् सुपरिगठन (के गुण) समाज-व्यवस्था (मात्रा) को बदल देता है तो कभी बिना नींवाधार को बदले ही विचार 'अगली लम्बी छलाँग' (कल्चरल लीप) लगा लेते हैं; कभी समाजव्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है किन्तु संस्कृति पिछड़ी रह जाती है। अतः विचारों के इतिहास में संस्कृति के ऐसे गतिवाद के गम्भीर अनुशीलन का अभी भी इन्तज़ार है। सार्त्र ने इस ओर द्वंद्वात्मक तर्क की पद्धति से यकुम कदम उठाया है। उन्होंने सामान्यीकरणों पर आधारित सूक्ष्म **'सम्पूर्णीकरण'** अर्थात् कोरे सैद्धांतिक चिंतन को नामंजूर किया है क्योंकि यहाँ मनुष्य के अनुभव तथा चिंतन का **'आंतरिकीकरण'** (इंटारियोराइज़ेशन) नहीं हो पाता। अतः सार्त्र द्वंद्वन्याय को अभिकर्ता के दृष्टिकोण से भी देखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू करते हैं। अब संस्कृति का [illegible] है। अब, एक विशिष्ट स्थिति में, किसी नेपोलियन तथा इस नेपोलियन के बीच परिवर्तन आ जाता है; अब हम सूक्ष्म के बजाय मूर्त **'सम्पूर्णीकरण'** की भूमि पर आते हैं और कोई नेपोलियन के बजाय यह नेपोलियन उपस्थित पाते हैं। अतः अनेक नेपोलियनों की सम्भावना की अमूर्त निश्चयता के स्थान पर विशिष्टता की धुरी पर यही साक्षात्-जीवंत-बूर्जुआ एकल नेपोलियन मिला जो फ्रांसीसी क्रांति को उत्कर्ष तक ले गया। इस भाँति हम देखते हैं कि एंगेल्स ने आर्थिक एकलवाद को निरर्थक, अमूर्त तथा फूहड़ कहा है; तथा अस्तित्वधर्मा मार्क्सवादी सार्त्र ने एकल सही विचार तथा वास्तविक कर्त्ता की विलक्षणता को खोजा है। अतः हम देखते हैं कि केवल सामान्य आर्थिक दशाओं को अथवा मात्र आदर्श सद्भावनापूर्ण विचारों को इतिहासांदोलक भूमिका नसीब नहीं होती। इसके लिए अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी के बीच के अन्योन्यान्य संबंध होना आवश्यक हैं। फ्रंज़ मेहरिंग ने द्वंद्वन्याय को भौतिकवाद से पृथक् करके उसे मात्र इतिहास-दर्शन (ऐतिहासिक भौतिकवाद के बजाय) बना दिया था, प्रकृति के द्वंद्वन्याय को पृथक् कर दिया था तथा मार्क्स को एंगेल्स से जुदा कर दिया था। रोज़ा लुक्सेमबर्ग ने मात्र व्यक्तिमत्ता के आधार पर, संघर्ष को नकारकर, पूँजीवादी व्यवस्था के आकस्मिक विघटन और शोषित जनों के आकस्मिक उभार की मिथकल्पना की थी। यही गलती सार्त्र भी कहीं कर रहे हैं। अतः मार्क्सवाद-लेनिनवाद में से हम मार्क्स से लेनिन को, लेनिन से माओ को, माओ से चे को और चे से हो को पृथक् करके बचकानापन और संशोधनवाद का शिकार बनेंगे। मार्क्सवाद-लेनिनवाद तो आद्यन्त एक विश्वदृष्टिकोण है तथा उसकी समसामयिकता सापेक्ष्य एवं चिरंतन है। अतः जो विचार (या विचारधारक अभिकर्त्ता) यथार्थ ऐतिहासिक शक्तियों को प्रतिबिंबित करते हैं, तथा उनसे अनुकूलित होते हैं, वे ही अमूर्त से मांसल तथा वैश्वक से विशिष्ट हो जाते हैं अर्थात् व्यवहार एवं अभ्यास में वे साक्ष्य एवं प्रमाण बन जाते हैं। आर्ष कसौटी 'व्यवहार' (प्राक्सिस) की ही है। तब ऐसे तपे एवं कर्मठ विचारों के लिए ही कहा जाता है कि वे 'भौतिकशक्ति' बन जाते हैं। तब—कथन एवं विश्वास के बजाय—उनकी कसौटी कर्म होती है। अगर ऐसे विचार किसी कलाकार के हैं अथवा कलाकृति में हैं तब उसमें समाज निथारा और निखारा जाता है। जब समाज के बेहद संत्रस्त वर्ग धुंधले ढंग से ही जागरूक होने लगते हैं तब मनुष्य की प्रकृति में भी विचित्र मनोसामाजिक परिवर्तन होता है; तब पुराने मूल्य, पुराना मनोविज्ञान और पुरानी जीवनदृष्टि निरर्थक लगने लगती है; तब नये प्रकार के विचार जन्म लेते हैं और मनुष्य में **चिति** (साइके) का नया स्नायु-जाल फैलता है। लेकिन 'सही विचार' कैसे आते हैं, यह ज्ञान के समाजशास्त्र का क्षेत्र है। माओ और चे ने इस पर कुछ सैद्धांतिक प्रस्थापनाएँ की हैं: पहले की जनता के बीच के अन्तर्विरोधों को लेकर; तो दूसरे की क्रांतिकारी के त्याग एवं उत्सर्ग को लेकर।

विचार भौतिक शक्ति ही नहीं, **'बिम्ब'** भी हो जाते हैं अर्थात् विचार एक अनुभव को गहराते तथा अभिज्ञान को चमकाते हैं। तब ऐसे बिम्बात्मक विचार **'विषय'** या **'विषयवस्तु'** (कान्टेन्ट) में भी रूपायित हो जाते हैं। अतः कला सामाजिक चेतना का ही एक रूपबंध है। यह रूपबंध इस कलाकृति में मूर्त होता है तथा इसी प्रकृति की 'वस्तुओं' अथवा हमारे यथार्थजगत् का 'प्रतिबिंब' होता है। किन्तु स्वयं प्रकृति की वस्तुएँ मनुष्य के दिमाग तथा प्रत्यक्षीकरण के बाहर होती हैं तथा यथार्थजगत् का अस्तित्व मानवीय चेतना से स्वतंत्र होता है। फलतः मूर्त ऐतिहासिक वस्तु का कलात्मक प्रतिबिंब देशकाल बहिर्भूत भी होता है। कला में प्रतिबिंब की 'वस्तु' तथा 'विधि' दोनों ही ऐसी हैं कि कलाकृति में वह (प्रतिबिंब ही) वस्तु का सृजन करता है, पुनरुत्पादन करता है, प्रक्षेपण करता है जिससे अन्ततोगत्वा वही मूल एवं मूर्त वस्तु बिंबकल्पना की वस्तु बन जाती है। अतः कला सामाजिक चेतना का वह स्वरूप एवं प्रतिबिंब बन जाती है जो एक साथ अतीत का पुनरुत्पादन, वर्तमान का प्रत्यक्षण तथा भविष्य का प्रक्षेपण करती है। क्यों ? और; कैसे ??

हम संपूर्ण बाहरी यथार्थता के वस्तुलक्ष्यी पक्ष अर्थात् **'दर्पण'** तथा मानवीय चेतना के आत्मलक्ष्यी पक्ष अर्थात् **'दीपक'** के सद्यःप्राकृतिक महारूपक के द्वारा ही रचना एवं कर्म के सूत्रों को पकड़ सकते हैं। किंतु यह भी स्पष्ट होने लगता है कि चेतना और वस्तुलक्ष्यी यथार्थता के बीच बिंब-प्रतिबिंब-न्याय वाला सीधा, सहज एवं विकासवादी संबंध नहीं है। इनके बीच किंचित् अंतर्विरोध भी हैं। कुछ उदाहरण लें: चेतना अर्थात् सुपरिगठन के धरातल पर एक ही संपूर्णबंध (अर्थात् संस्कृति) कला और विज्ञान, धर्म और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति, सौंदर्य और नैतिकता, कानून और दर्शन आदि के नाना रूपों में प्रतिबिंबित होता है। कुछ रूपों में प्रतीति ज्यादा तथा सारत्व अवगुण्ठित होता है, तो कुछ में सारत्व ज्यादा और प्रतीति क्षीण। अतः इस धरातल पर अभी तक यह कम स्पष्ट हो सका है कि ये विचारधारात्मक रूप आपस में किस मात्रा तक घुलें-मिलें कि आधार वाले रूप का विषय तत्त्व न बदले अर्थात् किस तरह दर्शन कलात्मक दर्शन या राजनीति राजनीतिक अर्थरचना, या नैतिकता वैज्ञानिक नैतिकता ही बनी रहे। द्वंद्वन्याय ने कला को एकांतिकता से विमुक्त कर दिया है। लेकिन सुपरिगठन के अपने विविध-बहुल स्वरूपों की परस्पर एकता तथा विभेद की अपेक्षित छानबीन नहीं हुई है। इस क्षेत्र में हम "**अस्मिता (आइडेंटिटी) एवं अन्तर (डिफरेंस) की एकता**" अर्थात् कांट्रेडिक्शन को लागू करके थोड़ा-सा आगे बढ़े हैं। कभी कला और दर्शन में अस्मिता कायम हो जाती है, तो किसी चरण में कला और राजनीति में विरोध; किसी अवस्था में कला और विज्ञान में अस्मिता स्थापित होती है तो किसी स्थिति में धर्म एवं सौंदर्य में निषेध। इसका मतलब यह हुआ कि सामाजिक चेतना की संपूर्णता में जो अभिनव गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है उसका प्रभावक आंतरिकीकरण नहीं हो सका है। यह कारण भी हो सकता है कि पूरे सुपरिगठन का तदनुसार कायाकल्प नहीं हुआ हो। यह सही है कि मूलाधार की अपेक्षा सुपरिगठन देर से तथा परोक्ष ढंग से ही बदलता है; और पूरी तरह एक साथ नहीं बदलता। अतएव उसके अंगों में से कभी राजनीति बदल जाती है तो कला पिछड़ जाती है; कभी विज्ञान छलाँग लगा जाता है तो नैतिकता स्तब्ध हो जाती है; कभी ओपेरा समुन्नत हो जाता है तो महाकाव्य मर जाता है। इसके अलावा कभी-कभी तो सुपरिगठन के अंगों के बीच भी रूप-विषयवस्तु के-जैसे द्वंद्व कायम हो जाते हैं; उदाहरणार्थ, राजनीति का रूप कानूनी तथा विषयवस्तु नैतिक हो जाती है (धनात्मक); कला का रूप सौंदर्यात्मक तथा विषयवस्तु धार्मिक हो जाती है (धनात्मक-ऋणात्मक); धर्म का रूप कानूनी तथा विषयवस्तु राजनीतिक हो जाती है (ऋणात्मक); इत्यादि-इत्यादि। अलबत्ता इनका असर आश्चर्यपूर्ण होता है क्योंकि ये अर्धमिश्रित रूप विचारधारा के अंतर्विरोध छिपा या खुला डालते हैं। वास्तव में ये विचित्र रूपायन गुणात्मक परिवर्तनों की बारीकी तथा नवीनता का आविष्कार करते हैं। अतः इस नज़रिये से कबीर या तुलसी, निराला या मुक्तिबोध आदि के रचना-संसारों को परखने पर नितांत नयेपन का उन्मेष होगा। मार्क्सवादी लेनिनवादी सौंदर्यदर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान को ये प्रबल सम-सामयिक नई चुनौतियाँ मिली हैं क्योंकि अब तो यह राज़ खुल गया है कि चेतना के क्षेत्र में बिंब-प्रतिबिंब न्याय का प्रकृतवाद, तथा नींवाधार-सुपरिगठन के बीच कारण-कार्य न्याय का विकासवाद लागू करने पर हम आगे भी संस्कृति एवं समाज में पल्लवग्राहिता तथा प्रतीतिमाया की तोतारटंत 'भ्रांति' में उलझे रहेंगे। अतः अर्नेस्ट फिशर ने कलारूप में सीधे विचारधारा के अनुप्रवेश से तथा सुशाने लैंगर और ग्रोम्ब्रिच ने कलारूप में भ्रांतिमंडल (रेल्म आफ़ इल्यूज़न) के समावेश से आगाह किया है।

नींवाधार-सुपरिगठन का अभियंता रूपक वास्तुकला के ठोस तथा दृश्य क्षेत्र का है। अतः पाकविद्या के अनिर्वचनीय तथा उपभोग्य स्वाद (रस) के रूपक से तो यह ऊँचा तथा श्रेष्ठ है ही! किंतु द्वंद्वात्मक विश्लेषण के ज्यादा अनुकूल यह रूपक नहीं पड़ा। शायद इस रूपक के कारण ही (बाद में) मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान में 'संघर्ष और एकता' के बजाय 'समन्वय और एकता' पर गलत बल दिया जाता रहा जिससे कलाकार के वर्गीय चरित्र और उसके आत्म-संघर्ष के बीच सारे महीन सूत्र टूटते चले गये हैं। यही नहीं; कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में सामाजिक वर्ग संबंधी आर्थिक वर्ग की धारणा ही छिछले ढंग से छापी गई है। अतः कला-कार के चरित्र की तरह कला के वर्गीय चरित्र की अनुमिति बहुत छिछली हुई है। फलस्वरूप समसामयिक मार्क्सवाद ने इस क्षेत्र में भी क्रांतभेदन किया है।

जोसेफ़ स्तालिन ने पुरानी मार्क्सवादी प्रस्थापना करते हुए कहा था कि समाजवाद कायम हो जाने के बाद वर्गयुद्ध समाप्त हो जाता है। सोवियत संघ में समाजवाद के नींवा-धार को सुरक्षित रखने के लिए स्तालिन ने सुपरिगठन को भारी नुकसान पहुँचाया। अब यह भी माना जाता है कि अगर सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के लोक-जनतंत्र 'सांस्कृतिक क्रांति' को कर लिये होते तो क्रांति के पश्चात् की नौकरशाही का केन्द्रीयकरण, अनावश्यक हिंसाओं का आतंक, विचारविवाद (पोलेमिक्स) की गलाघोंटाई, व्यक्तिपूजा की बुराई आदि नहीं आ पातीं। फलतः कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं संस्कृति में निर्जीवता भी नहीं रहती। किन्तु यह नहीं हुआ। स्तालिन के विपरीत ख्रुश्चोव ने सुपरिगठन की मरम्मत करने में नींवाधार को ही तोड़ने-फोड़ने में कामयाबी पाई। सामाजिक क्रांति के बाद सांस्कृतिक क्रांति की ऐतिहासिक निश्चयता से गुज़रने पर समाजवादी चीन ने पाया कि समाजवाद कायम हो जाने के बाद भी एक अनवरत वर्ग-युद्ध जारी रहता है। अतएव अब 'वर्ग' (क्लास) की धारणा केवल वंशानुगतिक न होकर आचार-विचारपरक हो गई। आर्थिक वर्ग, सामाजिक वर्ग तथा जन्मजात वर्गीय व्यक्ति के आगे का यह चरण संपूर्ण संस्कृति तथा चेतना के प्रभामंडल रूपान्तरित कर देता है। "वर्ग की परिभाषा मानसिक दशा से की जाती है, और मानसिक दशा का उद्घाटन आचरण में होता है।"[1] पहले के गरीब किसान शक्ति द्वारा भ्रष्ट हो जाते हैं और एक भूतपूर्व ज़मींदार एक सम्मानित सर्वहारा हो सकता है (तोलसतोय)। अतः केवल पूर्वजीवनी निर्णायक नहीं है। व्यक्ति को तो यही साबित करना है कि आज उसकी अभिवृत्ति एक सर्वहारा की है। जब भ्रष्ट बूर्ज्वा शासनों पर समाजवादी व्यवस्था की जीत होती है तब—मध्यवर्ती चरण में—शासन चलाने के लिए, शिक्षा-प्रसार के लिए, उद्योगों को चालू रखने के लिए कर्मियों की कमी होती है। निम्न वर्गों में शिक्षा और प्रशिक्षण की इस कमी से निम्न बूर्ज्वा तथा मध्य वर्ग के लोग ही यह आरम्भिक आपूर्ति करते हैं और यह 'मिथ्या चेतना' ग्रहण कर लेते हैं कि वे तिलिस्म से समाजवादी हो गये हैं जबकि बूर्ज्वा व्यक्तिवाद और गैर-राजनीतिक चेतना उन पर हावी बनी रहती है। अतः संक्रांति-चरण में शक्ति, विशेषाधिकार या शिक्षा की निधि ही वर्ग-विभेद का आधार बन जाती है। अतः सुपरिगठन में **राज्य** की नौकरशाही को उलटने-पलटने तथा **पार्टी** की प्राधिकारी नौकरशाही को खत्म करने का काम भी सांस्कृतिक क्रांति को करना पड़ता है। सांस्कृतिक क्रांति का विस्फोट नींवाधार पर न होकर सुपरिगठन के धरातल पर होता है जिससे 'वर्ग' की धारणा आजकल आर्थिक एवं सामाजिक संदर्भों से परे एक सांस्कृतिक कैटेगरी हो गई है। अतः 'संस्कृति' के क्षेत्र में केवल साहित्यिक, कलात्मक तथा वैज्ञानिक ज्ञान ही नहीं आता, बल्कि मानवीय आचरण तथा सार्वजनिक नैतिकता भी आती है। अतः वर्गीय चरित्र का अनुमापन आर्थिक-सामाजिक भूमि से संक्रमित होकर नैतिक-सांस्कृतिक धरातल पर अभिषेकित हो गया है। अतः माओ ने क्रांति को शाश्वत चरित्र, तथा वर्ग-संघर्ष को निरन्तर विकास प्रदान किया है। कुछ पूर्ववर्ती मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं में संस्कृति को किसी वर्ग का भोला-भाला और अवचेतन स्राव माना जाता था। आज वही संस्कृति सोची-समझी तथा सचेतन प्रतिबद्धता साबित हुई है। अतः "आज चीन में वर्ग-संघर्ष वस्तुतः बुराई के खिलाफ़ संघर्ष है। दूसरे शब्दों में, वर्ग मनुष्य के बाहर तथा इर्द-गिर्द न होकर उसके अभ्यंतर में है। यह वह शाश्वत पैशाचिक प्रलोभन है जिससे मनुष्य को चिरन्तन लड़ाई लड़नी है।"[2] अतः अगर लेनिन ने अपने विश्लेषण को **'सामाजार्थिक रूपायन'** (Ekonomische Gesellschhafts formation) की मार्क्सीय धारणा से समारम्भ किया तो माओ ने 'सामाजासांस्कृतिक रूपायन' की अनिवार्यता से। केन्द्र का यह बंकिम मोड़ आगे भी चीन तथा रूस जैसे भूतपूर्व पिछड़े देशों में कृषि-क्रान्ति तथा कृषि-संस्कृति की कई पहेलियां सुलझा सकेगा। सांस्कृतिक क्रांति का लक्ष्य "कृषक चीन—मानवीयतया अक्षत और संश्लिष्ट, भोले और निष्कलंक चीन—को गँवारू तथा कारीगर समाज से एक टैक्नोलॉजिकल समाज में इस ढंग से छलांग लगवाना है कि वह कम्युनिज़्म के अपरिहार्य निम्न-बुर्जुआ-चरण से न गुज़रे। संक्षेप में, किसान को—कृषक समाज के समग्र आदमी को—टैक्नोलॉजिकल स्वतन्त्रता उपलब्ध कराना है। यह एक गरीब, पैबन्दलगे, लगभग दीनहीन किन्तु मानवीय दृष्टि से अक्षत मनुष्य के साथ मिलकर टैक्नोलॉजिकल स्वतंत्रता प्राप्त करना है।...सांस्कृतिक क्रांति की यूतोपिया एक भविष्यवादी वैज्ञानिक उपन्यास की सभ्यता होगी जो किसानों से आबाद रही।"[3] अतएव अनगढ़ गरीबी और दस्तकारी वाले समाज से—निम्न-बुर्जुआ चरण से गुज़रे बिना—सीधे टैक्नोलॉजिकल सभ्यता की विवेकशीलता में आ जाना अब एक यूतोपियन यथार्थता है। वर्गसंघर्ष और सांस्कृतिक संघर्ष की एकता की यह बिल्कुल नई और अद्वितीय मिसाल है।

लेनिन की संस्कृति संबंधी वैज्ञानिक प्रस्थापनाएँ भी बेहद आंदोलक हुई हैं। बहुधा पार्टी की थीसिसों, पार्टी-साहित्य और पार्टी पेम्फलेटों के विशेष प्रबंधन को लेकर उन्होंने **'बड़ी मशीन के एक पुर्जे'** का जो रूपक दिया था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसको लेकर असंगत विवाद उठाये गए। गोर्की के साथी लेनिन ही ने एक ओर क्रांति और रोमांटिकवाद को, तथा दूसरी ओर समाजवाद और यथार्थवाद को एकत्र करने का एकांशक वा अद्वितीय मॉडल अंकुरित किया था; मोत्मार्ट, वाग्नर और तोल्सतोय जैसे कलाकारों के सांस्कृतिक पैटर्नों को सर्वप्रथम उद्घाटित करके यह स्पष्ट किया था किस तरह एक बूर्ज्वा संस्कृति में **एक नहीं**, बल्कि **दो संस्कृतियां** होती हैं; और **क्रांति** के साथ **संस्कृति** को जोड़कर 'सांस्कृतिक क्रांति' का 'आर्केटाइपल' आदर्श भी पेश किया था। लेनिन ने ही यह घोषणा की थी कि समाजवादी राज्य **पूंजीवादी व्यवस्था** में उत्पन्न संस्कृति को मुसल्लम नामंजूर नहीं करता। समाजवादी संस्कृति पूंजीवादी व्यवस्था में पनपे विज्ञान, तकनालॉजी, ज्ञान और कलादि को उस सीमा तक ग्रहण करती है जिस सीमा तक वह **सामूहिकवाद** के लिए खतरा न हो। इसी बिन्दु पर उन्होंने सबसे पहले **ऐतिहासिक** अतीत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत पर महारत हासिल करने की आधुनिक सर्वहारा आवश्यकता को उजागर किया था ताकि **सांस्कृतिक मूढ़ता** से जो युद्ध छेड़ा जाय वह लोगों में वर्ग-संघर्ष की पूरक **सांस्कृतिक क्रांति** की शमा जला दे। द्रष्टा लेनिन ने ही उस यूतोपिया का सही स्वप्न देखा है, जब सभी श्रमिक सर्वहारा जन शनैः-शनैः बौद्धिकों में रूपायित हो सकेंगे। इस तरह लेनिन ने ही सांस्कृतिक क्रांति (वर्ग-संघर्ष) और अन्तर्राष्ट्रीय कामगर (मानवतावाद) की ऐतिहासिक धारणाओं के द्वंद्वन्वय वाले संकेत दिये हैं जिन्हें 'थेनानूफोरम में वार्ता' (माओ), 'मानवतावाद तथा वर्ग-चेतना' (लुकाच), 'समाजवाद तथा मनुष्य' (चे गुएवारा) जैसे संलेखों में हजारों फूलों के रूप में पुष्पित किया गया है। यहीं एकतान व्यापार खुलता है।

इस बिंदु से मार्क्सवादी संस्कृति-दर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान में कई आंदोलक त्रिज्याएँ निकली हैं। मुक्ति-युद्ध में जूझते हुए समाज के लिए चे गुएवारा कहते हैं कि उसे पूरे-का-पूरा एक महान् शिक्षा-शिविर में बदल दिया जाना चाहिए जहाँ भौतिक प्रोत्साहन का स्थान नैतिक प्रोत्साहन, तथा लाभ का स्थान बलिदान ले ले। अधम गरीबी की अवस्था में केवल शरीर ही कलंकित नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण मानसिक जगत् और स्नायुचक्रों की प्रतिक्रिया भी विकृत और कुंठित हो जाती है। दमन तथा संत्रास के विश्वासघाती तथा भ्रष्ट एवं स्वार्थांध वातावरण में आदर्शवादी मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं, मूल्य पाखंड के पर्याय हो जाते हैं, मुखौटों के बीच असलियत की पहचान नामुमकिन हो जाती है और पतन के सामंतीय-पूंजीवादी संस्कार छद्म मनोविज्ञान में ढलकर अवसरवादी **अनुभववाद** बन जाते हैं। अतः ऐसे पर्यावरण में सौन्दर्यबोध के सिद्धांतों तथा उससे ज्यादा सौंदर्यभाव के बोध पर असर होता है। यहां ही तो अनुभव के अतिक्रमण (Transcendence of experience) की समस्या उठती है। यह मार्क्सवादी **स्थिति-अतिक्रमण**' (de passement) है। इसका सारत्व अमल, व्यवहार अभ्यास (प्राक्सिस) में घनीभूत है। प्रेक्सिस तो द्वंद्वात्मक आवश्यकता का उद्घाटन करता है जब विविध उपलब्ध **संभावनाओं** के बीच में से एक व्यक्ति अपने निजी स्वभाव का **स्वतन्त्र चुनाव** करता है। यह चुनाव ही अनुभव का अतिक्रमण कराता है, चेतना को सामाजिक चेतना में तबदील करता है, अनुकृति को कलाकृति में रूपांतरित करता है और श्रम का रचना में कायान्तरण कर देता है। अतः मार्क्सवादी 'चाहिए'-पन (ought-ness) नैतिक कर्तव्य से भिन्न एक सौन्दर्यसामाजिक अन्तर्वर्ग (केटेगरी) है क्योंकि यह मानवीय अस्तित्व की तात्विक संभावना है। यह गैर-यूतोपियन है और यह सौन्दर्यनैतिक है। संपूर्ण मानवीय अस्तित्व को प्रभावित करने वाला 'परिवर्तन' तो ऐसा गुणात्मक परिवर्तन है जो समस्त व्यवस्था को ही बदल दे। ऐसा गुणात्मक परिवर्तन ही स्वतन्त्र हो सकता है। ऐसा गुणात्मक परिवर्तन ही मानवीय विमुक्ति ला सकता है अर्थात् मानवीय गुणबोधकता (सेंसिबिलिटी) एवं संवेदनशीलता (सेंसिटिविटी) की विमुक्ति! हर्बर्ट मार्क्यूस कहते हैं कि स्थापित समाजों की संवृद्धि तथा उन्नति के साथ भी तो मानवीय अस्तित्व की असहनीय दशाओं को परिवर्तित किया जा सकता है (अर्थात् यहाँ मूल व्यवस्था नहीं बदलती) किन्तु यह तो मात्रात्मक परिवर्तन है। भारत में पेट-भराऊ सूखी रोटी और साँसचलाऊ रोज़गारी ही जीवन योग्य मानवीय दशा पैदा कर देती है। यह गुणात्मक **परिवर्तन** तो अवश्य है, लेकिन **स्वतंत्रता** नहीं है। नई स्वतन्त्रता **नई आवश्यकताओं** तथा **नई संतुष्टियों** के द्वारा प्रतिफलित होती है। पूंजीवादी समाज की आवश्यकताएं वैयक्तिक, आक्रामक और दमनकारी हैं। इसकी संतुष्टियाँ भी बेशर्म उपभोक्तावाद (कंजूमरिज्म) पर टिकी हैं—इफ़रात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपभोग तथा ऐश व मज़े का छिछला भोग। अतः मार्क्यूस के अनुसार इस समाज में दमन के लिए अनेक संस्थाएँ और विधियाँ हैं जो मनुष्य का चेतन तथा अवचेतन दोनों ही नियन्त्रित करती हैं क्योंकि वे वास्तविक आवश्यकताओं की तृप्ति करती हैं तथा सम्भावित आवश्यकताओं पर शासन करती हैं। अतः विप्लवी सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का दमन केवल चेतन के नियन्त्रण द्वारा ही नहीं होता, बल्कि अवचेतन के संचालन द्वारा भी होता है। अतः स्थापित समाज में भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की जो तुष्टि होती है वह भी व्यवस्था की ज़रूरतों तथा हितों के मुताबिक ही होती है, अर्थात् अति उत्पादन—अति लाभ—अति उपभोग के त्रिकोण के अन्तर्गत! 'आवश्यक' की सीमा मानवीय है, किन्तु 'अतिशय' अमानवीय है। गरीब आवश्यक के बिना पदावनत होते हैं और उसे पाकर मानवीय हो जाते हैं। अमीर अतिशय के कारण अमानुषिक होते हैं। अतः अगर अमीरों तथा उनकी अतिशयता का विलयन हो जाय तो गरीब मानवीय हो जाते हैं। अतः सामाजिक अग्रगमन उपभोग (कंज़म्पशन) के द्वारा अर्थात् मुनाफ़ों (अमेरिका) और समृद्धि (सोवियत संघ) के द्वारा न आकर तकनीकी तथा मानवीय दक्षताओं से आता है, जब 'आवश्यक' तो प्रदान किया ही जाता है तथा 'अतिरिक्त' वर्जित हो जाता है। 'अतिरिक्त' लाभ और शोषण का, तथा भोग और विलास का हेतु है। अतिरिक्त ही अमेरिका के अतिसमृद्ध समाज को युद्धनिष्ठ समाज में बदल चुका है। वह युद्धनिष्ठ समाज दुनिया के सभी कोनों में विमुक्ति के खिलाफ़ लड़ता है तथा आतंक और गुलामी फैलाता है। अतिरिक्त में उत्पादन और विनाश की एकता है। अतिरिक्त के बजाय आवश्यक से जुड़ने की प्रक्रिया मनुष्य और तकनालाजी के सम्बन्धों की सांस्कृतिक छानबीन भी तो है। अतः बिना अति उत्पादन के भी तकनालाजिकल उन्नति हो सकती है, बिना निम्न-बुर्जुआ संस्कृति के दौर के भी गरीब आदमी तकनालाजिकल स्वतन्त्रता पा सकता है। अतः आत्मनिर्भर प्राक्सिस की द्वंद्वात्मक आवश्यकता हमें विमुक्त कर सकती है; अर्थात् गरीबी और उन्नति की एकता कायम की जा सकती है, दस्तकारी और न्यूक्लियर तकनालाजी के स्तर मिलाये जा सकते हैं। कितनी सही और वास्तविक यूतोपिया है यह! यह सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा यथार्थ बना दी गई है।

अतएव सांस्कृतिक क्रान्ति उस पूँजीवादी तख्त को उलट देती है जो मनुष्य तथा वस्तुओं को पहले तो एक ही सतह पर रखता है, उसके बाद वस्तुओं को मनुष्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण तथा उससे स्वाधीन बना देता है। फलतः एक रेफ्रिजेरेटर एक सोह्णे बच्चे से ज्यादा प्यारा हो जाता है, दहेज एक युवा नारी से ज्यादा प्रभावशाली हो जाता है, कपड़े-गहने निश्छल सौंदर्य से ज्यादा गुणवान हो जाते हैं। इस तरह उपभोग का मायाजाल हमारी मानवीय चेतना और नैतिक दायित्व का पूर्णतः दमन कर डालता है। अतः उपभोग— विशुद्ध उपभोग—में केवल अतिरिक्त लाभ और स्वार्थ रहता है जो बेहद व्यक्तिवादी, बेहद अराजनैतिक, बेहद अमानवीयकृत और बेहद निर्दय है। वहशी उपभोक्तावाद से हमारी लड़ाई का सीधा मतलब दलन-दमन की संस्थाओं एवं प्रणालियों का उन्मूलन करना है अर्थात् दासता से विमुक्ति है, अर्थात् संस्कृति-उपभोक्ता [फिल्म, टेलिविज़न, रंगीन पत्रिकाएँ, रेडियो सेट, पाकेट बुक, आदि] से संस्कृति-भोक्ता बनना है। अमीरी के अतिरिक्त को विसर्जित करने पर गरीबी का आवश्यक रह जाता है। ऐसी **गरीबी** में स्वभावतः **शुचिता** का समावेश है। अतः आज की दुनिया में (चीन और वियतनाम और क्यूबा की तरह) गरीबी एवं शुचिता की अस्मिता ही मनुष्य की नार्मल दशा होनी चाहिए। यही उस दमन के उच्छेदन का समसामयिक मार्ग है जो हमारे अस्तित्व की गहराई वाले सामन्तीय-पूंजीवादी संस्कार में धंस गया है, क्योंकि पुरानी आवश्यकताओं तथा पुरानी तुष्टियों ने हममें दमनकारी समाज का एक आभ्यंतरिक पुनरुत्पादन भी कर डाला है। दमन के सातत्य को कैसे रोका जाए? दमन की संस्थाओं तथा पद्धतियों ने हमारे भारतीय समाज में अमीरों के द्वारा गरीबों का शोषण, अतिरिक्त के द्वारा आवश्यक का भ्रष्टाचार फैलाया है। इसलिए हम अपने दैनिक जीवन में रोज़ ही बड़े-बड़े आतंक और अन्याय, लूट और लिप्सा, शोषण और नीचता देखते अथवा भोगते हैं किन्तु सामूहिक सूत्र का गायागान नहीं हो पाता। अतः गरीबी और शुचिता की मैत्री के बजाय अमीरी और भ्रष्टाचार की मैत्री ही चहुँव्यापी है। इसका एक कारण हमारी सामन्तीय संस्कृति में त्रासदी का निषेध तथा इतिहासबोध की अनुपस्थिति रही है। किन्तु अपने वर्तमान में कुछ दूजी बात भी है। राजनैतिक आज़ादी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद आर्थिक गुलामी के शोषणपंजे मजबूती से फैलाने के लिए सत्ताधारी वर्ग तथा मोनोपली-बुर्जुआ-वर्गों ने साधारण एवं मध्यवर्गीय लोगों का शनैः-शनैः—देशभक्ति तथा दहशत का छद्म इस्तेमाल करके—"**अवराजनैतिकीकरण**" कर डाला। अतः सन् पैंसठ तक जनता बिलकुल उदासीन, बुद्धिजीवी बेहद अहंपूजक, तथा राजनैतिक पार्टियाँ बेहद अवसरवादी हो चुकी थीं। संस्थाओं एवं पद्धतियों द्वारा दमन-दलन ने मानवीय चेतना और सामाजिक यथार्थता को अनेक मिथकीय भ्रान्तियों में जकड़ डाला। हम यही देखते हैं कि आधुनिक व्यवस्था के सुपरिगठन की प्राथमिक एवं तात्त्विक शक्ति **राजनीति** है जो दैनिक है। इसलिए सुपरिगठन में **विचारधारा** (ideology) को केन्द्रीय धुरी मिली है। इसी प्रकार नींवाधार की बुनियादी शक्ति **अर्थरचना** है। कोई भी नया फेनामेना या सांस्कृतिक पैटर्न राजनीति से तटस्थ होकर अराजक एवं निरर्थक हो जाता है। अतः सामूहिक तथा सांस्कृतिक चेतना को खत्म करने के लिए अवराजनैतिकीकरण कर दो, और उसे जाग्रत करने के लिए '**ध्रुवान्तीकरण**' कर दो!! जनचित्त तो आज संस्कृति के राजनैतिक दर्शन वाले रूप से ही आन्दोलित हो सकता है क्योंकि राजनैतिक गुटबाज़ी और कूटनैतिक तिकड़म के आगे कानून और व्यवस्था, कला और धर्म तो निचली कोटि के अनुत्पादक प्रकार्य हैं। इसी तरह दूसरी प्रक्रिया मंडी-बाज़ार की चली—'**अवसांस्कृतीकरण**' की। संस्कृति के क्षेत्र में फिल्में, कामुक अफ़साने, जासूसी उपन्यास और पश्चिमी उपभोक्तावाद ने हमें निज-संस्कृति-विहीन बना डाला।

इसलिए अब मौन बहुसंख्यक अवराजनैतिकीकृत तथा अवसांस्कृतिकीकृत हैं। अतः वे मात्र तत्काल में जिन्दा हैं। वे अभी भी सामाजिक परिवर्तन तथा वैचारिक क्रान्ति में प्रतिबद्ध सहभागी बनने के योग्य ही नहीं रहे। यह भयानक बात सुपरिगठन के धरातल पर घटी है।

नींवाधार के धरातल पर स्वार्थ और शोषण, लाभ और उपभोग, सम्पत्ति और सत्ता के परिवेश में गरीब पदावनत हुए तथा श्रीमन्त अमानवीय बने। उक्त परिवेश की पद्धतियाँ ही ऐसी हैं कि व्यक्तिवाद और गैर-राजनैतिकीकरण के उन्मेष के साथ-साथ '**अमानवीयकरण**' भी होता है अर्थात् सामान्य सामाजिक संबंध और विमुक्तिकारक सौन्दर्य-सांस्कृतिक चेतना का उच्छेदन होने लगता है। अतः यहाँ सामान्य मनोविज्ञान और सामाजिक जीवन ही निरर्थक एवं अराजक हो जाता है। अतः जीवन पर अधोमुखी और निकृष्ट पक्ष का आतंक गालिब हो जाता है। इंसान पर आतंक, संत्रास, अत्याचार, नृशंसता, अकेलेपन, आत्म-निर्वासन, पशुता, कायरता आदि की अंधी कुज्झटिका छा जाती है। इसके सहवर्तन में ही आदमी का '**पाशविकीकरण**' भी होता जाता है। पाशविकीकरण में प्रेम का स्थान घृणा, दया का स्थान ज़ुल्म, सत्य का स्थान नृशंस शक्ति, सौंदर्य का स्थान लालसा, नैतिकता का स्थान एब्सर्ड उच्छृंखलता ले लेती है। अतः आजकल पुलिस अफसर, या डाक्टर या घनी मौंहों वाले नेता, या निरंकुश बुद्धिजीवी या नगरसेठ झट् से पलक मारते अथवा फट् से चुटकी बजाते ही किसी की हत्या अथवा बर्बादी कर सकते हैं। कुछ छोटी-सी बातें हैं जो दो माहों में पंजाब के हमारे छोटे-से शहर जालंधर में घटीं। पहले एक नक्सली क्रान्तिकारी युवक दयासिंह को पुलिस ने रात में सरहिन्द नहर पर लेजाकर गोली से उड़ा दिया और रात-भर गीदड़ों द्वारा लाश को खाने के लिए छोड़कर डाकू के मुठभेड़ में मारे जाने की सरकारी घोषणा की। एक दूसरी वारदात में एक बस-ड्राइवर सोहनसिंह पर इतने अत्याचार किये गए कि वह मर गया। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट से पता चला कि (सेक्स प्रतिद्वन्द्विता के कारण) पुलिस ने लाठियों से उसके अंडकोश कुचल डाले थे, गुदा से डंडा ठूंसा था जिससे गुर्दा (किडनी) फट गया। एक तीसरी घटना के अनुसार एक युवा कवि अवतारसिंह 'पाश' को डकैती और हत्या के मामलों में गिरफ्तार किया गया है। आजकल ऐसी अनेक खबरें सुनाई पड़ रही हैं जिनमें किसी-न-किसी बहाने विद्रोही युवा गिरफ्तार किए जा रहे हैं। पहले की राजभक्त तथा आज की देशभक्त भारतीय पुलिस के लिए तो भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद, डाकू मानसिंह और ठग नटवरलाल, दयासिंह और ड्राइवर सोहन सिंह, सभी एक तरह के मुज़रिम हैं। यह प्रशासन के अवराजनैतिकीकरण का वेदांती उदाहरण है। हमारे अतः इस दमन और घुटन से विमुक्ति कैसे हो? हमारे मानवीय अस्तित्व की गहराइयों में धँसे इस दमन और आतंक से हम कैसे विमुक्त हों?? हम क्या करें??? उफ़…!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, पाशविकीकरण और अवराजनीतिकीकरण के केंद्रों से ही बलिदानपूर्ण मानवीयकरण तथा क्रांतिकारी ध्रवीकरण का महान् पुनर्जन्म भी होता है ! दमन और आतंक के इस नैरंतर्य से हमारा पहला विच्छेद ही चेतना के साथ हमारा पहला अनुप्रवेश भी है ! और, यह एक दीर्घकालिक आत्मसंघर्ष भी है ! !

अतः व्यवस्था के अंतर्गत ही जो प्रतिवादी शक्तियां आविर्भूत हो रही हैं, केवल वे ही हमारी मानवीय विमुक्ति कर सकती हैं। इन शक्तियों से जुड़ने की समस्या **'स्थिति के अतिक्रमण'** (depassement) की समस्या है। यदि अनुभव का अतिक्रमण हमें निर्वैयक्तिक बनाता है और समाज का अतिक्रमण हमें नया बनाता है, तो **वर्तमान** का अतिक्रमण हमें भविष्य से जोड़ता है। अतः 'मानवीय संवेदनशीलता और गुणबोधकता की विमुक्ति निजी नहीं है; बल्कि वह मानवीय अस्तित्व तथा उसके पर्यावरण का रूपांतर करने वाली एक शक्ति है।'[४]

इसलिए 'विमुक्ति-बोध' का तात्पर्य मानवीय सृजनात्मकता एवं चेतनता की अस्मिता है। और इसलिए 'कला' (सुपरिगठन का एक अप्रधान रूप) **संपूर्ण** मानवीय अस्तित्व तथा सत्व के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह नई आवश्यकताओं एवं संवेदनशील तृप्तियों के द्वारा हमें विमुक्त करती है। यह निश्चय है कि दासता अथवा विमुक्ति के लिए कला और मनोविज्ञान सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य साधन बने रहेंगे। यह भी तय है कि आज **कला** ऐतिहासिक परिवर्तन का कमक नहीं हो सकती। (सुपरिगठन के अंतर्गत मध्य काल में यह कार्य **धर्म** ने किया था; आज **राजनीति** करती है)। किन्तु आज भी कला सुपरिगठन की एक मानवीय ईंट है; आज भी मानवीय संवेदनशीलता के विकास का प्रतिबिंब है और आज भी यह संस्कृति का सुंदर कमल तथा विचारधारा की भावोच्छल अंतर्धारा है। अतः कला की आवश्यकता ही हमें वह स्वतंत्रता देती है जो एक विमुक्त तथा श्रेष्ठतर मानवीय अस्तित्व को प्राप्त करे; जो उत्पादन-शक्तियों के साथ-साथ सृजनात्मक कल्पना द्वारा समाज का निर्माण भी कर सके। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तकनीक और कला, कार्य और क्रीड़ा, उत्पादन और रचना आदि किसी एक ऐसे बिंदु पर अभिमुख हो सकती हैं जहाँ इनके विभेद विसर्जित होने लगें। यह तभी वास्तविक हो सकता है जब कला एक ओर तो संस्कृति तथा विचारधारा (सुपरिगठन) का आवश्यक सहखंड बने; दूसरी ओर पूंजीवादी शोषण और मुनाफाखोरी के हुक्मों से बरी हो जाये तथा तीसरी ओर एक साथ (सहवर्ती) तकनीक और क्रीड़ा हो जाए ! यही विमुक्त मनुष्य के लिए कला की आवश्यकता होगी ! ! इस तरह विमुक्ति में कला (सौन्दर्य) और कौशल (टैकनोलॉजी) का समभाग कायम हो सकेगा। समाज और प्रकृति के अंतर्गत मनुष्यों तथा वस्तुओं की छिपी क्षमताओं के उद्घाटन से कला टैकनोलॉजी के समीप जा सकती है, तथा टैकनोलॉजी क्रीड़ा भी बन सकती है। अतः नये समाज को एक कलाकृत्य रूप में भी देखा जा सकता है (मार्क्यूज़)। हर्बर्ट मार्क्यूज़ की इस धारणा के समानांतर ज्योर्जी लुकाश् ने कहा है कि 'संपूर्ण मनुष्य' ही 'मनुष्य की संपूर्णता' में शनैः-शनैः रूपांतरित होता जाता है। अतः वे अरिस्तोतलीय कैथार्सिस के डायोनीशियन वृत्त के असमान मार्क्सीय वृत्त के **'अपोलोकैथार्सिस'** की प्रस्थापना करते हैं। इस भाँति अंततोगत्वा 'पार्टी मशीन का पुर्जा' बनने वाली पैम्फलेट-लेखन की कला की सीमित एवं सही धारणा की गलत व्याख्या समाप्त होती है और कला सांस्कृतिक क्रांति का एक दीपक तथा एक दर्पण बनकर अभिषेकित होती है जिसके द्वारा मनुष्य वर्ग तथा समाज के दमनों से विमुक्त होने की तैयारी कर सकता है। अतः समाज का टैकनोलॉजिकल एवं सौंदर्यतात्त्विक पुनर्निर्माण सहवर्ती ढंग से हो सकता है अगर पूंजीवादी निर्धन न्यूनता तथा समृद्ध अतिरिक्तता, शोषण और मुनाफे से विमुक्त हुआ जाय।

और, इसके लिए वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का समूल उच्छेदन ही पहली तथा महत्तम शर्त है ताकि पूर्ण गुणात्मक परिवर्तन हो।

इसके लिए विकलांग मनोवृत्तियों तथा जीर्ण-शीर्ण चेतना का भंजन करना ही होगा। इसके लिए नई, अतिक्रांत तथा प्रतिद्वंद्वी मूल्यों के प्रति संवेदना तथा जागरूकता को उन्मीलित करना ही होगा। इसका अर्थ यह है कि पहले मर्यादित विचार की कीमत ली जाती थी। अब विद्रोही विचार की कीमत त्याग और बलिदान, क्रांति और त्रासदी से अनिवार्यतः चुकानी पड़ेगी। अतः अब विचार और भावना विलास और विनोद न होकर, अभ्यास तथा आचरण की कसौटी पर, द्वंद्वात्मक आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला के संस्कृति और विचारधारा का अंग होने का, कला के दर्पण और दीपक होने का, अस्त्र और अलंकार होने का मार्क्सीय आदर्श यही है। अतः सामाजिक शिल्प में कला एक दैश्वक ईंट है : नींवाधार के सुपरिगठन की एक कल्पनाधर्मी मूर्त ईंट!!

नींवाधार-सुपरिगठन के इस विराट् रूपक में न तो कोई बिंब-प्रतिबिंब न्याय वाला संबंध है (अर्थात् सुपरिगठन अकेला बिंब नहीं है); और न ही बीज-फूल वाला विकास-वाद है; बल्कि इसमें अंतर्विरोध भी है जिसकी अभिव्यक्ति 'स्वतः गतिवाद' (auto-dynamism) द्वारा होती है। मार्क्स की इस धुरीण धारणा को लेनिन ने विकसित करके बताया कि 'प्रक्रिया' में छलाँग भी लग जाती है तो सूत्रभंग भी हो जाता है। सुपरिगठन अगर भौतिक तथा विचार-धारात्मक झीना आवरण उढ़ाता है तो उसे अनावरण करने वाला द्रष्टा भी होता है। सुपरिगठन ही मनुष्य की समस्या तथा सौंदर्यबोधात्मक यथार्थता की समस्या उठाता है। सुपरि-गठन के द्वारा ही मनुष्य वर्तमान तथा तात्कालिक अनुभव का अतिक्रमण करता है। सुपरिगठन ही विप्लवी सामाजिक परिवर्तन की अंतर्मुखी आवश्यकता की छटपटाहट को ज्ञान-गोचरीभूत करता है। सुपरिगठन ही चेतना तथा सृजनात्मकता को विमुक्त करता है।

नींवाधार इतना प्रत्यक्ष और सरल नहीं होता। सुपरि-गठन ज्यादा प्रतीत और प्रत्यक्ष होता है। अतः अर्थतत्त्व छिपा होता है; और राजनीति तत्त्व में छद्म एवं कला रूपों में फांतासी छा जाती है। जिस तरह विशिष्ट सामा-जार्थिक चरणों में उत्पादन-संबंध प्रमुख होते हैं उसी तरह विशिष्ट ऐतिहासिक नींवाधार के अंतर्गत, सुपरिगठन में भी उसके किसी एक अंग की व्यापकता तथा प्रमुखता हो जाती है। मध्यकाल में यह भूमिका धर्म की थी तो आज विज्ञान की। किन्तु सुपरिगठन में लोक जीवन की सामाजिक चेतना की प्राथमिक अभिव्यक्ति राजनीति ही है। कभी-कभी तो यह भ्रांति छा जाती है कि मध्यकाल में नींवाधार-सुपरिगठन दोनों में धर्म का प्रभुत्व है और आधुनिक युग में दोनों में अर्थ का अधिकार है। सुपरिगठन में उसके किसी एक रूप के प्रभुत्व के कारण विज्ञान, नीति, कानून, दर्शन आदि में उसी एक ही विषयवस्तु का नाना रूपों में अप्रत्यक्ष प्रक्षेपण हो जाया करता है। मध्यकाल में मानों धर्मतत्त्व ही कला, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीति, कानून आदि के विविध रूपों में मुखर हो उठा था। इस स्थिति पर मार्क्स-वादी संस्कृति-विज्ञान को बारीकी से ग़ौर करना होगा क्योंकि राष्ट्रीय इतिहास तथा सांस्कृतिक परंपरा में यह चुनौती और पहेली है। ऐसी अवस्था का मतलब यह हो सकता है कि सामाजिक चेतना में थोडी-बहुत उथल-पुथल नजर आ रही थी, किन्तु मूलरूपेण नींवाधार के उत्पादन-संबंध अचल रहे। अतः सांस्कृतिक अंगड़ाई सामाजिक क्रांति में छन नहीं पायी और गहराई से प्रभावित नहीं कर पायी क्योंकि मनुष्य का संपूर्ण अस्तित्व एक पक्षीय हो गया है अर्थात् संपूर्ण अस्तित्व का संपूर्ण पक्षों में प्रसार नहीं हुआ जिससे नई आव-श्यकताएँ तथा नवीन संवेदनाएं उद्भूत नहीं हो पाईं। इसलिए यथार्थता का प्रत्यक्षीकरण यथासंभव (यथावत् के बजाय) का अतिक्रमण करके फांतासी हो गया। फलतः विचार (आइडिया) एक मूर्त भौतिक शक्ति के बजाय मिथ्या फान्तासी (की शक्ति) में रूपांतरित हो गया। अतएव समकालीन यथार्थता अद्भुत और विद्रूप, उदात्त और भोंडी, का द्वंद्वचित्र होकर भी आती है।

एक स्थिति और भी है। विशिष्ट सामाजार्थिक आकृति-बंध के अंतर्गत सुपरिगठन के ही आपसी अंगों के बीच पूरक मैत्री अथवा अविरोधी (non-antagonistic) अंतर हो जाते हैं। पहले कला और कानून के बीच अन्तर था (कवि निरंकुश था तथा काव्य व्याकरण बहिर्भूत था) तो आज कला और राजनीति के बीच यह हालत है। यहाँ माध्यम का स्वभाव भी असर डालता है, किन्तु वर्गों के आपसी अंतर्विरोधों का प्रभाव भी प्रकट होता है। कवि तथा वर्ग के विश्वदृष्टि-कोण (वर्ल्ड-व्यू) की देन भी हैं, ऐसे अविरोधी अंतर्विरोध!

ये अंतर्विरोध जब किसी प्रमुख संस्कृति रूप (धर्म या राजनीति) के कुरुक्षेत्र में सक्रिय होते हैं तब वे घटनाओं तथा कलाकृतियों, दोनों के स्वरूपों एवं शैलियों की संरचना भी करते हैं। भक्तिकालीन महाकाव्य एवं लीलापद, भक्ति-उपासना (मधुर या मर्यादावादी) एवं कृषक-विद्रोह (छत्र-पति शिवाजी और गुरु गोबिंदसिंह) आदि ऐसे विपरीत प्रतीयमान घटक हैं, जिनके सारसत्व एक हैं। अतः हमें मार्क्सवादी कलाशास्त्र एवं संस्कृति-विज्ञान में कला और धर्म की सम्बन्धता के साथ साथ राजनीति और दर्शन के अंतर्वर्गों (केटेगरीज़) को भी जोड़ना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम इससे कैसे इन्कार कर सकते हैं कि एक ही सम्पूर्ण यथार्थता के पुनरुत्पादन अथवा प्रतिबिंब सुपरिगठन के अनेक रूपों में—भिन्न-भिन्न माध्यमों से गुज़रने पर—भिन्न-भिन्न पड़ेंगे। हम कह चुके हैं कि यह संज्ञान और अभिज्ञान की समस्या है। यह दोहरी प्रक्रिया है। यदि एक ओर मनुष्य पर बाहरी दुनिया का प्रभाव पड़ता है तो दूसरी ओर बाहरी दुनिया पर मनुष्य का प्रभाव भी पड़ता है। यह दूसरा प्रभाव मनुष्य की व्यावहारिक क्रियात्मकता (प्रेक्टिकल ऐक्टिविटी) है। इसलिए एक ही यथार्थता का प्रतिबिंब राजनीतिशास्त्र और काव्य पर, दर्शन और मनोविज्ञान पर भिन्न-भिन्न पड़ेगा। अतः ये कई प्रतिबिंब मिलकर ही सामाजिक यथार्थता एवं मानवीय दशा की समग्रता रचते हैं। अतः मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन को सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थता तथा ऐस्थेटिक यथार्थता की अस्मिता (आइडेंटिटी) ढूंढनी ही पड़ती है। यह भी ध्यातव्य है कि यथार्थता का राजनैतिक प्रतिबिंब कलात्मक प्रतिबिंब से ऊँचा हो सकता है; अथवा उसका दार्शनिक प्रतिबिंब नैतिक प्रतिबिंब से श्रेष्ठतर हो सकता है। यह गुणात्मक तुलना है। इसलिए सौंदर्यबोध एवं कला में मार्क्सवाद ऐन्द्रियिक प्रतिबिंब से आगे उन विवेकशील निर्णयों का हाशिया भी जोड़ता है जो विश्व के बहिर्भूत कर्मठ रूप हैं। अतः भारतीय संस्कृति का 'आधुनिकताबोध' इतना अधिक अमूर्त एवं एकांगी हो गया है कि वह दर्शन तथा विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के आधुनिकता-प्रत्ययों से संगति नहीं जोड़ सका। स्वयं कार्लमार्क्स ने कला एवं सौंदर्यशास्त्र के लिए प्रत्यक्षीकरण की दो दृष्टियों का अनुमोदन किया था। फरवरी, १८४८ की फ्रांसीसी क्रांति की बाबत किताबों पर तफ़सिरा करते हुए, घटनाओं एवं इंसानों के चित्रण की सच्चाई के बारे में, उन्होंने लिखा था: "यथार्थता में रफेलवादी सौंदर्यदृष्टि का परित्याग और रेम्ब्रांवादी सौंदर्यदृष्टि का ग्रहण किया जाए।" उनका आशय यह था कि रफेलवादी सौंदर्यदृष्टि में सभी चित्रात्मक सचाई गायब हो जाती है क्योंकि उसमें शान-शौकत और आवश्यक वस्तुओं की अलंकृति का अंकन होता है जिससे वास्तविक स्वरूप प्रायः लुप्त हो जाता है। लेकिन रेम्ब्रांवादी सौन्दर्यदृष्टि अपने चटकीले रंगों में घटनाओं और घटनापूर्ण लोगों का अंकन करके, अनावश्यक सजावट का परित्याग करती हुई, 'सजीव' मानवीय गुण झलका देती है।[५] इस अछूती और अनूठी दिशादृष्टि का परिवर्धन तथा संस्कार होना अभी शेष है। इसके ज़रिये कला-इतिहास में रुचि (टेस्ट) एवं शैली (स्टाइल) की द्वंद्वात्मक संबंधता भी ढूंढ़ी जा सकती है।

इसी के साथ एक पहलू और भी अनछुआ-सा रह गया है। जिस तरह यथार्थता से मनुष्य के राजनीतिक या दार्शनिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी तरह सौंदर्यतात्त्विक सम्बन्ध भी विलक्षण होते हैं। यूं सौंदर्यतात्त्विक सम्बन्ध ज्यादा आदिम हैं। प्राचीन मिस्र, ग्रीस, या चीन या भारत में इन सम्बन्धों में स्पष्ट अन्तर तथा आकृतिबध वाला ऐक्य भी मिलेगा। इस दृष्टि से हमें लोकतात्त्विक मिथकों, परी-कथाओं तथा निजंधरों आदि का अनुशीलन करना होगा ताकि मानवीय अतर्लोक समझा जा सके। इस दृष्टि से जार्ज थाम्पसन ने प्राचीन यूनानी समाज का, तथा देवराज चन्नण, आर० एस० शर्मा, डी० डी० कोसाम्बी आदि ने प्राचीन भारतीय समाज का अध्ययन करके आंदोलक हाशिये उद्घाटित किये हैं। कबीलों के विघटित होने की स्थिति में धार्मिक मिथकों तथा परी-कथाओं में काफ़ी वैषम्य (कंट्रास्ट) था। कुलों (क्लान) की परम्परा कायम होने पर मिथकों तथा निजंधरों (लीजेण्ड्स) के बीच भेद करना मुश्किल हो गया; तथा आरम्भिक वर्गों के रच-रचाव की कुछ परिस्थितियों में निजंधर और इतिहास के अन्तर धुंधले हुए। अतएव यथार्थता के 'कलात्मक बिंबों' के मार्क्सीय अध्ययन की अनेकानेक दिशाएँ खुलना अभी भी शेष हैं।

उपरली बहस में शुरू से लेकर आखिर तक एक महासूत्र समस्याओं का निवारक बनकर खुलता हुआ मिल सकता है। वह है, पद्धति की समस्या का! इस क्षेत्र में सत्य की प्राप्ति तथा मूल्य की खोज 'उपागम' (एप्रोच) तथा 'पद्धति' (मेथड) के द्वारा ही हो सकती है। पद्धति की समस्या मार्क्सीय विज्ञान में व्यवहार या अमल (praxis) की समस्या बनकर उभरी है। इसे सार्त्र ने मूलतः स्थिति के अतिक्रमण (de passement) से संलग्न किया है। पद्धति की समस्या कलाकृति में रूप एवं विषयवस्तु का, समाजदर्शनों में सिद्धांत (थियौरी) एवं अमल (प्रेक्टिस) का, राजनीति में क्रांति एवं जड़ता का, किसी विचार में दर्शन एवं विज्ञान का सघर्षी सामंजस्य उपस्थित करती है। इसी समस्या को अंगीकृत करने के कारण मार्क्सवादी फिलासफी भी है तथा आइडियोलाजी भी; विज्ञान भी है तथा समाजविज्ञान भी; सिद्धांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है तथा अमल भी। इतनी विविधता तथा समग्रता का असली कारण यह है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद समाज एवं प्रकृति के पृथक् अंगों या खण्डों के बजाय **सम्पूर्ण** पर अधिष्ठित है। अत: वह एक सिद्धांत के बजाय कई सिद्धांतों का महापुंज है जो हमारे समाज की सभी गतिविधियों तथा क्रियाओं की, द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से व्याख्या करके आगामी गति एवं दिशा का निर्देश भी करता है। यह एक द्वंद्वात्मक कानून है कि 'सम्पूर्ण' (अंशी) हमेशा 'अंशों' या खण्डों के कुल जोड़ से **अतिरिक्त** भी होता है। इसीलिए अपनी समाज-व्यवस्था के विराट् या समग्र सत्यों की उपलब्धि उसके विभिन्न अंशों एवं पक्षों के पृथक्-पृथक्, नन्हें-नन्हें सत्यों से कतई नहीं हो सकती। उसके लिए आधुनिक युग के एक विराट् प्रमुख दर्शन की ज़रूरत है। केवल मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही ऐसा विराट् तथा प्रमुख दर्शन और विज्ञान है जिसका एक सम्पूर्ण पद्धतिशास्त्र (मेथडालाजी) तथा विश्व दृष्टिकोण है।

पद्धति में दृष्टिकोण या उपागम (एप्रोच) की महत्ता है। यही परिणाम की यथार्थता और सत्यता, प्रामाणिकता और निश्चयता को तय करता है। अत: **दृष्टिकोण** एवं **पद्धति** मार्क्सवादी संस्कृति-विज्ञान तथा सौंदर्यदर्शन की दो आजानुबाँहें हैं। **पद्धति की समस्या** ही तो बैलगाड़ी और अपोलो-११ की तकनालाजी की, हथकरघे और कम्प्यूटर के संचालन की, अलंकार और व्याकरण की समस्याओं के रूप ग्रहण करती है। यह समस्या नृत्य में मुद्रा की, काव्य में रीति की, नाट्य में अभिनय की, तथा साहित्य में रूप की समस्या है। अत: जब तक किसी एक उपागम का आधार नहीं होता, तब तक पद्धति का मौलिक तथा सिद्ध प्रयोग या नियमन नहीं हो सकता। जब तक उपागम के साथ विश्व-दृष्टिकोण नहीं जुड़ता तब तक कर्म या कृति सार्थक, उपयोगी और जीवितम् नहीं बन पाती। पद्धति व दृष्टिकोण के द्वारा ही—**क्रीड़ा** (खेलकूद) तथा **लीला** (दैवी भ्रामक क्रीड़ा), **रचना** (मानवीय सहज क्रिया) तथा **श्रम** (उत्पादन क्रिया) आदि को तात्त्विक सम्बन्ध के, एवं एक मानवीय चेतना के, एक सूत्र में गूँथा जा सकता है। ये माध्यमों तथा विधियों के जरिये बदलते हुए एक **विषय** के प्रतिरूप हैं। यथार्थता को कलाकृति में किस तरह से प्रतिबिंबित एवं प्रतिप्रस्तुत किया जाय, यह कलाकार के उपागम एवं दृष्टिकोण की, तथा माध्यम को ढालने वाली पद्धति की समस्या है। इसीलिए कला में पद्धति एक सिद्धांत (एप्रोच, आउटलुक, वर्ल्डव्यू, प्वाइण्ट ऑफ़ व्यू) है।··· रोमान्तिकता या यथार्थता एक बिंदु पर आकर पद्धति भी बन जाती हैं, यद्यपि वे सिद्धांत भी हैं।

प्रत्येक कलात्मक पद्धति का अपना एक **संदर्शन** (विज़न) होता है और वह पद्धति अपनी **भाषा** की भी तलाश करती है। पद्धति द्वारा मानवीय व्यवहार तथा कलासामग्री के परिष्कार का भी एक अभिज्ञान होता है। किन्तु मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन में पद्धति को भी गुरुगम्भीर बनाने की जो कठमुल्ला आदत डाली गई है उससे फार्म (रूप) तथा संरचना (स्ट्रक्चर) को अपार क्षति हुई है। हम एक ही प्रमेय (आब्जेक्ट) अथवा संघटना (फेनामेना) को यथार्थवादी विवरण, अथवा रोमांतिक भावावेग, अथवा आधुनिक बौद्धिकता की दृष्टि से पेश कर सकते हैं। अत: एक ही विषयवस्तु में दृष्टिकोण एवं पद्धति की भिन्नता रूप-शैली की भिन्नता में परिलक्षित होती है।

किन्तु पद्धति को केवल रीतिपरक कौशलों एवं कुशलताओं में ही नहीं जकड़ा जा सकता। पद्धति तो यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण से नई आवश्यकताओं को संबद्ध करने की अनवरत चेष्टा है। अत: यह संयोग (चांस) के अपवाद के बजाय चयन (च्वाइस) के विवेक को प्रमुखता देती है। अत: पद्धति एक अमूर्त आदर्श (आइडियल) का मूर्त प्रारूप (मॉडल) में कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) करती है। उपर्युक्त बातों को नज़रंदाज़ करके कभी मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन में केवल इसी प्रस्थापना का बोलवाला रहा था कि **विषयवस्तु** (कान्टेन्ट) ही **रूप** (फार्म) का निर्धारण करती है तथा रूप उस पर नितांत आश्रित है। किन्तु यहाँ इनकी 'संघर्ष-में-एकता' की अवस्था को विच्छिन्न करके बिंब-प्रतिबिंबवाद में पनाह ली जाती है जिससे एक ओर तो कलारचना का बाहरी रूप ऊबड़खाबड़ होता रहा है तथा दूसरी ओर आंतरिक कथ्य भी नारों एवं अमूर्त टाइपों में प्रभावहीन होता रहा है। केवल यही नहीं हुआ। अवसर रूप की उपेक्षा की गई क्योंकि **दृष्टिकोण-पद्धति के सातत्य** में से पद्धति को अलग-थलग कर डाला गया। आवेश के एक क्षण में रचा गया प्रगीत; कौशलसिद्धि के दस वर्षों में चित्रित किया गया लियोनार्दो-द-विंची कृत 'ईसा का प्रीतिभोज'; कई पीढ़ियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कई हजार हाथों द्वारा निर्मित किया गया खजराहो का मंदिर-मंडल; शताब्दियों से पुनरावृत्त तथा प्रचुर किया गया भरतनाट्यम् अथवा मणिपुरी रास का रूप—इन सबमें एक एकान्तिक व्यक्ति से लेकर कारीगरों के एक या कई समूहों का, एक क्षण से लेकर एक युग का, तथा एक नितांत स्वयंप्रकाश्य पद्धति से लेकर एक विराट् तकनालाजी का समावेश होता है। अतएव हमें एक और सूत्र मिलता है: **पद्धति और संरचना** (स्ट्रक्चर) के आपसी संबंध भी माध्यम की नई प्राकृतिक गुणात्मक शक्तियों का अन्वेषण करते हैं। इस क्षेत्र में मार्क्सीय संरचनावाद लेवी स्ट्रास-सम्मत संरचनावाद से ज्यादा संवर्द्धित है। पहले तो दृष्टिकोण में **प्रवृत्त्यात्मकता** (टेंडेन्शियसनेस) के प्रकट रूप को इतना तूल दिया जाता रहा कि घटना, चरित्र, वातावरण आदि सभी नीरस तथा यांत्रिक बन गए। इसलिए "सैकड़ों फूलों को फूलने दो" का रूपक कला में, तथा "हजारों चिंतनों को तर्कवितर्क करने दो" का रूपक विज्ञान में लागू करने की चेष्टा हुई। किन्तु इसे भी छोड़ दिया गया। अतः **प्रवृत्त्यात्मकता** और **विलक्षणता** की एकता कैसे की जाय, कैसे प्रवृत्त्यात्मकता का अप्रत्यक्ष ढंग से परिपाचन किया जाय, आदि मार्क्सवादी सौंदर्य विज्ञान की समस्याएँ हैं जो आत्माभिव्यंजना एवं प्रोपेगंडा के विरोधी कांट्रेडिक्शन को उच्चतर विचारधारात्मक धरातल पर समाप्त नहीं कर पाई हैं, बल्कि उल्टे स्वयं उलझती गई हैं। मुमकिन है कि इसकी एक वजह यह भी हो कि कई कलाकार सिद्धान्त रूप में तो सजे-धजे होते हैं किन्तु मानवीय व्यवहार की दृष्टि से बिल्कुल छिछले तथा अपने ही सिद्धान्त के प्रतिरोधी (भले ही अवचेतन ढंग से हों) निकलते हैं। अतः वे जीवन के सत्यों तथा कला के वैचारिक सत्यों की मैत्री नहीं कर पाते। अतः इस अभ्यासी धरातल से ही उनके संज्ञान तथा अभिज्ञान के धुंधले तथा अंधे होने की शुरुआत होती है। सार्त्र ने अपनी एक पुस्तक **'दि प्राब्लेम आफ़ मेथड'** में इस समस्या को उठाया है। यद्यपि हम उनके दृष्टिकोण से अनेक तरह से असहमत हैं, फिर भी उन्होंने एक 'सम्पूर्ण' का परिदृश्य (पर्स्पेक्टिव) दिया है। सुशाने लैंगर ने मिथकरचनात्मक दृष्टिकोण से विषयवस्तु को अनुभूति (फीलिंग) से, तथा रूप को अनुभूति के बिंब (इमेज) से प्रतिपादित करके 'अनुभूति—रूप की एकता' स्थापित की है जिससे कलाकृति का एक (अर्नस्ट कैसीरर सम्मत) **'प्रतीकात्मक रूप'** (सिम्बालिक फार्म) में अभिषेक हुआ। इस स्थापना से दूर तक सहमत होकर आगे बहुत-कुछ हासिल किया जा सकता है।

रूप तथा विषयवस्तु की एकता में अन्य कई अन्तर्विरोध हैं। वस्तु (आब्जेक्ट) ही **रूप** के उत्पादन का निमित्त होता है। अतः अगर **रूप** के विचार को प्लेटोनिक ढंग से **एक परिपूर्ण रूप** में ढालने की भ्रान्ति पर विश्वास कर लिया जाए तो वस्तु **समय** से बहिर्भूत हो जाती है। तब रूप समय का अतिक्रमण कर सकता है। इस खतरनाक प्रस्थापना में ही रूढ़िवाद छिपा है। काल और रूप के ये सम्बन्ध अनुकृति में चुकते-चुकते कृति को ही तहस-नहस कर डालते हैं। आवृत्ति और अनुकृति का नतीजा नीरसता, एकरसता, स्तब्धता, निष्क्रियता होते-होते अन्ततोगत्वा निरर्थकता और अराजकता होता है जो अन्त में सृजनात्मकता को प्रतिक्रियावादी बना डालता है। अतः निरन्तरता को चिरन्तनता की भ्रान्ति में बदल दिया जाता है। इतिहास में स्वर्णयुग की अथवा कला में कालजयी कृति की धारणाओं की संगति अगर यथार्थता के साथ नहीं बैठाई गई तो वह पारलौकिकता से संलग्न होकर पुनः इतिहास के बाहर हो जाती हैं। इतिहास के बाहर की इस अचलता की लम्बी भारतीय यंत्रणा, आतंक, अव्यवस्था और अन्धता को हम भोग ही रहे हैं! यह तो इतिहास की अनुपस्थिति के बोध की कल्पवल्ली है: रूढ़िवाद तथा प्रतिक्रियावाद के पारिजातों से खिली हुई!!

रूप एवं विषयवस्तु की एक दूजी विचित्रता तब प्रकट होती है जब इन दोनों के बीच एकता के बजाय अस्मिता (आइडेंटिटी) मंजूर की जाए। यह उपरली पहेली का ही एक दूसरा हाशिया है। यह रोमांटिक सौंदर्यदृष्टि का दोष है जिसके मुताबिक अमूर्त तथा अनुभूत भाव—माध्यम की प्रकृति तथा सीमा तथा अनुशासन पर पूर्णविधेन दिग्विजय पाकर— हूबहू, कोरमकोर, अपरिवर्तनीय अर्थात् अपने मूल-रूप में मूर्त तथा अभिव्यक्त हो सकता है। इसी तरह क्लासिकल दृष्टि का भी दोष है जिसके अनुसार रूप के अनुशासन तथा नैपुण्य के समानुपात से कोई मामूली भाव भी बिल्कुल बदलकर श्रेष्ठ बनाया जा सकता है।

लेकिन रूप-विषयवस्तु की एकता का एक गूढ़ द्वंद्वात्मक अन्तर तब उद्घाटित होता है जब मुक्तिबोध प्रसाद की **'कामायनी'** में वर्णित तंत्रसाधना, शैवानन्दवादी मोक्ष आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से खुल्लमखुल्ला असहमत होकर—'सहृदयत्व' का निषेध करके—तन्मयीभवन को चुनौती देते हैं, तथा उन्हें कलात्मक कमजोरियां बताते हैं। यहां वे एक प्रतिबद्ध पाठक के रूप में कवि की प्रत्यक्ष दार्शनिक प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) को—कलात्मकता के ही नाम पर अस्वीकारते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ कला-इतिहास में रुचि (टेस्ट) के बजाय चिन्तन (थाट) पर आग्रह हुआ है।

इसी क्रान्तदर्शी परिस्थिति की व्याख्या की लम्बी प्रतीक्षा थी। बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने इसे **'परकीयकरण-प्रभावन'** (ऐलियेनेशन इफेक्ट) की संज्ञा दी। इस तरह मध्यकालीन **'साधारणीकरण'** और सहृदय आशंसक की धारणा को खंड-खंड करती हुई **'परकीयकरण'** और प्रतिबद्ध आशंसक की मार्क्सीय धारणा के जन्म ने भरत से लेकर जगन्नाथ तक के, और अरस्तू से लेकर रिचार्ड्स तक के सौंदर्यचक्रों की धुरी तोड़ दी। यह एक महत्तम सौंदर्यबोधात्मक क्रान्ति है।

ब्रेष्ट के अनुसार जब गोएथे और शिलर यह मानते हैं कि प्रकृति के सौंदर्य तथा कला के सौंदर्य में एकता है तो वे गलत हैं, क्योंकि इनके बीच स्पष्ट अन्तर्विरोध है। अतः कलाकृति के संदर्शन और प्रदर्शन के बीच कलाकार और श्रोता, अथवा नाटककार और दर्शक के बीच भी **एकता** [सहृदयत्व (अभिनवगुप्त), निर्वैयक्तिकता (कांट), निर्लिप्तता (क्रोचे)] के बजाय **अन्तर** होता है। इसी तरह पात्रों तथा दर्शकों की विचारधाराएँ भी विभिन्न हैं क्योंकि कला की जन्मभूमि तो सुपरिगठन की विचारधारा का पालना है। अतः कला में रूप-वस्तु के बीच ही नहीं, कलाकार-आशंसक के बीच भी एकताभेद के उभयात्मक द्वन्द्व चलते हैं। अतः कलाशंसा में आशंसक को समाधिस्थ न होकर पार्टिसिपेट करना है। मूलतः विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच कला की आशंसा की असली स्थिति यही है अर्थात् आशंसक समाधिस्थ न होकर सक्रिय सहभागी है और मनोविकारातीत **'सहृदय'** न होकर एक प्रतिबद्ध **'असहमत'** है। अतः वह **साधारणीकरण-भावन** के बजाय **परकीयकरण-प्रभावन** के वृत्त में बँधता है। इस तरह यहाँ (सहृदयाह्लाद एवं तदाकारत्व के बजाय) बौद्धिक चिंतना तथा वर्गीय विभेद है। आगे तो ब्रेष्ट ने यह प्रस्थापना भी की कि श्रेष्ठ महाकाव्यों एवं नाटकों का केवल भावलोक ही नहीं होता, बल्कि उनका सामाजसांस्कृतिक तथा सामाजराजनैतिक चरित्र भी होता है। अतः केवल कुछ परिगणित भावों (त्रास एवं करुणा) तक ही सीमित रहकर आधुनिक मनुष्य अरिस्तोतेलीय 'कैथार्सिस' द्वारा उपचारित हो ही नहीं सकता। उसका मनोसौंदर्यात्मक निदान तो 'परकीयकरण-भावन' द्वारा ही हो सकेगा। परकीयकरण में केवल तदनुभूति (empathy) ही नहीं होती बल्कि **विस्मय** (astonishment) भी होता है जो तदाकारत्व के बजाय परत्व एवं दूरत्व वाली ऐलियेनेशन की प्रक्रिया को संचारित करता है। अतः परकीयकरण-प्रभावन द्वारा तात्कालिक यथास्थिति से 'असंबद्ध' (dissociate) हुआ जाता है। यह **'अतिक्रमण'** (transcendence) की प्राथमिक अवस्था भी है।

अब पुनः एक नई पहेली खुलती है : प्रतिबद्ध चिंतनभेद के रहते हुए भी सहमति की। अगर वैष्णव हजारी प्रसाद द्विवेदी कम्युनिस्ट शोलोखोव कृत 'धीरे बहो दोन, रे!' की मार्क्सवादी दुनिया की प्रशंसा करें; अथवा मार्क्सवादी नामवरसिंह वारिसशाह की 'हीर' में सूफ़ी करुणा की आशंसा करें; अथवा ज्योर्जी लुकाश रैफेल की 'मैडोन्ना' अथवा एल ग्रिको कृत 'ईसा को सूली' जैसे चित्रों की अनुशंसा करें तो रूप-वस्तु के अन्तर एक विलक्षण गहराई में खुलते हैं। यहाँ दो स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति में 'सत्य' की समस्या है। कृतियों के कलात्मक सत्यों से आशंसक असहमत हैं; तथापि वे उनकी आशंसा करते हैं। जाहिर है कि यहाँ कृति के कलात्मक सत्य पाठकों की नज़रों में निजी 'तथ्य' अथवा पूर्वाग्रही 'यथार्थ' होकर ही प्रस्तुत होंगे। अतः पाठक कलाकार के शैल्पिक कौशल की, अथवा अभिव्यक्ति की ईमानदारी की आशंसा कर रहे होते हैं। तथापि जब आशंसक और कलाकार के घोषित विश्वास भिन्न-भिन्न हों, और तब भी पाठक कृति के कलात्मक सत्यों की भी प्रशसा करें, तब कहीं-न-कहीं वे पाठकगण रूप से संबद्ध होकर स्वयं को विषयवस्तु से भरसक असंपृक्त कर रहे हैं। यह तब होता है जब एक भावयित्र कलाकार की हैसियत से पाठक कृति के कारयित्र कलाकार से हृदयसंवाद करने की **मिथ्याचेतना** के प्रभामंडल में चमत्कृत हो जाता है। तब वह अमूर्तीकरण (एब्सट्रैक्शन) के द्वारा कलाकार की अनुभूति से तादात्म्य करने को उद्धत होता है। इसीलिए भट्टनायक ने एक निष्ठावान पाठक को पार्वती-शिव की संभोग-क्रीड़ा चित्रित करते वाले महाकवि कालिदास से तदाकृत तो कराया है; किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्तीकरणों अर्थात् मात्र कान्ताभाव एवं मात्र रति के द्वारा। अतः स्पष्ट है कि यद्यपि पाठक कलाकृति की 'विशिष्टता' (पर्टीकुलेरिटी) में तल्लीन है तथापि वह उसके सामान्य प्रकथनों का खंडनात्मक विश्लेषण नहीं कर रहा है। यह सत्य के प्रति पाठक के औसत कलात्मक एप्रोच का नमूना है जहाँ वह कृति के सत्यों तथा अपने दार्शनिक सत्यों की तुलना नहीं करता; बल्कि 'विशिष्ट' कृति के कलात्मक सत्यों के अवगुंठनों को स्वाभ्यास से अनावृत्त करता हुआ वैश्वक मानवीय संवेदना तथा सामाजिक यथार्थता की वास्तविक भूमि पर आता है। ये स्थितियाँ 'कला के इतिहास' में यथार्थता के 'ऐतिहासिक रूपों' तथा कृति के 'प्रतीकात्मक रूपों' के बीच रुचि एवं निर्णय की समस्याएँ उठाती हैं। इसीलिए हम कला के इतिहास में विश्वदृष्टिकोण के आधार पर ही भिन्न-भिन्न युगों में, अथवा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों से, मूल्यांकन करते हैं। इस मूल्यांकन-चक्र में हम 'रुचि के इतिहास' तथा 'ज्ञान के इतिहास' को भी गूंथकर एक सम्पूर्ण सौंदर्यदर्शन एवं सौंदर्यविज्ञान का पैटर्न प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए पद्धति और दृष्टिकोण और संरचना के मार्क्सीय भेद-प्रभेद विकसित होते चले जाना चाहिए।

ऐतिहासिक नींवाधार-सुपरिगठन की द्वंद्वात्मक एकता के पूर्व अगर कोई ऐसा चरण रहा हो जब समाजव्यवस्था में इन दोनों का अंतर पृथक् न हो पाया हो, तब उसके संदर्भ में मनुष्य और समाज के, श्रम और सृजन के, व्यक्ति और समूह के आश्चर्यजनक संबंधों का उन्मीलन होगा। मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने इस सांस्कृतिक नृतत्त्वशास्त्र का भी उद्घाटन किया है।

ऊपर की स्थिति श्रम-विभाजन के पहले अवश्य ही प्राक्-इतिहास में थी। इस क्षेत्र में मार्क्सवादी पद्धतिशास्त्र ने मनुष्य की समस्या को उठाया है तथा यहाँ उसकी अद्वितीय उपलब्धियाँ आर्थिक से ज्यादा सौंदर्यतात्त्विक हैं।

उस आदिम अवस्था में मानवता का शैशव था और मनुष्य की जैविक इन्द्रियों को शनैः-शनैः मानव स्वभाववर्ती बनाया जा रहा था। उस समय मानवीय सत्ता का वैभव अधिसंचित (एकुमुलेट) हो रहा था। उस चरण में (स्पष्ट श्रम-विभाजन न होने के कारण) यदि एक ओर 'मनुष्य' प्राकृतिक था, तो दूसरी ओर 'श्रम' भी सामूहिक एवं सामान्य था। अतः उस व्यवस्था में मनुष्य 'सामूहिक' था (समाजवादी नहीं); और 'प्राकृतिक' भी। उस सुपरिगठन-नींवाधार की अभेदक अवस्था में वह अपनी आत्म-क्रियात्मकता को प्रकृति में प्रतिबिंबित करता था। अतः वह आत्म-निर्वासित (सेल्फ-ऐलियेनेटेड) भी नहीं था। उस चरण में मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति अधिग्रहणपरक (एक्विज़ीटिव) नहीं थी; बल्कि सृजनात्मक तथा सहयोगात्मक थी। उस चरण में मनुष्य का अपने पर्यावरण के साथ सौंदर्यबोधात्मक एवं रहस्यविस्मयात्मक सामंजस्य था। अतएव ऐसे आदिम समाजों में मनुष्य का प्रत्यक्षीकरण ही मिथकवित्वपूर्ण (माइथो-पोइक) था। उसमें आर्थिक एवं सौंदर्यतात्त्विक, सौंदर्यतात्त्विक एवं जादुई, जादुई एवं कर्मकांडी, कर्मकांडी एवं सौंदर्यतात्त्विक क्रियात्मकताएँ अन्तर्ग्रथित थीं। उन समाजों में अर्थतत्त्व (मूलाधार) तथा सौंदर्यतत्त्व (सुपरिगठन) की केन्द्रीय अस्मिता थी। यह श्रमविभाजन के पूर्ववर्ती संपूर्ण मानवीय अस्तित्व तथा संपूर्ण मानवीय सत्ता की उस सामूहिक विमुक्ति की प्रोमेथियन गाथा है जब कला ही विमुक्ति थी। विमुक्ति—चेतनता तथा सृजनात्मकता के अर्थ में!

अतः उन समाजों में कला का संबंध मानवीय गर्भाधान से भी था तो खेतों की प्रजनन-उर्वरता से भी; बर्तन सजाने से भी था और गुफा खोदने से भी। अतः सौंदर्यबोधात्मक और आर्थिक और संस्कारित—तीनों एक थे। तकनीक और कला एकैक थी। समाज और व्यक्ति एक थे। समाज और कलाकृति एक थी। तब कला का तथा मनुष्य का सुपरिगठन से अलगाव अथवा नींवाधार से अंतर्विरोध नहीं था। तब कला नींवाधार तथा सुपरिगठन, दोनों का एक समान अंग थी अर्थात् भौतिक शक्ति विचारों को जगाती थी तथा विचार भौतिक शक्ति होते थे। इसलिए कला के उद्गम में मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान श्रम तथा कर्मकांड, कर्म तथा रचना, कार्य तथा चिंतन की द्वंद्वात्मक भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कला को हमेशा अन्य विचारधारात्मक रूपों से गूंथे रहता है।

अतएव मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान में पद्धति की यह शाश्वत समस्या आज भी मौजूद है कि आर्थिक घटकों तथा सुपरिगठन के प्रमुख स्वरूपों से कला की वैसी आदिम एकता को किस भाँति उपलब्ध किया जाय! किन्तु आज इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विकास में—सुपरिगठन के आविर्भाव के साथ-साथ—कला और अर्थतत्त्व की 'अस्मिता' का दर्जा 'अंतर्विरोध' ने ले लिया है। अलबत्ता आदिम समाजों की परिस्थितियों में कला तथा कामतत्त्व की अस्मिता (फ्रायडवाद), कला और जादू या कर्मकाण्ड की अस्मिता (कैसीरर) आदि की स्थापनाएँ भी हुई हैं। लेकिन कला तथा श्रम (लेबर) की अस्मिता (मार्क्सवाद-लेनिनवाद) ही एक विश्वैतिहासिक संदर्शन रूप में व्यापक तौर पर प्रमाणित हुई है।···श्रम के कारण कला और तकनीक का, वर्ग और वर्ग का, नींवाधार और सुपरिगठन का जो विभाजन हुआ है उसने अस्तित्व (being) तथा भाविता (becoming), अस्मिता (identity) तथा आत्म-परकीयकरण (self-alienation) की समस्याएँ भी पैदा की हैं।

आधुनिक समाजों में **आत्म-परकीयकरण** या **आत्म-निर्वासन** की समस्या जबर्दस्त है। हमारे लेख में यह अंतिम समस्या है। मार्क्सवादी दर्शन तथा विज्ञान में तो इसके धनात्मक तथा ऋणात्मक, दोनों पक्ष लिये गये हैं, लेकिन मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान में इसे एक निषेध-परक संघटना के रूप में ही बेहद लिया गया है; जबकि उसे एक सृजनात्मक सिद्धांत के रूप में (उर्फ़ as a creative principle के रूप में) बेहद कम उभारा गया है। अतएव आत्म-परकीयकरण (आत्म-निर्वासन) की दशा को एक सृजनात्मक दशा में बदलना भी सबसे महान् समसामयिक चुनौती है।

इसे समझने के लिए दो हाशिये चाहिए। आदिम समाज में कला और अर्थतत्त्व, श्रम और सर्जना की अस्मिता के हाशिये को हम स्पष्ट कर चुके हैं। अस्मिताओं में अंतर विकसित होने पर परकीयकरण का आविर्भाव होने लगता है।

दूसरे हाशिये के लिए हमें पहले नवयुवक श्री कार्ल मार्क्स की कलाकार-विषयक धारणा परखनी होगी। उनके मानस में सोफोक्लीज़, यूरीपिडस और ईस्किलस जैसे यूनानी नाटककारों; होमर, दान्ते और गोइथे जैसे महाकवियों; शेक्सपियर और शिलर जैसे रंगमंच-कर्मियों; तथा लियोनार्दो, रैफेल और रेम्ब्राँ जैसे चित्रकारों के क्लासिक एवं रिनैसाँधर्मी नायक-बिंब थे। अतः उन्होंने प्रत्येक कलाकार को एक **'संपूर्ण मनुष्य'** के रूप में ही प्रतिरूपित किया है। उनका यह संपूर्ण मनुष्य ही उनके संपूर्ण 'सामाजार्थिक रूपायन' (सोशियो-इकोनॉमिक फॉर्मेशन) की धारणा से संबद्ध हुआ है।

आदिम साम्यवादी अवस्था में उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को 'कलाकार' और 'श्रमिक' पाया था। अतः उन्होंने **'प्रत्येक मनुष्य एक कलाकार, तथा प्रत्येक कलाकार एक संपूर्ण मनुष्य, तथा प्रत्येक संपूर्ण मनुष्य एक श्रमिक कलाकार'** के त्रिभुज की संरचना की। इसके द्वारा उन्होंने कलात्मक, सृजनात्मक तथा आर्थिक उत्पादकता के बीच सामंजस्य की यूटोपिया रची जिसे चे और सार्त्र और मार्क्यूस ने संभावना की कैटेगरी सिद्ध किया।

इस तरह प्रागैतिहासिक आदिम समाज और रिनैसाँई संस्कृति की धारणाओं के कांत संयोग से मार्क्स ने एक सर्वज्ञ तथा श्रमिक, संपूर्ण तथा सर्वकर्त्ता कलाकार का मॉडल प्रस्तुत किया। इस प्रारूप (मॉडल) में श्रम तथा सृजन के बीच ऐक्य है। लेकिन इतिहास के चरण में श्रम का विभाजन होते ही पहले तो कलाकार एक **'विशेषज्ञ'** (स्पेशलिस्ट) तथा **'अभ्यासी'** (एक्सपर्ट [कारीगर]) बना। फिर आधुनिक पूँजीवादी आकृतिबंध में एक अमूर्त वस्तु (एब्सट्रैक्ट थिंग) होकर 'आत्म-निर्वासित' हो गया। इसी उपक्रम में कुछ विशिष्ट एवं अभ्यासी व्यक्ति तो कलाकार हो गये तथा बाकी सारे जनसमूह में कलात्मक क्षमताओं का दमन हो गया। अतएव एक स्तर पर कलाकार एवं कलाकृति के बीच तथा दूसरे स्तर पर कलाकार एवं जनता के बीच परकीय-करण (एलियेनेशन) बढ़ा। यह दुधारी चपेट है।

तो, यह दुहरा आत्म-परकीयकरण है। पहला तो इस-लिए हुआ कि कलाकार सर्वाभ्यासी के बजाय मात्र विशेषज्ञ बन गया। अतः जिस तरह कोई कारीगर मजदूर बनकर अपने कौशल की निजता खोकर फैक्टरी में मात्र एक नीरस कर्म की जीवनपर्यन्त नकलें या आवृत्तियाँ किया करता है, मशीन का गुलाम हो जाता है, अपने श्रम में वैयक्तिक आवेग को खो देता है तथा अंत में मनुष्य के बजाय 'चीज़' या माल बन जाता है (सारांश में आत्म-निर्वासित हो जाता है); उसी तरह कलाकार—दूसरे ढंग से कलात्मक कृत्य में—आत्मपरकीय हो जाता है। कलाकार का आत्म-परकीय-करण इसलिए होता है कि मनुष्य तथा प्रकृति के संघ के रूप में, अथवा मनुष्य तथा समाज के सामंजस्य के रूप में, 'व्यवस्था' चकनाचूर हो गई है; कलाकृति रुपयों में निराकृत (एब्सट्रैक्ट) हो गई है; तथा कलाकार निजड़ा और अजनबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया है। अंततोगत्वा वह [illegible] अजनबी 'विशेषज्ञ' में संकुचित हो गया है। हमारे अधिकांश कलाकर्मी तो कला को मनोरुचि (हॉबी) से ज्यादा दर्जा देने की शक्ति एवं सम्भावना तक खो चुके हैं। शेष जनसमूह में भी उसकी आर्केटाइपल कलात्मक क्षमताओं का दमन हो गया है क्योंकि गरीबी और शुचिता के स्थान पर गरीबी और भ्रष्टाचार की एकता हो चुकी है, तथा दमन की संस्थाओं एवं पद्धतियों ने नई मानवीय दिशाओं को कुचल डाला है। फलतः आत्म-परकीयकरण के साथ-साथ एक ओर अव-मानवीयकरण (डि-ह्यूमेनाइज़ेशन) तथा अव-वैयक्तीकरण (डि-पर्सनलाइज़ेशन) की दशाएँ जुड़ी हैं तो दूसरी ओर पाशविकीकरण (ब्रूटलाइज़ेशन), अव-राजनैतिकीकरण (डि-पोलिटिकलाइज़ेशन), दासता (सर्वीच्यूड), इफ़रात (सुपरफ्लुअस) तथा छिछले (सुपरफ़ीशियल) की स्थितियाँ फैली हैं। अतः आत्म-परकीयकरण की दशा में मनुष्य ने स्वयं को, तथा प्रकृति एवं समाज को रूपांतरित करने की स्वतंत्रता खोकर गुलामी की बेड़ियाँ पहन लीं। आत्म-परकीयकरण गुलामी की वह दशा है जब मनुष्य कार्य की प्रक्रिया (प्रोसेस) तथा श्रम की प्रपत्ति (प्रोडक्ट) दोनों पर से अपना अधिकार तथा अनुराग खो देता है। तदनुसार कलाकार भी कला-माध्यमों की पद्धति तथा कला की विषयवस्तु के विवेकशील निष्कर्षों (मूल्यों) का अपना संज्ञान तथा अभिज्ञान खो देता है। इन्हें खोकर वह फूहड़ता (एब्सर्डिटी) तथा अविवेकशीलता (इर्रेशनलिटी) की अंधी दुनिया में अकेला निरर्थक सिसीफसियन कर्म करता हुआ संत्रास (हॉरर) तथा व्यथा (सफ़रिंग) भोगता है। जिस तरह परकीयकरण या निर्वासन की भौतिक अभिव्यक्ति में आर्थिक शोषण की प्रक्रिया है, उसी तरह उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति में सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक प्रत्यक्षीकरण का विलयन है। आज कलाकार एक विशेषज्ञ बन गया है, तथा कलाकृति एक बाज़ारू माल (कमोडिटी)। इसलिए कलाकार कब, क्यों और कैसे पुनः विशेषज्ञ से सर्वज्ञ या सम्पूर्ण हो सकता है अर्थात् सुपरिगठन की व्यापकता को यथाशक्ति पुनः प्राप्त कर सकता है और कलाकृति को कलात्मक मूल्यों की अमूल्यता से मंडित कर सकता है, तथा अपनी खोई स्वतंत्रता एवं विवेकशीलता को दुबारा प्राप्त कर सकता है—इनका उत्तर भी आत्म-परकीयकरण की दशा में ही अंतर्निहित है। अतः आत्म-परकीयकरण परिवर्तन का 'आंतरिक कारण' है। आत्म-परकीयकरण की दशा में दमन जितना गहरा और अतिरिक्त होता है अर्थात् आत्म-यंत्रणा जितनी तीव्र होती है, उतना ही प्रबल संघर्ष होता है अर्थात् आत्म-संघर्ष होता है। दमन-संघर्ष के इस द्वंद्व से क्रांति अथवा सृजन द्वारा एक उच्चतर स्तर पर कृति अथवा कार्य की कल्प-रचना होती है। अतः संघर्ष से विच्छुरित किया गया आत्म-परकीयकरण **नैतिकरण** की डायलेक्टिक्स है। परन्तु संघर्ष से जुड़कर यह **स्वतन्त्रता** की डायलेक्टिक्स में रूपांतरित हो जाता है।

जब आत्म-परकीयकरण की **मानवीय बंधकता** (ह्यूमन बान्डेज) यह चेतना व्युत्पन्न करती है कि यह अवस्था शाश्वत न होकर **अन-ऐतिहासिक** (अन-हिस्टोरिकल) और **अ-प्राकृतिक** (अन-नेचुरल) है और यह बदली भी जा सकती है, तब आत्म-परकीयकरण का कायाकल्प हो जाता है अर्थात् वह प्रगति का एक **'गतिशाली एवं रचनाधर्मी सिद्धान्त'** बन जाता है।

यह मार्क्स ने अपने प्रिय कवि ईस्किलस से पाया था कि लम्बे व्यथाभोग (सफ़रिंग) से ही विवेक (विज़डम) प्राप्त होता है। अतः मानवजाति को भी आत्म-परकीयत्व की गहरी सुदीर्घ टीस सहनी होगी। इसके बाद ही वह **विवेक**, तथा स्वयं को विमुक्त करने का **संकल्प** प्राप्त कर सकेगी। इसके लिए उन्होंने सिसिफ़स की फूहड़ता के बजाय प्रोमेथिअस के विप्लव को परिलक्षित किया। परवर्ती मार्क्सवादी जीवन-दर्शन तथा कर्मसंघर्ष में **'क्रांति'** और **'उल्लास'** पर इतना प्रबल तथा एकांगी आग्रह हुआ कि वह कृत्रिम तथा असंगत भी लगने लगा। समसामयिक स्थिति में तो **'क्रांति'** और **'त्रासदी'** के हाशियों का भी विराट् सत्य हमें स्वीकार करना ही होगा। यह तो स्वीकार करना ही है कि अब बिना क्रांति के हमारी विमुक्ति तथा उद्धार कदापि नहीं हो सकता, किन्तु यह करुण सत्य भी स्वीकार करना होगा कि क्रान्ति का तो रास्ता ही यातना और आतंक से होकर गुज़रता है। यह **निराशा** की नहीं, अपितु **त्याग-बलिदान** की अनुभूतियाँ हैं। माओ, चे, हो जैसे दार्शनिक कर्मठों के अलावा रेमंड विलियम्स तथा लुई आल्थुज़र ने इस नवीन समसामयिक आयाम का उन्मेष किया है। यह मार्क्सवादी दर्शन के क्षेत्र में बेहद मानवीय और बेहद भावुक संसार को शामिल करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

प्राणमुग्ध करने वाली दिशा है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह अवमानवीयकरण के प्रति जागरूक एवं सक्रिय होने का संज्ञान, भोग के बजाय बलिदान की चेतना, तथा आत्मयंत्रणा के साथ आत्म-आह्लाद का उन्मेष ही हमारा आगामी '**'युवानव' आधुनिकता बोध**' होने जा रहा है। **मार्क्स** की **सर्वज्ञ मनुष्य** की धारणा को माओ ने सर्वांगीण **संस्कृति की क्रान्ति** द्वारा विकसित किया। उन्होंने एक ओर **लाल** (कम्युनिस्ट) तथा **विशेषज्ञ** की मैत्री कायम की तो दूसरी ओर **कवि** तथा **किसान** की। इसी कड़ी में चे गुएवारा ने **लाल** तथा **गुरिल्ला** तथा **कवि** की त्रयी बनाई। अतएव अब नये मनुष्यों की संवेदनशीलता तथा गुणग्राहकता अर्थात् मनोविज्ञान भी नितांत भिन्न है। अतः इनकी सौंदर्यबोधात्मक संचेतना भी भिन्न हो गई है। ये धारणाएँ कई व्यावहारिक प्रारूपों पर टिकी हैं; जैसे, संपूर्ण समाज को एक शिक्षा-स्कूल बना देना (माओ); संपूर्ण समाज का नैतिक पुनर्निर्माण करना (चे); संपूर्ण समाज की कलात्मक पुनर्रचना करना (मार्क्यूज)। समसामयिक नये मनुष्यों के आविर्भाव की ये कुछ साक्षात् यथार्थताएँ हैं।

जिस तरह सामाजार्थिक परिवर्तनों के माध्यम में एक **अकेला मनुष्य** एक **आर्थिक वर्ग** बन जाता है, उसी तरह कलात्मक माध्यम में **कलाकार** अपनी **पूरी प्रकृति** पहचानता है। यह पहचान तब पूरी होती है जब व्यक्ति का वैचारिक पुनर्जन्म हो, समाज में क्रांति हो, या संस्कृति में नवोद्धार का सूर्य दीप्तिमान हो उठे! अपनी संपूर्ण प्रकृति को पहचानने के लिए कलाकार के सामने भी पद्धति की समस्या पेश होती है। उसका दृष्टिकोण तथा उसके कृतित्व की प्रकृति मिलकर ही उसे अपनी पूरी प्रकृति की पहचान करा सकते हैं।

स्पष्ट है कि कलाकार का सर्वमान्य दृष्टिकोण या एप्रोच **मानवीय बन्धकता से 'मानवीय स्वतंत्रता' की ओर अग्रसर होता है।** और, अब इस अग्रगमन में आत्मनिर्वासन का आत्मसंघर्षी होते चले आना आवश्यक होता जा रहा है। अगर हममें तथा तुममें मानवीय स्वतंत्रता की आवश्यकता ही विलुप्त होती चली जा रही है, अगर हम कुछ सुविधाओं की प्राप्ति को ही गुणात्मक परिवर्तन का भ्रम मान लेते हैं, अगर हम संपूर्ण व्यवस्था के साथ लड़ाई को उद्यत नहीं होते, तो अस्तित्ववादी शून्यता, अंधरूढ़िवादी राष्ट्रवाद अथवा कपटी मानवतावाद स्थापित व्यवस्था के द्वारा—संस्थाओं तथा पद्धतियों के द्वारा—हमारे चेतन तथा अवचेतन, दोनों को ही नियंत्रित दास बनाए रखेगा। तब आत्म-परकीयकरण मात्र **पाशविकीकरण** की एक शाश्वत दशा बनकर ज्यादा भयानक, आतंककारी और संत्रासपूर्ण होता चला जाएगा। त्रासदी तथा बलिदान की स्वीकृति के बगैर हम समसामयिक उद्धार नहीं पा सकते और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अंतर्गत आत्म-परकीयकरण के भोग को क्रांतिकारी तथा सृजनात्मक नहीं बना सकते। यही हमारी चिरंतन समसामयिकता है।

अतः कलाकार अपनी रचना में अपने विश्वदृष्टिकोण से मंडलाकृत प्रत्यक्षीकरण को जितने गुण या मात्रा में खोता चला जाएगा, अपनी रचनाप्रक्रिया में उद्देश्य और परकीयकरण, विरेचन और संघर्ष आदि को जितना खोता चला जाएगा, उतना ही उसकी कला में अवमानवीयकरण से उद्भूत व्यर्थता-बोध, निरर्थकता-बोध, निष्कासन-बोध, मृत्यु-बोध, फूहड़ता-बोध, संत्रास-बोध, वेदना-बोध आदि छोटे-छोटे विचारधारात्मक बिन्दुओं में थर्राएँगे। ये सभी बोध मिलकर भी क्रांति तथा बलिदान के उन्मेष तक पहुँचने में असमर्थ हैं। यहाँ भी मार्क्सवादी जीवन-दर्शन ही हमें आगे ले जा रहा है। हमारे विश्व के लोकयुद्ध तथा गुरिल्लायुद्ध इसके ज्वलंत महान् प्रमाण हैं।

अतएव **आत्म-निर्वासन** की दशा से—संघर्ष एवं उल्लास के ज़रिये—**आत्म-पुनर्वास** (सेल्फ-एसर्शन) अर्थात् 'आत्म' की पुनर्स्थापना में ही कलाकार और इंसान अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को स्वयंसिद्ध कर सकता है।

कभी मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र ने आत्म-परकीयकरण के बाल-अंकुर रोमांटिसिज़्म से लेकर ही रोपे थे। रोमांतिकवाद में मनुष्य की जो धारणा थी वह एक व्यथाभोगी प्राणी (सफ़रिंग बीइंग) की थी। 'मनुष्य इसलिए व्यथा भोगता है क्योंकि वह संवेदनशील है; और संवेदनशील होने के कारण ही मनुष्य आवेशशील (पैशनेट) प्राणी है। आवेश इंसान की वे क्षमताएँ हैं जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिये चेष्टारत हैं[३]।' किन्तु अब तक तो इसका वटवृक्ष व्यथा को बलिदान (सेक्रिफ़ाईस) में तथा संघर्ष को क्रांति (के उल्लास) में रूपायित कर चुका है।

अतएव यही शर्त है कि मनुष्य की सृजनात्मकता उन सामाजिक संस्थाओं तथा आवश्यकताओं से अस्मिता कायम करे जो स्थापित समाज-व्यवस्था को बदलने को कटिबद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रतिबद्ध हैं। व्यवहार [illegible] सिमेल की उक्त स्थापना कलाकार को अनुबद्ध (इंगेज्ड) से प्रतिबद्ध (कमिटेड) बनाने की अनिवार्यता बख्शती है। आत्म-परकीयकरण की हताशा (डेस्पेअर) का ही तो आत्म-स्वाग्रह के उल्लास में परिपाक होता है। तदपि इसके लिए सामाजिक चेतना की छलाँग आवश्यक है।

कुछ समाजशास्त्री आत्मपरकीयकरण को संगठन (आर्गनाइज़ेशन) का परिणाम मानते हैं (मेक्स वेबर); तो कुछ इसे कर्मचारीतंत्र (ब्यूरोक्रेटाइज़ेशन) में ही तिरोभूत करते हैं (कार्ल मानहाइम)। किन्तु ये दोनों तो सहयोगी कारण हैं; प्रधान नहीं।

मूलत: आत्म-परकीयकरण की आंतरिक दरिद्रता और शुचिता ही आंतरिक वैभव को जन्म देती हैं ("मैनुस्क्रिप्ट्स : १८४४")। अत: आत्म-वैभव और बाह्य संघर्ष ही अवमान-वीयकरण को समाप्त कर डालते हैं।

आत्मवैभव एवं बाह्य संघर्ष में ही 'संपूर्ण मनुष्य' तथा 'मनुष्य की संपूर्णता' (लुकाश्) निहित है। ऐसा निर्माण ही मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन तथा विज्ञान की सबसे विराट् तथा विशाल समस्या है—नये मनुष्य का निर्माण! मनुष्य की विमुक्ति!!

समापन के पूर्व समारम्भ, पुनश्च।

अपने सम्पूर्ण दीप्तिमान सूर्य के उगने के पहले छोटे तथा चमकीले दीपक अनिवार्य होते हैं।

ऐसी ही एक घटना हुई डिवसन (कैलीफोर्निया) में, मई १९७० में; जब नौ वर्ष की एक छात्रा पमेलक्रास ने, स्कूली काम के रूप में, युद्धकारी राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन को एक पत्र में लिखा कि "तुम स्कूल, कागज़, किताबों के स्थान पर युद्ध पर इतना धन क्यों खर्च करते हो?; प्रक्षेपणास्त्र वाले विधेयक को तो तुमने स्वीकृति दे दी लेकिन स्कूल-विधेयक को क्यों रोक लिया?; हवा में फैलने वाली गंदगी को रोकने के लिए तुमको कुछ करना चाहिए। अस्पतालों को भी और धन देना चाहिए।" बड़े और चतुर निक्सन ने, उसे जवाब दिया, "तुम अपने स्कूल का काम करो, तथा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों के बारे में निर्णय का काम राष्ट्रपति पर छोड़ दो।"

क्या आप इस उत्तर को धोखा और अंधेर नहीं मानते? क्या स्वयं अमरीकी छात्रशक्ति और युवाशक्ति इससे असहमत नहीं है?? क्या अमरीकी समृद्ध समाज ने एक स्वतन्त्र समाज को अवरुद्ध नहीं कर दिया है?

इसीलिए तो पमेलक्रास इस धरती के कोने-कोने में है। वह मेरी बिटिया है, तुम्हारी बहन है, उसकी दोस्त है, उसकी मरीज़ और उसकी गुड़िया है। वह बड़ी होने पर हिप्पी बन सकती है, अजीथा या निर्मला पंच दी कृष्णामूर्ति हो सकती है, वह एक कामगर युवती या एक सोहनी या नर्तकी हो सकती है, वह सब-कुछ हो सकती है क्योंकि भारत की गरीबी के उपनिवेश में अँधेरे के आतंक को चीरती हुई वह एक छोटा तथा चमकीला दीपक बनने की अनिवार्यता को मंजूर कर चुकी है। वह तो दीप्तिमान सूर्य का स्वागत करने वाली है, मड़ीदा दीवा है!!

पाद-टिप्पणियाँ

१. जोन राबिन्सन : 'दि कल्चरल रिवोल्यूशन इन चाइना', पृ० १५, पेंग्विन, इंगलैंड, १९६९।
२. 'दि रेड बुक एण्ड दि ग्रेट वाल' अलबर्टो मोराविया, पृ० ६०, पैंथर पेपरबैक, लंदन १९६९।
३. वही, पृ० ८०-८२।
४. हर्बर्ट मार्क्यूज—'लिबरेशन फ्राम दि ऐफ्लुएंट सोसायटी' लेख, पृ० १८४ डेविड कूपर द्वारा संपादित 'दि डायलेक्टिक्स आफ लिबरेशन', पेंग्विन, १९६८।
५. दे० 'कला में प्रत्यक्षीकरण : मार्क्सीय राफेलीकरण और रेम्ब्राँकरण,' पृ० ४७, —रमेश कुन्तल मेघ, 'आलोचना' पूर्णांक अक्तूबर-दिसम्बर, १९६७।
६. मार्क्स : 'मैनुस्क्रिप्ट्स : १८४४'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद

सुरेन्द्र चौधरी

यह आकस्मिक नहीं हुआ कि छठे दशक की शुरुआत के साथ अस्तित्ववाद का राजनीतिक अन्तर्विरोध काफी स्पष्ट होकर सामने आ गया। हाइडेगर ने घोषित रूप से अपने दर्शन को 'सद्दर्शन' की संज्ञा देकर इस राजनीतिक अन्तर्विरोध से अपने को मुक्त कर लिया। फ्रांस में १९५२ में सार्त्र ने 'ले ताँ मोदर्न' में कैम्यू के ऊपर जो आक्षेप किए और उनसे जो विवाद पैदा हुआ वह इसी अन्तर्विरोध का परिणाम था। '६० में कैम्यू की मृत्यु और सार्त्र की नई घोषणा के साथ इस लंबे विवाद का अन्त हो गया। इस विवाद के अन्तिम परिणाम तक पहुँचने की यात्रा में कई पड़ाव थे। वस्तुतः **इस संपूर्ण विवाद की पृष्ठभूमि उस विरोध में थी जिसमें व्यवहार और नैतिकता के सवाल को अन्तिम रूप में ये लेखक-दार्शनिक हल करना चाहते थे।** साँजुपेरी और कैम्यू की मृत्यु, हाइडेगर की तटस्थता और सार्त्र की निर्णयात्मक घोषणा ने इस सवाल को स्वतः अन्तिम परिणाम की ओर पहुँचा दिया। **यह अन्तिम परिणाम था अस्तित्ववादी दर्शन का समापन।**

शुद्ध दार्शनिक स्तर पर फोन रिन्टेलीन और हाइडेगर का विवाद जर्मनी में लगभग इसी समय शुरू हो गया था। सार्त्र-कैम्यू के बीच का विवाद उनके राजनीतिक दृष्टिकोण की टकराहट का परिणाम था। प्रतिश्रुत साहित्य के लिए यह विवाद कोरे दार्शनिक निर्णय का विषय हो भी नहीं सकता था। स्वयं सार्त्र इस विवाद का निर्णय कोरे दार्शनिक स्तर पर नहीं करना चाहते थे।[1] यास्पर्स और कैम्यू अलग-अलग दृष्टिकोण और मंतव्य से इतिहास के कुछ निर्णयात्मक सवालों पर बहस कर रहे थे। सार्त्र की रुचि इसी विषय में अधिक थी। राइन होल्डनीबुहर ने 'फ़ेथ एण्ड हिस्टरी' में इस बहस की प्रस्तावना की अच्छी रूपरेखा प्रस्तुत की है। स्पष्ट है कि छठे दशक में आकर अस्तित्ववादियों के बीच में दर्शन की विधि, स्वतन्त्रता और मानवीय व्यवहार, इतिहास और स्वतन्त्रता तथा कुछ अन्य निर्णयात्मक विषयों पर एक लंबी बहस शुरू हो गई थी। इस बहस का केन्द्र था इतिहास और मानवीय स्वतंत्रता। यह बहस अस्तित्ववाद के संभावित विकास या परिणति की रूपरेखा स्पष्ट कर रही थी।

इस लंबे विवाद के बीच कहीं सार्त्र को खुद अपना भाववाद मानवीय स्वतंत्रता और इतिहास के संदर्भ में अधूरा और अमूर्त्त-सा मालूम पड़ रहा था। यह सही है कि जिस अभिशप्त चेतना के भीतर वे सत्ता का सार (स्वतंत्रता) सिद्ध करना चाह रहे थे उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियां समकालीन जीवन की थीं। मगर यह निर्णय तब तक ऐतिहासिक नहीं हो सकता था जब तक इस 'अकारण और उद्देश्यहीन सत्ता' के बोध को वे इतिहास की भूमिका में संगत न कर लें। खुद फ्रेंच साहित्य में यूगेनी पॉतियेर से लेकर संपूर्ण वामपंथी साहित्यिक भूमिका के विरोध में पड़नेवाली ये स्थापनाएँ सार्त्र को परेशान कर रही थीं। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए बोवुआ ने लिखा है—'सार्त्र ने एक भाषण साहित्य पर और दूसरा उपनिवेशवाद पर दिया[2]।' ये दोनों भाषण अगर संकलित-अनूदित होते तो उनसे उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता था कि इस काल-खंड में सार्त्र इतिहास के निर्णयात्मक सवालों को अधिक व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने लग गए थे।

इन सारे विवादों को यूर्गेन रूहेल ने 'कम्युनिज़्म और अस्तित्ववाद' का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व कहा है[3]। स्पष्ट है कि इतिहास के संदर्भ में सार्त्र ने अपनी उस स्थापना को दुहराना बेमानी समझा था जिसमें **'आत्मचेतना'** अनिवार्य सत्य होकर रह जाती है। अस्तित्ववादी विषयी की यह निर्वैयक्तिक आत्मचेतना इतिहास में उदाहृत होने से बार-बार रह जाती थी। इसलिए अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लम्ज ऑव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेथड' में घोषित रूप में सार्त्र ने स्वीकार किया कि मार्क्सवादी दर्शन के भीतर अस्तित्ववाद एक विचारधारा है। मार्क्सवादी दर्शन के भीतर समय-समय पर स्वतंत्र विचारधाराएँ अपना अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करती रही हैं। जर्मनी में 'अन्स्र्टब्लाक' इसके उदाहरण हैं। 'नववामपक्ष' एक ऐसी ही विचारधारा है।

स्पष्ट है कि छठे दशक में अस्तित्ववाद का व्यावहारिक संकट उसे धीरे-धीरे इतिहास के मूर्त्त दायरे में खींचकर ला रहा था। **इतिहास के इस दबाव को अस्तित्ववादी सार्त्र ने सबसे खुले रूप में स्वीकार किया।** सार्त्र का अस्तित्ववाद के 'फाइटेइज़्म' से अलग होकर यह स्वीकार करना कि **'इतिहास के प्रश्न आधिभौतिक स्तर पर हल नहीं किए जा सकते'**, यह सिद्ध करता है कि इस समय में सार्त्र का संपूर्ण चिंतन अपनी व्यावहारिक परिणति की ओर सचेष्ट हो चुका था। अस्तित्ववादी दर्शन की रूपरेखा स्पष्ट करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। फिर भी कुछ मौलिक सवालों पर विचार किए बिना हम उसके विस्तार और परिणाम की सही व्याख्या नहीं कर सकते।

अस्तित्ववादी दर्शन में मूलतः इस वस्तुजगत् के सम्बन्ध में ही कुछ अमूर्त निष्कर्ष निकाले गए थे। वस्तुजगत् को साधारण (प्रतीयमान) दृश्यसत्ता के रूप में बदला नहीं जा सकता। ऐसा करना उसे आभास में परिणत कर देना होगा। स्पष्टतः इस रूप में वस्तुजगत् का सत्य स्वतन्त्र रूप में सिद्ध नहीं होता। यह ठीक है कि 'नववामपंथी' मार्क्सवादियों और अस्तित्ववादियों में कई विषयों पर सहमति है और कई ऐसे विषय हैं जिनका विश्लेषण दोनों ही लगभग समान द्वन्द्वात्मक विधि से करते मालूम पड़ते हैं। किन्तु, वस्तुजगत् की मूलभूत अवधारणा को लेकर उनमें कभी समानता नहीं रही। वस्तुजगत् की साधारण दृश्य सत्ता आभास से अधिक महत्त्व की नहीं मानी जा सकती। **इसी आभास जगत् की कच्ची पृष्ठभूमि पर अस्तित्ववादी आत्मचेतना का विराट् दर्शन तैयार करते हैं।** इस विराट् आत्मचेतना की इच्छाओं को वे पूर्ण स्वतंत्रता का नाम देते हैं। आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वतंत्रता की इस धारणा को हाइडेगर और लूकाच ने समान रूप से आलोचना का विषय बनाया है।[४] इस प्रातिभासिक जगत् और चेतना के संबंध को जिस जटिल ढंग से सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'बींग एण्ड नथिंगनेस' में देखा है उसमें न तो जगत् का ऐतिहासिक स्वरूप ही द्वन्द्वात्मक रूप में स्पष्ट हो पाता है और न आत्मचेतना का स्वरूप ही।

दृश्यसत्तावाद पद्धति नहीं है, विधि है। किन्तु यह पद्धति एक ओर हूसेर्ल के शुद्ध भाववाद में जाकर गुम हो गई है और दूसरी ओर सार्त्र के उभयवाद में। ज्याँवाल्ह ने अपने एक लेख में बड़ी सूक्ष्मता से, हाइडेगर के सन्दर्भ में, इन परिणतियों की ओर इशारा किया है।[५] **यहां आत्मचेतना बन्द सत्ता बन जाती है।** इतना ही नहीं, **यहाँ विश्लेषण के** क्रम में अनिवार्य और आकस्मिक का भेद भी लगभग सत्ता के सन्दर्भ में मिटा दिया जाता है। इस व्यक्तिबद्ध आत्मचेतना से सम्पूर्ण अस्तित्व की व्याख्या बेहद भ्रामक परिणाम उत्पन्न करती मालूम पड़ती है। यह आत्मचेतना इतिहास और स्वतन्त्रता दोनों के मूर्त क्षेत्र को धुंधला करती है। **सार्त्र के 'बींग एण्ड नथिंग्नेस' तक के विकास में इतिहास एक सिरे से गायब है।**

इतिहास की इस क्षति का कारण उनका तात्कालिक अनुभव का दर्शन ही था। अपने इस आहत पक्ष की ओर सार्त्र का ध्यान लगभग उसी समय गया जब वे अपनी पुस्तक 'बींग एण्ड नथिंग्नेस' पूरी कर रहे थे। १९४३-४६ के बीच इतिहास के प्रश्नों से वे लगातार जूझते रहे। 'वस्तुवाद और क्रांति' शीर्षक लेख इतिहास के सन्दर्भ में सार्त्र का आत्मसाक्षात्कार है। यह लेख उनकी सप्रश्नताओं का एक लम्बा दस्तावेज़ है। मगर इस लम्बे लेख में भी उनकी उलझन साफ़ हुई मालूम नहीं पड़ती। इस दृष्टि से अल्जीरियाई स्वतन्त्रता-संग्राम और लातीनी अमरीका से उनके सम्पर्क ज़्यादा महत्त्वपूर्ण कहे जाएँगे। इसी समय ब्राजील में उन्होंने 'द्वन्द्ववाद' पर कई भाषण भी दिए। अपने एक परिपत्र में उन्होंने लिखा—"यह स्वतंत्रता (अल्जीरिया की), मैं दुहराऊँगा, एक ध्रुव सत्य है। अगर कुछ अनिश्चित है तो वह फ्रांस में जनतंत्र का भविष्य है।"

इसी समय में पूँजीवादी जीवन-व्यवस्था और अर्थतंत्र से उनकी वास्तविक टकराहट शुरू हुई और इतिहास एक मूर्त, व्यावहारिक तथ्य के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत हुआ। मूर्त व्यवहारों के जगत् से हमारी आत्मचेतना का दुहरा सम्बन्ध होता है इसे सार्त्र तब जान पाए। इतिहास के भीतर वे उस आत्मसम्पूर्ण स्वतन्त्रता का क्षय अपनी आँखों देख रहे थे जिसके लिए वे प्रतिश्रुत थे। अल्जीरिया, लातीनी अमरीका,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका और भारत के मुक्ति-संग्राम के सन्दर्भ में उनकी आत्मचेतना का स्वतंत्र निर्णय निरर्थक चाहे न हुआ हो, मगर विवश ज़रूर हो गया था। यही नहीं, कई दूसरे सन्दर्भों में भी सार्त्र को ये सीमाएँ बहुत साफ़-साफ़ दीखने लगीं। युद्ध-पीड़ित फ्रांस के अनुभव तो तात्कालिक ही थे, पूरे यूरोप का आत्मसंकट भी एक आततायी अनुभव हो रहा था। ऐसी स्थिति में इतिहास को अमूर्त आत्मनिर्णय के संदर्भ में देखना उनके लिए असंभव-सा हो गया।

आदमी को अमूर्त आत्मचेतना में बदल देना जर्मन भाववाद की विशेषता रही है। सार्त्र की दार्शनिक विधि अब तक जर्मनी की ज़मीन पर ही विकसित हुई थी। वहाँ 'उत्क्षेपक आत्मचेतना' सारे विरोधों को निर्वैयक्तिक वास्तविकता (?) की ज़मीन पर हल कर लेती है। फ्रांसीसी मार्क्सवादी चिन्तक पोलित्ज़र ने अस्तित्ववादियों की आलोचना इसी विशेष सन्दर्भ में की है। उन्होंने सार्त्र की आलोचना करते हुए यह दिखलाया है कि अस्तित्ववादी अमूर्तताओं को वास्तविकता से बदलकर वास्तविक स्वतन्त्रता के सवालों से किस तरह कतरा जाया करते हैं। उनकी यह दृष्टि व्यवस्था का पोषण करती है। कैम्यू अल्जीरियायी जनता की भयावह यंत्रणाओं के सवाल से इसी तरह कतरा गया था। पोलित्ज़र ने लिखा—"अपनी नैतिक सदिच्छा के बावजूद सार्त्र का दर्शन इतिहास के जीवन्त सन्दर्भ में अधूरा ही नहीं पड़ता बल्कि एक अर्थ में इतिहास-विरोधी भी हो जाता है।"

आधुनिक मानवीय इतिहास में सत् और सत्ता का व्यवच्छेद केवल धर्म-रूपक नहीं है। वह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस व्यवच्छेद (ऐलियनेशन) को पाटने की ज़मीन शुद्ध दर्शन में प्राप्त नहीं होती। उस छद्मदर्शन में तो शायद और भी नहीं जिसमें इतिहास को नज़रअन्दाज़ करके इस सवाल को दुहराया गया हो। आदमी का अपने सत् से अलगाव धर्म-दर्शन का एक स्वतन्त्र विषय है। हम यहाँ उस दृष्टि से इस व्यवच्छेद की व्याख्या नहीं करते। इतिहास के भीतर अलगाव की यह समस्या एक दूसरे ढंग से ग्रहण की जाती है। मार्क्स ने इतिहास के भीतर उस सबसे बड़ी घटना का संकेत किया जिसमें मनुष्य और मनुष्य से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ समय के सन्दर्भ में आकर सिकुड़ गईं।

सार्त्र वस्तुतः स्वतन्त्रता की एक मूर्त पद्धति नहीं बना पाते, फलतः उनकी ज्ञान-मीमांसा ख़तरनाक है। इस ख़तरे की ओर मार्क्सवादी तथा अस्तित्ववाद-विरोधी चिन्तकों का ही ध्यान नहीं गया, स्वयं सार्त्र का भी ध्यान गया। उन्हें अपनी विधि को नए सिरे से परीक्षित-परिवर्तित करने की आवश्यकता भी मालूम पड़ी। 'प्रॉब्लम्ज़ ऑव मेथड' इसी आत्मसंघर्ष का परिणाम है। ख़ैर, यहाँ हम 'एलियनेशन' के ऐतिहासिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें। सामाजिक सम्बन्धों को व्यक्तियों के सरल सम्बन्ध में बदलकर सार्त्र ने एक तरह से समाज को एक स्वतन्त्र संस्थान की हैसियत नहीं दी। वर्तमान राज्य-विभाजित, वर्ग-विभाजित समाज व्यक्तियों का सरल सम्बन्ध या समुच्चय नहीं है। वह एक स्वतन्त्र संस्थान है। लेनिन ने राज्य के सन्दर्भ में इस तथ्य को बहुत पहले ही उजागर किया था। सामाजिक अन्तर्विरोध को जिस सरल समीकरण से सार्त्र ने अब तक देखा था, उसमें ऐतिहासिक-सामाजिक विकास के अन्तर्विरोध नगण्य हो जाते थे।[६] मानवीय सत् को इस प्रकार एक निरर्थक परिणति देकर सार्त्र ने लगभग इतिहास-विरोध का परिचय दिया था।

१९४७-६० के बीच सार्त्र की इतिहास-सम्बन्धी धारणा में जो परिवर्तन हुए वे उनके फुटकल लेखों-टिप्पणियों-वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाते हैं। यह परिवर्तन उतना आकस्मिक और सहज नहीं है जैसा वह एक नज़र में लगता है। सार्त्र अस्तित्व की वस्तुबद्धता (फ़ैक्टिसिटी) और अपनी स्वतन्त्रता की धारणा को कभी सहज रूप में संगत नहीं कर पाए। वैसे यही अन्तर्विरोध उनके बाद के विकास का कारण भी बना।

अगर मनुष्य वस्तुतः स्वतन्त्र है तो उसकी वस्तुबद्धता कोई समस्या नहीं है। और अगर आदमी अपनी सत्ता में वस्तुजगत् से बँधा हुआ है तो उसकी स्वतन्त्रता की समस्या केवल आत्मनिर्णय की समस्या नहीं रह जाती। इस सवाल पर सार्त्र ने बाद में काफ़ी गम्भीर ढंग से सोचा है। अपनी पुस्तक 'क्रीतीक द ला रेज्यों दायलेक्तीक' में वे इस सवाल से टकराते हैं। सिमोन द बोवुआ लिखती हैं—"लिसोव्स्की की प्रेरणा से सार्त्र उस बीच मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के सम्बन्ध की परीक्षा कर रहे थे। निश्चय ही इस रचना में सार्त्र वस्तुबद्धता और स्वतन्त्रता को इतिहास के भीतर परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं। मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन की ओर उनका झुकाव इसी प्रयत्न का परिणाम है।"

आँरी लेफ़ेव्र लिखते हैं—"आधुनिक मनुष्य धीरे-धीरे, एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से और वस्तुओं तथा जगत् के आक्षेप से, अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर के उस संकट से सचेत हुआ है जिसे हम उसका भीतरी व्यवच्छेद कह सकते हैं (discontinuous in himself)।" निश्चय ही इस व्यवच्छेद को इतिहास के माध्यम से या इतिहास पर आक्षेपित कर सार्त्र ने बाद की अपनी रचनाओं में पहचाना। उनकी पहचान का रास्ता काफी टेढ़ा-मेढ़ा है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस पहचान की बाधाएँ भी सार्त्र के लेखन में किसी भी दूसरे अस्तित्ववादी चिन्तक की अपेक्षा अधिक हैं। मैं जब ऐसा कहता हूँ तो मेरे ध्यान में मेरल्यो-पॉन्टी विशेष रूप से आ जाता है। लूकाच ने इस पहचान को बड़ी सफ़ाई से कान्ट और बर्गसाँ के दर्शन से उदाहृत किया है और उन अन्तर्विरोधों की भी व्याख्या की है जिनके कारण यह पहचान इतिहासेतर हो गई है। सार्त्र इतिहास के बाहर से क्रमश: भीतर की ओर आते हैं। यहीं वे बर्गसाँ से अलग होते हैं।

आधुनिक मनुष्य अपने इस अलगाव को पीड़ा और विडम्बना की मिली-जुली दृष्टि से देखता है। सार्त्र, कैम्यू, साँजुपेरी, बोवुआ आदि का साहित्य इसी मिली-जुली पीड़ादायक विडम्बना का साहित्य है। यह पीड़ादायक विडम्बना सच्चे अर्थों में सार्वभौम चरित्र की हो गई है। उसे हम आधुनिक सभ्यता की पीड़ादायक विडम्बना कह सकते हैं। यह विचित्र बात है कि दर्शन में बहुत-सी अमूर्त स्थितियों के बावजूद साहित्य में इन लेखकों ने इस अनुभव को पूरे विस्तार और सामर्थ्य से व्यक्त किया है। इस अनुभव की सैद्धान्तिक व्याख्या पॉन्टी ने अपनी रचना 'सेंस एण्ड नॉनसेंस' में की है। **आत्मविरोध का यह संकट वस्तुबद्धता के कुछ नए आयाम प्रस्तुत करता है। व्यक्ति-चेतना-विश्व के सम्बन्ध में यह संकट इतिहास का आयाम है।**

सार्त्र ने मानवीय वास्तविकता को अनिवार्यता और संयोग के बीच विचित्र ढंग से विभाजित कर दिया है। हम यहाँ उस जटिल व्याख्या में नहीं पड़ेंगे। यह व्याख्या कोई स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पाती। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके लिए संयोग (contingency) ही स्वतन्त्रता की परिस्थिति है। वे आगे चलकर इस संयोग और तथ्यबद्धता को भी एक ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[७] परिस्थिति और प्रेरणा भी अन्ततः एक हैं। इस तरह अनिवार्यता यहाँ दो संयोगों के बीच दबी-दबी दीख पड़ती है। एक संयोग तो हमारी सम्पूर्ण सत्ता का ही है, किन्तु इस संयोग के भीतर भी हम कहीं होते हैं (देश); **कभी होते हैं** (काल) **और किन्हीं गुणों के साथ होते हैं।** सार्त्र की व्याख्या के अनुसार देश-काल-गुण की विशेषता और वैयक्तिकता अपने-आप में ख़ुद एक संयोग है।[८] अस्तु अस्तित्ववादी अर्थ में होना अनिवार्यता और संयोग की अन्तक्रिया है।

इस विभाजन के साथ मानवीय वास्तविकता बड़ी भयावह हो जाती है। संत्रास इसी विभाजित मानवीय वास्तविकता की आत्मचेतना है। सार्त्र अपने साहित्य में इसे समकालीन इतिहास की पीड़ा से जोड़ने की चेष्टा करते हैं। **मगर अनिवार्यता जहाँ इतिहास का आयाम है वहाँ संयोग इतिहासेतर आयाम है।**

शुद्ध दार्शनिक ज़मीन पर भी अस्तित्ववाद की असंगतियाँ कम नहीं थीं। चेतना और आत्मचेतना का जैसा विराट् प्रपंच सार्त्र ने अपनी पुस्तक सत् और शून्य में खड़ा किया है उसकी तुलना में पॉन्टी का विश्लेषण अधिक परिपक्व और ग्राह्य माना गया। अस्तित्ववाद के समर्थकों को भी सार्त्र की अपेक्षा पॉन्टी का विश्लेषण अधिक ग्राह्य था। वस्तुतः उसका 'फेनोमेनॉलॉजी ऑव परसेप्शन' अधिक व्यवस्थित ग्रन्थ है। पॉन्टी सार्त्र का सहयोगी और मित्र था। मगर चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में ही उनका चिन्तन क्रमश: अलग-अलग दिशाओं में विकसित होने लग गया था। पॉन्टी चेतना और आत्मचेतना के विभाजन को स्वीकार नहीं करता। उसने सार्त्र के आं-स्वा (en soi) और पूर-स्वा (Pour Soi) जैसे कल्पित विभाजन को अस्वीकार करते हुए कहा—'न तो शुद्ध सत्ता की आत्मरूपता की कोई स्थिति होती है और न शुद्ध वस्तुरूपता की। अस्तित्व की गतियों में देह और मानस का संयोग हर क्षण अपनी पूर्णता ढूंढ़ता चलता है।'

मानवीय स्थिति और स्वतंत्रता का प्रकरण शायद अस्तित्ववाद का सबसे आकषक पहलू है। इसका प्रभाव सारी दुनिया के साहित्यशास्त्र पर और समकालीन चिंतन पर किसी-न-किसी रूप में पड़ा है। 'नववामपंथी' कहे जाने वाले मार्क्सवादी भी इससे प्रभावित हुए हैं। विश्व का युवा वर्ग सार्त्र के इसी चिंतन पक्ष से सबसे ज्यादा प्रभावित मालूम पड़ता है। मैं और मेरी स्थिति से मैं और मेरी स्वतन्त्रता तक का यह चिन्तनक्रम निश्चय ही कुछ लोगों को विशेष मालूम पड़ा। सार्वभौम की तुलना में विशेष का यह आग्रह ज़रूर नैतिक आकर्षण रखता है। व्यक्ति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिकता के अनुकूल होने के कारण भी इसका आकर्षण अधिक है। विशेष की इस विशिष्ट परिस्थिति को सरल शब्दों में यों समझा जा सकता है। ईश्वर की मृत्यु के साथ मानवीयता के सार का सार्वभौम रूप समाप्त हो गया। जो कुछ तब बच जाता है वह विशेष व्यक्ति का विशेष इतिहास है। यह विशेष व्यक्ति अपनी 'भावधारा के अनुसार स्वयं को जीता है।'[6] सार्त्र का यह तर्क इतना सरल नहीं है जितना मेरे अन्वय से मालूम पड़ता है। स्वतन्त्रता को वह आत्मपूर्ण मानता है। फिर भी यह स्वतन्त्रता परिस्थितियों से बँधी है। यह स्थापना उतनी मौलिक नहीं है। हाइडगेर ने ग्रीक चिन्तकों के अपने विश्लेषण में एनाखिमाइन्डर और परमेनाइडीज़ में इस अस्तित्ववादी अन्तर्दृष्टि को रेखांकित किया है।

मार्क्सवाद से अस्तित्ववाद की टकराहट के ये ही दो पक्ष हैं। अस्तित्ववाद के भाववादी रूपांतर और मार्क्सवाद से उसकी टकराहट के प्रसंग पर हम विस्तार से लिख आए हैं। अब हम उसके दूसरे पक्ष पर थोड़ा और विचार करेंगे। जैसा कि मार्जोरी ग्रीन (Grene) ने लिखा है—"(अस्तित्ववाद का) समाधान उस नैतिक मूल्य में नहीं होता जिसकी हम उससे आशा करते थे···इसके विपरीत (उनमें) हमें पुराने नैराश्य की नई अभिव्यक्तियाँ ही मिलीं।" अस्तित्ववाद की तुलना में दैनंदिन जीवन के महत्त्व और अधिकार को मार्क्सवाद अधिक व्यावहारिक पूर्णता में स्वीकार करता है। इस सम्बन्ध में हम प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ वाह्ल का एक उद्धरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। 'फ्रांसीसी दर्शन की वर्तमान स्थिति' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने लिखा—"सत्ता के प्रकृत संकट के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता एक अनिवार्यता बन जाती है। फिर भी हमें इस ओर से सचेत रहना चाहिए कि हमारा यह, हमारे दैनंदिन जीवन का स्वभाव बन गया है, अपना एक अलग दार्शनिक महत्त्व भी रखता है। हमारे दैनंदिन जीवन के अपने संतुलन भी हैं, अपनी संगति है और अपने सत्तात्मक (Ontological) व्यापार भी हैं। इस दैनंदिन जीवन को अप्रामाणिक (Unauthentic) कहना भारी भूल होगी। हम इस प्रकार साधारण आदमी के मूल्य और महत्त्व को नज़रअन्दाज़ करेंगे। यह मार्क्सवाद की विशेषता है कि उसमें दैनंदिन जीवन अधिक अधिकारपूर्ण ढंग से परिभाषित हुआ है।"

अस्तित्ववादी संत्रास ऐतिहासिक कोटि की धारणा नहीं है, आधिभौतिक कोटि की धारणा है। कुछ लोग भ्रम से इसका विनियोग ऐतिहासिक कोटि में करते हैं। मार्क्सवाद इस सनातन संत्रास के सन्दर्भ में व्यावहारिक जीवन के विरोधों की व्याख्या करना स्वीकार नहीं करता। लूकाच, गोल्डमैन, लेफेव्र, ऑगस्त कार्नू जैसे कम्युनिस्ट-ग़ैर-कम्युनिस्ट मार्क्सवादी चिन्तकों ने अस्तित्ववादी संत्रास को धर्म-दर्शन के पतन का ही रूपक माना है।

ऐतिहासिकत: कोई भी दर्शन, चाहे वह जितना भी अपूर्ण हो, इसलिए महत्त्वपूर्ण होता है कि वह अपने-आपमें एक लक्षण बन जाता है। किन्तु अस्तित्ववादी दर्शन में इस 'विशेष की ऐतिह्यता' की एक विशेष स्थिति है जिससे सामान्य व्यक्ति की पहचान लगभग असंभव हो जाती है। यह साधारण व्यक्ति अस्तित्ववादियों के अनुसार निरन्तर अपनी स्वतन्त्रता से भागनेवाला छद्म विश्वासी है, जबकि इस साधारण में ही मार्क्सवादी क्रान्ति की (और स्वतन्त्रता की भी) संभावनाएँ देखता है। यही मूलभूत विरोध उनके चिन्तन को परस्पर विरोधी दिशाओं में ले जाता है या कुछ मौलिक सवालों पर आमने-सामने ला खड़ा करता है। भोक्ता व्यक्ति की सामान्यता किसी भी स्थिति में नकारी नहीं जा सकती और न उसके उन बौद्धिक उपायों को ही नकारा जा सकता है जिनके द्वारा वह अपने अनुभवों को विश्व में प्राप्त होता है।

व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति को अस्तित्ववादी जितने निरपेक्ष ढंग से देखते हैं उसे देखते हुए तो यही लगता है कि अस्तित्ववाद सेल्फ़ की हाइपरट्राफ़ी है। उसकी स्वतन्त्रता एक अमूर्त निर्णय है और उनका सम्पूर्ण दर्शन एक वैयक्तिक व्यामोह के अलावा और कुछ नहीं है। मगर मुक्ति के इन लँगड़े निष्कर्षों के बावजूद मानवीय नियति और परिस्थिति का जैसा ऊहापोह इनके दर्शन में है उससे हमें काफ़ी हद तक अपने को समझने में मदद मिली है। फिर भी, सार्त्र की घोषणा के बावजूद, मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की संगति की कोई ज़मीन स्पष्टत: हमें नहीं मिलती।

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. ल'एक्सप्रेस, नवंबर १९५९ में सार्त्र का साक्षात्कार।
२. सिमोन द बोवुआ, फ़ोर्स ऑव सर्कम्सटैंस, पृ० ५५६।
३. यूर्गेन रूहेल, लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन (१९६९), अंग्रेज़ी अनुवाद।
४. जार्ज लूकाच, एक्ज़िस्तांशियलिज़्म एंड मार्क्सिज़्म, १९४८ (पेरी)।
५. ज्याँ वाह्ल, 'फ्रीडम एण्ड एक्ज़िस्टेंस इन सम रीसेंट फ़िलॉसफ़ीज़' —'फ़िलासफ़ी एण्ड फ़ेनॉमेनालॉजिकल रिसर्च, भाग ८, नं० ४।
६. जे० कानप्पा, 'ले'क्ज़िस्तांशियलिज़्म न'ए पा अ'ह्यूमनिज़्म', पृ० ७९. (पेरी, १९४७)
७. सार्त्र, बीइंग एण्ड नथिंग्नेस, पृ० ४८७ (अंग्रेज़ी अनुवाद)।
८. उपरिवत्, पृ० ३०८।
९. सार्त्र, बीइंग एण्ड नथिंग्नेस, स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अध्याय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेज़ी देब्रे और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ

जोआ कारतीम

लातीनी-अमरीकी क्रांतिकारी रणनीति सम्बन्धी विचार-विमर्श में रेजिस देब्रे एक मील-स्तम्भ बन गये हैं। उनके प्रबन्ध ने पुरातनपंथी कम्युनिस्ट पार्टियों के सुधारवाद और सुधारवाद पर आक्रमण करने वाले वामपंथी समुदाय के बीच विभाजन-रेखा खींच दी। ये वामपंथी भी आपस में बँटकर दो हो गये। एक का प्रमुख उद्देश्य हो गया: गोरिल्ला दस्ते का संगठन और विकास। दूसरे पुरातनपंथी तथा मृतप्राय कम्युनिस्ट पार्टियों के अत्यन्त उग्र तत्वों और आरामतलब वामपंथियों को पुनःसंगठित करने में लग गये। और कम्युनिस्ट मज़दूर पार्टी अथवा क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर दी—मानो बिना मज़दूरों के कोई कम्युनिस्ट पार्टी भी हो सकती है या कोई कम्युनिस्ट पार्टी ऐसी भी हो सकती है जो क्रान्तिकारी न हो।

देब्रे का मुख्य उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि पुरातनपंथी कम्युनिस्ट पार्टियाँ, जिनका संगठन शहरों में केन्द्रित है, सत्ता पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वहारा का नेतृत्व करने के योग्य नहीं हैं। लातीनी-अमरीकी वर्ग-संघर्ष की विशिष्ट अवस्था नये किस्म के हिरावल दस्ते और गोरिल्ला दस्ते की माँग करती है। लातीनी-अमरीका के क्रांतिकारी अनुभव को एक पद्धति प्रदान करने वाले इस प्रबन्ध का काफी प्रभाव दीख पड़ा। [देब्रे के इस प्रबन्ध का, जो पुस्तक रूप में 'क्रांति में क्रांति' शीर्षक से प्रकाशित हुई, आधार क्यूबा की सफल क्रांति है।] इस पुस्तक के प्रकाशन के एक ही वर्ष के भीतर ब्राज़ील के वामपंथी दो हिस्सों में बँट जाने को बाध्य हो गये। एक ने देब्रे के प्रतिपक्षी और दूसरे ने विपक्षी के रूप में अपने को परिभाषित किया।

देब्रे की इस पुस्तक के आधार पर होने वाली सैद्धान्तिक बहस की तीव्रता में कमी नहीं है। 'गोरिल्ला अथवा पार्टी' से सम्बन्धित सवाल ने सिद्धान्त और रणनीति के क्षेत्र में ध्रुवीकरण ला दिया और इसी अवस्था ने देब्रे के प्रतिपक्षी और विरोधी से आगे जाने की बाध्यता पैदा कर दी। परिणामस्वरूप देब्रे को नकारनेवाले उससे आगे नहीं जा सके, उससे आगे वे गये जिन्होंने उन्हें गम्भीरता प्रदान की।

आज के सच्चे क्रांतिकारी यह समझ रहे हैं कि अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व से ग्रस्त समाज में क्रांतिकारी लोक-युद्ध के कठिन रास्ते पर चलकर ही कोई विकल्प शक्ति जीत हासिल कर सकती है। इस लोकयुद्ध का सर्वोत्तम रूप गोरिल्ला 'दस्ता' है जो क्रांतिकारी जन सेना का प्रारम्भिक स्वरूप है।

प्रश्न यह उठता है कि देब्रे के प्रबन्ध को गम्भीरता प्रदान करना क्यों आवश्यक था? इसका सम्बन्ध उन व्यक्तियों से जुड़ा है जिन्होंने उसे गंभीरता प्रदान की। जिस प्रकार क्रांतिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रांतिकारी कार्य नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार क्रांतिकारी कार्य के अभाव में क्रांतिकारी सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है। किसी सिद्धान्त को अगर कार्य में परिणत नहीं किया जाय अथवा जिसकी कार्य-परिणति समाज के आमूल परिवर्तन की दिशा में न ले जाय तो वह सिद्धान्त क्रांतिकारी सिद्धान्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, कोई क्रांतिकारी सिद्धान्त किसी कार्य-परिणति का पूर्ण पूर्वानुमान कभी नहीं होता: जब हम उसे प्रगतिशील रूप में कार्यान्वित करते हैं तो उसकी सीमाएँ और अपूर्णता सामने आती है। इस प्रकार क्रांतिकारी कार्य सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित और सतत विकसित करता है। टुटपूँजिए बुद्धिजीवियों के गंदले दिमाग को ही दोनों में फ़र्क दिखलाई पड़ सकता है।

अतः जिन लोगों ने देब्रे के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने की कोशिश की और उसे गम्भीरता प्रदान करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की चेष्टा की, वे विश्वव्यापी पैमाने पर दुनिया की जनता के सबसे बड़े शत्रु अमरीकी साम्राज्यवाद से मुकाबला लेने में शोषित जनता के लड़ाकू हिरावल दस्ते, वियतनामियों के वीरतापूर्ण संघर्ष, क्यूबा की क्रांति और ग्वेवारा के उदाहरण के अनुयायी थे।

पारम्परिक संगठनों की अवसरवादिता से टूटकर अलग होने वाले ब्राज़ील के क्रांतिकारियों ने देब्रे में एक विश्वसनीय पथप्रदर्शक पाया। उन्होंने देब्रे के प्रबन्ध को अक्षरशः लिया और 'क्रांति में क्रांति' पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्त की सीमाओं को समझने में असमर्थ रहे। उन्हें ऐसा लगा कि क्रांति से सम्बन्धित सभी प्रमुख सैद्धान्तिक और सांगठनिक समस्याओं का यह पुस्तक उनके लिए हल प्रस्तुत करती है। उन्हें यह भी लगा कि इसे एक बार पढ़ लेने के बाद बस सिर्फ रायफल और नक्शे से लैस कामरेडों के साथ क्रांति की जा सकती है।

लेकिन समस्या इतनी सरल नहीं है। समस्या यह है कि किस प्रकार पुरातनपंथी पार्टी को नकारने के सिलसिले में हमारा सम्बन्ध मज़दूर वर्ग से न टूटे। किस प्रकार गोरिल्ला दस्ते को शोषित जनता का समर्थन प्राप्त हो जिसमें वह दस्ता सम्पूर्ण शोषित जनता का हिरावल दस्ता बन सके? किस प्रकार साम्राज्यवादी दमन के विजयी प्रतिरोध को ठोस रूप में खड़ा करने के लिए गोरिल्ला मोर्चों का एक सूत्र रचा सके। सर्वाधिक कठिन कार्य है इस 'गोरिल्ला दस्ते (foco) की तैयारी' और इस सम्बन्ध में देब्रे कोई दिलचस्प बात नहीं कहते। अपने विश्लेषण में वे हमेशा यह समझ बैठे हैं कि गोरिल्ला दस्ता हथियारबन्द और अन्य सामग्रियों से सज्जित किसी मोर्चे पर तैनात है।

१९६७ का वर्ष बोलीवियाई गोरिल्ला की अस्थायी हार और ग्वेवारा की हत्या जैसी महान् दुखांत घटना का वर्ष था। यह यकीन करना मुश्किल लग रहा है कि लातीनी-अमरीकी क्रांति के महान् नायक के कमान पर चलने वाले एक समूह ने इतनी सारी गलतियाँ एक साथ कैसे कीं। और गलतियाँ सिर्फ तैयारी में ही नहीं की गयी थीं बल्कि अवधारणा में भी थीं। कितना भी दुःखद क्यों न हो लेकिन इसे अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि गोरिल्ला दस्ते (foco) के समर्थन अथवा सहयोग के लिए राजनीतिक मोर्चा बनाने में ग्वेवारा ने गम्भीर राजनीतिक भूल की। इस राजनीतिक मोर्चे में सिद्धान्त और रणनीति सम्बन्धी अत्यन्त विषम खिलाफ [illegible] नौकरशाहीनुमा और अवसरवादी विरोधी समूह इकट्ठा हो गया था।

इन गलतियों से जो दुखान्त घटना देखने को मिली इसका पूर्वाभास देब्रे को नहीं था। और इन गोरिल्लाओं की वीरता के प्रति बोलीविया के किसानों की उदासीनता भी बेमिसाल थी। देब्रे के लिए समाज के विभिन्न वर्गों का विश्लेषण, विशिष्ट समूह की विशिष्ट समस्याओं और आवश्यकताओं, कार्यक्रम और नारों का सही निर्धारण आदि बातें बिल्कुल बेकार और महत्वहीन थीं। उन्होंने यह समझ रखा था कि जनता को जीतने के लिए हथियारों से लैस प्रचार एक विश्वजनीन फार्मूला है। जब तक हाथ में रायफल लेकर कोई बात न कही जाय तब तक जनता के सामने जाकर किसी के कुछ कहने का कोई अर्थ नहीं। यह साबित करने के बदले कि सर्वहारा का कार्यक्रम तभी वास्तविक विकल्प शक्ति बन सकता है जब उसकी रक्षा हथियारों से लैस होकर की जाय और इस पर ज़ोर देने की बजाय कि सिद्धान्त और कार्य द्वन्द्वात्मक रूप में एक-दूसरे पर निर्भर हैं, देब्रे ने यह समझाया कि शासक वर्ग के दमन यन्त्र के विरुद्ध संघर्ष ही सर्वहारा क्रांति के लिए जनता को अपने पक्ष में करने का पर्याप्त साधन है। अपनी पुस्तक में वे 'सशस्त्र प्रचार' और शस्त्र का प्रचार के बीच फ़र्क नहीं दिखला सके, जिससे यह पता चलता है कि मार्क्सवादी विज्ञान को उन्होंने कम करके आँका है।

हमारा ऐसा विश्वास है कि मार्क्सवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रोशनी में क्रांतिकारी कार्य की शुरुआत कभी भी की जा सकती है—उसका स्वरूप कितना भी आरम्भिक क्यों न हो।

द्वन्द्वात्मकता के कुछ नियम हैं। उनमें एक यह है कि सत्य ही समग्र है। इसकी रोशनी में विचार करने पर देब्रे का सिद्धान्त 'झूठा' ठहरता है क्योंकि वह असम्पूर्ण है। अवश्य ही देब्रे की आलोचना इस बिना पर नहीं की जानी चाहिए कि उसने क्या नहीं कहा बल्कि इस बिना पर कि उसने अपने सामने जो सैद्धान्तिक उद्देश्य रखा था उसे प्राप्त करने के लिए उसे क्या 'कहना आवश्यक' था।

देब्रे एक विशिष्ट किस्म के आचार्य हैं यानी वह एक मार्क्सवादी 'बुद्धिजीवी' हैं। एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी राजनीतिक कार्यकर्ता भी हो सकता है। देब्रे वह नहीं हैं। कोई भी बुद्धिजीवी कितना भी निरीक्षण और अध्ययन करे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

क्रांतिकारी समस्याओं और उद्देश्यों एवम् कार्यों से सम्बन्धित उसका मूल्यांकन हमेशा 'बाहरी' ही कहा जायगा। क्योंकि उसने उन्हें अपनी तात्कालिक समस्याओं के रूप में नहीं जिया है जिस पर उसके अपने संगठन के जीवित रहने का सवाल निर्भर हो। गोरिल्ला अथवा पार्टी, पार्टी के हथियारबन्द अंग अथवा गतिशील सामरिक महत्त्व के रूप में गोरिल्ला, ग्रामीण तथा शहरी गोरिल्ला, अतीत के अनुभव और वर्तमान की सीख—इन्हीं अवधारणाओं को लेकर बुद्धिजीवी देब्रे ने विचार किया है। देब्रे ने बहुत सारे ऐसे प्रतिपादन किये हैं जो आश्चर्य में डाल देते हैं। अपनी पुस्तक 'क्रांति में क्रांति' में पृ० ७५ पर उन्होंने एक उदाहरण दिया है कि 'पहाड़ और जंगल बुर्जुवा और किसान को सर्वहारा बना देते हैं और नगर सर्वहारा को बुर्जुवा बना देता है। यह आश्चर्य में डाल देने वाली मूर्खता है। इस कथन को आसानी से नकारा जा सकता है: पेत्रोग्राद के बुर्जुवा सर्वहारा ने अक्तूबर क्रांति की ओर स्पेन की नागरिक सेना दो वर्षों तक माद्रिद में फ़ासिज्म के प्रतिरोध में वीरतापूर्ण ढंग से लड़ती रही।

देब्रे द्वारा इस्तेमाल किये गये मुहावरों का जिसमें देब्रे की प्रतिपादन शैली की रूढ़िवादिता शामिल है, अक्षरशः अर्थ निकालने से गोरिल्ला दस्ते की कारवाई के आरम्भ से पहले की तैयारी की अवधि, स्वतःस्फूर्त जन आंदोलन की अवधारणा, हथियारबन्द प्रचार की प्रभाव-क्षमता का मूल्यांकन, सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण के दरम्यान वितण्डावाद और रीतिवाद और अन्ततः हिरावल दस्ता और क्रांतिकारी वर्गों के संगठन में सैन्यवाद का रूप आदि से सम्बन्धित गलत विचार फैलते हैं।

गोरिल्ला दस्ता की तैयारी की अवधि

देब्रे अपनी कृति (क्रांति में क्रांति) में कहीं भी गम्भीरता से यह सवाल नहीं खड़ा करते हैं कि गोरिल्ला दस्ते की तैयारी कैसे की जानी चाहिए और इसकी तैयारी कौन करेगा। "कार्य-पद्धति यह बतलाती है कि यह समस्या बुनियादी है।" एक तरफ तो देब्रे चीनी अथवा वियतनामी क्रांति युद्ध की तरह लातीनी-अमरीका में यांत्रिक रूप से युद्ध शुरू करने की तीव्र आलोचना करते हैं और दूसरी तरफ क्यूबा के अनुभव की हू-ब-हू नकल करने की वकालत करते हैं।

देब्रे ने 'पार्टी' और 'गोरिल्ला' को दो अमूर्त अस्तित्वों के रूप में देखा है। इसी से देब्रे की सबसे बड़ी कमजोरी प्रकट होती है। पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किये गए विश्वासघातों और भटकाव को पार्टी के संगठनात्मक रूप पर थोप दिया जाता है मानो उनके संगठनात्मक रूप ने ही उनमें राजनीतिक भटकाव पैदा किया है, जबकि बात इसके प्रतिकूल है। भौतिकवादी द्वन्द्वात्मकता का इस्तेमाल करने और कार्यक्रम और पार्टी, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त और संघर्ष के व्यावहारिक ढंग की परस्पर निर्भरता का अध्ययन करने के बदले और बिना यह साबित किये कि सुधारवादी सिद्धान्त ही सुधारवादी कार्यों को 'उचित' ठहराता है, देब्रे ने पार्टी संगठन के स्वरूप से ही अवसरवादी रणनीति और टुटपूंजिए बुर्जुवा भटकाव का निष्कर्ष निकाल लिया।

हमारे सामने लेनिनवाद की स्थायी विरासत है जिसे देब्रे नहीं पचा सके हैं। यही कमी उनकी गलतियां खोलती है। वह विरासत है: वर्ग-संघर्ष की हरेक मंजिल पर और हरेक अवस्था में क्रांतिकारी रणनीति का प्रतिपादन। लेनिन ने वर्ग-विश्लेषण, राजनीतिक लाइन की व्याख्या और हिरावल दस्ते के संगठन के स्वरूप को अलग करके कभी नहीं देखा। देब्रे ने ऐसा नहीं किया है। लेनिन संरचना और संयोग की अवस्था के बीच, विश्व पैमाने पर रणनीति के उद्देश्यों और प्रत्येक अवधि में प्रत्येक क्षेत्र के संघर्ष के विशिष्ट उद्देश्यों के बीच के फर्क को कभी नहीं भूले।

क्रांतिकारी युद्ध की सम्पूर्ण प्रक्रिया में गोरिल्ला 'दस्ता' (foco) की तैयारी का महत्त्व अन्य पहलुओं के बराबर है। यह एक आधारभूत कार्य है। देब्रे इस पर कोई जोर नहीं देते। वे इसे क्रांतिकारी प्रक्रिया की एक अवधि के रूप में नहीं लेते हैं बल्कि यह समझते हैं कि यह क्रांति के पूर्व का इतिहास है। यानी अपनी पुस्तक 'क्रांति में क्रांति' के अंत के हिस्से में वह स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि 'सैनिक दस्ता (foco) की स्थापना के बाद राजनीतिक आंदोलन की ओर बढ़ना चाहिए। अतः जिन क्रांतिकारियों के सामने यह सवाल है कि हम क्या करें? उनके लिए देब्रे का सीधा जवाब है: सैनिक 'दस्ता' बनाओ। और रणनीति सम्बन्धी इस सवाल, कि इस सैनिक दस्ता की स्थापना किस प्रकार की जाय, का भी उतना ही सीधा जवाब है: ऐसे कैडर इकट्ठा करो जिन्हें सैनिक प्रशिक्षण हो और जिनके पास धन, हथियार तथा अन्य सामग्री हो, कारवाई किये जाने के लिए चुने गये क्षेत्र में डिपो बनाओ,

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त भू-भाग की पड़ताल करो और शत्रु के पहुँचने की प्रतीक्षा करो जो तुम्हें युद्ध में रत कर दे। देब्रे यह नहीं देख पाते हैं कि कोई भी क्रांतिकारी संगठन, जो गोरिल्ला युद्ध को तेज करना चाहता है, के सामने ऐसे सवाल महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इससे भी बदतरीन स्थिति यह है कि सैनिक कार्यों के 'राजनीतिक प्रभाव' पर ही केवल जोर डालने से सैनिक संघर्ष की राजनीतिक समस्याएँ पीछे छूट जाती हैं, क्योंकि गोरिल्ला की समस्या यह जानना नहीं है कि भाड़े की सेना पर किस प्रकार गोली चलाई जाय बल्कि यह कि गोली चलाने का कार्य किस प्रकार किया जाय जिससे क्रांतिकारी वर्ग यह महसूस करे कि (१) गोली 'उसके हिरावल' दस्ते ने चलाई है और (२) वह गोरिल्ला दस्ता द्वारा चलाये जाने वाले प्रचार के हरेक स्तर पर हरेक तरह से हिस्सा ले।

सुधारवादी भीरु व्यक्तियों के लिए देब्रे का नुस्खा इस प्रकार है: हिरावल दस्ता घात लगाकर हमला करे, प्राणदण्ड दे, सम्पत्ति का अपहरण करे और राजनीतिक-सैनिक कार्यों को आगे बढ़ाये। हमारा कहना है कि समस्या को इस तरह खड़ा करना दुर्भाग्यपूर्ण है। सुधारवादियों का जवाब सशस्त्र संघर्ष नहीं है। जो इसकी तैयारी कर रहे हैं वे इसे अच्छी तरह समझते हैं। उनके सामने मुख्य कठिनाई यह नहीं है कि सशस्त्र कार्यों की शुरुआत किस प्रकार करें या गोरिल्ला कार्रवाई आरम्भ करने वाले कैडर किस प्रकार उक्त क्षेत्र में भेजे जाएँ बल्कि यह कि "एक सही और सुनिश्चित, रणनीति के अन्तर्गत यह गोरिल्ला कार्य कैसे शुरू करें।"

देब्रे ने अपनी पुस्तक में जिस तथ्य की उपेक्षा की है वह यह है कि क्रांतिकारी युद्ध के लिए तैयारी की अवधि वर्ग-संघर्ष की एक 'विशिष्ट अवस्था' है जिसके अपने नियम हैं और अपनी आवश्यकताएँ हैं और वह सर्वहारा क्रांति के ऐतिहासिक उद्देश्यों की अपने पर जवाबदेही लेने वाले राजनीतिक संगठन से यह माँग करती है कि वह मार्क्सवादी ढंग से, यानी जो वैज्ञानिक और क्रांतिकारी ढंग है, इसका संचालन करे।

गोरिल्ला दस्ता सर्वहारा हिरावल दस्ते की सामरिक गतिशील टुकड़ी है। यह वर्ग-संघर्ष का श्रेष्ठ स्तर है और इस स्तर को प्राप्त कर सर्वहारा हिरावल दस्ता यथार्थ में अपने को सर्वहारा हिरावल दस्ता के रूप में संघटित करता है। लेकिन मुख्य संघर्ष ही एकमात्र संघर्ष नहीं है और जो संगठन एकमात्र रूप से मुख्य संघर्ष को ही अपना संघर्ष मानता है वह शासक वर्गों से मुकाबले की अवधि में जन-समूह से कट जाता है, अलग-थलग हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि क्रांतिकारी संगठन को पहले प्रचलित संघर्ष के सभी रूपों में हिस्सा लेना चाहिए और बाद में चलकर, वर्ग संघर्ष के 'अंतिम क्षण' में सामरिक कार्रवाई शुरू करनी चाहिए। इस प्रकार का विचार भ्रष्ट नौकरशाहों के दिमाग की उपज ही हो सकती है जो आरामतलबी से वर्ग संघर्ष में हिस्सा लेने की इच्छा रखते हैं और सत्ता पर अधिकार करने के क्षण आने पर ही अपनी कुर्सी छोड़ना चाहते हैं। जो ऐसा सोचते हैं उनके लिए तो ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिस पर उन्हें अधिकार करना है। जब हम इसे नकारते हैं कि क्रांतिकारी संगठन को एकमात्र रूप में सामरिक कार्रवाई की दिशा में गोरिल्ला दस्ता की कार्रवाई में ही लग जाना चाहिए तो इसका अर्थ यह है कि इसके साथ ही हम दो तरह के भटकाव को भी नकारते हैं:

(1) Putschism—blanquism अथवा सैन्यवाद को नकारते हैं जो यह समझता है कि शासक वर्ग के दमनकारी यंत्र के निर्णायक मुकाबले का कार्य केवल हिरावल दस्ते का है जिसका अर्थ यह हुआ कि वर्ग की बजाय हिरावल दस्ता क्रांति कर सकता है।

(२) स्वेच्छावादिता (Spontaneism) को भी नकारते हैं जिसका दावा यह है कि जन समूह स्वतः गोरिल्ला दस्ता के साथ हो जायगा और गतिशील सामरिक टुकड़ी को स्वतः अपना हिरावल दस्ता मान लेगा।

ब्राज़ील में क्रांतिकारी युद्ध की तैयारी के अनुभव ने इन भटकावों के खतरे को स्पष्ट कर दिया है और उनसे बचने का रास्ता भी दिखा दिया है।

अनेक व्यक्तियों ने अपने कार्यों के दरम्यान एक बुनियादी सिद्धांत की उपेक्षा की है, और इनमें देब्रे भी शामिल हैं। वह सिद्धान्त यह है कि गोरिल्ला कार्य क्रांतिकारी कार्य का आरम्भ नहीं है। देब्रे की संकीर्ण व्याख्या करने वाले ही सिर्फ यह समझते हैं कि गोरिल्ला कार्रवाई के पूर्व के सारे राजनीतिक कार्य अवसरवादी हैं और इसका नतीजा बोलीविया में क्रांति करनेवाले ग्वेवारा और उनके कामरेडों को भुगतना पड़ा।

इसीलिए हमें एक ऐसे क्रांतिकारी संगठन की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो गोरिल्ला युद्ध को सम्पूर्ण जनता के युद्ध का रूप दे सके। इसका मुख्य उद्देश्य सामरिक कार्रवाई की दृष्टि से गोरिल्ला दस्ते का निर्माण करना तथा उसे विकसित करना है, लेकिन उसका व्यापक उद्देश्य है उसे समग्र जनता के युद्ध में बदल देना। इससे स्वेच्छावादिता के समर्थकों का वह दावा सिद्ध नहीं होता कि सभी प्रकार के प्रचलित संघर्ष गोरिल्ला दस्ता के लिए सहायक सिद्ध होंगे। गोरिल्ला दस्ता के सहायक तत्त्वों की सतर्क योजना होनी चाहिए, यानी हिरावल दस्ता और जनता के बीच सम्पर्क सूत्रों का निर्माण क्रांतिकारी कार्य के बुनियादी नियम के अनुसार किया जाना चाहिए। हिरावल दस्ते को जनता से कदम भर ही आगे होना चाहिए—न इससे अधिक और न कम। ऐसी बात नहीं है कि हिरावल दस्ते द्वारा संघर्ष शुरू किये जाने और आगे बढ़ाने के बाद "यह जनता का काम है" कि वह उसके साथ हो ले बल्कि हिरावल दस्ते का यह काम है कि वह अपना संगठन इस प्रकार करे कि जनता की क्रांतिकारी शक्तियों में ध्रुवीकरण पैदा हो। हिरावल दस्ते को वर्ग-संघर्ष की ठोस प्रक्रियाओं से कटकर अलग होना नहीं है, उसे आरम्भ से ही यानी गोरिल्ला दस्ते की तैयारी की अवधि से ही क्रांतिकारी वर्गों में अपना ठोस आधार बनाना है। इस ठोस आधार का रूप सांगठनिक हो अथवा राजनीतिक, लेकिन किसी भी हालत में इसे मजदूरों, किसानों और मध्यवर्ग के उस हिस्से के, जिसका स्वार्थ सर्वहारा की क्रांति से जुड़ा है, जन आंदोलन के लिए सही लाइन का प्रतिनिधित्व करना है।

हथियारबन्द प्रचार की प्रभाव-क्षमता की अतिरंजना

इस प्रकार हमने यह देखा कि देब्रे ने अपनी पुस्तक में सशस्त्र प्रचार और शस्त्र के प्रचार के बीच का भेद नहीं दिखाया है। देब्रे का कहना है: सैनिक कार्रवाई के बाद आता है सशस्त्र प्रचार का कार्य, न कि उसके पहले। मुख्य बात यह है कि वर्तमान अवस्था के अन्तर्गत सफल सैनिक कार्रवाई ही प्रचार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप है (देखिये क्रांति में क्रांति, पृ० ५६)। दूसरे शब्दों में देब्रे यह कहना चाहते हैं कि हिरावल दस्ते को पहले अपनी 'सैनिक कार्रवाई' के आधार पर जनता को जीतना चाहिए और बाद में 'राजनीतिक' रूप में। शासक वर्ग के दमनकारी यंत्र के विरुद्ध अपने संघर्ष के आरम्भ में हिरावल दस्ता केवल अपने प्रति जिम्मेदार होता है। देब्रे के कथन में शायद यह भी छिपा है कि देश का किसान वहाँ के पहाड़ और जंगल की तरह महज उसका एक हिस्सा है। भाषा हथियार की होती है, केवल हथियार की। बोलीविया में कुछ ऐसा ही हुआ और वहाँ के किसान ग्वेवारा और उनके कामरेडों के वीरतापूर्ण संघर्ष को समझ नहीं सके। हालाँकि ग्वेवारा को हमेशा यह महसूस होता रहा कि उन किसानों को अपने पक्ष में जीतना आवश्यक है। इसका जिक्र ग्वेवारा ने अपनी डायरी में किया है। १९६७ के मई महीने में लिखी गयी अपनी डायरी के अंश में उन्होंने उल्लेख किया है कि उस अवधि की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह थी कि उन्हें 'किसानों के सहयोग का नितांत अभाव था।' किसानों का विश्वास जीतना 'मन्द चरण और धैर्य का काम है।' सैनिक कार्रवाई की गूंज, गोरिल्ला दस्ते की लड़ाई की क्षमता, आत्मत्याग और साहस अपने आप में पर्याप्त हों भी तो वे हिरावल दस्ते के गिर्द जनता का ध्रुवीकरण करने में अयोग्य अथवा अक्षम होंगे।

न तो सैनिक सफलता के अभाव की बिना पर यांत्रिक रूप से राजनीतिक असफलता को समझ सकते हैं और न राजनीतिक असफलता ही यांत्रिक रूप से सैनिक ह्रास का कारण बतला सकती है। इन दोनों पहलुओं का आपस में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। वह इस प्रकार है कि अगर सैनिक सफलता को राजनीतिक सफलता का रूप नहीं दिया गया तो वह सैनिक सफलता निरर्थक सिद्ध होती है और अगर राजनीतिक कार्य सैनिक कार्य की ओर आगे नहीं बढ़ता तो उस राजनीतिक कार्य का भी कोई मानी नहीं है।

देब्रे की मान्यता के प्रतिकूल वर्तमान अवधि में लातीनी अमरीका में चल रहे वर्ग-युद्ध की विशिष्टता यह नहीं है कि सैनिक कार्रवाई के बाद राजनीतिक कार्य किये जा रहे हैं (इस तरह की कार्रवाई को Blanquism, putschism अथवा सैन्यवाद कहते हैं) बल्कि साम्राज्यवादी और उसके स्थानीय प्रतिनिधियों के वर्ग प्रभुत्व का जहाँ जोर है उसके सम्मुख शोषित वर्ग के लिए आरम्भ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष चलाने के अलावा कोई दूसरा राजनीतिक विकल्प नहीं है। ग्वेवारा के शब्दों में अगर उन्हें 'किसानों के अपने प्राचीन सम्बन्ध से बने सहयोग' प्राप्त नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी दमन यंत्र सामरिक स्तर पर गोरिल्ला दस्ते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपने घेरे में कर लेंगे और किसी स्वैरी की असीम वीरता भी उसे नहीं बचा पायेगी क्योंकि हथियारों के आँख नहीं होती।

देब्रे की गलती यह थी कि उन्होंने हथियारबंद कार्यों को अपने-आप में ही प्रचार मान लिया।

वर्ग शत्रु के दमन यंत्र के विरुद्ध मुख्य संघर्ष आरम्भ करने का अर्थ यह है कि गोरिल्ला और उनके सहयोगी वास्तव में सम्पूर्ण शोषित जनता के सम्मुख विकल्प सर्वहारा शक्ति का रूप खड़ा कर रहे हैं। शोषितों की चेतना में इस वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया को प्रतिबिंबित होने के कई उपाय हैं। इर्द-गिर्द अगर गोरिल्ला दस्ता हो तो ऐसी संभावना है कि लोग उसका महत्त्व समझें। लेकिन शायद ऐसा संभव नहीं है कि इर्द-गिर्द के सारे लोग घायल गोरिल्ला की मदद में पहुँच जायें। संभावना कौन-सा रूप लेगी यह इस बात पर निर्भर है कि सर्वहारा किसान और किसानों की प्रत्येक श्रेणी में विभिन्न स्थानों में वर्ग-संघर्ष की वस्तुनिष्ठ अवस्था क्या है और सर्वहारा क्रांति से जुड़े वर्गों के सम्मुख हिरावल दस्ता अपने संघर्ष को किस 'रूप' में प्रस्तुत करता है।

हथियारबंद प्रचार से संबंधित देब्रे के प्रबंध की जो सबसे बड़ी विचित्रता है और जो उसके यांत्रिक और द्वंद्वात्मकता-विरोधी स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है वह यह है कि वह राजनीतिक और सैनिक कार्य के बीच अमूर्त विरोध खड़ा करते हैं। और अपने इस प्रबंध को उचित ठहराने के लिए वह राजनीतिक कार्य पहले आरंभ किये जाने और बाद में सैनिक स्तर तक पहुँच जाने को असम्भव बतलाते हैं। उनके अनुसार हथियारबंद प्रचार को सैनिक कार्रवाई के पूर्व और विशिष्ट मंज़िल मानने का मतलब होगा शत्रु को अनावश्यक रूप से उकसाना······लातीनी अमरीका के अधिकांश देशों के किसानों की मौजूदा सामाजिक, सैद्धांतिक और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं में किसी भी प्रचार दल पर, हथियारबंद हो या न हो, निगरानी रखी जायगी और उसका पता कर खात्मा कर दिया जायगा, भले ही उसका रूप आरंभिक क्यों न हो··· (देखिए 'क्रांति में क्रांति' पृ० ५६)। इस कथन से दो सम्भावनाएँ सामने आती हैं: हथियारबंद प्रचार, जो राजनीतिक-सैनिक कार्रवाई नहीं है, से देब्रे का क्या मतलब है इसकी जाँच करना। और दूसरा यह कि गोरिल्ला युद्ध में राजनीतिक और सैनिक पहलू के बीच के संबंध का सही उत्तर न तो वह है जिसकी देब्रे तरफ़दारी करते हैं (यानी यह कि राजनीतिक कदम के पहले सैनिक कदम जरूरी है), न ही वह है जिस पर देब्रे प्रहार करते हैं (यानी यह कि राजनीतिक कार्य के बाद सैनिक कार्य आता है)। इसका सही उत्तर यह है जिसका जिक्र देब्रे नहीं करते हैं कि क्रांतिकारी संघर्ष आरंभ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष का मिला-जुला रूप है। ये दोनों कार्य एकबद्ध हैं। हम देब्रे की अवधारणा संबंधी भूलें ऊपर बतला चुके हैं जिससे उनकी इस गडमड स्थिति का पता मिलता है। देब्रे यह दिखला पाने में असमर्थ हैं कि सुधारवादी कम्युनिस्ट पार्टियों के अवसरवादी कार्य ही वे आधार हैं जो पार्टी के सांगठनिक रूप की अवसरवादिता का रहस्य खोलते हैं, लेकिन ऐसा करने की बजाय वे यांत्रिक रूप से संगठन के सैनिक रूप में क्रांतिकारी राजनीति खोज निकालने की चेष्टा करते हैं।

जन आंदोलन के स्वेच्छावादी रूप की अवधारणा

देब्रे के अनुसार सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता है जो जन सेना का आरंभिक रूप है। उनके अनुसार कोई (राजनीतिक) मोर्चा इसका संगठन नहीं करता है बल्कि गोरिल्ला दस्ता ही राष्ट्रीय क्रांतिकारी मोर्चे को रूप देता है। देब्रे का यह भी कहना है कि जो कुछ **मौजूद** है उसी के आधार पर मोर्चा बनाया जाता है, न कि केवल मुक्ति के कार्यक्रम के आधार पर। (देखिए 'क्रांति में क्रांति' पृ० ८२)

इसमें संदेह नहीं कि जन-आंदोलन के स्वेच्छावादी रूप से संबंधित संग्रह में देब्रे का यह कथन स्थान पाने योग्य है। लेकिन जैसा कि गलत विश्लेषण में अक्सर होता है, देब्रे भी गलत विकल्प से आरम्भ करते हैं।

देब्रे की इस योजना से यथार्थ कहीं ज्यादा जटिल है क्योंकि गोरिल्ला दस्ता विकसित होकर जो रूप लेगा वह कोई मोर्चा नहीं होगा बल्कि वह जन सेना होगी। और सेना सेना होती है मोर्चा नहीं।

देब्रे का तर्क हमें और आगे उलझाव की ओर ही ले जाता है। देब्रे जब यह कहते हैं कि सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता है तो इससे उनका मतलब यह है कि गोरिल्ला दस्ता ही हिरावल दस्ता संगठन का प्राथमिक रूप है। इसके पूर्व या इतर हिरावल दस्ता नाम की कोई चीज नहीं है और इसका विकास हिरावल दस्ता के रूप में तभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है जबकि उसका अस्तित्व देहात में है। यहाँ हमें हिरावल दस्ता की भूमिका और वर्ग की भूमिका के बीच खेदजनक उलझाव मिलता है। देब्रे यह नहीं देख पाते हैं कि यद्यपि **ग्रामीण क्षेत्र में ही** हिरावल दस्ता सत्ता पर अधिकार करने के लिए जनता को संगठित कर सकता है (क्योंकि इसके बाद ही मजदूर वर्ग शहर में सत्ता पर अधिकार कर सकता है), लेकिन वह **शहर ही** है जहाँ वह अपना संगठन कर सकता है और हिरावल दस्ता संगठन के रूप में अपनी मोर्चाबंदी कर सकता है। जिस तरह गोरिल्ला दस्ता के बगैर किसान वर्ग अपने को क्रांति के लिए संगठित नहीं कर सकेगा, उसी प्रकार नगर में राजनीतिक-सैनिक हिरावल दस्ता के बिना सर्वहारा न तो गोरिल्ला दस्ता की सामरिक कारंवाई को प्रभावशाली मदद पहुँचा सकता है और न हथियारबंद किसान वर्ग को ही। ऐसी स्थिति में सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता (foco) नहीं बल्कि हिरावल दस्ता संगठन है और गोरिल्ला दस्ते का निर्माण और विकास उसके सामरिक महत्त्व का कार्य है। हिरावल दस्ता सर्वहारा क्रांति से यथार्थ में दिलचस्पी रखने वाले वर्गों के सभी प्रकार के संघर्ष का नेतृत्व करेगा और इसी रूप में वह हिरावल दस्ता उस गोरिल्ला दस्ता को प्रभावित करेगा।

सामाजिक विश्लेषण में रूपवाद और संगठन सैन्यवाद

'क्रांति में क्रांति' पुस्तक लेनिनवादी अर्थ में रणनीति से सम्बन्धित पुस्तक है। इसका सम्बन्ध इस विषय से है कि क्रांति कैसे की जाय। 'अतः इसकी हरेक पंक्ति से इस प्रश्न के ठोस जवाब की अवश्य आशा की जानी चाहिए कि पूंजीवादी राजसत्ता को किस प्रकार गिराया जाय।'

इस पुस्तक में वे हथियारबंद संघर्ष की दो विशिष्ट युक्तियों की जाँच पेश करते हैं : (१) हथियारबंद आत्मरक्षा, (२) गोरिल्ला आश्रय। जहाँ तक केवल युक्तियों का प्रश्न है देब्रे का विश्लेषण सर्वोत्तम है। लेकिन ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिसका सम्बन्ध रणनीति से न हो, और ऐसी कोई रणनीति नहीं है जिसका कड़ा निर्धारण प्रतिरोधी शक्तियों के स्वरूप और उनकी संघर्ष क्षमता पर निर्भर न हो। अतः यह आवश्यक है कि लातीनी-अमरीकी क्रांति की रणनीति के सन्दर्भ में देब्रे की युक्ति दृष्टि की जाँच की जाय।

युक्तियों का प्रमुख उद्देश्य होता है क्रांतिकारी प्रक्रिया के विशिष्ट स्तर पर (मंज़िल पर) संघर्ष का मुख्य रूप निश्चित करना। सैद्धान्तिक स्तर पर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लातीन-अमरीका के विभिन्न कम्युनिस्ट संगठनों द्वारा प्रयोग में लाई गई विभिन्न युक्तियों की कमियों का विश्लेषण करते हुए देब्रे अनुभवजनित ढंग का प्रयोग करते हैं। अपने इस ढंग में वह अवसरवादी युक्तियों को नकारते हुए आगे बढ़ते हैं और परिणामतः संघर्ष के मुख्य रूप का निर्धारण गोरिल्ला दस्ता के रूप में होता है जो क्रांतिकारी हिरावल दस्ता की सामरिक गतिशील टुकड़ी है। अगर इस अंतिम परिणाम को सही मान भी लें तो इस प्रणाली की कमज़ोरी यह है कि इससे सिर्फ यह प्रकट होता है कि क्यों अवसरवादी युक्तियां उपयोगी नहीं होतीं। और पुस्तक के अंत में पाठक को यह एहसास होता है कि गोरिल्ला युद्ध इसलिए आवश्यक है क्योंकि अन्य उपाय सफल नहीं हुए। ऐसा नहीं महसूस होता कि गोरिल्ला युद्ध सही ढंग है। ऐसा प्रभाव इसलिए पड़ता है चूंकि देब्रे सही ढंग का निर्धारण सभी भ्रामक हलों को नकारकर और सेना दस्ता के रूप में उसकी सैनिक कारंवाई का सही विश्लेषण के माध्यम से करते हैं। लेकिन वर्ग संघर्ष के मुख्य रूप के तौर पर गोरिल्ला युद्ध के कार्य का ठोस विश्लेषण कर वह इस नतीजे पर नहीं पहुँचते।

देब्रे का सम्पूर्ण तर्क 'पार्टी या गोरिल्ला' पर केन्द्रित है। यही कारण है कि वे यह दिखाना भूल जाते हैं कि आज लातीनी अमरीका में गोरिल्ला युद्ध वर्ग संघर्ष का श्रेष्ठ रूप है।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद एक वैज्ञानिक प्रणाली है। इसके सही प्रयोग से ही हमें सर्वहारा क्रांति की रणनीति और युक्तियों की परिभाषा मिल सकती है। सर्वहारा और उसके बन्धुओं की युक्तियों का सही निर्धारण प्रत्येक ऐतिहासिक मंज़िल के वर्ग-संघर्ष के मुख्य पहलू की वैज्ञानिक परिभाषा, मुख्य पहलू और अन्य पहलुओं की सम्मिलित अवस्था के मूल्यांकन और राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर शोषित और शोषकों के बीच विभिन्न शक्तियों के सम्बन्धों की सही समझदारी के द्वारा उचित ढंग से हो सकता है।

क्रांतिकारी मार्क्सवादियों ने जिस आधार पर पूरी मानवजाति के सबसे बड़े शत्रु अमरीकी साम्राज्यवाद से मुकाबले के लिए तथाकथित 'समाजवाद के शांतिपूर्ण रास्ते'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तिरस्कृत कर हथियारबन्द संघर्ष को ही केवल तर्कसंगत रास्ते के रूप में स्वीकार किया उनके गम्भीर अध्ययन से ही गोरिल्ला युद्ध का ठोस आधार पाया जा सकता है। यह अवश्य दिखाया जाना चाहिए कि पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियों ने क्यों इस समस्या को न समझने की ज़िद कर ली है। लेकिन यह वैज्ञानिक ढंग से दिखाया जाना चाहिए। सर्वहारा का उद्देश्य त्यागकर इन पार्टियों ने जो विश्वासघात किया है उसे सामाजिक और राजनीतिक कारण बतलाते हुए स्पष्ट किया जाना चाहिए। उनके विरुद्ध अंत तक विरोध आवश्यक है जिन्होंने वियतनाम को इस युद्ध में दुःखद रूप से अकेला छोड़ दिया है और मात्र हथियार भेजकर अपने चेहरे की लाज बचा रखी है। और यहीं देब्रे बिल्कुल सही उतरते हैं जब यह कहते हैं कि हमें अपने विरोध को अवश्य ही कार्यरूप देना चाहिए। और इसी अर्थ में 'वामपंथी' अवसरवाद के सारे 'दस्तावेजों' से देब्रे की कृति का अर्थ कई गुना बढ़ जाता है। लेकिन एक मार्क्सवादी अपना तर्क इस दृढ़ मान्यता से आरम्भ करता है कि क्रांतिकारी सिद्धान्त के अभाव में क्रांतिकारी कार्य असंभव है, एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, दोनों के सम्मिश्रण से ही समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन संभव है। इस दृष्टि से देब्रे पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियों के बुर्जुआ हो जाने को उनके राजनीतिक कार्यक्रम से कभी नहीं जोड़ पाते हैं। देब्रे का यह आग्रह, कि उनका सुधारवाद मुख्यतः शहरी जीवन की सुविधाओं और सुखों पर निर्भर है, हास्यास्पद है। पारम्परिक पार्टियों के अवसरवाद और विश्वासघात का बुनियादी कारण यह नहीं है कि वे ग्रामीण क्षेत्र में जाना नहीं चाहते हैं, या शहर में ही शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करना पसंद करते हैं बल्कि यह कि वे मुख्य शत्रु के विरुद्ध संघर्ष नहीं करते हैं।

देब्रे में सैद्धान्तिक दृढ़ता की कमी है और यही कारण है कि वह समस्या के तल तक नहीं पहुँच पाते हैं और यही कारण है कि वह यह नहीं कह पाते हैं कि पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियाँ सोवियत कूटनीति और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की उसकी रणनीति के अन्तरराष्ट्रीय यन्त्र हैं। यह हर कोई जानता है कि रूस के शासक नौकरशाह अमरीकी साम्राज्यवाद और शोषित जनता के हिरावल दस्ते के बीच मुठभेड़ को हर संभव तरीके से विध्वंस करने की कोशिश करते हैं।

परिमाणतः क्रांतिकारी रणनीति के विस्तार की मांग सिर्फ यह नहीं है कि गोरिल्ला दस्ते की सैनिक विशिष्टता की परिभाषा की जाय। बल्कि यह निर्धारण करना है कि: १. आज की ऐतिहासिक मंज़िल पर वर्ग-संघर्ष की प्रकृति क्या है, और २. जनयुद्ध के रूप में गोरिल्ला का स्वरूप निर्धारण करना है जिसका वह मुख्य एवं प्रत्यक्ष रूप है; किंतु एकमात्र अथवा पर्याप्त रूप नहीं।

१. आज के युग में अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व-पूंजीवाद का आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से एकीकरण वर्ग-संघर्ष के चरित्र का निर्धारण करता है। अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में पूरे विश्व का बुर्जुआ आज एक विश्व पद्धति में इस प्रकार संघटित है कि पूंजीवादी देशों के बीच बाज़ार से सम्बन्धित प्रतिरोधों को पूंजीवाद का प्रमुख केन्द्र वाशिंगटन राजनीतिक रूप से नियंत्रित करता है। लेनिन के युग की तुलना में आज की दुनिया के पूंजीवादी देशों के बीच जो धुरी योग है उसमें नया तत्त्व यह है कि साम्राज्यवादी देशों के बीच राष्ट्रीय प्रतिरोधात्मक तत्त्व नहीं रह गये हैं, जिसका नतीजा यह है कि सभी साम्राज्यवादी देश अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व के अधीन एक ही खेमे में हैं। फ्रांस का राष्ट्रपति अपने को फ्रांसीसी पूंजीवाद का हिमायती कह सकता है, परन्तु यह तो वर्ग-संघर्ष का पूरक पहलू है, क्योंकि फ्रांसीसी पूंजीवाद और अमरीकी पूंजीवाद के बीच का अन्तर्विरोध कभी प्रतिरोधात्मक नहीं होगा। चूंकि विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष धुरी-योग के कारण प्रतिरोधात्मक तत्त्व समाप्त हो गये हैं; इसलिए साम्राज्यवादी देशों के बीच आपस में कभी युद्ध नहीं होगा। १९१४-१८ और १९३९-४५ के प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की तरह विभिन्न पूंजीवादी देशों के बीच के अन्तर्विरोध विश्व धुरी-योग पर हावी नहीं होंगे। अतः पूंजीवादी देशों के दमन-यंत्र का विनाश 'स्वतः' नहीं होगा। दूसरे शब्दों में यह विनाश तब तक नहीं होगा जब तक क्रांतिकारी जन-सेना प्रत्यक्ष रूप से उसमें हिस्सा न ले। कब्ल इसके कि अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व पूंजीवाद का एकीकरण कर दिया जाय, सर्वहारा अपने को निरस्त्र ढंग से शस्त्र-सज्जित कर ले। यानी पहले वह अपना राजनीतिक संगठन बनाये और अपने राजनीतिक संघर्ष को और एक हद तक निरस्त्र हिंसा को विकसित करे, तब हथियारबंद होने और सत्ता पर अधिकार करने के लिए अपने देश के प्रमुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गों का सामाजिक, राजनीतिक और सैनिक रूप से संगठित कर स्थिति का लाभ उठाये। १८७१ में पेरिस कम्यून में, १९१७ में रूस में, १९१८ में जर्मनी और हंगेरी में, १९४४-४५ में चीन में, १९४४-४५ में वियतनाम में, १९४२-४५ में युगोस्लाविया में यही हुआ।

इस प्रकार आज के साम्राज्यवादी पूंजीवाद का राजनीतिक-सैनिक एकीकरण तीसरे अन्तरराष्ट्रीय जमाने के साम्राज्यवाद की अपेक्षा गुणात्मक रूप में विशिष्ट है। उस जमाने के साम्राज्यवाद की विशिष्टता थी 'विश्व बाज़ार' का एकीकरण और साम्राज्यवादी देशों में आपस की बेरोक प्रतियोगिता, जबकि आज हम 'संगठित प्रतियोगिता' देख रहे हैं जिसके अन्तर्गत और कुशल ढंग से शोषण किया जाता है। सामाजिक उत्पादक शक्तियों की दृष्टि से बहु-साम्राज्यवाद और एक-साम्राज्यवाद जैसी दो मंजिल के बीच का फर्क स्पष्ट है: अन्तर-साम्राज्यवादी संघर्ष के युग में उत्पादक शक्तियाँ वे थीं जो औद्योगिक क्रांति और भारी मशीन के आगमन से गतिशील हुई थीं। आज के युग में, जो अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा पूंजीवादी शोषण की एकीकृत विश्व पद्धति का युग है, इलेक्ट्रानिक, न्युक्लीयर और साइबरनेटिक की क्रांति ने अमरीकी आधिपत्य के लिए भौतिक अवस्थाओं का निर्माण कर दिया है। न्यूक्लीयर ब्लैकमेल और आटोमेशन ने सभी साम्राज्यवादी देशों को अमरीकी साम्राज्यवाद के अंगूठे के नीचे कर दिया है। राष्ट्रवादी पूंजीवाद इस प्रक्रिया को कतई नहीं बदल सकता। इसके साथ ही साम्राज्यवाद के साथ 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' की रणनीति ने पूरे विश्व की शोषित जनता को मानव जाति के सबसे बड़े दुश्मन के विरुद्ध संघर्ष में 'दुखद रूप से अकेला' छोड़ दिया है। ऐसी ही रणनीति के आधार पर आज की दुनिया में अमरीकी साम्राज्यवाद और उसकी राष्ट्रीय कठपुतली सरकार और शोषित जनता और उनके सहयोगी सर्वहारा राज्यों के बीच विशिष्ट मुकाबले में सोवियत संघ पार्श्व में जा खड़ा हुआ है।

हमारे युग में पुलिस (जो शोषकों के लिए शोषितों से अपने वर्ग-स्वार्थ की आंतरिक रक्षा का एक यंत्र है) और सेना (जो एक बुर्जुआ राज्य के लिए दूसरे बुर्जुआ राज्य से बाहरी रक्षा का यंत्र है और संकट की घड़ी में ही अपने ही राष्ट्र के शोषितों के खिलाफ शोषक की रक्षा का भी यंत्र बनता है) के बीच का भेद मिट गया है। आज पूंजीवादी देशों में पुलिस और सेना के बीच केवल वर्दी और हथियार का फर्क रह गया है।

संक्षेप में लेनिन के युग में पूरी शोषित जनता के लिए विकल्प शक्ति स्थापित करने का सर्वहारा का ऐतिहासिक उद्देश्य बुनियादी तौर पर सैनिक उद्देश्य नहीं था। उस युग में 'ठीक समय पर' पूंजी की सत्ता के खिलाफ आक्रमण के योग्य मज़दूर वर्ग के पेशेवर राजनीतिक लड़ाकुओं का ठोस क्रांतिकारी संगठन ही पर्याप्त था। यह क्षण तभी आ सकता था जब अन्तर-साम्राज्यवादी युद्ध में बुर्जुवा सेना का खातमा हो गया होता। आज जबकि ऐतिहासिक रूप में अन्तर-साम्राज्यवादी युद्ध की सम्भावना समाप्त हो चुकी है, लातीन-अमरीका में विकल्प सर्वहारा शक्ति के लिए आरम्भ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष की आवश्यकता है जिसका मुख्य रूप हथियारबंद वर्ग-संघर्ष है।

२. गोरिल्ला युद्ध पूरी जनता का युद्ध है। गोरिल्ला दस्ता उसका मुख्य और प्रभावशाली रूप है इसलिए नहीं कि गाँव की अपेक्षा शहर में पकड़ा जाना आसान है, इसलिए भी नहीं कि गांवों में सर्वहारा बना देने का जादुई गुण है और शहर में बुर्जुवा बना देने के गुण हैं, इसलिए भी नहीं कि पहले अर्द्ध-सामन्तवाद से किसानों को मुक्त किया जाना चाहिए और तभी सर्वहारा के ऐतिहासिक हितों की चिन्ता की जा सकती है, बल्कि इसलिए कि आज लातीन-अमरीका में चल रहे वर्ग-संघर्ष की वस्तुगत अवस्थाओं में क्रान्तिकारी हिरावल दस्ते की **प्रथम** आवश्यकता है गाँवों में अपनी शक्ति संचय करने की, जिससे बाद में शहरों में राज्यसत्ता पर विजय हासिल की जा सके। यह स्पष्टीकरण आवश्यक है इसलिए कि अधिकांश लोग यह नहीं समझ पाते हैं कि क्यों रणनीति को सर्वप्रथम गाँवों के क्षेत्र में विकसित करना चाहिए, न कि शहरों में। और रणनीति और युक्ति को गड्डमड्ड कर देखने वाले कुछ कामरेड ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि गाँवों में ही संघर्ष के उत्तम रूप का विकास हो सकता है क्योंकि ब्राजील में किसानों की संख्या सर्वहारा की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। यह विचार एक तरफ क्रान्ति के चरित्र और वर्ग-विरोध तथा आज के युग के मुख्य उद्देश्य और दूसरी तरफ इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन (युक्ति) के बीच भ्रांति प्रकट करता है। यह सर्वहारा क्रान्ति है, और किसान ब्राज़ीली क्रांति में उस सर्वहारा का मुख्य अंग है। और आज के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग का मुख्य उद्देश्य है हथियारबन्द संघर्ष के ज़रिये विकल्प मजदूर-शक्ति खड़ा करना जिसका रूप होगा क्रांतिकारी जन-सेना। इस उद्देश्य की प्राप्ति का माध्यम होगा गोरिल्ला दस्ता जो आगे चलकर गोरिल्ला युद्ध का रूप लेगा। अतः युक्ति के लिहाज से हिरावल दस्ता संगठन को अपनी मुख्य टुकड़ी गाँवों में भेजनी चाहिए। परिणामस्वरूप लातीन अमरीका में जनता के क्रान्तिकारी संगठन की शुरुआत गाँवों में ही हो सकती है। आज के ब्राजील की अपेक्षा १९१७ के रूस में किसान और सर्वहारा के बीच सांख्यिकी अनुपात में फर्क होने के बावजूद रणनीति सम्बन्धी भूमिका सर्वहारा के ही हाथ थी, जैसा कि सदा होता है, और वर्ग-संघर्ष की मंजिल में भी दूसरी थी।

परिणामस्वरूप गोरिल्ला दस्ता किसानों के लिए ही संघर्ष का उत्तम रूप नहीं है बल्कि पूर्ण शोषित जनता के लिए है। गोरिल्ला दस्ते की स्थापना देहात में करने का यह अर्थ नहीं है कि किसान सर्वहारा से अधिक क्रान्तिकारी है। (ऐसा समझना दक्षिण-पंथी और टुटपुंजिया विचार है जो मार्क्स-वादी प्रणाली और विज्ञान की गहरी अनभिज्ञता प्रकट करता है।) हमारे संघर्ष की विशिष्ट अवस्था में सामाजिक संरचना के सबसे कमज़ोर सम्पर्क सूत्र को विध्वंस करने का सही माध्यम है गोरिल्ला कार्य। यह तथ्य कि बुर्जुवा राज्य सत्ता का सूत्र गाँवों में कमजोर होता है, एक राजनीतिक-सैनिक तथ्य है जो उन अवस्थाओं को प्रकट करता है जिनमें वर्ग-प्रभुत्व चरितार्थ होता है या ऐसा कहें कि उन अवस्थाओं को प्रकट करता है जिनमें शोषितों के दमन का यन्त्र प्रभावशाली रूप लेता है। पूंजीवाद के विषम विकास का निम्न स्तर देहात में दिखाई पड़ता है या जैसा कि गुंदर-फ्रैंक का कहना है कि देहात 'अर्द्ध-विकास' का सबसे विकसित रूप प्रकट करता है।

यह विश्वास करना कि संघर्ष का मुख्य रूप देहात में जन्म लेता है, क्योंकि आज सर्वहारा की बजाय किसान अधिक क्रान्तिकारी है, अधिकांश वामपंथी लड़ाकू कामरेडों की भ्रांति में फँस जाना है। वे कामरेड बुर्जुवा सिद्धान्त 'अर्थवाद' से अपने को पूरी तरह नहीं तोड़ सके हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं। 'अर्थवाद' का सार है राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष की धारा को कार्यरूप में गलत दिशा देना और सैद्धान्तिक और राजनीतिक चेतना को क्षति पहुंचाने की हद तक आर्थिक नियतिवाद की अतिरंजना करना। नतीजतन 'अर्थवाद' मार्क्सवादी विज्ञान पर बुर्जुवा 'विज्ञानवाद' के प्रभाव की अभिव्यक्ति है।

क्रांतिकारी सिद्धान्त के स्तर पर यह कहना उतना ही गलत है कि संघर्ष का मुख्य रूप देहात में जन्म लेगा क्योंकि किसान अधिक क्रांतिकारी हैं, जितना यह कहना कि उसका मुख्य रूप नगर में जन्म लेगा क्योंकि सर्वहारा किसान से अधिक क्रांतिकारी है। राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच की भ्रांति की झलक दोनों उदाहरणों में समान रूप से मिलती है क्योंकि संघर्ष के मुख्य रूप का निर्धारण पद्धति (शासन) के सबसे कमजोर सम्पर्क सूत्र के आधार पर होता है न कि क्रांति के चरित्र के सम्बन्ध में अटकलबाजियां करने से।

यह सर्वहारा क्रांति तभी पूरी होगी जब सर्वहारा नगरों में राजसत्ता पर अधिकार कर लेगा और पूरी शोषित जनता का नेतृत्व करते हुए समाजवाद का निर्माण शुरू करेगा। लेकिन हमारी समस्या तो क्रांति की शुरुआत करने की है, क्रांतिकारी जनसेना के संगठन की है। गोरिल्ला दस्ते के कार्य के ज़रिये ही यह सम्भव है क्योंकि वह सर्वहारा हिरावल दस्ता संगठन की सामरिक महत्त्व की टुकड़ी है जो देहात में पद्धति (शासन) के सबसे कमज़ोर सम्पर्क-सूत्र के विरुद्ध आक्रमण को दिशा देता है। देहात में इस गोरिल्ला दस्ते को रूप देने का अर्थ है कि जन-सेना देहात में ही संग-ठित की जा सकती है। सबसे कमजोर सम्पर्क-सूत्र के संदर्भ में औद्योगिक उत्पादन के सामाजिक-आर्थिक भार और राज-नीतिक-सैनिक प्रभुत्व को गडमड करना लेनिनवाद को तिलांजलि देना है। इस प्रकार जब अवसरवादी यह कहते हैं कि आज हमारा उद्देश्य शहरों में स्थिर होना चाहिए क्योंकि वहां औद्योगिक उत्पादन का भार अधिक है तो वे यह भूल जाते हैं कि क्योंकि शहरों में सामाजिक-आर्थिक दबाव सबसे ज्यादा है इसलिए बुर्जुवा की सरकार उन शहरों में ही अपने दमन यंत्र का भी इस्तेमाल भारी पैमाने पर करेगी। शायद अवसरवादियों की भ्रांति इस तथ्य से ज्यादा झलकती है कि वे दूसरे स्तर के दबाव का मुकाबला करने के न तो अभ्यस्त हैं और न करने की इच्छा-शक्ति रखते हैं।

अनुवादक : प्रेमेन्द्र

['न्यू लेफ्ट रिव्यू'—५९, जनवरी-फरवरी १९७० के अंक से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रासंगिकी

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे

प्रभात कुमार त्रिपाठी

सांप्रदायिक दंगों को लेकर की जाने वाली बहसों में जो सबसे बड़ी गलती की जाती है वह यह है कि इनमें सांप्रदायिकता के ऊपर ज्यादा ज़ोर दिया जाता है और दंगों पर कम। अगर ज़रा भी ठंडे दिल से सोचा जाये तो यह समझते देर न लगेगी कि दंगावाली प्रवृत्ति सांप्रदायिकता का चेहरा पहनकर सामने आती है और निदान करने वाले रोग की जड़ों को समझने में भूल करते हैं। रांची से लेकर अहमदाबाद तक जो कुछ भी हुआ या होता रहता है, उसके पीछे सांप्रदायिकता का ज़हर काम नहीं कर रहा था—यह मानना भूल है, लेकिन यह मानना कि हिंदू-मुसलमान के बीच सांप्रदायिक सद्भाव के वातावरण से सब-कुछ ठीक हो जाने वाला है—एक दूसरी बड़ी भूल है।

सांप्रदायिकता के ज़हर और उसके परिणामों के ऊपर सोचते हुए, आज सबसे ज्यादा ज़रूरत इस बात की है कि हम भीड़ और व्यक्ति की मानसिकता को समझने की कोशिश करें। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सांप्रदायिकता की भावना व्यक्ति में दंगों के पहले और दंगों के बाद भी होती है। लेकिन, वह दंगों में तभी बदल पाती है जब व्यक्ति का विवेक, भीड़ की उत्तेजना का अंश हो जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि दंगा करने वाली भीड़, गुंडा-नेतृत्व की अनुगामिनी होती है और वह न केवल हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के तथाकथित पुराने ज़हर के द्वारा उत्तेजित की जा सकती है, बल्कि भीड़ को उकसाने के लिए किसी भी समय कोई भी ज़हर पैदा किया जा सकता है। अक्सर यह मानने में मुझे संकोच होता रहा है कि हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता, हज़ार वर्षों के इतिहास का ज़हर छिपाये है और दंगे सिर्फ इसी कारण होते हैं। मेरे इस संकोच के कारण हैं क्योंकि बिलकुल नये ज़हर के द्वारा भीड़ को उकसाया जा सकता है। बम्बई में शिवसेना के कारनामे, असम में असमियों और बंगालियों के झगड़े और मुंगेली में सवर्णों और हरिजनों की लड़ाई—हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के कारण पैदा हुई दुर्घटनाएं नहीं थीं।

सिर्फ हिंदू-मुसलमान के बीच की साम्प्रदायिकता के कारण ही अगर दंगे हो जाते हों तो फिलवक्त उनके बीच किसी 'पूरी एकता' की बात किताबी और काल्पनिक है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच इतनी एकता हर वक्त रही है जितनी एकता दो विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्तियों में हो सकती है। हिन्दुस्तान के जन-जीवन को आत्मीयता से देखने पर यह बात प्रमाणित होती है कि अपने दैनिक व्यवहारों में हिन्दू-मुस्लिम कितने घुले-मिले हैं।

दरअसल साम्प्रदायिक दंगों को लेकर हिन्दू-मुस्लिम की एकता की बात बार-बार उठाने वाले लोग बेहद चालाक लोग हैं। यह बात एक साधारण-से-साधारण आदमी भी महसूस करता है कि अपने दैनिक-व्यवहारों में हिन्दू-मुस्लिम उतने एक हैं, जितने कि हिन्दू और हिन्दू और मुसलमान और मुसलमान भी नहीं हैं। इसकी तुलना में प्रान्तीयता और भाषा सम्बन्धी अलगाव की भावना ज्यादा प्रबल है। कुछ दिन पहले मैंने राजमोहन झा की एक कहानी 'बीच का समय' पढ़ी थी। इस कहानी में दंगे की अवधि को लेकर हिंदू पात्र के मन में अलगाव की जो पीड़ा बताई गयी है, उससे यह बात साबित होती है कि आम तौर पर हिन्दू और मुसलमान दोनों यह अलगाव महसूस नहीं करते रहते हैं और दंगे के बाद अकस्मात ही उन्हें यह महसूस होने लगता है कि वे दो भिन्न दुनियाओं के लोग हैं।

मैंने पहले भी कहा है कि एकता की बात उठाने वाले लोग काफी चालाक हैं। इस तरह की चालाकी करने वालों में हिन्दुस्तान के राजनेता प्रमुख रहे हैं। पिछले बाईस वर्षों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिकता को भावना को व्यक्तिगत धार्मिकता से अलग कर, कौमी दंगों में परिवर्तित कर देने का मुख्य श्रेय, राजनेताओं को ही है। राजनेताओं का एक वर्ग है जो अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर मुसलमानों को भारतीय जीवन की मुख्य धारा से काटकर रखने की चालाक कोशिश करता रहा है। गोकि यह सच है कि स्वतन्त्रता के बाद से लेकर अब तक मुसलमानों के मन में असुरक्षा की भावना लगातार बढ़ती रही है, लेकिन इस असुरक्षा के आतंक को अलगाव के अस्त्र से नहीं काटा जा सकता।

नेताओं का एक दूसरा वर्ग भी है जो अपनी दकियानूस और मध्ययुगीन मानसिकता को ढाँकने के लिए भारतीयकरण के चालाक मुहावरे का उपयोग करता है। यह वर्ग खतरनाक है क्योंकि यह सम्प्रदाय-विशेष की व्यक्तिगत धार्मिकता को, अभारतीय होने का प्रमाण मान सकता है और मनवा भी सकता है। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर भारतीयकरण का मतलब क्या हो सकता है? क्या जो आदमी अपने भाषणों में, वेदों और उपनिषदों के मंत्र उद्धृत कर सकता है, वही भारतीय है? क्या हिन्दुस्तान के आम मुसलमान को इस बात की फुर्सत भी है कि वह भारत के अलावा किसी दूसरे देश की बात सोच सके? सच तो यह है कि हिन्दुस्तान का आम आदमी—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान—खुद को ज़िंदा रखने की इतनी कठिन लड़ाई लड़ रहा है कि उसे अपने और अपने परिवार के अलावा और किसी के बारे में सोचने की फुर्सत ही नहीं है।

अभी हाल 'सारिका' में मैंने वदी उज्जमा की एक कहानी पढ़ी थी। इस कहानी में एक मुसलमान दर्जी है जिसे कई कारणों से बिहार का अपना गाँव छोड़कर पूर्वी पाकिस्तान जाना पड़ता है। वहाँ रहकर भी वह अपनी मुस्लिम धार्मिकता को बिहार के 'अपने गाँव' से अलग करके नहीं देख पाता। बहुत पहले लिखी गई मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' भी इसी बात की गवाही देती है कि जो असली भारतीय-जन है, उसके भारतीयकरण का सवाल नहीं उठता। यह ज़रूर है कि अब उसके मनुष्य होने या न होने के सवाल को शिद्दत से महसूस किया जाना चाहिए। सामान्य भारतीय जन जिस तरह की ज़िन्दगी बसर कर रहा है, उससे शक होता है कि लिखने-पढ़ने वाले हम लोग, भाषण देने वाले नेता, और देश चलाने वाले साहब लोग—उसे आदमी की तरह जिन्दा रहने का नैतिक हक देना चाहते भी हैं या नहीं?

भारतीय-जन की इस करुण हालत को सांप्रदायिकता की समस्या के समानान्तर देखने की जरूरत है। इसलिए कि पिछले बाईस वर्षों में एक 'नकली भारतीय' भी पैदा हो गया है और अंग्रेज़ी न केवल इसकी जुबान में है बल्कि इसके सोचने-समझने का तरीका भी अंग्रेजों जैसा है। यह आकस्मिक नहीं है कि अंग्रेज़ों के द्वारा बोये गये विष-बीज को यह पढ़ा-लिखा वर्ग जाने-अनजाने सींच रहा है। ऊपरी मेल-मिलाप और रहन-सहन की एकता के बावजूद 'शहरी हिन्दू और मुसलमान' गाँव के अनपढ़ लोगों से ज़्यादा दकियानूस और क्रूर हैं। यह भी आकस्मिक नहीं है कि मुसलमानों में 'पॅन-इस्लामिज़्म' और हिन्दुओं में 'कट्टर-हिन्दूवाद' को उकसाने वाले लोग अंग्रेज़ी-दीक्षा से दीक्षित रहे हैं। रिक्शेवाला यूनुस और होटल कामगार या बीड़ी मज़दूर घासीराम के दिलों में धार्मिकता के बावजूद अलगाव की धूर्त और क्रूर भावना नहीं है, लेकिन पुलिस इन्सपेक्टर वर्मा और अध्यापक मुहम्मद हुसैन के दिलों में दुश्मनी बढ़ती रही है। सांप्रदायिक दंगों में हिस्सा लेने वालों में अनपढ़ मज़दूर हो सकते हैं लेकिन ऐसे दंगों को पैदा करने में चालाक लोगों का हाथ रहता है।

कितनी अजीब बात है! शिक्षा से मनुष्य अपनी पाशविकताएँ भूलता है, लेकिन हमारे यहाँ शिक्षित होने के बाद लोगों की पाशविकताएँ बढ़ी हैं। लोगों के दिमाग तंग हुए हैं। इस लेख के आरंभ में ही मैंने कहा है कि सांप्रदायिक दंगों में—दंगे पर विचार कम किया जाता है। सांप्रदायिकता की भावना को दंगे में बदलने से रोका जा सकता है। उसका तात्कालिक दमन किया जा सकता है। पर दंगे रुकते नहीं हैं। रोक सकने वालों के दिमाग तंग और सड़े हुए हैं। बड़े-बड़े शहरों के बड़े-बड़े पुलिस अफसरों के सोचने का ढंग या तो गुरु गोलवलकर-जैसा है या एक कदम आगे बढ़कर बाल ठाकरे-जैसा।

सन् १९६४ के मार्च महीने में मेरे अपने शहर रायगढ़ में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। दुर्घटना के वक्त मैं वहाँ मौजूद नहीं था। बाद में मैंने कई लोगों से सुना कि पुलिस वाले चाहते तो दंगा रुक सकता था। कई लोगों ने तो दबी ज़ुबान से यह भी कहा कि क्लक्टर और पुलिस वालों ने दंगा करने वालों को छूट दे रखी थी। ये लोग अपनी बात खुलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए नहीं कह पाते हैं क्योंकि डरते हैं। औसत हिन्दुस्तानी आदमी की हालत यह हो गयी है कि अगर वह खून होते हुए भी देख ले तो 'फँस जाने' के डर से गवाही नहीं देगा। नतीजा यह होता है कि 'दंगा-तत्त्व' की छान बीन कभी नहीं हो पाती। गुंडे अपना काम पूरा कर जाते हैं। पुलिस वाले और अफसर लोग तंग दिमागों से अपना दायित्व पूरा करने में लगे रहते हैं। अक्सर यह होता है कि दंगे के वक्त एक हिन्दू पुलिस वाला अपने को पुलिस वाला नहीं बल्कि हिन्दू समझता है—और हिन्दू-गुंडे के साथ उसके संबंध हिन्दू-भाई जैसे हो जाते हैं।

लेकिन ऐसा क्यों है? सारी ऊपरी आधुनिकता के बावजूद, अफसरों, नेताओं और पुलिस वालों का दिमाग इतना तंग क्यों है? वे भारतीयता के अर्थ को इतना संकीर्ण क्यों कर लेते हैं? जवाब है शिक्षा। पिछले बाईस वर्षों में और उसके पहले भी—शिक्षा के प्रारंभिक सोपान से लेकर अन्त तक, लोगों के दिमाग में भारतीयता की एक गलत तसवीर भरी जाती रही है। नतीजा यह हुआ है कि हम भीतर से मध्ययुगीन और दकियानूस रह गये हैं। हम अपनी परंपरा को बड़ी-बड़ी पोथियों में सुरक्षित जानकर खुश हैं। आधुनिकता का मतलब हमारे लिए टेरेलिन के कपड़े और सिनेमा के गाने हैं। स्वतन्त्रता के बाद हमने, शिक्षा के द्वारा आधुनिक संस्कृति की परिकल्पना को पुष्ट करने का ज़रूरी काम नहीं किया है। इसलिए हमारे देश के पढ़े-लिखे लोग देश के सबसे ज्यादा अय्याश लोग हैं। ये वे लोग भी हैं जिनके दिमागों में सांप्रदायिकता से फायदा उठाने की चालाकियां भरी हुई हैं।

ज़ाहिर है कि जहाँ सांप्रदायिकता की भावना से लड़ने के लिए, शिक्षा में बुनियादी परिवर्तन की ज़रूरत है, वहीं अकस्मात उबल पड़ने वाले दंगों को रोकने के लिए, उस इलाके के अफ़सरों के दिमाग ठीक करने की ज़रूरत भी है। जनता की तकलीफ से बेखबर, सत्ता की लड़ाई में मगन रहने वाले राजनेता सोचें कि देश के टूटने का मतलब—उनका भी अन्त है। □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन-जन्मशती का एक आलोचनात्मक उपहार

नामवर सिंह

सोवियत संघ से आने वाली हर पुस्तक की तरह चेलिशेव की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता' का भी सबसे पहले राजनीतिक महत्त्व है। इस राजनीतिक कुतूहल को शांत किये बिना पुस्तक के साहित्यिक महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करना संभव नहीं है; इसलिए आरंभ में ही यही स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चेलिशेव की इस पुस्तक में ऐसा सनसनीखेज़ कुछ भी नहीं है—खास तौर से ऐसी कोई चीज़ तो निश्चय ही नहीं है जिसे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के खिलाफ़ इस्तेमाल किया जा सके। उदाहरण के लिए पंतजी की परवर्ती काव्य-साधना के विषय में, जिसकी परिणति 'लोकायतन' में हुई है, चेलिशेव की भी यही मान्यता है कि "जिस मात्रा में पंतजी आदर्शवादी दर्शन के घने वन की गहराइयों में पैठते जाते हैं, उतनी ही मात्रा में उनकी कविता का कलात्मक स्तर गिरता जाता है, उसकी भावात्मक परिपुष्टि, भाषा का सौंदर्य, उज्ज्वलता एवं अभिव्यक्तिशीलता घटती जाती है, प्रतिमांकन धुंधला-सा होता जाता है।" (पृ० २२०) इसी प्रकार 'पल्लव' और 'गुंजन' में चेलिशेव भी "प्रगतिशील स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की प्रधानता मानते हैं" (पृ० १०३) और 'ग्राम्या' को "आलोचनात्मक यथार्थवाद की ड्योढ़ी पर" (पृ० १४५)। यह मूल्यांकन सामान्यतः हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के मत से ही मिलता-जुलता है।

किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि चेलिशेव की पुस्तक हिंदी आलोचना का रूसी अनुवाद मात्र है। यह सही है कि पुस्तक में हिंदी आलोचकों के मत कदम-कदम पर उद्धृत किये गए हैं—मार्क्सवादी आलोचकों से ज्यादा गैर-मार्क्सवादी आलोचकों के, जिनमें से कुछ के नाम तो औसत हिंदी पाठक के लिए भी नये हैं; और कम-से-कम दो की छूट तो खटकती भी है: रामचन्द्र शुक्ल और रामविलास शर्मा; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने विवेचन में चेलिशेव उद्धृत आलोचकों के मत पर निर्भर नहीं हैं। पंतजी के काव्य के संबंध में उनकी व्युत्प्रेक्षाएँ अपनी हैं और निष्कर्ष तक पहुँचने की पद्धति भी।

चेलिशेव की आलोचनात्मक क्षमता की विशेषता पंतजी की काव्य-साधना के ऐतिहासिक विश्लेषण में सबसे ज्यादा प्रकट हुई है। पंतजी की कविता में विकास के तीन सोपानों की चर्चा तो प्रायः की जाती है किंतु काव्य के स्तर पर विकास-पथ के ब्यौरे देने का कार्य चेलिशेव ने किया है। इस दृष्टि से पंतजी की कविता में 'प्रगीत-नायक' की अवधारणा का विकास सबसे उल्लेखनीय है। "पंतजी का आरंभकालीन प्रगीत-नायक विस्फारित नेत्रों से संसार को ताकता है, उसकी महानता से आश्चर्यचकित हो उठता है, आनंदित हो जाता है, दुःख तथा आशा-निराशा का अनुभव करता है, पर निषेध का शब्द उसके मुंह से कभी नहीं निकलता और न वह दुष्टता के विरुद्ध संघर्ष ही छेड़ता है।" (पृ० ४५) 'गुंजन' तक पहुँचते-पहुँचते वह "प्रगीत-नायक अपनी अनेक भ्रांतियों और वैयक्तिक मनोविन्यासों से मुक्त हो जाता है, अपने निजी सुख एवं कल्याण को वह अब समस्त जनता के सुख से भिन्न नहीं मानता।" (पृ० ६६) चौथे दशक के मध्यकाल अर्थात् 'युगांत' तक आते-आते पंतजी के प्रगीत-नायक का यह विशेष स्वभाव प्रकट होता है: "काव्यगत 'मैं' और बाह्य माध्यम अर्थात् तीव्र और निर्मम वास्तविक के बीच हृदयभेदी एवं अजेय संघर्ष का अभाव।...वह कल्पनामय स्वप्नसृष्टि से मुंह मोड़ते हुए जनता के समीप आकर उनकी सहृदयतापूर्वक सहायता करना तो चाहता है पर

१. सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता; लेखक : ई० चेलिशेव; प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : दस रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानता नहीं कि यह कैसे किया जाय।" (पृ० १०७) इसके बाद "'ग्राम्या' संग्रह में पंतजी का काव्यनायक मानवतावादी मनुष्य का प्रतीक है। वह गहरे सामाजिक अन्याय को सह लेता है, पूर्ण जीवन के स्वप्न देखता है। श्रमजीवी कृषक वर्ग की दयनीय दशा के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हुए, शोषण, अंधकार एवं अज्ञान से मुक्त समाज के अपने प्रिय आदर्शों को साकार रूप न मिलने से बहुत व्यथित होते हुए भी पंतजी का काव्यनायक एक निष्क्रिय स्वप्नदर्शी ही रह जाता है।" (पृ० १६२) इसी प्रकार कवि की साधना के अन्य सोपानों में भी 'प्रगीत-नायक' की परिकल्पना को प्रस्तुत करते हुए चेलिशेव ने ठोस रूप में विकास की रेखाएँ निरूपित की हैं।

प्रगीत-नायक के अतिरिक्त बिंब-विधान का विकास-निदर्शन भी चेलिशेव के विवेचन की मुख्य विशेषताओं में से एक है। उषा और प्रभात के बिंब पंतजी की कविता में आदि से अंत तक बराबर प्रयुक्त हुए हैं, किंतु चेलिशेव की सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि ने यह लक्षित किया कि उषा और प्रभात के बिंबों में क्रमशः अर्थ-परिवर्तन होता गया है। इस दृष्टि से 'वीणा' के प्रभात संबंधी बिंब से 'गुंजन' का प्रभात-बिंब भिन्न है और 'गुंजन' से 'युगांत' का तथा 'युगांत' से 'स्वर्ण-किरण' के प्रभात-बिंब विशिष्ट हैं। इस प्रकार चेलिशेव ने पंतजी के बिंब-विधान का जो ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह इस क्षेत्र में उनकी विशिष्ट देन है।

इसी प्रकार चेलिशेव ने पंतजी के सौंदर्यबोध, सर्जनात्मक प्रणाली, काव्य-भाषा तथा छंद-योजना का भी क्रमिक विकास दिखलाया है। मार्क्सवादी आलोचना से जिन्हें यह शिकायत है कि उसमें काव्य के कला पक्ष के विवेचन की उपेक्षा की जाती है उन्हें यह देखकर संतोष होगा कि चेलिशेव की इस पुस्तक में एक-तिहाई से अधिक अंश काव्य-शैली के विवेचन से संबद्ध है। उल्टे चेलिशेव को यह शिकायत है कि "यद्यपि पंतजी के विषय में अब तक बहुत लिखा गया है, तथापि उनकी कला-प्रणाली के विकास की समस्या लगभग अछूती ही रही है। यदि कभी-कभार पंतजी की कला-प्रणाली की चर्चा छिड़ती भी है तो नियमतः उसमें उनकी कविता का स्वच्छंदतावादी स्वरूप ही दर्शाया जाता है।" (पृ० २२३) संभवतः इसी अभाव की पूर्ति के लिए चेलिशेव ने पंतजी की काव्य-साधना के प्रत्येक सोपान की कला-प्रणाली का विवेचन विस्तार से स्वतंत्र अध्यायों में किया है जिससे उनकी सूक्ष्म कलाग्राही दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। एक ऐसे अध्येता के लिए यह उपलब्धि साधारण नहीं है जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं है।

चेलिशेव के विश्लेषण की विशेषता सबसे अधिक पंतजी के जीवन-दर्शन के प्रसंग में व्यक्त हुई है। पंतजी का जीवन-दर्शन हिंदी आलोचकों के बीच सबसे ज्यादा विवादास्पद रहा है और उसके विषय में प्रायः एकांगिता प्रदर्शित की गई है। किंतु चेलिशेव ने द्वंद्वात्मक दृष्टि का सफल उपयोग करते हुए उस जीवन-दर्शन में निहित असंगतियों को ही लक्षित नहीं किया बल्कि उसे समग्रता में भी देखा है। इस द्वंद्वात्मक दृष्टि के उपयोग का एक उदाहरण है 'ग्राम्या' का विश्लेषण, जिसे प्रायः अन्तर्विरोधों से मुक्त प्रगतिशील और यथार्थवादी माना जाता है। इस प्रसंग में चेलिशेव ने एक ओर शिवदानसिंह चौहान और दूसरी ओर विक्टर बालिन की मान्यताओं का खंडन करते हुए लिखा है कि "ग्राम्या संग्रह के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पंतजी की समस्त काव्य-साधना की तरह ही इसमें भी उनकी वैचारिक भूमिका एवं सृजन प्रणाली की असंगति एवं अनिश्चितता दिखाई पड़ती है। यह सही है कि अपनी अन्य रचनाओं की तुलना में पंतजी इस संग्रह में जन-जीवन के अत्यधिक निकट पहुँचे हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह यथार्थवादी बन गए।" (पृ० १८२) इस कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है : "उक्त संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि एक स्वच्छंदतावादी कलाकार के रूप में ही हमारे सामने आता है।···कवि की भाववादी विचारधारा, गांधीवाद के भाववादी-मानवतावादी आदर्शों का अनुयायित्व और प्रत्यक्ष भारतीय वास्तविकता के स्थान में अखिल मानवतावादी नैतिक रूपांकन के प्रयत्न उक्त (यथार्थवादी) प्रवृत्तियों के विकास में बाधक बने रहे। वास्तविकता के प्रति असंतोष के कारण पहले ही की तरह रूपांकन की ऐतिहासिक वास्तविकता को क्षति पहुँची और कवि अपने भाववादी-मानवतावादी आदर्शों तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के संबंध में काल्पनिक स्वप्नों के आधार पर वास्तविकता का पुनर्निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील रहा।··· पर अब कवि के स्वच्छंदतावाद का स्वरूप उसकी प्रारंभिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधना के कालखंड की तुलना में बहुत-कुछ परिवर्तित हुआ है, उसमें अधिक सक्रिय रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।" (पृ० १८३) 'ग्राम्या' के विषय में चेलिशेव का यह मूल्यांकन यही नहीं कि युक्तिसंगत है बल्कि मेरी जानकारी में इतना संतुलित मूल्यांकन अन्यत्र दुर्लभ है।

द्वन्द्वात्मक दृष्टि का दूसरा उदाहरण है 'पंचम दशक से सप्तम दशक की दार्शनिक कविता' के प्रसंग में चेलिशेव का विश्लेषण। पंतजी के इस परवर्ती विकास को कुछ लोग नितान्त रहस्यवादी मानते हैं। चेलिशेव ने इस मत का खंडन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि इस काल में भी पंतजी मार्क्सवाद से विमुख नहीं हुए। (पृ० २२६) चेलिशेव की दृष्टि में "प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोणों के सन्देहपूर्ण संश्लेषण में ही पंतजी की विचारधारा एवं काव्य-साधना की वैचारिक निर्बलता के मूल निहित हैं। यहीं से उनके वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों का सूत्रपात होता है जो वास्तविकता से कहीं दूर हैं और कहीं-कहीं उसका मिथ्या अर्थ लेते हैं। इन सभी कारणों से पंतजी की युद्धोत्तरकालीन काव्य-साधना में निष्क्रिय एवं प्रतिक्रियावादी स्वच्छन्दतावाद की धारा का उदय हुआ, जिससे वास्तविकता के यथार्थ चित्रण में और मानव को उसके भगवत् जीवन की समस्त जटिलता के बीच समझ लेने में बाधा आई। वैचारिक भूमिका की भ्रमपूर्णता कवि के लिए मनुष्य के आन्तरिक विश्व की थाह लेने, उसके स्वभाव का उद्घाटन करने, सामाजिक माध्यम के साथ उसका संबंध दिखाने और सुन्दरतर जीवन के लिए संघर्ष की दिशा में उसका मार्गदर्शन करने में बाधा बन गई।" (पृ० १९४) चेलिशेव ने पंतजी के मानववाद और आशावाद को उनके चिंतन की शक्ति मानते हुए भी इस मानववाद की सीमा की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा है कि "मनुष्य के अधिकार की घोषणा एवं मानव-व्यक्तित्व के अपने मूल्य का समर्थन करते हुए तथा भावी 'स्वर्णयुग' के पूर्ण मानव, 'सांस्कृतिक चेतना' के विकास इत्यादि के स्वप्न देखते हुए पंतजी तत्त्वतः मनुष्य को सामाजिक जीवन से पृथक् कर देते हैं और उसकी चेतना को कोई एक ऐसी पृथक् वस्तु मानते हैं जो बाह्य प्रभावों के परे और किसी विशिष्ट ऊर्ध्व नियम के अनुसार विकसित होती है। पंतजी की युद्धोत्तरकालीन रचनाओं में मानव जैसे देश और काल-बाह्य स्वरूप में उपस्थित होता है जो वर्ग-विषयक एवं राष्ट्रीय स्वरूप से वंचित है।" (पृ० १९५)

पंतजी की पाँच दशकों की लम्बी अवधि के बीच फैली हुई काव्य-साधना में बदलते हुए जीवन-दर्शन का समग्रतः मूल्यांकन करते हुए चेलिशेव ने अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि वे विचारों में वस्तुतः सारसंग्रही अथवा सर्वोत्तमग्राही (एक्लेक्टिक) हैं। पंतजी में सर्वोत्तमग्राहिता की प्रवृत्ति 'युगवाणी' में भी थी (पृ० १४३) और 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'लोकायतन' तक के काल में भी (पृ० १९१, २२६)। उन्होंने वस्तुवादी और भाववादी जीवन-दृष्टियों के सामंजस्य का असंभव प्रयास निरंतर किया। (पृ० १९४) किन्तु चेलिशेव का विश्लेषण यहीं समाप्त नहीं होता। उन्होंने इससे भी आगे जाकर इस अन्तर्विरोधपूर्ण जीवन-दृष्टि के ऐतिहासिक-सामाजिक कारणों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार कवि के "वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों में प्राप्त होने वाली सर्वोत्तमग्राहिता, असंगति और विरोधाभास प्रायः वही हैं जो भारतीय बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की विचारधारा द्वारा पूर्णतया अपनाए हुए थे; इनमें भारतीय समाज में उक्त वर्ग की दोमुँही भूमिका प्रतिबिंबित होती थी जो गठन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण संभव हुई थी। स्वामी विवेकानन्द, गांधीजी और श्री अरविन्द का अनुगमन करते हुए पंतजी ने पंचम-षष्ठ दशकों की अपनी कविता में भारतीय सभ्यता के असाधारणत्व और विशिष्ट आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देने का प्रयत्न किया—यह सभ्यता मानो बुर्जुआ समाज के वर्ग-कलहों सहित सभी असंगतियों की औषधि थी।" (पृ० १९१) यदि युगवाणी-ग्राम्या काल में यह असंगति काव्य के लिए विशेष अहितकर नहीं हुई तो इसलिए कि उस समय देश के स्वाधीनता-संघर्ष में वामपक्षी शक्तियों का उभार था और कवि उनके साथ एक हद तक अपना लगाव महसूस करता था। इसके विपरीत पाँचवें-छठे दशक में यदि यह असंगति काव्य के लिए घातक सिद्ध हुई तो उसका कारण यह है कि उसमें प्रतिक्रियावादी विचारों का अनुपात अधिक हो गया जिसके मूल चेलिशेव के अनुसार तत्कालीन भारतीय जीवन में विद्यमान थे। यहाँ चेलिशेव ने उन आलोचकों का खंडन किया है जो कवि में इन प्रवृत्तियों के उदय को किसी दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रभाव या उसके चरित्र की वैयक्तिक विशेषताओं या फिर स्वास्थ्य के बिगाड़ पर आधारित मानते हैं। (पृ० १८५) कहने की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कि चेलिशेव ने पंतजी की वैचारिक असंगतियों के वस्तुगत सामाजिक कारणों का निर्देश करके हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया है; और इससे पंतजी के साथ ही अन्य कवियों को भी समझने में मदद मिलती है। उल्लेखनीय है कि इस काल में पंतजी के सहकर्मी किन्तु उनसे अधिक विद्रोही और सामाजिक चेतना-संपन्न निराला में भी अध्यात्मवादी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठी थीं।

इसके बावजूद चेलिशेव ने पंतजी को इस बात का श्रेय दिया है कि वे पाँचवें-छठे दशक की क्षयग्रस्त प्रवृत्तियों से मुक्त रहे और पश्चिम की उस बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी विचारधारा का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा, जिससे ग्रस्त प्रयोगवादी लेखक मानवता-विरोधी भूमिका निभा रहे थे। (पृ० १८७) चेलिशेव के अनुसार "मानव में, सदसद् विवेक बुद्धि की उज्ज्वल शक्तियों की विजय में, अपनी मातृभूमि तथा समस्त मानवता की स्वाधीनता में **आशावादी विश्वास** ने हमारे मानवतावादी कवि के लिए अपने साहित्य में पतनशील प्रवृत्तियों के प्रवेश के विरुद्ध विश्वासार्ह सुरक्षा-साधन का काम किया।" (पृ० १८९) यह सही है कि पंतजी इस काल में भी हमेशा की तरह प्रचंड आशावादी बने रहे। सवाल यह है कि इस आशावाद से पंतजी की कविता का क्या हित हुआ ? चेलिशेव यह स्वीकार करते हैं कि इस आशावाद के बावजूद पंतजी की कविता का पतन हुआ; फिर साहित्य की पतनशील प्रवृत्तियों से बचने का क्या लाभ ? सभी जानते हैं कि परवर्ती निराला में पंत से आशावाद कम था—बल्कि निराशा का स्वर ही प्रधान था; फिर भी निराला पंत से श्रेष्ठ कविताएँ दे गए। क्यों ? स्पष्ट है कि कविता में उत्कर्ष या ह्रास का सम्बन्ध आशा या निराशा से अनिवार्य नहीं है; आशा और निराशा अपने आप में काव्य के उपकारक नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण है आशा और निराशा में निहित सामाजिक वस्तु। किन्तु लगता है कि चेलिशेव इस प्रश्न की जटिलता में न जाकर केवल एक अतिसरलीकृत निष्कर्ष से सन्तुष्ट हो गए।

वैसे, चेलिशेव ने 'ज्योत्स्ना' नाटिका की कला-प्रणाली का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया है उससे स्पष्ट है कि वे आशावादी जीवनदृष्टि को काव्य के उत्कर्ष का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते। 'ज्योत्स्ना' नाटिका अपने लोकमंगलवादी स्वर और आशावादी जीवनदृष्टि के बावजूद एक असफल कृति है क्योंकि उसमें "कोई चरित्र-दर्शन नहीं है। इसके [illegible] कुछ निश्चित कल्पनाओं के थक्के हैं। इसीलिए नाटक का संघर्ष और उसके कथानक का विकास चरित्रों के टकराव एवं विकास के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न हुए हैं।" (पृ० ७५) वस्तुतः जैसा कि चेलिशेव ने एक अन्य प्रसंग में कहा है, " 'प्रकृति के अक्षय सामंजस्य के कवि' पंतजी के सृजनात्मक व्यक्तित्व के लिए कोई भी तीव्र विरोधाभास या टकराव अपरिचित ही है।" इसलिए "पंतजी के काव्य-नायक के स्वभाव में सच्ची नाटकीयता का अभाव ही है।" (पृ० १०७) स्पष्ट है कि काव्य के लिए सीधी-सरल आशा या निराशा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आशा और निराशा का **टकराव**। पंतजी इस टकराव से अपने-आपको साफ बचाकर आशा के कल्पना-लोक में जा छिपते हैं और उनके आशावाद की यह **काल्पनिकता** ही उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। ऐसा नहीं है कि पंतजी की इस कमज़ोरी से चेलिशेव अपरिचित हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस काल्पनिकता के कारण 'दिग्विजय' शीर्षक संगीत-रूपक प्रभावशाली नहीं बन पड़ा, जो वस्तुतः चेलिशेव के परम-प्रिय विषय प्रथम सोवियत अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष उड़ान के गौरवार्थ लिखा गया था। इस कृति की असफलता का कारण बतलाते हुए चेलिशेव ने लिखा है कि "उसमें वास्तविकता का कोई गुमान भी नहीं दिखाई देता। रूपक के प्रसंग का अंकन ठोस ऐतिहासिक घटना-स्थिति से कटा हुआ-सा है, अन्तरिक्ष-विजय की समस्या उसमें भाववादी, साधारणीकृत और नैतिक धरातल पर उठाई गई है।" (पृ० २१०) आशावादी पंतजी इसी वायवीपन के साथ कविता में भारतीय जनता अथवा विश्व-मानव की मंगल कामना करते हैं और काव्य का अमंगल होता है। इसलिए इस वायवी आशावाद और मानववाद से भारत-सोवियत मैत्री के आयोजनों को भले ही बल मिले, न तो काव्य को कोई शक्ति मिलती है और न इतिहास को ही ! कायदे से चेलिशेव की तर्क-पद्धति इसी निष्कर्ष की ओर ले जाती है, किन्तु खेद है कि वे किन्हीं कारणों से इस निष्कर्ष से बचने का प्रयास करते दिखते हैं।

जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण को चेलिशेव इतना मूल्यवान मानते हैं कि उन्हें यह दृष्टिकोण अनिवार्यतः श्रेष्ठ काव्य का आधार प्रतीत होता है। उनका कुछ ऐसा ख़याल है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि क्रान्तिकारी दर्शन अपनाने मात्र से श्रेष्ठ कविताओं की रचना सम्भव हो जाती है। 'युगवाणी' में पंतजी की 'श्रमिक' शीर्षक कविता देखकर वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "जीवन के पुनर्निर्माण में मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी और प्रधान भूमिका को पहले-पहले स्पष्ट और निश्चित रूप से घोषित करने वाले पंतजी इस बात में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचन्द से भी काफी आगे बढ़ गए।" (पृ० १३१) इसी प्रकार 'युगवाणी' में 'प्रकाश' आदि कविताओं को देखकर वे यह कहते हैं कि "प्रभात के प्रतीक में क्रान्तिकारी आशय भरते हुए पंतजी रवीन्द्रनाथ से आगे बढ़ गए हैं।" (पृ० १३७) संभवतः इसी वजह से उनकी दृष्टि में 'क्रान्ति' और 'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविताएँ "सर्वोच्च शिखर जैसी प्रतीत होती हैं।" (पृ० १४२) स्पष्टतः चेलिशेव की दृष्टि में स्वस्थ सामाजिक दृष्टि और 'श्रमिक', 'क्रान्ति', 'मार्क्स' आदि कुछ निश्चित विषय ऐसे हैं जिन पर लिखी हुई कविता अनिवार्यतः अच्छी होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता के मूल्यांकन के लिए यह दृष्टि निहायत सपाट है। जीवन-दर्शन तथा सृजनात्मक प्रणाली के सम्बन्धों के अतिसरलीकरण से ही ऐसी दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। अनेक स्थलों पर भौतिकवादी द्वन्द्वन्याय का अत्यन्त सफल प्रयोग करने वाले चेलिशेव ऐसे अवसर पर यह भूल जाते हैं कि वास्तविकता के आधार से विच्छिन्न आशावाद—चाहे वह क्रान्तिकारी आशय से ही पूर्ण क्यों न हो, कविता को "सामान्यताओं के सागर" में डुबो देता है और कविता अपनी जीवंतता खो बैठती है। इसीलिए अच्छे-से-अच्छे विषय पर भी कभी-कभी बेहद खराब कविताएँ देखने में आती हैं। संभवतः इसी वजह से कुछ आलोचक 'यूटोपिया' को साहित्य के लिए अनुपयुक्त मानते हैं।

फिर भी इन सीमाओं के बावजूद चेलिशेव ने पंतजी की कुछ कविताओं के कलात्मक गुणों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो हिन्दी काव्य की व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र की मूल्यवान निधि है। इस दृष्टि से 'युगवाणी' की 'दो लड़के', 'दो मित्र' तथा 'ग्राम्या' की 'गाँव के लड़के', 'ग्रामीण युवती' आदि कविताओं का विश्लेषण अत्यन्त मार्मिक है। इसी प्रकार 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक लम्बी कविता का विश्लेषण भी अत्यधिक मौलिक है। वैसे, 'परिवर्तन' की इस व्याख्या से पूरा का पूरा सहमत होना मुश्किल है। चेलिशेव का यह कहना सही है कि "इस रचना के प्रतीक गहरी सामाजिक-ऐतिहासिक विषय-वस्तु से अनुप्राणित हैं," किन्तु उसे १९१९-२३ के साम्राज्यवादी दमन और उसके प्रतिरोध का प्रतिबिम्ब कहना आलोचक का मानसिक आरोप है। "कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल" जैसे अतीतोन्मुख दोहद के भाव से आरम्भ होने वाली कविता जिस सामाजिक 'परिवर्तन' की व्यंजना करती है उसका सम्बन्ध पुरानी सामन्ती व्यवस्था के विनाश से अधिक है, साम्राज्यवादी दमन से कम। यही नहीं बल्कि 'परिवर्तन' के 'प्रलय' और 'मृत्यु' के प्रतीकों में प्रथम महायुद्ध की छाया देखना तो और भी हठाकृष्ट है। चेलिशेव ने इस कविता में जीवन-मृत्यु और सृष्टि-प्रलय के द्वन्द्वात्मक विन्यास को सही लक्षित किया है, किन्तु इसके बाद इस पर विचार करना आवश्यक है कि कविता की संरचना में इस द्वन्द्व का विकास नहीं होता बल्कि चक्राकार आवृत्तियाँ होकर ही रह जाती हैं, जिसके कारण यह कविता कुछ फुटकल गीतों की शृंखला बनकर रह गई है। कारण, पंतजी की 'परिवर्तन' की धारणा ही चक्राकार एवं आध्यात्मिक है। उसमें किसी प्रकार के वास्तविक परिवर्तन और विकास के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए जीवन-प्रेम और आशावादी स्वर के बावजूद यह कविता अंततः एक भँवर में छोड़कर रह जाती है।

किंतु यह पुस्तक केवल सुमित्रानंदन पंत के मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं है। चेलिशेव ने पंतजी की कृतियों का विस्तृत विश्लेषण इसलिए किया है कि "पंतजी की कृतियों और उनके जीवन-दर्शन के विश्लेषण से समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के महत्त्वपूर्ण नियमों को ढूंढ़ निकालना सुकर हो जाता है।" (पृ० १८) इस प्रकार इस पुस्तक में चेलिशेव का मुख्य प्रयोजन है **पंतजी के माध्यम से आधुनिक भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण नियमों की खोज।** इस दृष्टि से पुस्तक की 'भूमिका' संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के जिस प्रमुख नियम का चेलिशेव ने उल्लेख किया है वह है स्वच्छंदतावाद के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय। यह नियम चेलिशेव की अपनी खोज नहीं है बल्कि इसे प्राच्य साहित्य के सोवियत विशेषज्ञ प्रोफ़ेसर नि० इ० कोनरड पहले ही निरूपित कर चुके हैं और चेलिशेव इस नियम के लिए प्रोफ़ेसर कोनरड के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आभारी हैं। 'यथार्थवाद की समस्याएँ तथा पूर्वी देशों के साहित्य' (१९५७) शीर्षक निबंध में कोनरड ने यह स्थापित किया है कि "जहाँ पाश्चात्य देशों के साहित्य में यथार्थवाद का उदय स्वच्छंदतावाद के बाद क्रमिक रूप में हुआ, पूर्वी देशों के साहित्य ने स्वच्छंदतावाद के पथ पर चरण रखा ही था कि उस पथ को ठीक से अपना लेने के पहले ही त्वरा से आगे को अर्थात् यथार्थवाद की ओर लपक पड़ा; इस कारण यथार्थवाद में गिनी जाने वाली बहुत-सी रचनाओं में स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान रहे।" कोनरड के अनुसार यह ऐसी विशेषता है जिसकी आवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में सभी पूर्वी साहित्यों में होती रही। भारतीय साहित्य पर इस नियम को लागू करते हुए चेलिशेव ने यह लिखा कि "भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय हुआ।" (पृ० १०) हिंदी साहित्य में पंत, निराला, प्रसाद के साथ प्रेमचन्द का उदय इस नियम की सत्यता का ठोस प्रमाण है। हिंदी आलोचक इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित रहे हों, ऐसा तो नहीं है, किंतु इतने स्पष्ट रूप से उन्होंने इस नियम को निरूपित नहीं किया था; इसलिए इस विशेषता की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय निश्चय ही चेलिशेव को देना होगा।

पर सवाल इस नियम के सत्यापन का है। यथार्थवाद का जो भी अर्थ लिया जाय, यह कहना गलत है कि स्वच्छंदतावाद के साथ यथार्थवाद का उदय केवल पूर्वी देशों के साहित्य की विशेषता है। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों या फिर रूसी साहित्य के रोमांटिक कवि और कथाकार पुश्किन में यथार्थवाद के सन्निवेश को इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर जहाँ तक हिन्दी कविता के इतिहास का सम्बन्ध है, एक तरह का यथार्थवाद तो स्वच्छंदतावाद से पहले ही विद्यमान था जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदीयुगीन 'इतिवृत्तात्मकता' की संज्ञा दी थी। आखिर बीसवीं सदी के शुरू में 'कृषक', 'विधवा' और 'अमलतास' जैसे विषयों पर लिखी हुई वर्णनात्मक कविताएँ यथार्थवादी नहीं तो क्या थीं! क्या वे कविताएँ आरंभिक प्रगतिशील युग की यथार्थवादी कविताओं की याद नहीं दिलातीं? इसलिए तात्पर्य यदि हिंदी के स्वच्छंदतावादी काव्य में यथार्थवाद के समावेश से है तो सचाई यह है कि छायावादी कवियों ने प्रयास करके उस स्थूल यथार्थवाद का तिरस्कार किया था। निराला की 'भिक्षुक' जैसी आरंभिक कविताएँ वस्तुत: पूर्ववर्ती सुधार-युग के करुणोत्पादक यथार्थवाद का ही अवशेष मालूम होती हैं जिन्हें अतिरिक्त गौरव देना गलत है। और यदि छायावाद में यथार्थवाद के समावेश का अर्थ कविता को यथार्थ के निकट ले जाने से है तो फिर छायावाद की ऐसी संकुचित परिभाषा करनी पड़ेगी जिसका जीवन के यथार्थ से कोई संबंध न हो। किन्तु जैसा कि चेलिशेव ने स्वयं स्वीकार किया है, "वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्घाटन की स्वच्छंदतावादी प्रणाली आधुनिक हिंदी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण नियम-सी रही है।" (पृ० २) ऐसी स्थिति में जबकि स्वच्छंदतावाद "वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्घाटन की प्रणाली" है, उसमें अलग से यथार्थवाद के समावेश की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए कोनरड द्वारा स्थापित और चेलिशेव द्वारा समर्थित नियम का केवल यह अंश हिंदी के लिए सत्य ठहरता है कि यहाँ यथार्थवाद में भी स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान थे, जैसा कि प्रगतिशील काव्य में दृष्टिगोचर होता है, यहाँ तक कि प्रेमचन्द के "आदर्शोन्मुख यथार्थ" वाले 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' जैसे आरंभिक उपन्यासों में भी स्वच्छंदतावाद मिश्रित यथार्थवाद की ही झलक मिलती है। उल्लेखनीय है कि पंतजी की काव्य-साधना के विवेचन के दौरान चेलिशेव ने भी कहीं 'यथार्थवाद मिश्रित स्वच्छंदतावाद' या 'स्वच्छंदतावाद मिश्रित यथार्थवाद' जैसी अवधारणा का सहारा नहीं लिया है। इसके विपरीत उन्होंने 'प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद', 'क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद' तथा 'सक्रिय स्वच्छंदतावाद' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है जो स्पष्टत: स्वच्छंदतावाद के अधिक यथार्थोन्मुख छोर के सूचक हैं।

किन्तु इसके बावजूद चेलिशेव की उक्त स्थापना हिन्दी स्वच्छंदतावाद के निजी वैशिष्ट्य को समझने में काफी दूर तक सहायक है। इस संदर्भ में चेलिशेव की एक अन्य धारणा पर्याप्त प्रासंगिक है। उनका कहना है कि "हिन्दी कविता में छायावाद के कुछ अनुसंधानकर्ता-आलोचक छायावाद पर यूरोपीय स्वच्छंदतावाद के प्रभाव का अतिमूल्यांकन करते दिखाई देते हैं।...यह स्वीकार करना चाहिए कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास-पथ पर पश्चिमी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, पर यह प्रभाव उतना निर्णयकारी नहीं रहा है।" इस प्रकार चेलिशेव ने हिन्दी छायावाद के राष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया है। सवाल यह है कि हिन्दी छायावाद का वह राष्ट्रीय वैशिष्ट्य क्या है ? क्या इस वैशिष्ट्य का सम्बन्ध केवल भारत की धार्मिक-सांस्कृतिक परंपराओं तक ही सीमित है ? चेलिशेव इस विषय में काफी स्पष्ट हैं। उन्होंने हिन्दी छायावाद को नवीन सांस्कृतिक जागरण तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्रतिबिंब माना है। इसका अर्थ यह है कि हिंदी के छायावाद की विशिष्टता भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। चेलिशेव ने जहाँ इतने आलोचकों के मत उद्धृत किए हैं, वहाँ वे इस संदर्भ में स्पष्टता के लिए रामविलास शर्मा का यह कथन उद्धृत कर सकते थे : "अंग्रेज़ी के रोमांटिक साहित्य और हिन्दी के छायावादी साहित्य में महत्त्वपूर्ण भेद है। हिंदी का छायावादी साहित्य सामंत-विरोधी औद्योगिक क्रान्ति के बाद का साहित्य नहीं है। वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्षकाल का साहित्य है। उसमें सबसे सशक्त स्वर देश की स्वाधीनता और जनतंत्र प्राप्त करने की आकांक्षा का स्वर है।...अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य का एक सीमांत समाजवादी विचारधारा को छूता है तो दूसरा आदर्शवाद की घटनाओं में डूबा हुआ है। हिन्दी के छायावादी साहित्य का एक सीमांत साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी विचार-धारा को छूता है तो दूसरी ओर सामन्तवाद का समर्थन करने वाली अनेक आदर्शवादी धाराओं में डूबा हुआ है।" (लोकजीवन और साहित्य, पृ० ८२-८३)।

वस्तुतः राष्ट्रीयता के साथ स्वच्छंदतावाद के उदय का सम्बन्ध घनिष्ठ है। यदि भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का उदय भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष से संबद्ध है और इस प्रकार भारतीय स्वच्छंदतावाद के अपने विशिष्ट चरित्र का निर्माण हुआ, तो इसके साथ भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य में भी स्वच्छंदतावाद की अपनी जातीय विशिष्टता है। इस दृष्टि से हिंदी का छायावाद बंगला के स्वच्छंदता-वादी काव्य से एक हद तक समानता रखते हुए भी बहुत-सी बातों में भिन्न है। यही बात मराठी, गुजराती, मलयालम, उर्दू अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा के स्वच्छंदतावाद के बारे में भी कही जा सकती है। चेलिशेव के विवेचन की यह सीमा है कि जहाँ उन्होंने भारतीय स्वच्छंदतावाद के राष्ट्रीय वैशिष्ट्य की बात उठाई वहाँ उन्होंने इस वृहत्तर परिवृत्त में हिंदी छायावाद की अपनी विशिष्टताओं का सवाल नहीं उठाया, उलटे उन्होंने जगह-जगह रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को अतिरिक्त महत्त्व दिया। जहाँ इतना सामान्य प्रश्न भी न उठाया गया हो वहाँ हिंदी छायावाद सम्बन्धी अन्य गहरे प्रश्नों की अपेक्षा ही क्या ?

079562

वस्तुतः हिंदी के छायावादी काव्य की राष्ट्रीय विशेषता की चर्चा करते समय सम्पूर्ण विश्व-साहित्य के स्वच्छंदता-वादी आन्दोलनों के राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का उल्लेख करना आवश्यक है। स्वयं यूरोप के ही प्रायः हर देश का रोमांटिक काव्यान्दोलन एक हद तक दूसरे देश से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपने राष्ट्रीय गौरव का उन्नायक रहा है। इंग्लैंड के रोमांटिक आन्दोलन ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा ली, किन्तु उसने अपने देश की लोक कथाओं, लोक गीतों, मिथकों आदि को आधार बनाकर साहित्य को राष्ट्रीय रंगत दी। इसी प्रकार रूस, पोलैंड, हंगेरी, जर्मनी और इटली का भी रोमांटिसिज़्म प्रथमतः अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक गरिमा की चिंता से संबद्ध था। प्रत्येक देश के रोमांटिसिज़्म ने सामान्य जन-जीवन का आधार लेकर उस अभिजात वर्ग के विरुद्ध विद्रोह किया जो अपनी रुचियों में विदेशी—सामान्यतः फ्रांसीसी संस्कृति का गुलाम था। और अपने इस प्रयास में रोमांटिक कवियों को दूसरे देश के साहित्य से प्रेरणा लेने में कोई विरोधाभास न दिखा। इस प्रकार यदि हिंदी के छाया-वादी कवियों ने अंग्रेजी साम्राज्य से लड़ते हुए भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से प्रेरणा ली तो इसमें न तो कोई विरोधा-भास था और न राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का निषेध ही।

फिर भी चेलिशेव का यह कहना सही है कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में पश्चिमी साहित्य का प्रभाव निर्णयकारी नहीं रहा है। उन्होंने इस प्रभाव का अतिमूल्यांकन करने वाले हिंदी आलोचकों का खंडन उचित ही किया है, किंतु वे इस ब्योरे में नहीं गए कि वे आलोचक दरअसल थे कौन ? यह प्रश्न अनावश्यक नहीं है। इससे आधुनिक कविता के विकास के अन्य अनेक प्रश्न उलझे हुए हैं।

वस्तुतः जिन आलोचकों ने हिंदी छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया था वे छायावाद के विरोधी और प्राचीन काव्य के समर्थक थे। पाश्चात्य प्रभाव का हौवा खड़ा किया गया था अंध राष्ट्रवादी आग्रह के साथ। उल्लेखनीय है कि वे छायावाद को अभारतीय ही नहीं बल्कि असामाजिक, पलायनवादी और अस्वस्थ मनोवृत्ति की उपज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते थे। प्रतिक्रिया की ये शक्तियाँ छायावाद युग में ही समाप्त नहीं हो गईं। उन शक्तियों के आक्रामक प्रयास छायावाद के बाद प्रगति, प्रयोग, नयी कविता तथा आज के दौर में भी देखे जा सकते हैं। इन नई काव्य-प्रवृत्तियों पर उनके आरोप भी वही पुराने हैं : पाश्चात्य प्रभाव का हौवा। चेलिशेव की इस पुस्तक के संदर्भ में हिंदी साहित्य की इस स्थिति का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि स्वयं वे भी आगे चलकर पाश्चात्य प्रभाव के उसी अतिमूल्यांकन के शिकार हो गए हैं। पांचवें से सातवें दशक की जिस कविता को उन्होंने पश्चिम के पतनशील बुर्जुआ साहित्य का प्रभाव कहा है, वह भी छायावाद के समान ही अपना राष्ट्रीय वैशिष्ट्य रखती है। पंतजी की दृष्टि से देखने पर निश्चय ही उस पर पतनशील पाश्चात्य साहित्य का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ेगा, लेकिन चेलिशेव के लिए कोई विवशता तो नहीं कि वे और बहुत-सी बातों में पंतजी की जीवन-दृष्टि को असंगतिपूर्ण मानते हुए भी इस मामले में उन्हीं की दृष्टि अपनाएँ। सचाई तो यह है कि पाँचवें दशक और उसके बाद की हिंदी कविता का विकास पंतजी के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। आखिर जो पंत बकौल चेलिशेव अपनी काल्पनिक जीवन-दृष्टि के कारण इस काल की जीवंत वास्तविकता से कटे रहे, वे इस काल की कविता के ही प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं? आश्चर्य है कि चेलिशेव की द्वन्द्वात्मक दृष्टि इस स्पष्ट असंगति को न देख सकी। एक वस्तुवादी आलोचक के नाते उन्हें यह प्रश्न करना चाहिए था कि क्या मुक्तिबोध जैसे कवि पतनशील,पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव की उपज हैं? लगता है, चेलिशेव के सामने यह प्रश्न ही नहीं उठा, इसलिए उनसे पाँचवें दशक के बाद के साहित्य के विकास के सही नियमों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्हें न तो इस काल के भारतीय जीवन की वास्तविकता का सही ऐतिहासिक बोध है और न उस वास्तविकता को प्रतिबिंबित तथा परिवर्तित करने वाले काव्य से ही परिचय है। इसीलिए वे इस काल के भारतीय साहित्य में यथार्थवाद की सीमाबद्धता और निर्बलता पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि आधुनिक भारतीय कवि "अभी भी भारत के ऐतिहासिक विकास के खाके को विस्तृत एवं पूर्ण रूप में उद्घाटित एवं स्पष्ट नहीं कर पाए?" (पृ० १८) संभवतः निराशा का यह स्वर सुमित्रानंदन पंत पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करने का परिणाम है।

हिंदी की समकालीन कविता में निस्सन्देह अनेक असंगतियाँ हैं। वास्तविकता के कलात्मक उद्घाटन में यह कविता सर्वथा निर्दोष नहीं है और कुछ कवियों के वैचारिक-सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी हैं। किन्तु इन सबको पश्चिम के पतनशील बुर्जुआ साहित्य का प्रभाव कहना अतिसरलीकरण है। कविता के इन मनोगत भ्रमों को सही-सही आँकने के लिए वर्तमान भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों का वस्तुगत विश्लेषण अपेक्षित है। चेलिशेव ने इस ब्योरे में जाने के बजाय सरलता और सुविधा का मार्ग अपनाया और समकालीन कविता को कवियों की विचारधारा में निःशेष करके दूसरे अतिसरलीकरण की भूल की।

किंतु इस असहमति के बावजूद चेलिशेव की पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। सुमित्रानंदन पंत पर इतनी मुकम्मल और संतुलित पुस्तक दूसरी नहीं है। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में आधुनिक हिंदी कविता का ऐसा ऐतिहासिक विश्लेषण कम हुआ है। मार्क्सवादी आलोचना असंदिग्ध रूप से इस पुस्तक से समृद्ध हुई है। इस तथ्य का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि यह पुस्तक संयोग से लेनिन जन्मशती के वर्ष में प्रकाशित हुई है और आधुनिक भारतीय साहित्य के विषय में अपनी गहरी दिलचस्पी तथा पैनी समझ का प्रमाण देकर चेलिशेव ने एक स्तर पर महान् लेनिन के क्रान्तिकारी उद्देश्य में ही योग दिया है। लेनिन जन्मशती के अवसर पर एक सोवियत अध्येता का हिंदी के लिए इससे उपयुक्त उपहार और क्या हो सकता है? ◻

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अराजकतावाद से लेनिनवाद की ओर

विश्वनाथ त्रिपाठी

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ७८वें वर्ष में प्रवेश कर चुके हैं। इस आयु में अपनी पिछली मान्यताओं को बदलना मुश्किल काम है। ऐसे लोग दुर्लभ हैं जो इस परिपक्वावस्था में भी विकास करने की क्षमता बनाए रख सकते हैं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की पुस्तक 'नीलकंठ गोर्की' पढ़कर पता चलता है कि वे ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तियों में से हैं। चतुर्वेदी जी अपने को अराजकतावादी घोषित करते रहे हैं, प्रिंस क्रोपाटकिन के परम भक्त रहे हैं। अराजकतावादी होने के बावजूद वे गांधी, रवीन्द्रनाथ, सी० एफ० एण्ड्रूयूज और राजेन्द्र प्रसाद और जवाहरलाल नेहरू के प्रशंसक रहे हैं। एक साथ इतने महापुरुषों का प्रशंसक होना ही प्रकट करता है कि वे विचारों में अराजकतावादी और व्यवहार में मानवतावादी रहे हैं। उनका जीवन घटना-संकुल रहा है, हिन्दी पत्रकारिता के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, तीव्र विवादों को उठाया और उकसाया है, निराला और उग्र जैसे साहित्यकारों पर प्रहार किया है और हजारीप्रसाद द्विवेदी, दिनकर और अज्ञेय जैसे लेखकों-कवियों के प्रारम्भिक रचनात्मक-विकास से सम्पृक्त रहे हैं। उन्होंने पत्रकार, विचारक और आन्दोलनकारी के रूप में जो कुछ किया है, उस सबसे सहमत या असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन उनकी दीर्घ और निरन्तर समाज-साधना को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना उनके विरोधियों और प्रशंसकों सबका कर्तव्य है।

जिस-तिस किसी आदमी को संस्था कह देना आसान है, किन्तु किसी व्यक्ति का संस्था बन पाना निहायत मुश्किल काम है। इसके लिए निष्ठा, दृढ़ता, संगठन-शक्ति, कौशल, धैर्य सभी कुछ चाहिए। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी में ये गुण हैं, इसीलिए वे सचमुच एक व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। संस्थाधिपति प्रायः लक्ष्मीपति भी बन जाते हैं। मैंने जितना उन्हें देखा है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि वे अपरिग्रही भी हैं। बड़े-बड़े गांधीवादी और आदर्शवादी क्या-से-क्या हो गए हैं, इसे देखकर सोचें तो समझ में आता है कि चतुर्वेदी जी कितने श्रद्धास्पद हैं! यह भी समझ में आता है कि पुरानी मान्यताओं का मोह छोड़ पाने की शक्ति का सम्बन्ध अपरिग्रह से भी है।

चतुर्वेदी जी ने 'नीलकंठ गोर्की' में घोषित किया है :

"दुर्भाग्य की बात है कि मेरे मन में यह आशङ्का उत्पन्न हो गई है कि महात्मा जी के तरीके को हमने असफल बना दिया है और लेनिन की कार्य-पद्धति ही इस मुल्क का उद्धार कर सकेगी। पशु-श्रेणी के करोड़ों व्यक्ति समझाने-बुझाने से नहीं मानने के। वे डंडे के बूते पर ही सही मार्ग पर लाए जा सकेंगे।"

महात्मा जी का तरीका असफल क्यों हो गया?

गांधीजी ने धनपतियों को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। वे मानते थे कि राजा और धनपति भी समाजवादी हो सकते हैं यदि वे समाज की सेवा करें। वे धनवानों को 'ट्रस्टी' बनने की राय देते थे। लेकिन चतुर्वेदीजी ने समझ लिया है कि **"हमारे देश का साधन-सम्पन्न वर्ग ट्रस्टी बनने को तैयार नहीं। अन्याय से अर्जित धन-सम्पत्ति पर वह युग-युगान्तर तक अपना काबू रखना चाहता है, पर समस्त जनता में अनन्त काल तक धैर्य धारण करने की शक्ति नहीं। जब फोड़े का इलाज मरहम-पट्टी से न हो सके तो आपरेशन अनिवार्य हो जाता है।"**

ऐसी स्थिति में लेखक का क्या कर्तव्य है?

चतुर्वेदीजी ने यह पुस्तक मुख्यतः लेखकों को परिस्थिति और कर्तव्य से अवगत कराने के लिए लिखी और संपादित की है। लेखकों का क्या कर्तव्य है इस पर उन्होंने स्वयं विचार किया है और गोर्की की प्रसिद्ध कहानी 'एक पाठक'

नीलकंठ गोर्की : लेखक, बनारसीदास चतुर्वेदी, प्राप्ति स्थानः नवहिन्द प्रकाशन, सुल्तान बाजार, हैदराबाद; मूल्य ८० पैसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुवाद भी दे दिया है। इस कहानी का अनुवाद श्री प्रकाश चन्द्र चतुर्वेदी ने किया है। यह कहानी गोर्की की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी है—साहित्यकारों के लिए। साहित्यकार यदि यश-प्राप्ति के लिए ही लिखता है तो वह सूदखोर है। कहानी में एक पात्र के रूप में चित्रित पाठक कहानीकार से कहता है : "तुम तो इसलिए देते हो कि जीवन से और जन से और अधिक प्राप्त कर सको। तुम इतने दरिद्र हो कि कुछ भी भेंट नहीं दे सकते। तुम सूदखोर हो, अपने अनुभव के टुकड़ों को उधार देते हो जिससे ब्याज के रूप में तुम्हें यश प्राप्त हो सके।" (पृ० ३२)। उदास, थकी और हारी ज़िन्दगी सभी मूल्यों पर व्यंग्य करती है। लोग ओछेपन के सामने हथियार डाल चुके हैं। ओछेपन से हारा हुआ व्यक्ति "सूअरों की भांति सदा ज़िन्दगी बिताना चाहता है·· जब भी उसके सामने कोई 'आदर्श' का नाम लेता है वह व्यंग्य से हंस देता है।" और यह हंसी भी कैसी होती है? यह हंसी सहज निष्कपट और सरल नहीं होती—"अब वे हंसते हैं दुष्टता से, ओछेपन से; अक्सर आँसुओं के बीच से"। इस स्थिति से लोगों को उबारने के लिए उन्हें गतिशील बनाना है, उन्हें ज़िन्दगी की खूबसूरती की ओर आकृष्ट करना है। इसके लिए साहित्यकार को मनुष्य के पशुत्व को कोड़े लगाने की जरूरत है। स्थिति ऐसी है कि मनुष्य को प्रेम करने वाले साहित्यकार के लिए मनुष्य के पशु पर कोड़े लगाना अनिवार्य हो गया है।

इस कहानी को 'नीलकंठ गोर्की' में सम्मिलित करने का उद्देश्य साहित्यकारों को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करना था। गोर्की के प्रति चतुर्वेदीजी के आदर की भावना का मुख्य कारण उसकी संघर्षमयता है। चतुर्वेदीजी महापुरुषों की जीवनी पढ़ने और लिखने के बेहद शौकीन रहे हैं। उन्होंने "प्रिंस क्रोपाटकिन, महात्मा गांधी, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, स्टिफन ज्विग और मैक्सिम गोर्की के जीवन-चरित्र बड़ी रुचि से पढ़े हैं" लेकिन इन महापुरुषों और गोर्की में महान् अन्तर यह है कि "गोर्की समाज के सबसे निचले वर्ग से निकलकर ऊपर आये थे"। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जानते हैं कि "गरीबी किसे कहते हैं इसीलिए वे 'प्रथम' पांच भाग्यशाली चरितनायकों के महत्त्व की कद्र करते हुए भी कहते हैं : "तथापि मेरी स्वाभाविक सहानुभूति निस्सन्देह उस दुर्भाग्यशाली अभागे छठे व्यक्ति यानी गोर्की के प्रति है। मैं प्रथम पांचों की प्रशंसा करता हूँ पर मेरी हार्दिक श्रद्धा तो गोर्की को ही समर्पित है।" (मैक्सिम गोर्की का आत्मचरित्र)।

चतुर्वेदीजी गोर्की के दोनों रूपों—व्यक्ति और साहित्यकार से प्रभावित हैं। वे व्यक्ति और साहित्यकार की अभिन्नता पर बल देने वाले चिन्तक हैं। आज ऐसे निर्भीक चिन्तकों की बड़ी आवश्यकता है। चतुर्वेदीजी की ईमानदारी का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि मृत्यु की छाया में बैठ कर उन्होंने लेनिन के रास्ते को श्रेयस्कर बताया। मृत्यु और परलोक का भय बड़े-बड़े क्रांतिकारियों को भक्त और रहस्यवादी बना देता है। लेकिन चतुर्वेदीजी ने आपरेशन थियेटर में जाने के पूर्व इस देश के लोगों को गांधीवादी रास्ते की सीमाएँ बताईं। उन्होंने साहित्यकारों से विशेष अनुरोध किया कि वे समय के अनुसार अपने कर्तव्य को पहचानें और उस पर चलें। देश की दशा को सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से तो राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही बदल सकते हैं। लेकिन सभी लेखक राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं बन सकते। राजनैतिक कार्यकर्ता न बन पाना एक बात है और राजनीति से कोई सरोकार न रखना या उसे साहित्यकार के लिए संदर्भहीन समझना दूसरी बात है।

जनता साहित्यकार से अपेक्षा रखती है कि वह जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने की कोशिश में अपने ढंग से काम करे। देश की जनता ज्यों-ज्यों सचेत होती जाएगी उसकी यह अपेक्षा बढ़ती जाएगी। चतुर्वेदीजी ने साहित्यकारों को सावधान किया है : "वह वक्त शीघ्र ही आने वाला है जब कि इस देश की जाग्रत जनता प्रत्येक सजीव लेखक से सवाल करेगी—जनाब! किस प्रकार की समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते हैं और तदनुसार काम करने की कितनी सामर्थ्य है?"

यानी साहित्यकार को प्रतिबद्ध होना पड़ेगा—सामाजिकता से, उसे अधिक जवाबदेह होना पड़ेगा। इसका परिणाम सुखद होगा। जनता साहित्य में रुचि लेगी। साहित्यकार और पाठक परस्पर आमने-सामने होंगे।

गोर्की के प्रति चतुर्वेदी जी की यह श्रद्धा उनके प्रति भी हमारे हृदय में श्रद्धा जगाती है।

●

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

एक महत्त्वपूर्ण आत्मकथा

क्या भूलूं क्या याद करूं

बच्चन

८.००

बच्चन की आत्मकथा का यह प्रथम खंड सर्वत्र बहुप्रशंसित हुआ है। हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का यह इस प्रकार का प्रथम ग्रन्थ है। दूसरा खंड 'नीड़ का निर्माण फिर' प्रकाशन के पथ पर है।

सुमित्रानन्दन पन्त : प्रेम और जीवन की भावना से घनीभूत तथा आढ्य यह बच्चन की युवावस्था की हास-अश्रु ग्रथित जीवंत पारदर्शी आत्मकथा है। इसे पढ़कर बच्चन का व्यक्तित्व और भी प्रिय लगने लगता है।

दिनकर : रूसो का 'कन्फेशन्स' साहित्य में बहुत ही विख्यात ग्रन्थ है। बच्चन जी की आत्मकथा में भी सत्य को उद्घाटित करने की प्रवृत्ति है। चंपा के साथ अपने सम्बन्ध का उन्होंने जो उल्लेख किया है, उससे बच्चन जी के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : पढ़ते-पढ़ते मैं यह सोचने लगता था कि क्या ही अच्छा होता यदि बच्चन जी ने गद्य में कुछ और लिखा होता।

डा० नगेन्द्र : पूरी कृति कवि के रंगीन जीवन का रोचक आलेख है। पढ़ने में उपन्यास का सा आनन्द आता है। मुझे विश्वास है कि बच्चन की कविता और आत्मकथा एक-दूसरे के मर्म का उद्घाटन करने में सहायक होंगी।

डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' : सोच रहा हूं कि बिना अतिशयोक्ति के कह सकूं कि ऐसी आत्मकथा आज तक लिखी ही नहीं गई। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इस परिवेश में कम ही लिखी गई होंगी।...तुम्हारी धारणा शक्ति लाजवाब है, कहीं गांधी को छूते हो, कहीं गणिका को।

उपेन्द्रनाथ अश्क : पुस्तक तुमने खूब लिखी है और अपने आपको बिना बख्शे लिखी है...कुछ प्रसंग अत्यंत ही मार्मिक बन आए हैं...तुमसे रश्क हो आया।

डा० धर्मवीर भारती : यह कहना बहुत नाकाफी होगा कि मैं अभिभूत हूं।...हिन्दी में अपने बारे में सब कुछ इतनी बेबाकी और साहस, और सद्भावना से कह देना यह पहली बार हुआ है—हिन्दी के हजार वर्ष के इतिहास में।

कमलेश्वर : 'क्या भूलूं क्या याद करूं' से हिन्दी का गद्य साहित्य एकाएक अत्यंत प्रौढ़ हुआ है। मैं तो बच्चन जी का शिष्य रहा हूं—इसे पढ़कर यही लगा कि अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने की जगह अगर इन्होंने इस जीवनी का एक अ याय तभी पढ़ा दिया होता तो एक पूरी पीढ़ी को कितनी शक्ति, दृष्टि और साहस मिला होता।

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज से सदियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और
एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम
रूप देनेवाले आदि नाट्याचार्य भरत के कृतित्व का विश्लेषण
तथा मूल्यांकन प्रस्तुत करनेवाला एक बहुमूल्य ग्रन्थ

भरत और भारतीय नाट्यकला

भारतीय नाट्यकला के अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी और प्रामाणिक शोधकृति

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

बिहार विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विद्वान लेखक ने भारतीय नाट्यकला विषयक सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अवगाहन करते हुए दिखाया है कि नाट्यकला के इस व्यापक क्षेत्र में भरत की देन क्या है और उनका परवर्ती नाटककारों, नाट्यशास्त्रियों और रंगशिल्पियों पर क्या प्रभाव पड़ा है।

079562

पुस्तक में विवेचित उल्लेखनीय विषय

- भरत का व्यक्तित्व और नाट्यशास्त्र का काल-निर्धारण
- भारतीय नाट्योत्पत्ति और तत्सम्बन्धी विभिन्न वाद
- भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप
- दशरूपक विकल्पन, इतिवृत्त-विधान और पात्र-विधान
- नाट्य के रस और भाव
- अभिनय विज्ञान
- नाट्य का प्रस्तुतीकरण
- नाट्य-प्रयोग विज्ञान
- नाट्य वृत्ति, प्रवृत्ति और लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ
- नाट्य की उपरंजक कलाएँ : गीतवाद्य और नृत्य
- आधुनिक भारतीय रंगमंच

रायल आकार में ६०० से अधिक पृष्ठ : रैक्सिन की मजबूत एवं आकर्षक जिल्द :
मूल्य ३०.००

राजकमल

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

दिल्ली-६ पटना-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

श्रीमती शीला सन्धु ... [illegible]

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compared
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar